अलबेरूनी लिखित

अलबेरूनी का भारत

ALBERUNIS INDIA

[ALBERUNI]

अनुवादक

श्री रजनी कान्त शर्मा एम० ए०

प्रकाशक

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४६२, मालवीय नगर

इलाहाबाद-३

प्रथम संस्करण) मार्च सन् १९६० (मूल्य २५ रुपया

मूल अनुवादक की भूमिका

महमूद और फिरदौसी

पूर्व के साहित्यिक इतिहास में, सन् ९९७-१०३० ई० के बीच एशिया के इतिहास के अति-प्रसिद्ध, गजन के सुल्तान महमूद के दरबार को साहित्य और विशेषकर काव्य साहित्य-का केन्द्र माना जाता है। उसके आश्रय में चार सौ कवि उसके भवनों एवम् उद्यानों को अपने काव्य से गुंजरित करते थे। इनमें उन्सुरी को सर्वोच्च पद प्रदान किया गया था जिसने अपने सत्प्रयासों से नवोदित प्रतिभासम्पन्न साहित्यिक कलाकारों के लिए राजकीय कृपा के द्वार को उन्मुक्त करा दिया था। सुल्तान के आदेश से महाकाव्य की रचना करने वाले फिरदौसी को भी उन्सुरी से कम सम्मानित नहीं समझा जाता था। अभाग्यवश, इतिहास उन अगणित साहित्यकारों के विषय में इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी विवरण देने में असमर्थ है कि कसीदों द्वारा भाग्य परीक्षा के लिए उत्सुक फारसी कवियों ने गजन को अपना केन्द्र बना रक्खा था, और वे सुल्तान, वजीरों तथा सिपहसालारों के कृपापात्र बनने की चेष्टा में लगे रहते थे। इतिहास महमूद को एक सफल एवम् विजेता के रूप में ही प्रस्तुत करता है।

क्लिष्ट एवम् बोझिल शैली वाले उतबी के एक मात्र अपवाद के अतिरिक्त समस्त समकालीन विवरण—अबू नस्र मिशोकान कृत 'मकामत्', बैहकी का 'तबकात', मुल्ला मुहम्मद गजनवी का महमूद वर्राक तथा अन्य लोगों द्वारा लिखित ऐतिहासिक विवरण, कालगति की विनाशकारी चपेट में आ जाने, या अन्य किसी कारण से प्रकाश में नहीं आ सके हैं। ३००-४०० वर्ष पश्चात से साहित्यिक इतिहास के आधार पर किए गए प्रयत्न बहुत आलोचनात्मक निरीक्षण की तुला पर बहुत हल्के ठहरते हैं, तथा जब प्राचीन फारसी साहित्य के किसी विशेष प्रश्न को हल करने के लिए उनका प्रयोग किया जाता है तो असफलता ही हाथ लगती है। जो भी हों, यह स्पष्ट ज्ञात होता है, स्तुतिपाह में प्रवीण उन्सुरी राजकीय कृपा सूर्य रूपी अपने लक्ष्य से क्षणमात्र के लिए भी विमुख नहीं हुआ है जबकि फिरदौसी अमर फिरदौसी को हाथियों के पांवो तले कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होने से बचने के लिए छद्मवेष में स्वयं पलायन करना पड़ा। युवा सुल्तान को वर्द्धमान राज्यलक्ष्मी से आकर्षित होकर लगता है, महमूद के राज्याभिषेक के एक ही वर्ष पश्चात्-अर्थात सन् ९९८ ई० में उसके दरबार में जा पहुँचा। परन्तु जब 'शाहनामा' नामक काव्य के समापन के पश्चात भी समुचित रूप से पुरस्कृत किए जाने की आशा पूर्ण न हुई, तो सुल्तान पर व्यंग्य का सुप्रसिद्ध बाण चला कर वह देश की सीमा से बाहर चला गया (सन १०१० ई०)। सुल्तान बनाम शायर के विवाद में, सुल्तान की ही पराजय हुई है। मानसिक अलब्धियों के विश्व-इतिहास में जब तक फिरदौसी का सम्मान पूर्ण स्थान बना रहेगा, महमूद के माथे से यह कलंक कभी न मिट सकेगा कि वह जिसके द्वारा एकत्रित की गई धनराशि से अभूतपूर्व कीर्तिमान की स्थापना हुई :—ऐसे कवि का सम्मान करने की विधि से अनभिज्ञ था जो अमर होने के लिए आया था।

अब देखना है कि पूर्व की गद्य-रचनाओं में 'शाहनामा' के समान ही सम्मानित प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता, और गजन के शाही दरबार में कैसी निभी।

महमद और अलबेरुनी

हिन्दुओं के भारत पर अरबी भाषा में किसी पुस्तक का होना साहित्य-संसार में एक अनोखी और आश्चर्यजनक बात है। हमारे लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि कुरान की भाषा में लिखनेवाला लेखक इतने उदार विचार रक्खे कि हिन्दुओं को अपने अध्ययन का प्रिय विषय बना कर उन पर एक पुस्तक लिखे। प्राचीन काल में अरब के लोग हाथ में तलवार लेकर अपने मत का प्रचार करना और विदेशों को जीत कर वहां बस्तियां बनाना खूब जानते थे, परन्तु उन्होंने पुरा-तत्व-सम्बन्धी अन्वेषणों पर कभी ध्यान दिया ऐसी मनोस्थिति उनकी नहीं थी। और यह जानने का मानों उन्हें अवसर ही न मिला के वे यह जानने का प्रयत्न करते कि उनके प्रवेश के पूर्व उन देशों में क्या-क्या हो चुका था। मिस्र, सीरिया, एशिया-माइनर, स्पेन आदि की दशा, मुसलमानों का उनमें प्रवेश होने के पहले क्या थी इस सम्बन्ध में जो कुछ भी उन्होंने लिखा है वह सारा का सारा समझ के बाहर है। उसका बहुत थोड़ा भाग छोड़ कर बाकी सब ऐतिहासिक दृष्टि से किसी काम का नहीं है। उन लोगों का विचार था कि इसलाम ही सारे संसार में फैलेगा, जो कुछ इसलाम के पूर्व था और जो कुछ इसलाम के बाहर है वह सब शैतान का काम है—और हमेशा के लिए नारकीय है। इसलिये मुसलमान लोग उन सब बातों पर जितना कम ध्यान देंगे उतना ही उनकी आत्माओं के कल्याण के लिए अच्छा होगा।

इसलाम की शासक-प्रवृत्ति का परिचय उस मुसलमान बादशाह के कार्य्यों से ही भली भांति मिल जाता है, जिसके शासन-काल में कि यह पुस्तक लिखी गई थी। गजनी के महान् महमूद का जो चित्र भारतीय इतिहास खींचता है वह देवालयों और देव-मूर्तियों के सर्वनाश का ही चित्र है। इस पर भी उसकी विजयिनी पताका की छत्र-छाया में एक ऐसा शान्त पण्डित, आध्यात्मिक क्षेत्र का एक ऐसा वीर काम कर रहा था जो कि हिन्दुओं के विरुद्ध न होकर उनसे कुछ सीखने, संस्कृत तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने, संस्कृत पुस्तकों का अरबी अनुवाद करने में जी-जान से लगा हुआ था। इसलाम की श्रेष्ठता पर उसे पूर्ण विश्वास था तब भी वह भारतीय मस्तिष्क की उपज —साहित्य, और कलाकौशल की अद्भुत कृतियों—की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करता था। जो कोई मानसिक युद्ध-क्षेत्र में हिन्दुओं का सामना करना चाहता है और उनके साथ न्याय और निश्छलता के भाव से वर्ताव करने की इच्छा रखता है उसके लिए पहले उनकी नीति, उनके विशेष आचार-विचार और रीति-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसी बात को सामने रख कर उस विद्वान ने भारतीय सभ्यता का एक पूरा और सच्चा वर्णन तैयार किया है। इसमें सदैव उसने उस सभ्यता के वास्तविक तत्व को समझने और एक निष्पक्ष दर्शक की भांति उसे वास्तविक रूप में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। पुस्तक का विषय जो कि सूक्ष्म विवेक के कारण कुछ भद्दा सा प्रतीत होता है, यह है :—

"हिन्दुओं के सब प्रकार के, क्या उपादेय और क्या हेय, विचारों का एक सत्य वर्णन।"

इस पुस्तक का विषय मुसलमानों के लिए तो नवीन था ही, परन्तु योरुप में इतने दिनों से संस्कृत की चर्चा होने पर भी, आज भी संस्कृत के विद्वान अलबेरूनी की इस पुस्तक को देखने के लिये उत्सुक हैं, और इसके सम्पादन के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

जिस समय हमारा मुसलमान ग्रंथकार अलबेरूनी भारत में आया भारतीय सभ्यता एकदम समाप्त हो चुकी थी और आर्य्य जाति अपनी प्राचीन अवस्था को भूल चुकी थी। अलबेरूनी ने भारत में आकर एक वैदेशिक सभ्यता को पाया जो बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक थी। परन्तु इस सभ्यता को भी विदेशी आक्रामक हड़प किया चाहते थे। अलबेरूनी का समय, अर्थात गजनी के महान महमूद का काल, भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता का अन्तिम काल था। इसी समय से मुसलमानी शासन का आरम्भ हुआ। यह एक ऐतिहासिक उत्कर्ष का आरम्भ था जो कि अन्त में सारे भारतीय प्रायद्वीप में अँगरेजी राज्य की स्थापना के साथ समाप्त हुआ। महमूद के पहले भी विदेशी आक्रामकों ने भारत के कई भागों को विजय किया था; परन्तु पीछे से भारतीय सभ्यता ने स्वयम् उन्हें परास्त कर दिया था—यहाँ तक कि वे पूरे पूरे भारतीय बन गये, जिस प्रकार कि गिलजई लोग—जो वास्तव में पठान थे—अफगानिस्तान में जाकर अफगान हो गये हैं। परन्तु मुसलमान लोग भारत में आकर भी वही रहे जो यहां आने के पहले थे। यद्यपि उन्होंने जीती हुई जाति की भाषा तथा अन्य कई रीति-रिवाज अपना लिया पर धर्म और नीति में वे इस देश के लिए विदेशी ही बने रहे। जिस भारत का अलबेरूनी ने चित्र खींचा है वह उस समय का भारत है जब कि उसका राष्ट्रीय अस्तित्व मिटा चाहता था। उसकी सभ्यता उस समय सारतः वैदिक थी। बौद्ध-धर्म्म उस समय भारत से सर्वथा निर्वासित नहीं हो चुका था। कई स्थानों में तब तक भी वह एक राजनैतिक शक्ति था। पर अलबेरूनी ने उसे आप नहीं देखा। अलबेरूनी के पूर्व जो विदेशी भारत में आये और जिन्होंने इसके विषय में कुछ लिखा वे केवल दो व्यक्ति थे। उनमें से एक तो यूनानी राज-सचिव था और दूसरा चीन देश का एक बौद्ध यात्री। ईसा के कोई २९५ वर्ष पहले सम्राट् सिल्यूकस (प्रथम) ने मेगस्थनीज़ को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र अर्थात् पटने में महाराज चन्द्रगुप्त के पास भेजा था। इस राजदूत ने प्रायः सारे उत्तर-भारत का भ्रमण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह जानकारी के अच्छे अच्छे स्रोतों तक पहुंचा था। पर दुर्भाग्य से उसके देश भाइयों ने उसके अत्युत्तम वृत्तान्त की क़दर न की। इसी कारण आज हमें उसके बहुत थोड़े भाग मिलते हैं। जिस समय मेगस्थनीज़ आया क्या वह भारतीय सभ्यता की बाल्यावस्था थी? कदापि नहीं। भारतीय सभ्यता बहुत पुरानी है। मेगस्थनीज़ की यात्रा वर्णन के कई अंश पुराणों से लिये हुए हैं, और पुराण भारतीय सभ्यता के आदि स्तर को प्रस्तुत नहीं करते।

अलबेरूनी के चार सौ वर्ष पहले ह्वेनसांग नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने जो कुछ यहां देखा और सुना उसी के आधार पर वह अपने देश को वापस लौटकर अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिख डाला। उस समय में उसके पूर्ववर्ती फ़ाहियान (सन् ३८९ से ४२३ तक) और सुङ्ग-युन (५०२ ई०) थे। उनकी पुस्तकें बड़े महत्व की हैं—विशेषतः भूगोल और इतिहास-सम्बन्धी विषयों में ह्वेन-साङ्ग ने ६२९ से ६४५ ईसवीं तक भारत में भ्रमण किया।

यदि मुसलमान लोग अलबेरूनी की इस पुस्तक पर उचित गर्व करते हुए इसे अरबी साहित्य रूपी गगनमण्डल का एक सर्वोत्कृष्ट देदीप्यमान तारा समझें तो हिन्दू भी इसे दैव की विशेष कृपा मान सकते हैं; क्योंकि एक सच्चा और परम सुशिक्षित मनुष्य उनके पूर्वजों की तत्कालीन सभ्यता का चित्र छोड़ गया है। पुस्तक की बहुत सी बातों के साथ वे सहमत न होंगे, इसकी कई टीका-टिप्पणियों से उनके हृदयों को चोट लगेगी, परन्तु उन्हें यह मानना पड़ेगा कि उसका उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों को जनाना और उन्हें उनके यथार्थ रूप में प्रकट करना है। उन्हें इस बात को भी भूल नहीं जाना चाहिए कि कई अन्य स्थानों पर उसने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा भी की है।

पुस्तक कब और कहां लिखी गई

जिस समय अलबेरूनी ने यह पुस्तक लिखी उस समय उसका सम्राट्, महमूद—जिसने उससे (सन् ४०८ हिजरी की वसन्त ऋतु में) मध्य एशिया में स्थित उसकी प्यारी जन्म-भूमि को छुड़ा कर उसे अफ़गानिस्तान में ला बसाया था, इस लोक में न था। उसकी मृत्यु २३ वीं रवी द्वितीय सन् ४२१ हिजरी, तदनुसार बृहस्पतिवार ३० एप्रिल १०३० ई० को हो चुकी थी। पुस्तक के हस्त-लेख पर अरबी में एक नोट लिखा है। जिससे ज्ञात होता है कि अलबेरूनी ने उसे गज़नी नगरी में, पहली मुहर्रम ४२३ हिजरी, तदनुसार २६ दिसम्बर १०३१ ई० को, अर्थात् महामूद की मृत्यु के डेढ़ वर्ष बाद समाप्त किया था। इसलिए यह पुस्तक निश्चय ही ३० एप्रिल १०३० ई० और २६ दिसम्बर के बीच में किसी समय लिखी गई होगी। भारतीय प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पुस्तक ३० एप्रिल और ३० सितम्बर १०३० ई० के बीच मे कभी लिखी गई थी। आश्चर्य है कि इतने थोड़े समय में ऐसी विस्तृत और बड़ी पुस्तक कैसे लिख ली गई। इसके कई भाग पहले से ही उसके पास अवश्य तैयार पड़े रहे होंगे। जब अलबेरूनी ने यह पुस्तक लिखी वह गरमी का १०३० ई० का क्षुब्ध समय था सारा गज़नी साम्राज्य, जिसके अन्तर्गत उस समय अफ़गानिस्तान, और भारत के कई खण्ड थे, हिलता हुआ प्रतीत हो रहा था। जब राजनैतिक आंधी ने भयानक रूप धारण किया तो अलबेरूनी अपने अध्ययन के कमरे में घुसकर साहित्य-कार्य्य में मग्न हो गया। जब आंधी चली गई तो तुरन्त ही उसने अपना कार्य भी समाप्त कर दिया।

अपनी मृत्यु के पूर्व महमूद ने अपने पुत्र मुहम्मद को, जो कि बल्ख़ में रहता था, अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। नया सम्राट् बल्ख से चल कर चालीस दिन में, अर्थात् कोई ६ जून को, गज़नी की राजधानी में पहुँचा। इसके भाई मसऊद ने, जो कि इस्पहान में था, साम्राज्य के पश्चिमी अर्ध भाग पर अधिकार जमा लिया था। मुहम्मद ने इस विषय में मसऊद को लिखा, परन्तु उसने उत्तर में उसे फटकार बताई। तब मुहम्मद ने सेना लेकर हरात की ओर कूच किया ताकि वह भाई के साथ इस झगड़े को निपटावे। वह पहली रमजान को ताकिनाबाद नामक स्थान पर पहुँचा। यहीं पर उसने रोजों का महीना पूरा व्यतीत किया। परन्तु तीसरी शव्वाल (४ अक्तूबर) को जब कि वह मदिरापान से अन्धा हो रहा था, उसके सिपाहियों ने ही उस पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया। उसका चाचा; कुमार यूसुफ़, और उसके पिता महमूद का प्रिय कर्म्मचारी अलीखेशवन्द ही इस षड्यंत्र से शामिल थे। ये लोग झट मसऊद से जो मिले और मुहम्मद को उसके सिपुर्द कर दिया।

मसऊद ने इस्पहान का प्रबन्ध करके निशापुर; और हरात की तरफ़ प्रस्थान किया। हरात में ही ये राजद्रोही उसे मिले। उसने सबको दण्ड दिया। अलीखेशवन्द को झटपट मार डाला, यूसुफ़ को बन्दीगृह में फेंक दिया, और अपने भाई मुहम्मद की आँखें निकलवाली।

जुलकाद मास (३१ अक्तूबर से २६ नवम्बर तक) में मसऊद अपने पिता के साम्राज्य का एक-मात्र अधिकारी स्वीकृत हुआ। उसने शरदऋतु हिन्दूकुश के उत्तर में व्यतीत की, फिर कुछ दिन बल्ख में ठहर कर गज़नी की राजधानी में, ८ वीं जमादी द्वितीय, सन् ४२२ हिजरी (तदानुसार ३ जून १०३१ ई०) को, प्रवेश किया। मसऊद वही सम्राट् है जिसके नाम पर अलबेरूनी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक समर्पित की थी।

अलबेरूनी ने ये राजनैतिक उतार चढ़ाव सब देखे थे। तेरह वर्ष तक उसने महमूद की अपूर्व शक्ति और वैभव का अवलोकन किया था। जिस समय उसने यह पुस्तक लिखी उस समय उसकी आयु ५८ वर्ष की थी।

अलबेरूनी ने कहाँ बैठ कर पुस्तक लिखी इसका पता केवल पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर के नोट से ही लगता है कि हस्तलेख गजनी में समाप्त हुआ। उस समय गजनी एशिया की बड़ी-बड़ी राजधानियों में से एक थी। यहाँ उसे सब प्रकार के हिन्दुओं से परामर्श लेने के यथेष्ट अवसर प्राप्त थे। यहाँ हिन्दू निवासियों की संख्या सम्भवतः बहुत अधिक थी, क्योंकि काबुलिस्तान के अधिवासी हिन्दुओं तथा लड़ाई में कैद होकर आये हुओं के अतिरिक्त इस वैभवशालिनी नगरी की ओर और भी बहुत से स्वतंत्र मनुष्य खिच आये थे। ये लोग यहां सेवक, शिल्पी, और कारीगर बन कर उसी प्रकार मुसलमान विजेताओं के लिए मसजिदें और भवन बनाते थे जिस प्रकार कि दमिश्क में खलीफा उमैया के कुल के यूनानी शिल्पियों ने किया था। इनके सिवाय उत्तर पश्चिमी भारत के प्रायः सभी भागों, सभी जातियों, और सभी वर्णों के प्रतिनिनिधि रूप सिपाही, अफसर, राजनीतिज्ञ, विद्वान्, व्यपारी आदि भी यहाँ मौजूद थे।

केवल गजनी में बैठकर ही अलबेरूनी में ने भारत का अध्ययन नहीं किया। उसने स्वयं भारत की यात्रा की और सम्भवतः कई वर्ष तक वह यहाँ भ्रमण करता रहा। गजनी और काबुल के अतिरिक्त उसने निम्नलिखित स्थान देखे थे :—

गन्दी जो रिवातल अमीर अर्थात् राजा के ठहरने का स्थान भी कहलाती है। शायद यह गन्दमक नामक स्थान है।

दुनपुर जोकि मेरे खयाल में जलालाबाद है।

लमगान, पेशावर, वेहन्द या अटक, झेलम, स्यालकोट, लाहौर, नन्दन, जो कि बालानाथ नामक प्रसिद्ध पर्वत पर दुर्ग है। यह पर्वत झेलम नदी पर झुका हुआ है और आज-कल टिल्ला कहलाता है।

मन्दककूर या मन्धुकूर यह लाहौर के उत्तर में कोई कोट था तथा मुलतान।

अलबेरूनी ने केवल काबुल नदी की घाटी और पंजाब ही देखे थे। वह स्वयं लिखता है कि मैं हिन्दुओं के देश में इन स्थानों से आगे नहीं गया। इसलिए यह स्पष्ट है कि उसने दो स्थान देखे थे। एक का नाम वह राजगिरि और दूसरे का लहूर लिखता है। ठीक पता नहीं चलता कि स्थान कहाँ थे।

मुलतान से अलबेरूनी का विशेष परिचय प्रतीत होता है। इस पुस्तक में कई बार इसका नाम आया है। एक स्थान पर वह मुलतान के जल-वायु का वर्णन करता है और दूसरे स्थान पर मुलतानी संवत् के प्रारम्भ का उल्लेख है। तीसरी जगह वह मुलतान के हिन्दुओं के एक त्योहार का वृत्तान्त लिखता है। उसे मुलतान के स्थानीय इतिहास और स्थल-विवरण का अच्छा ज्ञान था। यहाँ के दुर्लभ नामक एक विद्वान् का भी वह उल्लेख करता है। अन्त में वह लिखता कि पुरशूर नामक स्थान में मैंने हिन्दुओं को शंख और ढोल बजा कर दिन का स्वागत करते देखा। उस समय हिन्दू-विज्ञान और विद्याओं के बड़े बड़े विश्व-विद्यालय कश्मीर और काशी आदि मुसलमानों के लिए दुर्गम थे।

अनुवादक के रूप में ग्रन्थकार का काम

अनुवादक के रूप में अलबेरूनी का काम दुहरा था। उसने संस्कृत से अरबी में और अरबी से संस्कृत में अनुवाद किये। वह मुसलमानों को भारतीय विद्याओं के अध्ययन का अवसर देना चाहता था, और साथ ही अरबी विद्या का हिन्दुओं में प्रचार करने की भी उसे उत्कट अभिलाषा थी। जिन पुस्तकों का उसने अरबी में अनुवाद किया है वे ये हैं :—(१) कपिल का सांख्य (२)

पतञ्जलि की पुस्तक (३) पौलिस (पौलस्त्य) सिद्धान्त, तथा, (४) ब्रह्मसिद्धान्त। दोनों पुस्तके ब्रह्मगुप्त कृत हैं। अभी इनका अनुवाद समाप्त नहीं हुआ था कि उसने भारत पर (पुस्तक लिखी) (५) बृहत्संहिता, तथा (६) लघुजातकम्। ये दोनों पुस्तकें वराह मिहिर की बनाई हुई हैं। जब वह भारत पर अपनी पुस्तक लिख रहा था उसी समय वह (१) उकलैदस (यूक्लिढ) (२) सोलमी की अलमजस्ट और (३) अस्तरलाब के निर्माण पर अपना एक निबंध, भी संस्कृत श्लोकों में लिखता जा रहा था। सम्भवतः वह शब्दार्थ अपने पण्डितों को बता देता था, और वे उसे संस्कृत श्लोक में परिणित कर देते थे।

वह पञ्चतंत्र का अरबी अनुवाद दुबारा करना चाहता था, क्योंकि पहला अनुवाद विश्वसनीय न था।

हिन्दुओं में अरबी विद्या का प्रकार करने की उसे उत्कट अभिलाषा थी। इसका भारी प्रमाण यह भी है कि उसने कश्मीर के श्यावबल (?) के लिए अरबी—ज्योतिष पर एक छोटी सी पुस्पक लिखी और इसका नाम ब्रह्मगुप्त की प्रसिद्ध पुस्तक का अनुकरण करते हुए अरबी खण्ड खाद्यक रक्खा।

भारत पर पुस्तक लिखते समय उसने साथ ही निम्नलिखित और भी पुस्तकें तैयार कीं :—

(१) ब्रह्मगुप्तकृतसिद्धान्त के अरबी अनुवाद 'सिंधिन्द' पर, जिसका मुसलमान विद्वान् प्रयोग करते थे, एक निबन्ध। (२) अल अरकन्द का नया संस्करण। यह ब्रह्मगुप्त कृत खण्ड-खाद्यक का प्रचलित अरबी अनुवाद था। पुराना अनुवाद अरब लोगों को समझ नहीं पड़ता था। इसलिए उसने मूल संस्कृत के साथ मिलकर उसका परिशोधन किया। (३) हिन्दुओं के ग्रहणों की गणनाओं पर एक पुस्तक जिसे 'ख्यालुलकुसूफैन' कहते थे। (उसका इस पुस्तक में भी उल्लेख है।) (४) सिंध और भारत में शून्यों के साथ गिनने की शैली और गणित पर एक निबंध, (५) हिन्दुओं की गणित सीखने की विधि पर, (६) यह बात दर्शाने के लिए एक पुस्तक की गिनती में दर्जे के विषय में जो अरबी विधि है वह हिन्दुओं की विधि से अधिक शुद्ध है, (७) हिन्दुओं के राशिक पर, (८) सङ्कलित पर, (९) ब्रह्मसिद्धान्त की गणित-सम्बन्धिनी विधियों का अनुवाद, (१०) हिन्दू-कालनिर्णय-विद्या के अनुसार समय का वर्तमान मुहूर्त्त मालूम करना, (११) इकहरे चान्द्र स्थानों से सम्बन्ध रखनेवाले स्थिर तारों के निश्चय करने पर एक निबन्ध, (१२) हिन्दू ज्योतिषियों के उस पर किये हुए प्रश्नों के उत्तर, (१३) उसके पास काश्मीर से आये हुए दस प्रश्नों के उत्तर, (१४) जीवन कितना लम्बा है यह हिसाब लगाने की हिन्दू-विधि, (१५) वराहमिहिर कृत लघुजातकम् का अनुवाद, (१६) बामियान की दो मूर्तियों की कथा, (१७) नीलूफर की कथा, (१८) अल्पयार (?) का अनुवाद जो कि जघन्य रोगों पर एक निबंध है, (१९) वासुदेव के भावी अवतार पर एक निबंध, (२०) एक पुस्तक का अनुवाद जिसमें इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा ज्ञातव्य सकल पदार्थों का वर्णन है। मेरी राय में इससे उसका तात्पर्य्य सांख्य से है, (२१) भौतिक जीवन के बन्धनों से मोक्ष लाभ करने पर पतञ्जलि की पुस्तक का अनुवाद, (२२) सिंधिन्द अर्थात ब्रह्मसिद्धान्त की शैली के अनुसार समीकरण को आधा करने के कारण पर निबंध, इसके अतिरिक्त उसका विचार और भी कई पुस्तकों का अनुवाद करने का था। इस विषय में वह आप ही लिखता है कि इस काम के लिए उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घायु, और बहुत से अवकाश की आवश्यकता है। अलबेरूनी ने अपने द्वितीय घर—अफगान—भारत—साम्राज्य—में तेरह वर्ष व्यतीत करने के बाद भारत पर यह अपूर्व पुस्तक लिखी थी। यदि आज कोई विदेशी भारत पर ऐसी ही पुस्तक लिखना चाहे तो उसे तेरह वर्ष से कहीं अधिक समय, अध्ययन के लिए, दरकार होगा।

ग्रन्थकार का परिचय

अबूरैहां मुहम्मद इब्न अहमद अलबेरूनी खीवा (प्राचीन ख्वारिजम) देश का रहनेवाला एक उदारशील मुसलमान था। उसका जन्म ९७३ ई० में हुआ। विज्ञान और साहित्य में निपुण होने के कारण वह मामूनी कुल का, जो कि उस समय में शासन करता था, राजमंत्री बन गया। उस समय गजनी के सिंहासन पर महमूद था। यद्यपि खीवा का शासक महमूद का नातेदार था, फिर भी महमूद उसका राज्य छीनने की धुन में रहता था। राजमंत्री अलबेरूनी खीवा नरेश को महमूद के हथकण्डों से बचाता रहता था, इसीलिए महमूद और उसका मंत्री, अहमद इब्न हसन मैमन्दी, उसे अपना कट्टर विरोधी समझते थे।

अन्ततः जब १०१७ ईसवी में महमूद ने खीवा पर चढ़ाई करके मामूनी राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर दिया और वहां के शासकों को पकड़ कर साथ ले आया तो उनके साथ ही अलबेरूनी भी लड़ाई के कैदियों में पकड़ कर लाया गया। गजनी आकर महमूद के दरबार में अलबेरूनी की दाल न गली, क्योंकि स्वयम् महमूद और उसका मंत्रिमंडल उसे अपना राजनैतिक शत्रु समझते थे। गजनी में उसका एक ही मित्र और साथी था। इसका नाम अबुल खैर अलखम्मार था। यह बगदाद का एक ईसाई तत्ववेत्ता था। गजनी में यह वैद्यक करता था। महमूद के दरबार में यदि अलबेरूनी की कुछ पहुँच थी तो केवल ज्योतिषी के ही रूप में। जैसे टाईको डी ब्राहे, सम्राट् रुडोल्फ के दरबार में था वैसे ही अलबेरूनी महमूद की कचहरी में था। महमूद को उसके धार्मिक जोश के लिए "खलीफों के वंश का दाहना हाथ", तथा "इसलाम का संरक्षक" की उपाधियां मिली थीं, पर अलबेरूनी उसके विषय में आक्षेप से लिखता है कि "उसने भारत के वैभव को सर्वथा नष्ट कर दिया, और ऐसी-ऐसी चालें चलीं कि जिनसे हिन्दू मिट्टी के परमाणुओं की भांति टूट कर बिखर गये और केवल एक ऐतिहासिक बात रह गई"।

महमूद की मृत्यु के बाद जब उसका पुत्र मसऊद राजसिंहासन पर बैठा तो अलबेरूनी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अलकानूनल मसऊदी उसे समर्पित की। इससे मसऊद बहुत प्रसन्न हुआ, और अलबेरूनी को महमूद के समय में जो शिकायतें थीं वे सब दूर हो गईं। जब गजनी के सुलतानों ने भारत पर आक्रमण किये तो, दूसरे राजनैतिक कैदी राजाओं के साथ, अलबेरूनी को भी राजसेना के साथ-साथ भारतवर्ष में घूमना पड़ा।

हिन्दू और उनके विचार उसे बड़े रोचक प्रतीत होते थे। इनका अध्ययन करने में उसे बड़ा आनन्द मिलता था। वह उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय की बड़े अनुराग के साथ खोज करता था। महमूद की दृष्टि में हिन्दू काफिर थे—जिन्हें कि नरक की भट्टी में जलना पड़ेगा। इन पर आक्रमण करके अपने खजानों को सोने और रत्नों से भर लेना ही उसका मुख्य था। पर अलबेरूनी की यह बात न थी। वह हिन्दुओं को श्रेष्ठ तत्ववेत्ता, उत्तम गणितज्ञ, और निपुण ज्योतिर्विद समझता थ। हां, जो दोष उसे इनके अन्दर देख पड़ते थे उन्हें वह कदापि नहीं छिपाता था; प्रत्युत कठोर शब्दों में उनकी आलोचना करता था। पर साथ ही उनके छोटे से छोटे गुणों की प्रशंसा में भी उसने त्रुटि नहीं रक्खी। तीर्थों पर स्नान-घाट निर्माण कराने के विषय में वह कहता है:—"इस विद्या में उन्होंने बहुत उन्नति की है। हमारे लोग (मुसलमान) जब घाटों को देखते हैं तो चकित रह जाते हैं। वैसा बनाना तो दूर रहा उनका वर्णन करने में भी हम असमर्थ हैं।"

ऐसा मालूम होता है कि अलबेरूनी भारतीय दर्शन-शास्त्र की ओर बहुत झुका हुआ था। उसकी राय में प्राचीन भारत तथा यूनान के तत्ववेत्ताओं का वास्तव में एक ही मत था। अशिक्षित जन भले ही मूर्तिपूजन करते हों परन्तु इन तत्ववेत्ताओं का मत विशुद्ध 'एक-मेवाद्वितीयं ब्रह्म' था।

"प्रतिमा पूजन का मूल कारण मृतकों के स्मरणोत्सव मनाने और जीवितों को शान्त करने की आकांक्षा थी, पर बढ़ते-बढ़ते अब यह एक जटिल और हानिकारक रोग बन गया है।" हिन्दू विद्वानों के विषय में वह कहता है कि "उन्हें परमात्मा की सहायता है"। ये ऐसे शब्द हैं जिन्हें सुन कर आज-कल के मुसलमान उसे काफिर कह उठेंगे, क्योंकि इनका अर्थ यह है कि उन्हें ईश्वरीय ज्ञान मिलता है। जहां कहीं उसे हिन्दू-जीवन का कृष्ण पक्ष दिखलाना पड़ा है वहां वह झट ही मुड़ कर प्राचीन अरबियों के आचार-व्यवहार का मुकाबला करने लग जाता है—कि वे भी इस बात में हिन्दुओं से अच्छे न थे। इससे उसका अभीष्ट यही है कि मुसलमान पाठक सुलतान महमूद के असभ्य सैनिकों द्वारा पादाक्रान्त हिन्दुओं के सामने गर्व से अपने को उच्चतर प्रकट न करें, और यह न भूल जायँ कि इसलाम के प्रवर्तक भी कोई देवता न थे। शायद हिन्दुओं के साथ इस सहानुभूति का कारण यह था कि उसका अपना देश खीवा भी महमूद के हाथों भारत की ही भांति पीड़ित होकर हाहाकार कर रहा था।

अलबेरूनी ने भारत पर अरबी भाषा में कोई बीस पुस्तकें लिखी हैं, पर उनमें से हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण यही एक पुस्तक है। जिस समय यह पुस्तक लिखी जा रही थी सारा देश युद्ध और लूट-खसोट से अशान्त हो रहा था। परन्तु यह पुस्तक क्या है मानो इस अशान्त महासागर में एक प्रशान्त द्वीप है जिसमें जातीय पक्षपात की गन्ध नहीं।

भगवद्गीता के पवित्र विचारों ने उसे मोहित कर लिया था। अलबेरूनी ही पहला मुसलमान था जिसने इस पुस्तक-रत्न को मुसलमानों के सामने रक्खा। इसी ने पहले पुराणों का अध्ययन किया। भारत में आने के पहले वह ब्रह्म-सिद्धान्त, खण्ड-खाद्यक, पंचतंत्र, करणसार और चरक का अरबी अनुवाद पढ़ चुका था। भारत में आकर उसने ज्योतिष के ग्रन्थ मूल संस्कृत में पढ़ना आरम्भ किया और पण्डितों की सहायता से पौलिस (पौलस्त्य ?) सिद्धान्त का अरबी में अनुवाद किया।

अलबेरूनी एक बहुत बड़ा विद्वान् और सत्यानुरागी पंडित था। भारत पर लिखी उसकी इस पुस्तक में निम्नलिखित संस्कृत ग्रंथों के अवतरण मिलते हैं:—धर्म और दर्शन-शास्त्रों में—सांख्य, पतंजलि और गीता। पुराणों में—विष्णु-पुराण, मत्स्य-पुराण, वायु-पुराण, और आदित्य-पुराण। ज्योतिर्विद्या, भूगोल, कालनिर्णय-विद्या और नक्षत्र-विद्या में—पौलिस (पौलस्त्य ?) सिद्धान्त, खण्ड-खाद्यक, ब्रह्मगुप्तकृत उत्तर खंड-खाद्यक, बलभद्र की खंड-खाद्यक पर टीका, वराहमिहिर कृत बृहज्जातकम् और लघुजातकम् बृहत्संहिता पर काश्मीर के उत्पल की टीका, छोटे आर्य्य भट्ट की एक पुस्तक, वित्तेश्वर-कृत करणसार, विजयनन्दिन्-कृत करण-तिलक, श्रीपाल, ब्राह्मणभट्टिल की पुस्तक, दुर्लभ की पुस्तक (मुलतान वाली), जीव शर्मन की पुस्तक, कृपि की पुस्तक भुवनकोश, समय की पुस्तक, सहावी के पुत्र औलियत्त की पुस्तक (?) पंचलकृत लघुमानस, महादेव चन्द्रबीज-कृत श्रुधव (सर्वधर ?) कशमीर का एका पंचाङ्ग। चिकित्सा पर—चरक। छन्दों पर—हसरिभट्ट का एक शब्दकोश, हाथियों पर—गज-चिकित्सा पर एक पुस्तक।

रामायण, महाभारत और मानव धर्मशास्त्र का भी उसने उल्लेख किया है, पर ऐसी रीति से जिससे यह प्रकट नहीं होता कि ये पुस्तकें उसके सामने थी।

इनके अतिरिक्त कोई चौबीस यूनानी पुस्तकों के अवतरण भी इसमें मिलते हैं। अलबेरूनी ने यूनानी पुस्तकों के अरबी अनुवाद ही पढ़े थे। वह स्वयम् यूनानी नहीं जानता था।

अलबेरूनी का सन् १०४८ ई० में देहान्त हुआ। फिर उसके बाद अकबर के समय तक मुसलमानों के अन्दर वैसा संस्कृतानुरागी दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ। उसके बाद कई लेखक पैदा हुए जिन्होंने उसकी पुस्तक से नकल की, परन्तु जिस भाव और जिस रीति से वह कार्य्य करता था उस तरह

कोई न कर सका। हम यहाँ दो लेखकों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जो कि उसके थोड़े ही दिनों बाद गजनी में उसी वंश के अधीन हुए। उनमें से एक का नाम गर्देजी है। इसने १०४९ ई० से १०५२ तक लिखने का का काम किया। दूसरा मुहम्मद इब्न उकैला—था। यह १०८९ ई० से १०९६ तक लिखता रहा। पिछले ग्रंन्थकारों में से जिन्होंने अलबेरूनी की इस पुस्तक का अध्ययन किया और उसकी नकल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रशीदुद्दीन है। इसने सारे का सारा भौगोलिक परिच्छेद (१८ वां) अपने बृहत्काय इतिहास में रख लिया है।

जब अलबेरूनी भारत में आया वह समय भारतीय विद्वानों को मित्र बनाने के लिए अनुकूल न था। भारत भ्रष्ट म्लेच्छों के स्पर्श से सिकुड़ा जा रहा था। पालवंश जो कभी काबुलिस्तान और पंजाब पर शासन करता था, इतिहास के रंगमंच से लुप्त हो चुका था। उसके पहले देश सम्राट महमूद के दृढ़ पंजे में था और उन पर तुर्कवंश के दास शासन करते थे। उत्तर-पश्चिमी भारत के राजा लोग इतने अनुदार थे और वे आत्माभिमान में इतने अन्धे हो रहे थे कि गजनी से आनेवाले भय का अनुभव नहीं करते थे। वे इतने अदूरदर्शी बन रहे थे कि अपनी रक्षा करने और शत्रु को मार भगाने के लिए भी आपस में न मिल सकते थे। आनन्दपाल को अकेले ही सामना करना पड़ा और वह गिर गया; परन्तु बाकी सबकी भी उसके बाद एक-एक करके वही गति हुई। जो लोग म्लेच्छों के दास नहीं बनना चाहते थे वे सब भाग कर समीपवर्ती हिन्दू साम्राज्यों में जा बसे।

काश्मीर अभी तक स्वाधीन था और विदेशियों के लिए उसके द्वार सर्वथा बन्द थे। आनन्दपाल भाग कर वहाँ चला गया था। महमूद ने उस देश को भी जीतने का यत्न किया था पर उसे सफलता न हुई थी। जिस समय अलबेरूनी ने पुस्तक लिखी, राजशासन संग्रामदेव (१००७—१०५० ई०) के हाथ से निकल कर अनन्तदेव (१०३०—१०८२ ई० के पास चला गया था।

मध्य और अवर सिन्ध में महमूद ने बहुत कम हस्तक्षेप किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश छोटे छोटे मांडलिक राज्यों में विभक्त था और छोटे छोटे मुसलमान-वंश उनके मण्डलेश्वर थे।

१०२५ ई० में सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण ने, जो कि मास्को पर नेपोलियन के आक्रमण के सदृश था, गुजरात की—जिसकी राजधानी अनहिलवाड़ा या पट्टन थी—अवस्थाओं में कोई स्थायी परिवर्तन पैदा किया मालूम नहीं होता। देश पर उस समय सोलङ्की-कुल का प्रभुत्व था। इस कुल ने ९८० ई० में चालुक्यों का स्थान लिया था। राजा चामुंड महमूद के सामने से भाग गया, जिससे उसने उसी कुल के एक और राजकुमार देवशर्मन् को गद्दी पर बिठला दिया। परन्तु इसके थोड़े ही दिन बाद हम चामुंड के दुर्लभ नामक एक पुत्र को १०३७ ई० तक गुजरात का राजा पाते हैं।

मालवा पर परमार-वंश का शासन था। इन्होंने भी काश्मीर के राजाओं की भांति काबुलिस्तान के एक पालवंशीय युद्धपराङ्मुख राजा को अपने यहाँ आश्रय दिया था। अलबेरूनी ने मालवा के भोजदेव का उल्लेख किया है। इसका शासन-काल ९९७ ई० से लेकर १०५३ ई० तक है। धार में—जहाँ कि वह उज्जैन से उठ कर गया था—उसका राज दरबार तत्कालीन विद्वानों का समागम स्थान बन रहा था।

कन्नौज उस समय गौड अथवा बङ्गाल के पाल राजाओं के अधिकार में था। ये राजा मुङ्गेर में रहते थे। महमूद ने कन्नौज को राज्यपाल के शासन-काल में, १०१७ ई० में, लूट कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, इसलिए म्लेच्छों से दूर, बारी नामक एक नवीन नगर की नींव रक्खी गई, परन्तु

ऐसा जान पड़ता है कि यह नया नगर कुछ फला फूला नहीं। इस स्थान में रहते हुए राजा महीपाल ने १०२६ ई० के लगभग अपने साम्राज्य को बढ़ाने और सुदृढ़ करने का यत्न किया। कहते हैं कि ये दोनों राजा बौद्ध थे।

भारतीय विद्याओं के केन्द्र काशी और कश्मीर थे, और ये दोनों ही अलबेरूनी ऐसे व्यक्ति के लिए अगम्य थे। परन्तु मुसलमानों के अधिकार में भारत का जितना भाग था उसमें से, और शायद गजनी में युद्ध के कैदियों में से भी, उसे उसकी आवश्यकता को पूरा करनेवाले अनेक पण्डित मिल गये थे।

अलबेरुनी और बौद्ध धर्म

अलबेरूनी के समय का भारत बौद्ध न था, पौराणिक था। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम अर्ध भाग में मध्य एशिया, खुरासान, अफगानिस्तान, और उत्तर-पश्चिमी भारत से बौद्ध-धर्म का नामों-निशान सर्वथा मिट चुका सा प्रतीत होता है; और यह एक अद्‌भुत बात है कि अलबेरूनी ऐसे जिज्ञासु को बौद्ध-धर्म के विषय में कुछ भी मालूम न हो, और न इस विषय की जानकारी लाभ करने के लिए ही उसके पास कोई साधन हो। बौद्ध-धर्म की उसने बहुत कम चर्चा की है, और जो की भी है वह सब ईरान शहरी की पुस्तक के आधार पर की है। ईरान शहरी ने स्वयम् जर्कान की पुस्तक से नकल किया है।

कहते हैं बुद्ध ने चूडामणि नामक एक पुस्तक रची थी। बौद्धों या शमनियों (श्रमणों) को अलबेरूनी ने मुहम्मिर अर्थात लाल वस्त्रोंवाले (रक्तपट) लिखा है। बौद्ध त्रिमूर्ति, बुद्ध, धर्म, संघ आदि का वर्णन करते हुए वह बुद्ध को बुद्धोदन लिखता है।

बौद्ध ग्रंथकारों में चन्द्र नामक एक वैयाकरण, सुग्रीव नामक एक ज्योतिषी और उसके एक शिष्य का ही उल्लेख अलबेरूनी करता है।

अलबेरूनी लिखता है कि उसके समय में राजा कनिष्क का बनाया हुआ एक भवन पेशावर में मौजूद था। इसका नाम कनिकचैत्य था। यह वही स्तूप मालूम होता है जिसके विषय में कहते हैं कि स्वयम् भगवान् बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार राजा ने इसका निर्माण कराया था।

भारतवर्ष में प्रचलित लिपियों की गिनती करते हुए वह सबसे अन्त में "पूर्वदेशान्तर्गत उदनपुर में प्रचलित भैचुकी" का नाम लेता है। यह स्वयम् बुद्ध की लिपि मानी जाती है। यह उदनपुर कहीं मगधदेश का वही प्रसिद्ध बौद्ध- विहार दण्ड-पुरी ही तो नहीं है जिसको कि मुसलमानों ने १२०० ई० में नष्ट कर दिया था ?

वह बुद्ध और जरदुश्त की पारस्परिक विपक्षता का दो बार उल्लेख करता है। यदि अलबेरूनी को भारत-भ्रमण के लिए ऐसा ही सुभीता मिला होता जैसा कि ह्यून-त्साङ्ग को था तो वह निस्सन्देह सुगमता से ही बौद्ध-धर्म्म के विषय में पर्य्याप्त जानकारी लाभ कर लेता। अलबेरूनी के ब्राह्मण पण्डितों को बौद्ध-धर्म्म का पर्य्याप्त ज्ञान था, पर सम्भवतः वे उसे कुछ बताना नहीं चाहते थे।

अन्ततः जिस भारत को अलबेरूनी ने देखा वह वैष्णव-धर्म्मावलम्बी था, शैव नहीं। महमूद के पहले काबुलिस्तान और पञ्जाब के शासक, पालवंशीय राजा, शिव के उपासक थे। यह बात उनके सिक्कों पर शिव के बैल नन्दी की मूर्त्ति, और उनके अपने नामों की शैली से प्रमाणित

होती है। राजा महमूद के गजनी के सिंहासन पर अन्तिम बैठनेवाले उत्तराधिकारी के सिक्कों पर हम नन्दी की मूर्त्ति को दुबारा पाते हैं।

ग्रन्थकार की गुणदोष विवेचना

अलबेरूनी पूर्व-कालीन सिद्धान्तों का अन्धाधुन्ध स्वीकार नहीं कर लेता, वह उन्हें समझना और उनकी आलोचना करना चाहता है। वह भूसे से गेहूँ को अलग करना चाहता है। जो वस्तु प्रकृति और तर्क के नियमों का विरोध करती है उसी को वह दूर फेंक देता है। पाठकों को जानना चाहिए कि अलबेरूनी विज्ञान का भी पण्डित था। उसने दिग्विद्या, यन्त्रगति-विद्या, खनिज-विद्या, और रसायन-शास्त्र आदि सृष्टि-विज्ञान की बहुत सी शाखाओं पर पुस्तकें प्रकाशित की थीं; देखिए भारत-वर्ष के एक समय में समुद्र होने के चिन्हों पर उसका भौगोलिक विमर्श (परिच्छेद १८), और उसके पदार्थविज्ञान का एक विशेष नमूना (परिच्छेद ४७)। मुझे निश्चय है कि वह ऐहिक जगत् पर नक्षत्रों के प्रभाव को मानता था, यद्यपि वह ऐसा कहीं कहता नहीं। इस विषय की सत्यता पर यदि उसका विश्वास न होता तो वह यूनानी और भारतीय फलित-ज्योतिष के अध्ययन में इतना समय और परिश्रम क्यों लगाता यह बात समझ में नहीं आती। वह एक जगह भारतीय फलित-ज्योतिष का उल्लेख करता है, क्योंकि मुसलमान पाठक "फलितज्योतिष की हिन्दू-विधियों से अन-भिज्ञ हैं, और उन्हें किसी भारतीय पुस्तक के अध्ययन का कभी अवसर नहीं मिला।" (परिच्छेद ८०)। बार्डेसिनीज नामक एक सीरिया-देशीय तत्ववेत्ता और कवि ने जो कि ईसा की दूसरी शता-ब्दी के उत्तरार्ध में हुआ है, फलित-ज्योतिष को स्पष्ट और प्रभावशाली शब्दों में बुरा कहा है। अलबेरूनी इस ऊँचाई को नहीं पहुँचा, वह यूनानी फलितज्योतिष की कल्पनाओं में ही उलझा रहा है।

उसका रसायन (कीमियागरी) में विश्वास न था, क्योंकि वह रसायन-विद्या और खनिज-विद्या-सम्बन्धी क्रियाओं को अभिप्रेत प्रपंच से अलग समझता है और उसकी कठोर से कठोर शब्दों में निन्दा करता है। (परिच्छेद १७)

वह आधुनिक भाषातत्व-शास्त्री की तरह हस्तलेख की गुण-दोष-विवेचना करता है। कभी वह मूल ग्रंथ को बुरा मान लेता है और फिर उस बुराई के कारण की खोज करता है। वह विविध पाठों पर विचार करता है और संशोधन का प्रस्ताव करता है। वह भिन्न भिन्न अनुवादों की विवे-चना और लिपिकारों की अज्ञानता और असावधानता की शिकायत करता है। (परिच्छेद १५, ५५) वह भली भाँति जानता है कि भारतीय पुस्तकें बुरी तरह से अनुवादित होने और क्रमिक लिपिकारों द्वारा असावधानी से नकल की जाने के कारण इतनी भ्रष्ट हो जाती हैं कि यदि उस रूप में कोई पुस्तक उसके भारतीय ग्रंथकार को दिखलाई जाय तो वह अपनी कृति को कभी पहचान न सके! ये सब शिकायतें पूर्णतया सत्य हैं, विशेषतया विशेष संज्ञाओं के विषय में। अपने संशोधन-सम्बन्धी लेखों में उसका कई बार अपने मार्ग से विचलित हो जाना (उदाहरणार्थ, उसका ब्रह्मगुप्त के साथ पूरा पूरा न्याय करने के लिए तैयार न होना) क्षन्तव्य है, क्योंकि उस समय शुद्ध और पूर्ण रूप से संस्कृत पढ़ना प्रायः असम्भव सा था।

दस वर्ष हुए—जब मैंने अलबेरूनी की जीवन का प्रथम आलेख्य तैयार किया था तो मुझे आशा थी कि उसके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी सामग्री का पता पूर्व और पश्चिम के

पुस्तकालयों से मिलेगा। परन्तु, जहां तक मुझे मालूम है, ऐसा नहीं हुआ। उसके शील का अनुमान करने के लिए हमें उसकी पुस्तकों का पाठ करना और उन्हीं में से जो थोड़े बहुत लक्षण मिलें उन्हें चुनना पड़ेगा। इसलिए इस समय उसके शील का चित्र बहुत अधूरा है। और जब तक उसकी लेखनी से निकली हुई सारी पुस्तकों का अध्ययन न हो, और जब तक वे विद्वानों तक न पहुँच जायँ, विज्ञान के उत्कर्ष के लिए उसकी सेवा के निमित्त सविस्तर कृतज्ञता का प्रकाश नहीं किया जा सकती। उसके कार्य्य के मुख्य क्षेत्र ज्योतिष, गणित, कालगणना, गणित-विषयक भूगोल, रसायन-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान और खनिजविद्या हैं। उसने, अनुवाद और मूलरचनाएँ मिलाकर, भारत-सम्बन्धी प्रायः बीस पुस्तकें, और बहुत सी कथाएँ, और आख्यायिकाएँ, जिनका आधार भारत और ईरान का प्राचीन पाण्डित्य है, लिखी हैं। उसने अपनी मातृभूमि, ख्वारिज्म, और करामत के प्रसिद्ध सम्प्रदाय के इतिहास भी लिखे थे, परन्तु शोक है कि ये दोनों पुस्तकें, जो सम्भवतः तत्कालीन ऐतिहासिक साहित्य के लिए बहुमूल्य साहाय्य थीं, आज अप्राप्य हैं।

ग्रन्थकार की प्रकृति

धर्म और दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी विचारों में अलबेरूनी स्वतंत्र है वह स्पष्ट, निश्चित और पुरुषोचित शब्दों का मित्र है। वह अर्धसत्य संदिग्ध शब्द और अस्थिर कर्म से घृणा करता है। सब कहीं वह अपने विश्वासों को मनुष्योचित साहस के साथ उपस्थित करता है—जिस प्रकार धर्म और तत्वज्ञान में, वैसे ही राजनिति में भी। नवें और इकहत्तरवें परिच्छेदों की भूमिका में राजनैतिक तत्वज्ञान के कई अद्भुत वाक्य हैं। परिवर्तन-विरोधी-स्वभाव का नीतिज्ञ होने के कारण वह राज-सिंहासन और धर्म की वेदी का पक्ष लेता है और कहता है कि "इन दोनों का संयोग मनुष्य-समाज का सर्वोच्च विकास है। इससे बढ़कर मनुष्य और किसी बात की इच्छा नहीं कर सकता" (परिच्छेद ९)। वह बायबिल के नियमों की कोमलता की प्रशंसा करने में भी समर्थ है। "जिसने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारा है उसके आगे दूसरा भी कर देना, अपने शत्रु के लिए आशीर्वाद देना और उसके लिए प्रार्थना करना—मेरे प्राणों की शपथ, यह एक उच्च तत्वज्ञान है, पर इस संसार के मनुष्य सभी तत्ववेत्ता नहीं। उनमें से बहुत से मूर्ख और अल्पबुद्धि हैं। तलवार और कोड़े के बिना उन्हें सन्मार्ग पर रखना कठिन है। वस्तुतः जब से विजेता कन्स्टन्टाइन ईसाई हुआ, तलवार और कोड़े का सदा प्रयोग होता रहा है, क्योंकि इनके बिना शासन करना असम्भव होगा" (परिच्छेद ७१)। यद्यपि वह व्यवसाय से पण्डित था; फिर भी वह विषय का व्यवहारिक पक्ष लेने में समर्थ है; और वह खलीफा मुआविया की इसलिए प्रशंसा करता है कि उसने सिसली की सोने की देव-मूर्तियों को काफिरों की जघन्य वस्तुएँ समझ कर नष्ट करने के स्थान में उन्हें सिन्ध के राजाओं के हाथ रुपया लेकर बेच दिया था, यद्यपि ऐसी दशा में कट्टर मुसलमान मूर्तियों के खण्डित होने से ही प्रसन्न होते हैं। उसका राज-सिंहासन और धर्म-वेदी के संयोग का उपदेश उसे "पुजारियों और पुरोहितों के उन सांकेतिक छलों" की स्पष्ट शब्दों में निन्दा करने से नहीं रोकता जो कि वे अबोध जन-साधारण को अपने फन्दे में जकड़े रखने के लिए करते हैं।

वह क्या अपनी और क्या दूसरों की—बड़ी कड़ी परीक्षा करता है। वह आप पूर्णतया सरल प्रकृति का है और दूसरों से भी सरलता ही चाहता है। जब कभी वह किसी विषय को भलीभांति नहीं समझ सकता, या उसके किसी एक अंश को ही समझता है, तो यह बात वह झट अपने पाठक से कह देता है। ऐसे अवसर पर या तो वह अपनी अज्ञता के लिए पाठक से क्षमा माँगता है, या,

अट्ठावन वर्ष की आयु होते हुए भी, परिश्रम को जारी रखने और उसक परिणाम समय पर प्रकाशित करने की प्रतिज्ञा करता है—मानों जनता के लिए नैतिकदायित्व से कार्य्य कर रहा है। वह सदैव अपने ज्ञान की सीमाओं को स्पष्ट बतला देता है। यद्यपि हिन्दुओं की छन्द-विद्या का उसे थोड़ा ज्ञान है पर जो कुछ भी उसे आता है वह सब बता देता है। इस समय उसका सिद्धान्त यह है कि 'बहुत अच्छा' 'अच्छे' का शत्रु न होना चाहिए, मानो उसे डर है कि उपस्थित विषय का अध्ययन समाप्त होने के पूर्व ही कहीं उसकी मानव-लीला समाप्त न हो जाय। वह उन लोगों का मित्र नहीं जो अपनी अज्ञता को मैं नहीं जानता कह कर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करने से घृणा करते हैं; और जब कहीं वह सरलता का अभाव देखता है तो उसे बड़ा क्रोध आता है। ब्रह्मगुप्त यदि ग्रहणों के विषय में दो सिद्धान्तों (एक तो राहु नामक नाग का प्रकाशमान लोक को निगल जाना—जैसा कि लोकप्रिय है, और दूसरा वैज्ञानिक), की शिक्षा देता है, तो वह—जाति के पुरोहितों के अनुचित दबाव से, और उस प्रकार की विपत्ति के डर से जो कि अपने देश-भाइयों के प्रचलित विचारों के विरुद्ध सम्मति रखने से सुकरात पर आई थी—निश्चय ही अपनी आत्मा के विरुद्ध पाप करता है (देखो परिच्छेद ५६)। एक और स्थल पर वह ब्रह्मगुप्त को आर्य्यभट्ट के साथ अन्याय और अशिष्टता का वर्ताव करने के लिए दोषी ठहराता है (परिच्छेद ४२)। वराहमिहिर की पुस्तकों में वह ऐसे वाक्य पाता है जो एक सत्य वैज्ञानिक पुस्तक के सामने उसे "एक पागल की बकवाद" प्रतीत होते हैं, परन्तु इतनी दया उसने दिखाई है कि यह कह दिया है कि उन वाक्यों में कुछ गूढ़ अर्थ छिपे पड़े हैं जो कि उसे मालूम नहीं, पर वे ग्रंथकार के लिए श्रेयस्कर हैं। जब वराहमिहिर साधारण ज्ञान की सब सीमाओं का उल्लङ्घन कर जाता है तो अलबेरूनी विचारता है कि ऐसी बातों का उचित केवल मौन ही है।" (परिच्छेद ५६)

उसका व्यावसायिक उत्साह और यह सिद्धान्त कि विद्या पुनरावृत्ति का ही फल है (परिच्छेद ७८) उससे कई बार पुनरुक्ति कराते हैं, और उसकी स्वाभाविक सरलता उससे कठोर और उग्र शब्दों का व्यवहार करा देती है। वह भारतीय लेखकों और कवियों के—जो जहाँ एक शब्द से काम निकल सकता है वहाँ शब्दों के पुलन्दे रख देते हैं—वाक्प्रपंच से, शुद्धभाव से घृणा करता है। वह इसे "बकवाद-मात्र—लोगों को अन्धकार में रखने और विषय पर रहस्य का आवरण डालने का एक साधन—बतलाता है। प्रत्येक दशा में यह (एक ही बात को दर्शानेवाले शब्दों को) विपुलता सम्पूर्ण भाषा को सीखने की इच्छा रखनेवालों के सामने दुःखदायक काठिन्य उपस्थित करती है, और इसका परिणाम केवल समय का नाश है" (परिच्छेद २१, २६, १)। वह दोबार दीवजान अर्थात मालद्वीप और लक्षद्वीप के मूल की (परिच्छेद २१, ५८) और दो बार भारतसागर की सीमाओं के आकार की व्याख्या करता है।

जहाँ कहीं उसे कपट का सन्देह होता है वह झट उसे कपट कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं करता। रसायन अर्थात स्वर्ण बनाने, वृद्धों को युवक बनाने आदि के घोर व्यापार का विचार करके उसके मुख से विद्रूपात्मक शब्द निकल पड़ते हैं जो कि मेरे इस अनुवाद की अपेक्षा मूल में अधिक स्थूल है (परिच्छेद १७)। इस विषय पर वह जोरदार शब्दों में अपना कोप प्रकट करता है—"सोना बनाने के लिए अज्ञ हिन्दू राजाओं की लोलता की कोई सीमा नहीं"—इत्यादि। इक्कीसवें परिच्छेद में जहाँ वह एक हिन्दू लेखक की सृष्टि-वर्णन-विशयक बकवाद की आलोचना करता है उसके शब्दों से घोर रसिकता टपकती है—"हमें तो पहले ही सात समुद्रों और उनके साथ साठ पृथ्वियों की गिनती करना क्लेश-जनक प्रतीत होता था, और अब यह लेखक समझता है कि

हमारी पहली गिनी हुई पृथ्वियों के नीचे कुछ और अधिक पृथ्वियों की कल्पना करके वह इस विषय को अधिक सुगम और मधुर बना सकता है।" जब कन्नौज के मदारी उसे कालगणना की शिक्षा देने बैठे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कठोर-हृदय विद्वान अपनी हँसी को नहीं रोक सका। "मैंने उनमें से प्रत्येक की परीक्षा करने, और वही प्रश्न भिन्न-भिन्न समयों और भिन्न-भिन्न क्रमों और प्रसङ्गों में दुहराने में बहुत सूक्ष्मता से काम लिया। परन्तु देखिए ! क्या भिन्न-भिन्न उत्तर मिले ! परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है !" (परिच्छेद ६२)।

ग्रन्थकार की शैलि

प्रायः हमारे ग्रंथकार की यह शैली है कि वह अपनी ओर से कुछ नहीं कहता बल्कि हिन्दुओं को ही कहने देता है, और उनके श्रेष्ठ लेखकों की पुस्तकों से विस्तीर्ण अवतरण उपस्थित करता है। वह हिन्दू-सभ्यता का ऐसा चित्र उपस्थित करता है जो कि स्वयम् हिन्दुओं ने चित्रित किया है। पहले वह विषय का संक्षिप्त सार फिर ज्योतिष, फलित-ज्योतिष, तत्वज्ञान और धर्म पर जो परिच्छेद हैं उनमें संस्कृत पुस्तकों के अवतरण हैं; और हिन्दुओं के सिद्धान्त, साहित्य, ऐतिहासिक कालगणना, भूगोल, नियम, रीति-रिवाज और आचार व्यवहार पर जो परिच्छेद हैं उनमें और और जानकारी की बातें या वे बातें हैं जो उसने स्वयं देखी थीं। वह कई बार अत्यन्त वैदेशिक विषयों को उनकी प्राचीन यूनानी सिद्धान्तों से तुलना करके या अन्य उपमाओं द्वारा अपने पाठकों को भलीभाँति समझा देने का यत्न करता है। इस प्रकार के क्रम का उदाहरण पाँचवें परिच्छेद में मिलता है। प्रत्येक परिच्छेद के विधान में, और परिच्छेदों के अनुक्रम में एक स्पष्ट और भलीभाँति निरूपित कल्पना देख पड़ती है। किसी प्रकार की कोई फालतू बात बिलकुल विषयोचित और यथा सम्भव सुबद्ध हैं। सारी रचना में प्रांजलता और श्रेष्ठ क्रम को देख कर वह हमें निपुण गणितज्ञ जान पड़ता है और उसके लिए इस तरह क्षमा माँगने का शायद ही मुश्किल से कोई अवसर मालूम होता है जिस तरह कि वह पहले परिच्छेद के अन्त में माँगता है कि "मैं सब कहीं रेखागणित शास्त्र के नियमों का पालन नहीं कर सका, और कई जगह अज्ञातांश को लाने के लिए बाधित हुआ हूँ, क्योंकि उसकी व्याख्या पुस्तक के पिछले भाग में ही हो सकती थी।"

भारत सम्बन्धी अध्ययन

पहले अबूसईद खलीफाओं के समय में जिन पुस्तकों का अनुवाद हुआ या उनमें से कई एक —जैसे कि ब्रह्मसिद्धान्त या सिंधिन्द, और अलफजारी तथा याकूब ईब्न तारिक के खण्डखाद्यक या अर्कन्द, के संस्करण, पञ्चतंत्र या कलीला और दिमना, और अली इब्न जैन का चरक का संस्करण—वर्तमान पुस्तक को लिखने के समय अलबेरूनी के पुस्तकालय में मौजूद थीं। उसने वित्तेश्वरकृत करणसार के एक अरबी भाषान्तर का भी उपयोग किया था, परन्तु वह यह नहीं बताता कि यह भाषान्तर पुराना था या उसी के समय में हुआ था। इन पुस्तकों से अलबेरूनी के सामने वही कठिनाइयाँ आईं जिनको वह बार बार शिकायत करता है और जो हमारे सामने आ रही हैं; अर्थात अनुवादकों के दोषों के अतिरिक्त लिपिकारों की असावधानता से मूल में, विशेपतया विशेष संज्ञाओं के विषय में, बहुत सी खराबी का पैदा होना।

जब अलबेरूनी ने भारत में पदार्पण किया तो उसे सम्भावतः भारतीय गणित, ज्योतिप और कालनिर्णयविद्या का अच्छा ज्ञान था। यह ज्ञान उसने ब्रह्मगुप्त और उसके अरबी सम्पादकों के

अध्ययन से प्राप्त किया था। विशुद्ध गणित में उसका और अरबियों का कौन सा हिन्दू ग्रंथकार गुरु था इसका कुछ पता नहीं। अलफ़ज़ारो और याक़ूब इब्नतारिक के अतिरिक्त उसने अलख्वारिज्मी से शिक्षा पाई थी, अहवाज के अबुलहसन से कुछ पढ़ा था, बल्ख के अबू मअशर और अलकिन्दी से मामूली मामूली बातें सीखी थीं, और अलजहानी की प्रसिद्ध पुस्तक से शुद्ध विचारों का ज्ञान प्राप्त किया था। वर्त्तमान पुस्तक में जिन अन्य स्रोतों का उसने उपयोग किया है उनमें से वह दो के अवतरण देता है। (१) एक मुसलमानी शास्त्र जिसका नाम अलहर्कीन अर्थात अहर्गण है। मुझे पुस्तक के इतिहास का पता नहीं चल सका, पर मेरी राय में यह भारतीय तिथियों को फारसी और अरबी तिथियों में तथा फारसी और अरबी तिथियों को भारतीय तिथियों में बदलने के लिए कालनिर्णय विद्या की एक क्रियात्मक पुस्तिका थी। तिथियों को बदलने की आवश्यकता सबुक्तगीन और महमूद के अधीन शासन सम्बन्धी प्रयोजनों के लिए पैदा हुई थी। इसके रचयिता का नाम नहीं मिलता। (२) अबू अहमद इब्न कतलगतगीन से अवतरण है कि उसने गणना कर ली और थानेश्वर के अक्षरों की संख्या निकाली थी।

नक्षत्र-विद्या सम्बन्धी विषयों पर और भी दो ग्रंथकारों के उदाहरण दिये गये हैं परन्तु ये भारतीय नक्षत्र-विद्या के सम्बन्ध में नहीं हैं। इनमें से एक तो सराख्स का मुहम्मद इब्न इसहाक है और दूसरी एक पुस्तक है जिसका नाम ग़ुर्रतल जीजात है। यह शायद किसी भारतीय स्रोत से निकली है क्योंकि इसका नाम करणतिलक से मिलता है। इसका लेखक शायद आमुल का अबू मुहम्मद अलनाइब है। भारत में अलबेरूनी ने भारतीय ज्योतिष का अध्ययन पुनः आरम्भ किया। इस बार अनुवाद से नहीं बल्कि मूल संस्कृत से, इस समय हमें यह एक अद्भुत बात दिखाई देती है कि जो पुस्तकें भारत में प्रायः ७७० ई० में प्रामाणिक समझी जाती थीं वे अब १०२० ई० में भी वैसी ही प्रामाणिक थीं, उदाहरणार्थ ब्रह्मगुप्त की पुस्तकें। विद्वान् पण्डितों से सहायता पाकर उसने इनका और पुलिस (पौलस्त्य ?) सिद्धान्त का भाषान्तर करने का यत्न किया, और जब उसने वर्त्तमान पुस्तक रची वह भारतीय ज्योतिष के विशेष विषयों पर कई पुस्तकें लिख चुका था और ऐसी पुस्तकों में से वह इनके प्रमाण देता है।

(१) चान्द्रस्थानों या नक्षत्रों के निर्णय पर एक निबन्ध।

(२) खयालुल कुसूफ़ैनी जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त योगसिद्धान्त का भी वर्णन था।

(३) एक पुस्तक उपरोक्त विषय पर ही। इसका नाम अरबी खण्डखाद्यक थी।

(४) एक पुस्तक जिसमें करणों का वर्णन था। इसका नाम नहीं दिया गया है।

(५) भिन्न भिन्न जातियों की परिगणना की विविध रीतियों पर एक निबन्ध। इसमें सम्भवतः अन्य ऐसे ही भारतीय विषयों का भी वर्णन था।

(६) एक पुस्तक जिसका नाम "ज्योतिष की चाभी" था। इसका विषय यह था कि क्या सूर्य्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है या पृथ्वी सूर्य्य की परिक्रमा करती है।

(७) भौगोलिक रेखांश के परिसंख्यान के लिए विविध रीतियों पर अनेक पुस्तकें। वह इनके नामों का उल्लेख नहीं करता और न यही बताता है कि उनकी गणना का हिन्दू रीतियों से कोई सम्बन्ध था या नहीं।

भारतीय ज्योतिष और कालनिर्णय विद्या में निष्णात होने पर उसने वर्त्तमान पुस्तक को लिखना आरम्भ किया। इन विषयों पर कई शताब्दियों से साहित्यिक चेष्टा चली आ रही थी,

उसने केवल इसको जारी रखा; परन्तु वह एक बात में अपने पूर्ववर्त्ती पंडितों से बढ़ गया। वह मूल संस्कृत स्रोतों तक पहुंचा, जो थोड़ी बहुत संस्कृत वह सीख सका था उसकी सहायता से उसने अपने पण्डितों की पड़ताल करने का यत्न किया; नवीन और अधिक शुद्ध अनुवाद किये, और गणना द्वारा भारतीय ज्योतिर्विदों के स्वीकृत तत्वों को परीक्षा की विवेकपूर्ण विधि निकाली। आबूसईदीय खली' फाओं के अधीन बगदाद में जो विद्वान् पहले कार्य्य करते थे उनकी आकांक्षाओं के मुकाबले में इसका काम एक वैज्ञानिक पुनरुद्धार को प्रकट करता है।

मालूम होता है कि अलबेरूनी की राय थी कि भारतीय नक्षत्र-विद्या अधिक प्राचीन अरबी-साहित्य में नहीं गई। यह बात उसके ८० वें परिच्छेद की भूमिका से प्रकट होती है—"इन (मुसलिम) देशों में हमारे धर्मभाई नक्षत्र-विद्या की हिन्दू-विधियों को नहीं जानते, और न उन्हें इस विषय की किसी भारतीय पुस्तक को पढ़ने का अवसर ही प्राप्त हुआ है।" हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि वराहमिहिर की पुस्तकें, अर्थात् उसकी वृहत्संहिता और लघुजातकम्, जिनका अलबेरूनी अनुवाद कर रहा था, पहले ही मनसूर के समय में अरबियों को प्राप्तव्य थीं, परन्तु हमारी सम्मति में इस विषय में अलबेरूनी का निर्णय यथार्थता की सीमा का उल्लंघन करता है, क्योंकि नक्षत्र-विद्या पर; और विशेषतया जातकों पर पुस्तकें अबू सईदीय शासन-काल में पहले ही अनुवादित हो चुकी थीं। (देखो फिहरिस्त पृष्ठ २७०, २७१)।

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के विषय में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ऐसा मालूम होता है कि अलबेरूनी ने इसका विशेष अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि वह उस समय के प्रचलित चरक के भाषान्तरों का ही उपयोग करता है—यद्यपि उनके अशुद्ध होने की भी शिकायत करता है। उसने जघन्य रोगों पर एक संस्कृत पुस्तक का अरबी में अनुवाद किया था, पर वह इस पुस्तक के पहले किया था या पीछे इसका कुछ पता नहीं।

वर्तमान पुस्तक को लिखने का उद्देश्य अपने स्वदेश-भाइयों को विशेष रूप से भारतीय नक्षत्र-विद्या का ज्ञान कराना नहीं था बल्कि अलबेरूनी उनके सामने भारत के दार्शनिक और ईश्वरतत्व-विषयक सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन रखना चाहता था। यही बात वह पुस्तक के आदि और अन्त में कहता है। किसी अन्य विषय की अपेक्षा सम्भवतः इस विषय पर वह अपने पाठकों को अधिक नवीन और पूर्ण ज्ञानप्रदान कर सकता था, क्योंकि इसमें, उसी के कथनानुसार, एक—अल-ईरान शहरी—ही उसका पूर्ववर्त्ती था। उसको, और जिस पुस्तक का वह अनुकरण करता है—अर्थात जर्कान—उसको न जानने के कारण हम नहीं कह सकते कि अलबेरूनी के इन पर आक्षेप कहां तक ठीक हैं। यद्यपि इसमें कुछ सन्देह नहीं कि भारतीय दर्शन-शास्त्र किसी न किसी रूप में पहले काल में अरबियों तक पहुँच चुका था परन्तु जब अलबेरूनी ने स्वदेश भाइयों या सहधर्मियों के सामने कपिल कृत सांख्य और पतंजलि की पुस्तक के अच्छे अरबी अनुवाद रखे तो यह बिलकुल ही एक नई चीज मालूम होने लगा।

अलबेरूनी पहला मुसलमान था जिसने पुराणों का अध्ययन किया। कथाओं की पुस्तकों में से उसे इब्नल मुकफ्फा का किया हुआ पञ्चतंत्र का अरबी अनुवाद मालूम था।

अपने पूर्ववर्ती पंडितों के मुकाबले में उसका काम बहुत बढ़ चढ़कर था। उसका हिन्दू दर्शन शास्त्र का वर्णन सम्भवतः अनुपम था। उसकी कालनिर्णय विद्या और नक्षत्र-शास्त्र की विधि पहले लोगों से अधिक शुद्ध और पूर्ण थी। उसके पुराणों से अवतरण, और साहित्य, आचार विचार,

व्यवहार, वास्तविक भूगोल, और ऐतिहासिक कालगणना पर उसके महत्व पूर्ण परिच्छेद सम्भवत: उसके पाठकों के लिए सर्वथा नये थे। वह एक बार राजो का प्रमाण देता है जिससे कि वह अच्छी तरह से परिचित था। उसने सूफियों के भी अधिक प्रमाण दिये हैं।

पुस्तक का इतिहास

१८७९ तथा १८८० ई० में सीरिया और मेसोपोटेमिया में अपनी यात्रा के फलरूप साहित्यिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् मैं १८८३ ई० की ग्रीष्मऋतु में "अलबेरूनी के भारत" के सम्पादक और अनुवाद में लगा। अरबी हस्तलेख की एक प्रति मैं १८७२ ई० में ही तैयार कर चुका था, और १८७३ की गरमियों में अस्तम्बोल में उसका संशोधन भी हो चुका था। पुस्तक के विषय में अपने ज्ञान की जांच करने के उद्देश्य से मैंने फरवरी १८८३ और फरवरी १८८४ के बीच पुस्तक का आद्योपान्त जर्मन-भाषा में अनुवाद किया। १८८४ की गरमियों में अरबी संस्करण के प्रकाशनार्थ प्रेस के लिए अन्तिम बार कापी तैयार करना आरम्भ किया।

१८८५—१८८६ में मूल पुस्तक (अरबी में) छपी। इसी समय मैंने दूसरी बार सारी पुस्तक का अँगरेजी में अनुवाद किया। जैसे जैसे अरबी पुस्तक छपती जाती थी वैसे वैसे मैं प्रत्येक पृष्ठ का अँगरेजी अनुवाद करता जाता था।

१८८७ और १८८८ के पूर्वार्ध में अँगरेजी अनुवाद, टीका तथा सूचीपत्र सहित, छप गया।

अलबेरूनी की शैली में लिखी हुई अरबी पुस्तक का अँगरेजी में अनुवाद करना, विशेपत: उस मनुष्य के लिए जिसकी मातृ-भाषा अँगरेजी नहीं, बड़े साहस का काम है। अपने अनुवाद के विषय में मैं कह सकता हूँ कि मैंने ग्रंथकार की भाषा में व्यवहार-ज्ञान ढूँढ़ने और उसे यथासम्भव स्पष्ट करने का यत्न किया है।

जो लोग अरबी भाषा से अनभिज्ञ हैं उन्हें यह बता देना वृथा न होगा कि इस भाषा के वाक्य शब्दार्थ और विन्यास की दृष्टि प्रतीत होते हुए भी बिलकुल भिन्न अर्थ दे सकते हैं। इस पुस्तक का तो हस्तलेख भी ऐसा खराब था कि उसे पढ़ने में भारी कठिनाई हुई।

बड़े हर्ष का विषय है कि महारानी विक्टोरिया के इंडिया आफिस ने न केवल मूल अरबी संस्करण के लिए ही प्रत्युत उसके अँगरेजी अनुवाद के लिए भी सहायता प्रदान कर मुझे कृतार्थ किया।

बर्लिन, ४ अगस्त, १८८८ — एडवर्ड सची

मूललेखक की प्रस्तावना

आरम्भ करता हूं मैं परमात्मा के नाम से जो कि दयालु और कृपालु है।

कोई भी मनुष्य इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि ऐतिहासिक दृष्टि से जनश्रुति अर्थात सुनी सुनाई बात प्रत्यक्ष अर्थात अपनी आँखों देखी बात के समान विश्वसनीय अथवा प्रामाणिक नहीं हो सकती। कारण यह है कि प्रत्यक्ष की दशा में तो देखनेवाले की आँख जिस पदार्थ को देखती है उसके तत्व को, जिस काल और जिस देश में वह पदार्थ वर्तमान होता है, जाँच लेती है; परन्तु जनश्रुति में विशेष प्रकार की कठिनाइयाँ पड़ जाती हैं। यदि ये दिक्कतें न होतीं तो प्रत्यक्ष-दर्शन से जनश्रुति अच्छी थी क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन का विषय तो केवल ऐसा सत्य पदार्थ ही हो सकता है जो अल्प काल तक रहता हो, परन्तु जनश्रुति अर्थात् शब्दबोध के लिए भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों काल एक से हैं। इसलिए इसका प्रयोग भाव पदार्थों तथा अभाव पदार्थों (जो नष्ट हो चुके हैं या जो अभी प्रकट ही नहीं हुए) दोनों पर हो सकता है। लिपिबद्ध ऐतिह्य एक प्रकार की जनश्रुति ही है जिसे कि हम सबसे उत्तम कह सकते हैं; क्योंकि यदि लेखनी के ये चिरस्थायी स्मृति-स्तम्भ—लिपिबद्ध ऐतिह्य—न होते तो जातियों के इतिहास को हम कैसे जान सकते ?

किसी ऐसे ऐतिह्य को, जो स्वयम् किसी युक्ति अथवा भौतिक नियम की दृष्टि से असम्भव प्रतीत न होता हो, सत्य अथवा असत्य ठहराने के लिए उसके संवाददाताओं का खयाल करना पड़ता है। संवाददाताओं पर भिन्न भिन्न जातियों के पक्षपात, पारस्परिक विरोध तथा विद्वेष का प्रभाव प्रायः पड़ता है। अतः भिन्न भिन्न प्रकार के संवाददाताओं में भेद रखना हमारे लिए आवश्यक है।

केवल वही मनुष्य सराहनीय है जो असत्य से दूर भागता और सत्य का ही अवलम्बन करता है। दूसरों का तो कहना ही क्या स्वयम् अनृतवादी भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

कुरान में आया है कि "सत्य बोलो, चाहे वह तुम्हारे अपने ही विरुद्ध क्यों न हो" (सूरा ४, १३४) और खीष्ट अपने धर्म ग्रंथ में इस प्रकार कहता है कि "सम्राटों के सन्मुख सत्य बोलने में उनके क्रोध से मत डरो। उनका तुम्हारे शरीर पर चाहे अधिकार हो, पर आत्मा का वे कुछ भी नहीं कर सकते।" (मत्ती, १० अध्याय, १८, १९,२९। लूका १२ वाँ अध्याय ४)। इन शब्दों में खीष्ट हमें नैतिक साहस के प्रयोग की आज्ञा देता है। कारण यह कि जिसको साधारण लोग साहस —निर्भयता से रण में घुस जाना या भयानक गहरे गढ़े में कूद पड़ना—कहते हैं वह साहस का केवल एक प्रकार है, परन्तु वास्तविक साहस जो सब प्रकारों से कहीं ऊँचा है कर्म अथवा वाणी द्वारा मृत्यु को तुच्छ समझने का नाम है।

जैसे न्यायशीलता अर्थात् न्यायकारी होना एक ऐसा गुण है जिसे कि लोग उसकी निजी विशेषता के लिए पसन्द करते हैं, उसी प्रकार शायद कुछ एक ऐसे लोगों को छोड़ कर जिन्होंने कि कभी सत्य की मिठास का आस्वादन ही नहीं किया, या जो सत्य को जानते तो हैं परन्तु जान बूझ कर उस विख्यात अनृतवादी की भाँति सत्य से दूर भागते हैं जिससे जब पूछा गया कि क्या तुमने कभी सत्य कहा है तो उसने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे सत्य कहने में कोई डर न हो तो मैं कहता

हूँ कि नहीं,' सत्यता की भी यही बात है। मिथ्यावादी न्याय के मार्ग को छोड़ देता है और सदैव अत्याचार, मिथ्यासाक्षी, विश्वासघात, दूसरों के धन को छल से छीन लेने, चोरी, तथा नाना प्रकार के अन्य पापाचरणों का—जिनसे संसार और मनुष्य-समाज को हानि पहुँचती है—पक्षपाती हो जाता है।

जो लोग किसी ऐसे धर्म अथवा दार्शनिक पद्धति का वर्णन करते हैं जिसका कि उनके अपने विचारों से किसी अंश में अथवा सर्वांग में भेद हो तो वे भी ठीक ऐसी ही निन्दनीय शैली का अवलम्बन करते हैं। एक ही धर्म के अङ्गीभूत मतों के विषय में ऐसा झूठ—उन मतों के एक दूसरे से भली प्रकार मिश्रित होने के कारण—सुगमता से ही मालूम हो सकता है; परन्तु इसके विपरीत, ऐसी विचार-पद्धतियों से सम्बन्ध रखनेवाले कथनों में, जो कि मूल सिद्धान्त तथा उसकी व्याख्या दोनों में हम से भिन्न हैं, झूठ का अंश मालूम करना बड़ा कठिन है; क्योंकि ऐसा अनुसन्धान करना कोई सुगम बात नहीं; और साथ ही, इसे समझने के लिए साधन भी बहुत थोड़े होते हैं। धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदायों पर जितना भी हमारा साहित्य है उसमें इसी प्रवृत्ति की अधिकता पाई जाती है। यदि लेखक विशुद्ध वैज्ञानिक शैली की आवश्यकताओं का अनुभव नहीं करता तो वह कुछ एक ऊपर ऊपर की बातें ही इकट्ठी कर लेता है जिससे न तो उस सिद्धान्त के अनुयायी ही सन्तुष्ट होते हैं और न वे लोग जिन्हें कि इनका भली प्रकार ज्ञान है। ऐसी अवस्था में यदि वह एक सत्यशील व्यक्ति है तो न केवल वह अपने शब्दों को ही वापस लेगा प्रत्युत साथ ही लज्जित भी होगा। परन्तु यदि वह ऐसा नीच है कि सत्य का सम्मान नहीं करता तो वह अपनी ही असल बात पर हठ से झगड़ने लग जायगा। इसके विपरीत एक सत्य-मार्गानुगामी लेखक किसी पंथ के सिद्धान्तों को उन लोगों की पुराण-कथाओं में से ढूंढ़ने का भरसक यत्न करता है। सुनने में तो ये कथाएँ बड़ी रोचक प्रतीत होती हैं परन्तु इन्हें सच्ची समझने का विचार उसे स्वप्न में भी नहीं आता।

हिन्दुओं के मतों और सिद्धान्तों पर जहां तक कि मेरा ख्याल है, इस विषय पर जो कुछ भी हमारे साहित्य में मिलता है वह सब अन्य कल्पित वार्ता है जिसे कि एक ने दूसरे से लिया है। यह एक प्रकार की खिचड़ी है। इसके गुणों तथा दोषों को परीक्षा की छलनी में छान कर कभी किसी ने अलग अलग नहीं किया। विषय का ज्यों का त्यों वर्णन करने का विचार रखनेवाले लेखकों में से मैं केवल एक को ही जानता हूँ। वह अबुल्अब्बास अलेरान शहरी है। अपने समय के प्रचलित पंथों में से वह किसी का भी अनुयायी न था, प्रत्युत उसने अपना ही एक अलग पंथ निकाला था जिसके प्रचार के लिए कि वह भारी यत्न करता था। उसने यहूदियों और ईसाइयों के सिद्धान्तों तथा उनके धर्मग्रंथों—तौरेत और बायबल—में लिखी बातों का भली प्रकार वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उसने मानवीया मत तथा अन्य अति प्राचीन समयों के विलुप्तप्राय मतों का भी जिनका कि उन पुस्तकों में उल्लेख है—अत्युत्तम रीति से वर्णन किया है। परन्तु वह भी अपनी पुस्तक में हिन्दुओं और बौद्धों पर लेखनी चलाते समय अपने आदर्श से गिर गया है, और अपनी पुस्तक के उत्तरार्द्ध में जिस जरकान नामक पुस्तक के विषय उसने मिला लिये हैं उसी जरकान पर चोट करते हुए वह अपने मार्ग से भटक गया है। जो कुछ उसने जरकान से नहीं लिया वह हिन्दुओं और बौद्धों के सामान्य लोगों से सुना है।

मैंने हिन्दुओं के सिद्धन्तों पर यह पुस्तक लिखी है। मैंने उन—हमारे धर्मविपक्षियों—के विरुद्ध कोई निर्मूल दोषारोपण नहीं किया है। मुसलमान होने के कारण मैंने यह अपना धर्म समझा

है कि जहां जहां हिन्दुओं के निजी शब्द उनके किसी विषय को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं वहां मैं उनके वही शब्द ज्यों के त्यों दे दूं। यदि इन उदाहरणों का विषय नितान्त मूर्तिपूजकों ऐसा हो, और सत्य के अनुयायियों, अर्थात मुसलिम लोगों, को वह सदोष प्रतीत हो तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हिन्दुओं का ऐसा ही विश्वास है, और वेही अपने पक्ष को भली भांति युक्ति-संगत सिद्ध करने में समर्थ हैं।

यह पुस्तक विवादात्मक नहीं है। मैं विपक्षियों की उन युक्तियों को जिन्हें कि मैं अशुद्ध समझता हूं केवल उनका खण्डन करने के लिए ही यहां नहीं लिखूंगा। मेरी पुस्तक सत्य बातों का एक सरल ऐतिहासिक वृत्तान्त होगी। मैं पाठकों के सामने हिन्दुओं के सिद्धान्त उनके वास्तविक रूप में रख दूंगा, और साथ ही यूनानियों के भी वैसे ही सिद्धान्त देता जाऊँगा ताकि उनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट होता जाय। यद्यपि यूनानी तत्ववेत्ताओं का लक्ष्य निगूढ़ सत्य है पर वे जन-साधारण सम्बन्धी किसी भी प्रश्न में अपने धर्म तथा लोकाचार के प्रचलित और साधारण सिद्धन्तों तथा कथनों से ऊपर नहीं उठते। यूनानी विचारों के अतिरिक्त हम कभी कभी सूफियों या ईसाइयों के किसी एक पंथ के विचारों का भी उल्लेख करेंगे, क्योकि पुनर्जन्म और (विश्वदेवता-वाद के अनुसार) ईश्वर तथा सृष्टि की एकता-प्रभृति सिद्धान्तों में इन पंथों की बहुत सी बातें आपस में मिलती हैं।

मैं संस्कृत के दो ग्रंथों का अरबी-भाषा में अनुवाद कर चुका हूं। उनमें से एक तो सृष्टि की सकल वस्तुओं तथा उत्पत्ति के विषय में है। इसे सांख्य कहते हैं। दूसरी का विषय जीवात्मा का शारीरिक बन्धनों से मुक्ति-लाभ करना है। इसका नाम पतंजलि (पातंजल ?) है। इन दोनों ग्रंथों के अन्दर हिन्दुओं के मुख्य सिद्धान्त तो सब आ जाते हैं परन्तु उनसे निकली हुई शाखाएँ और उपशाखाएँ नहीं आतीं। मुझे आशा है कि अब इस पुस्तक के बन जाने से पहली दोनों और इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों की आवश्यकता न रहेगी। यह पुस्तक विषय को भली भांति स्पष्ट कर देगी जिससे पाठक उसे अच्छी तरह समझ सकेंगे—परमात्मा करें कि ऐसा ही हो!

अलबेरुनी

———

विषय-सूची

अलबेरूनी का भारत

पहला परिच्छेद

हिन्दुओं से संबंधित उनपर सामान्य विचार

भारत अध्ययन में बाधाएँ

विषय प्रारम्भ करने के पूर्व हमें उन कारणों के सम्बन्ध में समुचित विचार कर लेना चाहिए जो किसी भी भारतीय विषय की मूल प्रकृति अध्ययन के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। इन कठिनाइयों का पूर्वज्ञान या तो हमारे कार्य की प्रगति को सरल बना देगा, या फिर भारत-वर्णन में हमारी त्रुटियों का कारण पाठकों के समक्ष स्पष्ट हो जायगा और वे हमें क्षमा कर सकेंगे। पाठकों को यह बात सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू प्रायः हर चीज में इससे पूर्णतः भिन्न हैं और हमारे उनके घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध होते तो अनेक विषय, जो हमें अत्यन्त गूढ़ एवम् क्लिष्ट प्रतीत होते हैं—पूर्णतः स्पष्ट हो जाते। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में जो बाधाएँ अलगाव उत्पन्न करती हैं, वे विभिन्न कारणों पर आधारित हैं।

पहला कारण : भाषा की विभिन्नता

वे ऐसी प्रत्येक स्थिति में हमसे भिन्न हैं जो अन्य देशों के निवासियों को एक सूत्र में बद्ध करती हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम भाषा का उल्लेख कर सकते हैं, यद्यपि अन्य देशों के बीच भी यह भाषा की विभिन्नता अपना अस्तित्व रखती है। यदि आप इस कठिनाई (अर्थात् संस्कृत के अध्ययन की) पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो आप इसे आसान नहीं पाएँगे क्योंकि इस भाषा का क्षेत्र—शब्द व प्रयोग, दोनों ही दृष्टियों से बहुत विस्तृत है; कुछ-कुछ अरबी भाषा की ही भाँति इस भाषा में एक ही वस्तु के लिए अनेक नामों का प्रयोग होता है जिनमें मूल शब्द भी होते हैं, और विशेषण पर आधारित शब्द भी; प्रायः एक ही शब्द विभिन्न विषयों में, विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है जिन्हें पूर्णतः समझ पाने के लिये विभिन्न विशेषणात्मक शब्दों से उनके भाव को स्पष्ट कर लेना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक ही शब्द के विभिन्न अर्थों में भेद नहीं कर सकेगा जब तक कि उसे यह ज्ञात न हो कि उसे कहाँ किस सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है, तथा वाक्य में, इसके पहले तथा बाद वाले भागों से इसका क्या संबन्ध है। अन्य लोगों कि भाँति हिन्दू भी अपनी भाषा के विस्तृत शब्द-क्षेत्र पर गर्व करते हैं, जब कि वास्तव में यह एक दोष है।

संस्कृत भाषा दो भागों में विभक्त है—साधारणजन द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा जो क्षेत्रीय आधार पर थोड़ा बहुत परिवर्तित होती रहती है; साहित्यकार जिसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते है—तथा शास्त्रीय भाषा जिसका प्रयोग केवल शिक्षित और उच्चतर समाज में होता है। उस भाषा का पर्याप्त विकास हुआ है, इसे व्याकरण और स्वरशास्त्र द्वारा नियमबद्ध किया गया है, तथा यह व्याकरण और काव्यशास्त्र के समस्त सौन्दर्यो से आभूषित है।

इसके अतिरिक्त इस भाषा के व्यञ्जनों में से कुछ, न तो अरबी और फारसी के व्यञ्जनों से मिलते ही है; न उनसे किसी प्रकार का साम्य ही प्रकट करते है। हमारी जुबान के लिए संस्कृत शब्दों का उच्चारण अत्यन्त कठिन है, न हमारे कानों में उनके विभिन्न शब्दों के स्वरों को एक दूसरे से पृथक समझने की ताकत ही है और न हमारी भाषा में ही उन्हें शुद्ध लिख सकना सम्भव है। इस प्रकार किसी भारतीय शब्द को अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर सकना हमारे लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसका उच्चारण निर्धारित करने में हमें वर्णविन्यास सम्बन्धी अपने चिन्हों व संकेतों को बदलना होगा तथा व्याकरण के नियमों को सामान्य अरबी नियमों के अनुसार उच्चारित करना होगा, अथवा हमें विशेष नियमों का निर्धारण करना होगा।

उक्त सारी कठिनाइयों के साथ यह विपत्ति भी सामने आती है कि भारतीय पाण्डुलिपियों को बहुत लापरवाही से तैयार किया जाता है, और पूर्ण शुद्ध तथा पूर्णतः क्रमबद्ध पाण्डुलिपि के बनाने पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियों में शुद्धता व सतर्कता की इस उपेक्षा के फलस्वरूप मूल ग्रंथकार के मानसिक विकास के उच्चतम परिणाम लुप्त हो जाते हैं, और एक ही दो प्रतिलिपियों में उसका ग्रंथ इतना दोषपूर्ण हो जाता है कि, वह पूर्णतः भिन्न व नवीन ग्रंथ प्रतीत होने लगता है जिसे न तो कोई पण्डित ही समझ सकता है, न उस विषय-विशेष से परिचित कोई विद्वान, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। यदि पाठकों को हम यह बताएँ—और यह सत्य है कि हमने कभी-कभी हिन्दुओं के मुँह से निकले किसी शब्द को, अत्यधिक श्रम करके अपनी भाषा में उसका उच्चारण निर्धारित कर के लिखा और बाद में हमने उसी शब्द को उनके सामने दुहराया, और उसे पहचानने में उन्हें पर्याप्त कठिनाई उठानी पड़ी तो हमारी उक्त बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

अन्य विदेशी भाषाओं की भाँति संस्कृत में भी बिना किसी स्वर के लगातार दो तीन व्यञ्जन एक ही साथ आ सकते हैं। ऐसे व्यञ्जनों के पीछे फारसी व्याकरण प्रणाली के अनुसार उनके स्वर छिपे हुए माने जाते हैं। चूंकि अधिकांश शब्द व नाम बिना स्वर के व्यञ्जनों से ही प्रारम्भ होते हैं, अतः उन्हे शुद्धतः उच्चरित कर सकना अत्यन्त कठिन है।

भाषा सम्बन्धी कठिनाई का अन्तिम अंश यह है कि हिन्दुओं के समस्त शास्त्रीय ग्रंथ विभिन्न लोकप्रिय छन्दों में रचित है; वे स्वयं इस बात से परिचित है कि प्रतिलिपियों द्वारा ग्रंथ भ्रष्ट हो जाते हैं अतः वे श्लोकों में ही शास्त्र रचना करते है ताकि उसे याद कर लिया जा सके और उसका वास्तविक रूप बना रहे; वैसे भी वे अध्ययन की इस प्रणाली पर विश्वास करते हैं कि विद्यार्थी केवल यह जानकर संतोष न करें कि ग्रंथ उनके पास है, बल्कि जहाँ तक संभव हो, वे ग्रंथ को रट ही डालें; उन्होंने कितना पढ़ा है, उसे कोई महत्व नहीं दिया जाता, उनके अध्ययन का माप तो यह है कि उन्होने कितना याद किया है। यह सर्वविदित है कि समस्त काव्यात्मक रचनाओं में अनेक अस्पष्ट शब्दावलियाँ मिलती है जिनका प्रयोग छन्द की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है, और इसी से शब्द-बाहुल्यता को प्रोत्साहन मिलता है। एक ही शब्द एक स्थान पर

कुछ, तथा अन्यत्र कोई दूसरा अर्थ क्यों रखता है, इसकी भी थोड़ी सी व्याख्या उक्त बात से हो जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक रचना का काव्यात्मक रूप उन कारणों में से एक है जो संस्कृत-साहित्य के अध्ययन के मार्ग को विशेष रूप से दुरूह बना देते हैं।

दूसरा कारण : धार्मिक पक्षपात

दूसरे, वे धर्म की दृष्टि से भी हमसे पूर्णतः भिन्न हैं, हम उनमें से किसी भी चीज पर विश्वास नहीं रखते जिन पर वे रखते हैं, और ठीक यही स्थिति हमारे सम्बन्ध में उनकी भी है। बड़े पैमाने पर, नीति सम्बन्धी विषयों में उनमें परस्पर बहुत कम विरोध है; विरोध की चरम सीमा पर वे परस्पर शब्द-युद्ध करते हैं, परन्तु किसी धार्मिक विवाद पर वे आत्मा, तन या धन को बाजी नहीं लगाते। इसके विपरीत उनकी सारी धर्मान्धता उन लोगों के विरुद्ध है जो धर्म की दृष्टि से उनके अपने नहीं है—इस दृष्टि से सभी विदेशी उनके शत्रु हैं। वे उन्हें 'म्लेच्छ' कहते हैं और उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने को निषिद्ध मानते हैं—चाहे अन्तर्जातीय विवाह का मामला हो अथवा किसी अन्य प्रकार के सम्बन्ध का, अथवा परस्पर खान-पान का, अन्य धर्मानुयायियों के लिए उनके द्वार सदा बंद रहते है क्योंकि, उनका विश्वास है कि ऐसा करने पर वे धर्म-भ्रष्ट हो जायंगे। किसी विदेशी के अग्नि-जल से जिस वस्तु का स्पर्श हो जाता है, उसे भी वे त्याज्य समझते हैं जबकि जल व अग्नि के बिना किसी भी व्यक्ति या घर का अस्तित्व नही बना रह सकता। इसके अतिरिक्त वे ऐसा भी नहीं चाहते कि कोई भी वस्तु जो इस प्रकार छू लेने से भ्रष्ट हो गई हो उसे शुद्ध करके पुनः प्रयोग में ले आया जाय जैसा कि साधारण स्थिति में होता है—अर्थात यदि किसी व्यक्ति या वस्तु में अशुद्धता आ जाती है तो वह व्यक्ति या वस्तु पुनः शुद्ध अवस्था में आने का प्रयास करता है। उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति को आत्मसात् कर लेने की अनुमति नहीं है जो उनके नहीं हैं, भले ही वह विधर्मी अपनी ओर से उनका धर्म-ग्रहण करने की प्रवृत्ति रखता है। यह कारण भी हमारे उनके बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बन सकना असम्भव कर देता है तथा दोनों के बीच सबसे गहरी खाई बना देता है।

तीसरा कारण : आचार-विचार तथा रीतियों का भेद

तीसरे, वे अपने तौर-तरीकों व व्यवहार विधि में भी हमसे इतने अधिक भिन्न हैं कि वे बच्चों को हमारे नाम से, हमारे वस्त्रों से और हमारी रीतियों व व्यवहार से डराते हैं, और हमें शैतान की औलाद बताकर हमारे कार्यों को उन सभी कामों के विरुद्ध बताते हैं जिन्हें वे अच्छा और उचित मानते हैं। परन्तु हमें यह स्वीकार कर लेने में कोई सकोच नहीं होना चाहिए कि विदेशियों का यह हेय भाव केवल हमारे और हिन्दुओं के बीच ही नहीं, सभी देशों में एक दूसरे के प्रति, समान रूप से व्याप्त है। मुझे एक हिन्दू राजा की याद आती है जिसने निम्नलिखित कारण से हमारे ऊपर बदले के रूप में आफत ढाया था।

किसी हिन्दू राजा की उसके एक ऐसे शत्रु के हाथों मृत्यु प्राप्त हुई जिसने हमारे देश से उसके विरुद्ध अभियान किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, सगर,† जो उसका

---

† सगर की कथा विष्णु पुराण में मिलती है।

उत्तराधिकारी हुआ। युवावस्था प्राप्त करने पर उसने अपनी माँ से अपने पिता के विषय में पूछा, और तब उसे सारी घटना का पता लगा। अब उसका हृदय घृणा से भर उठा; उसने शत्रु देश पर आक्रमण किया और उनके रक्त से अपनी प्रतिहिंसा की प्यास को अच्छी तरह बुझाया। जब वह हत्याकाण्ड से ऊब गया तो उसने जीवित बचे लोगों को हमारा पहनावा पहनने के लिए विवश किया जिसे वे अपने लिए अत्यन्त अपमानजनक समझते थे। जब मैंने इस विषय में सुना तो मैंने उसके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया कि वह अत्यधिक उदार था जो उसने हमें हिन्दू बनने व हिन्दूओं के पहनावे और तौर तरीकों को ग्रहण करने के लिए विवश नहीं किया।

चौथा कारण : बौद्धों का पाश्चात्य देशों से निष्काशन

हिन्दूओं और विदेशियों के बीच प्रारम्भ से ही व्याप्त भेदभाव व प्रतिद्वन्दिता की भावना को प्रोत्साहन देने वाला एक अन्य कारण है कि ब्राह्मणों से घृणा रखते हुए भी शमनिय्या‡ (बौद्ध धर्मानुयायी) अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा उन्हीं के अधिक निकट हैं। पूर्ववर्ती समय में खुरासान, परसिस, ईराक, मोसुल तथा सीरिया की सीमा तक के क्षेत्र में बौद्ध धर्म काफी जोरों पर था, परन्तु उसी समय जरथुस्ट्र आधर्बैजान से आगे बढ़ा और बल्ख (बक्त्र) में मग धर्म का प्रचार करने लगा। राजा गुस्तास्प उसके मत से प्रभावित हुआ, और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र असफन्दयार ने सन्धि और शक्ति, दोनों का ही प्रयोग करते हुए पूर्व और पश्चिम में इस नए धर्म का प्रसार किया। अपने पूरे साम्राज्य में अर्थात् चीन की सीमा से ग्रीक साम्राज्य की सीमा तक अग्निदेव के अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। परवर्ती उत्तराधिकारियों ने अपने धर्म (जोरोस्ट्रियन) को बलात् परसिस व ईराक के राजधर्म के पद तक पहुँचा दिया। इस नए धर्म के पीछे लगी उनकी शक्ति के फलस्वरूप बौद्ध-मतावलम्बी इन देशों से निर्वासित हुए और उन्हें भागकर बल्ख के पूर्व-स्थित देशों में शरण लेना पड़ा। उक्त मग-मत मानने वाले आज भी—यद्यपि अल्पसंख्या में ही—भारत में विद्यमान हैं जिन्हें मग कहा जाता है। इसी समय से खुरासान आदि देशों के लिए उनके मनमें घृणा का पौधा अंकुरित व विकसित हुआ। परन्तु इसी समय इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ; पार्शियन सम्राज्य का पतन हुआ और जैसे-जैसे मुसलमानों ने उनके देश में घुसने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया हिन्दुओं में विदेशियों के प्रति घृणा में वृद्धि होने लगी, क्योंकि मुहम्मद इब्न एलकासिम इब्न एलमुनब्बिह* ने सिजिस्तान (सकस्तीन) की ओर से सिन्ध में प्रवेश किया तथा बहमानवा तथा मूलस्थान नामक दो नगरों पर अधिकार कर लिया जिनमें से पहले का नाम उसने रक्खा 'अल-मन्सूर' तथा दूसरे का 'अल-ममूर'। उसने मुख्य भारत भूमि में भी प्रवेश किया और कन्नौज तक जा पहुँचा; उसने गान्धार पार किया और कभी तलवार बजा कर कभी सन्धि द्वारा अपना लक्ष्य पूरा करते हुए, और इच्छुक लोगों को मुसलमान बनाकर शेष के धर्मपालन में विघ्न न डालते हुए वह कश्मीर की सीमा में होता हुआ वापस लौटा। इन सभी घटनाओं ने हिन्दुओं के हृदय में मुसलमानों के प्रति घृणा के बीज को अंकुरित करने में प्रर्याप्त योगदान दिया।

---

‡ अरबी भाषा में बौद्ध-सम्प्रदाय के लोगों को शमनिय्या कहते हैं। इसका आशय है लाल वस्त्रों वाले लोग जो कि बौद्धधर्मावलम्बी काषाय वस्त्रधारी भिक्षुओं से मतलब रखता है। यह संस्कृत के प्राकृत रूप श्रमण से निकला है।

* मुहम्मद इबन अलकासिम—इस सिंध-विजेता का शासन काल ७०७ ई० से ७१४ ई० तक है। जिस समय अलबेरूनी ने यह पुस्तक लिखी उस समय सिंध में लोग ३५० वर्ष पहिले ही से इसलाम को जानते थे। यह मत वहाँ ७०० ई० से स्थापित हो चुका था।

महमूद द्वारा भारत-विजय

परवर्ती काल में कुछ समय तक, किसी भी मुस्लिम विजेता ने काबुल की सीमा और सिंध नदी को पार करने का साहस नहीं किया । इस बीच तुर्कों ने गजनी से सामानी हुकूमत का खात्मा कर दिया और सर्वोच्च सत्ता का स्वामी बना नासिर-अब्दुल सबुक्तगीन जिसने जेहाद का नारा बुलन्द किया और स्वयम् को अल-गाजी (अल्लाह की राह पर युद्ध करने वाला) की उपाधि से विभूषित किया । अपनी आगे आने वाली पीढ़ियों के मार्ग को सुविधा जनक एवम् सरल बनाने के ध्येय से उसने भारतीय सीमा को निर्बल बनाने के लिए उन ऐतिहासिक सड़कों का निर्माण कराया जिनके द्वारा अगले तीस वर्षों के भीतर ही उसके पुत्र यमीन-अब्दुल महमूद ने भारत में प्रवेश किया। खुदा दोनों पिता-पुत्र पर रहम करे। महमूद ने देश की समृद्धि को पूर्णतः विनष्ट कर दिया तथा उसने ऐसे आश्चर्यजनक शोषण कार्य किए जिनके द्वारा हिन्दू धूलिकणों की भाँति, और लोगों के मुंह से निकली पुरानी कथाओं की तरह दिशा-दिशा में बिखर गए। उनकी बिखरी हुई अवशिष्ट हस्ती अपने में सभी मुसलमानों के प्रति उत्कट घृणा का भाव उसी रूप में पाले हुए है । यही कारण इस तथ्य की भी व्याख्या का देता है कि हिन्दुओं के समस्त शास्त्र हमारे द्वारा विजित क्षेत्रों से बहुत दूर हट गए हैं और काश्मीर, बनारस प्रभृति स्थानों में केन्द्रित हो गए हैं जहाँ कभी हमारे हाथ नहीं पहुँच सकते; और वहाँ, राजनैतिक और धार्मिक, दोनों ही स्रोतों से उनके तथा सभी विदेशियों के बीच द्वेषभाव को अधिकाधिक पोषण प्राप्त होता है ।

पाँचवाँ कारण : हिन्दुओं का आत्मगौरव तथा विदेशी वस्तु से घृणा

हमारे और हिन्दुओं के बीच द्वेष और घृणा की इस चौड़ी खाँई का पाँचवाँ कारण जिसका उल्लेख उपहासास्पद सा लगता है—है, गहराई तक जड़ जमाए हुए, उनके राष्ट्रीय चरित्र की विचित्र विशेषताएँ, जो प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष तुरन्त ही स्पष्ट हो उठती हैं । हम केवल यही कह सकते हैं कि मूर्खता एक ऐसी बीमारी है जिसकी कोई औषधि नहीं होती, हिन्दू विश्वास करते हैं कि उनके जैसा कोई देश नहीं, उनके जैसा कोई राष्ट्र नहीं, उनके राजाओं के समान कोई राजा नहीं, उनके जैसा कोई धर्म नहीं, उनके जैसा शास्त्र नहीं । वे दम्भी, मूर्खता की सीमा तक गर्व रखने वाले स्वयम् को भी धोखा देकर बदलने वाले तथा जल्दी उत्तेजित न होने वाले हैं । स्वभावत: वे जो कुछ जानते हैं, उसे व्यक्तिगत थाती बनाकर रखने की प्रवृत्ति रखते हैं, और विदेशियों की बात तो दूर अपने ही देश के किसी अन्य जाति के लोगों से भी उसके छुपा रखने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते हैं । उनके विश्वास के अनुसार पृथ्वी पर उनके समान कोई अन्य देश नहीं है, उनके समान कोई अन्य जाति नहीं है, और उनके अतिरिक्त किसी अन्य देश या जाति के पास न शास्त्र हैं, न ज्ञान । उनके गर्व की सीमा कहाँ तक है, इसे इस उदाहरण से भली भांति समझा जा सकता है—यदि उनसे खुरासान या पर्सिस के किसी विद्वान या शास्त्र का उल्लेख करें, तो वे ऐसी सूचना देने वाले को मूर्ख के साथ-साथ झूठा कहने में भी संकोच नहीं करेंगे। यदि वे पर्यटन करते तथा अन्य राष्ट्रों के जन-जीवन का परिचय प्राप्त करते तो उनके हृदय से इस मिथ्या आत्मगौरव की भावना निकल जाती । उनके पूर्वज वर्तमान पीढ़ी के समान संकुचित मनोवृत्ति वाले नहीं थे। ब्राह्मणों के प्रति सम्मान-भावना रखने का उपदेश देते हुए एक अंश में उनका एक प्रसिद्ध विद्वान, वराहमिहिर कहता है "अपवित्र होते हुए भी ग्रीकजन सम्मान पाने के योग्य हैं क्योंकि सभी विद्याओं व ज्ञान में वे दूसरों से बढ़े चढ़े थे। फिर एक ब्राह्मण क्यों न पूज्य हो यदि उसमें शास्त्र के उच्च ज्ञान के साथ पवित्रता का भी समन्वय है।" पूर्ववर्ती समय में हिन्दू इसे

स्वीकार करते थे कि विज्ञान की प्रगति में ग्रीकों ने जो योगदान दिया है, उसका महत्व स्वयम् उनके (हिन्दुओं के) योगदान से कहीं अधिक है। परन्तु वराहमिहिर के उक्त उद्धृत अंश से ही आप देख सकते हैं कि दूसरों के साथ न्याय करने का ढोंग रचता हुआ, यह कितना बड़ा आत्म-प्रवचन है। प्रारम्भ में मैंने हिन्दू ज्योतिविदों से वैसा ही सम्बन्ध स्थापित किया जैसा कि एक शिष्य का गुरु से होता है, कारण कि मैं उनके बीच एक अजनवी था और विज्ञान से सम्बन्धित उनकी विचित्र राष्ट्रीय एवम् परम्परागत विधियों से अपरिचित था। इस विषय में अपना ज्ञान कुछ विकसित कर लेने पर मैंने उन्हें इस विज्ञान (ज्योतिर्विद्या) के आधार भूततत्वों को दिखाना, तथा उससे संबन्ध समस्त गणनाओं की वैज्ञानिक विधियों तथा तार्किक परिणाम प्राप्ति के नियमों की ओर इंगित करना प्रारम्भ किया तो वे सभी ओर से कुछ नवीन ज्ञान प्राप्त करने की कामना से मेरे पास आकर आश्चर्य प्रकट करने लगे कि मैंने किस हिन्दू शास्त्रज्ञ को गुरु मानकर वह सब सीखा था, जब कि वास्तव में मैंने उनका पर्दाफाश करते हुए उनके सामने उनकी अज्ञानता स्पष्ट कर दी, मैंने स्वम् को उनके स्तर पर न रखकर अपने को उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ मानने में कोई अनौचित्य नहीं समझा। वे मुझे एक ऐन्द्रजालिक सा मानने लगे, वे अपने जाने माने पण्डितों से मेरे विषय में बात करते हुए मुझे 'सागर' या ऐसा जल कहते थे जिसके तीखेपन की तुलना में कड़ी से कड़ी शराब भी मीठी थी।

लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध

उक्त विवरण से पाठकों के समक्ष भारत-अध्ययन के सबन्ध में मेरी कठिनाइयाँ स्पष्ट हो गई होंगी। यद्यपि भारत में मेरी बहुत अधिक रुचि है—और इस संदन्व में अपने समय का मैं अकेला जिज्ञासु हूँ—साथ ही, संस्कृत ग्रंथों के संग्रह तथा उनकी व्याख्या कर सकने में समर्थ हिन्दू पण्डितों का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होने पर मैंने न कष्ट की चिन्ता की, न धन की। इस विषय का अध्ययन करने के लिए किस विद्वान को मेरे समान अनुकूल परिस्थितियाँ मिल सकीं हैं? ऐसी परिस्थितियाँ केवल उन्हीं लोगों को सुलभ हो सकती हैं जिन्हें ईश्वर की दया से अपने आवागमन और क्रिया-कलापों का निर्धारण करने की सुविधा प्राप्त है, जिससे कि मैं वंचित हूँ। मेरे भाग्य में ऐसा अवसर कभी भी नहीं आया कि मैंने अपने आवागमन व क्रियाओं में पूर्ण स्वच्छन्दता का उपभोग किया हो, न कभी मैं इतना सामर्थ्यवान ही हो सका कि अपनी इच्छानुसार कोई कार्यक्रम बना सकूं। अस्तु, ईश्वर ने मुझे जो कुछ भी प्रदान किया है—तथा जिसे मेरे लक्ष्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिये उनके लिए मैं उसका कृतज्ञ हूँ।

हिन्दू सन्तों की यूनानी सन्तों से तुलना

ईसाई धर्म के आविर्भाव से पूर्व प्रकृति पूजक ग्रीकजनों के विचार वर्तमान हिन्दुओं से पर्याप्त अंशों में साम्य प्रकट करते थे, उनका शिक्षित वर्ग ठीक उसी ढंग से सोचता था जिस ढंग से हिन्दुओं का शिक्षित वर्ग आज सोचता है; वहाँ का सामान्य जनसमुदाय हिन्दूओं के समान ही मूर्तिपूजा पर आस्था रखता था। इसी आधार पर मैं इन दोनों देशों के सिद्धांतों को एक दूसरे के आमने-सामने रखना चाहता हूँ; मेरी इस इच्छा की पृष्ठभूमि में उनका घनिष्ठ सम्बन्ध ही है; अतः इसे मेरी सुधार या शुद्धीकरण की लालसा की अभिव्यक्ति का एक साधन मान लेने का भ्रम पाठकों के हृदय में न होना चाहिए। जो 'सत्य' ('वास्तविक सत्य या एकेश्वरवाद') नहीं है, उसमें सुधार या शुद्धीकरण की कोई गुंजायश ही नहीं है, और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि बहुदेववाद चाहे वह भारतीय

हो अथवा ग्रीक की सम्पूर्ण परम्परा ही वास्तविक सत्य से परावर्तित करने वाली है। ग्रीक जनों में ऐसे दार्शनिक हुए जिन्होंने उसी देश में रहते हुए अपने लिए, लोकप्रिय अन्धविश्वासों के नहीं, बल्कि विज्ञानों के तत्वों को ढूँढ निकाला और उनके विकास में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया; विज्ञान के परिणामों से निर्देशित होना उच्चवर्गीयों का ही कार्य है, जबकि सामान्य जन-समुदाय तो उस समय तक अन्ध विश्वासपूर्ण अन्धकूप में सिर के बल कूदता रहेगा जब तक कि उन्हें दण्ड के भय द्वारा विवश न किया जाय। सोचिये सुकरात की बात जब उसने अपने राष्ट्र की उन्मत्त भीड़ का विरोध करते हुए तारों को देव मानने से इनकार कर दिया। एथेन्स के बारह न्यायधीशों में से ग्यारह उसे मृत्यु दण्ड देने पर अविलम्ब सहमत हो गए और सुकरात ने इस भावना से मृत्यु का वरण किया कि उसने मरते दम तक सत्य के साथ विश्वासघात नहीं किया था।

परन्तु हिन्दुओं में ऐसे जीवट के व्यक्तियों का अभाव रहा है जिनमें विभिन्न शास्त्रों को पूर्णता तक पहुँचा सकने की इच्छा भी रही हो, सामर्थ्य भी। यही कारण है कि हिन्दुओं के अनेक तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धान्त पूर्णतः अव्यवस्थित दशा में हैं, उनमें तार्किक क्रम नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि उनमें साधारण जनसमुदाय के मूर्खतापूर्ण विचारों व मान्यताओं का भी समावेश कर दिया गया है—जैसे अनन्त संख्याएँ, समय का अनन्त विस्तार तथा अनेक प्रकार के धार्मिक विश्वास जिन पर विवाद-विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मुझसे उनकी गणित तथा ज्योतिर्विद्या की उपमा देने को कहा जाय तो जो कुछ मैं जान सका हूँ उसके आधार पर मैं यही कहूँगा कि यह मोती की सीपियों एवम् तीखे खजूरों का, या मोतियों एवम् गोबर का, या मूल्यवान मोतियों एवम् साधारण पत्थर के टुकड़ों का एक मिला जुला ढेर है। उनकी दृष्टि में दोनों तरह की चीजें समान हैं, कारण कि वे अपने को शुद्ध वैज्ञानिक निरीक्षण व परिणामों के स्तर तक नहीं उठा सके हैं।

अपने इस ग्रंथ के अधिकांश में जब तक कोई विशेष कारण उपस्थित न हो गया हो मैंने केवल वर्णन किया है, आलोचना नहीं। जहाँ कहीं, प्रसंगवश, समुचित व्याख्या की दृष्टि से मैंने आवश्यक संस्कृत नामों तथा पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। यदि कोई शब्द मौलिक या अपने मूल रूप में है, और उसके अर्थ का अरबी रूपान्तर सम्भव है तो मैंने उसके लिए केवल अरबी शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु यदि संस्कृत शब्द ही मुझे अधिक उपयुक्त लगा है, तो मैंने उसे यथावत् अपनी लिपि में रखने का यथासम्भव प्रयास किया है। यदि इससे बने शब्द सामान्य प्रयोग में है तो मैंने उसे भी वैसे ही प्रयुक्त कर दिया है,—भले ही उसके लिए उपयुक्त अरबी शब्द भी हो—परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करने के पूर्व मैंने उनकी व्याख्या भी कर दिया है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली को सुविधाजनक ढंग से समझ में आ सकने लायक बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया।

अन्त में, हम देखते हैं कि अपने विवरण में हम सर्वदा ज्यामितीय विधि का पालन नहीं कर सकते जिसके अनुसार केवल उसी बात का उल्लेख किया जाना चाहिये जो पीछे हो अर्थात ऐसी बातों का संकेत नहीं देना चाहिये जिनकी व्याख्या आगे दी गई हो। प्रायः ऐसी कठिनाई आ जाती है कि किसी अध्याय में किसी अज्ञात तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है जिसकी व्याख्या ग्रंथ के किसी बाद के ही अंश में दी जा सकती है—यदि ईश्वर हमारी सहायता करे!

दूसरा परिच्छेद

हिन्दुओं का ईश्वर में विश्वास

ईश्वर के गुण

शिक्षित एवम् अशिक्षित वर्ग के विश्वास में, प्रत्येक राष्ट्र में भेद होता है, क्योंकि वर्ग सूक्ष्म विचार बनाने और सामान्य सिद्धान्तों को परिभाषित करने की चेष्टा में लगा रहता है जब कि दूसरा वर्ग इन्द्रियानुभूतियों से अलग नहीं जाता, और पूर्व निर्धारित नियमों से ही सन्तुष्ट हो लेता है, उसे विस्तार में जाने की इच्छा नहीं होती, विशेष रूप से धर्म और विधान (कानून) के प्रश्नों में जिनके सम्बन्ध में, मत और रुचियाँ विभाजित हैं।

ईश्वर के सम्बन्ध में हिन्दुओं का विश्वास है कि वह एक है, शाश्वत है, अनादि व अनन्त है, सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ है जो सृष्टि करता है और उसका पालन करता है; उसकी कला सर्वोच्च तथा अनोखी है, वह साम्य व असाम्य से परे है, न वह किसी के समान है, न कोई उसकी समता कर सकता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम उनके साहित्य से कुछ अंश उद्धृत करेंगे, जिससे पाठकों को यह भ्रम न हो कि हमारा विवरण सुनी सुनाई बातों पर आधारित है।

पतंजलि की पुस्तक से अवतरण

पतन्जलि* के ग्रंथ में शिष्य प्रश्न करता है—

"वह पूज्य कौन है जिसकी आराधना से आशीर्वाद मिलता है ?"

गुरु कहता है :

"यह वह है जो शाश्वत और अनोखा होते हुए, अपने लिए किसी मानवीय कार्य की अपेक्षा नहीं रखता जिसके लिये, बदले में वह उन्हें (मनुष्यों को) आनन्ददायिनी शान्ति देता है जिसकी आशा व कामना की जा सकती है या अस्तित्व को दुःखपूर्ण बना देता है जिसका भय किया जाता है, कर्मानुसार स्वर्ग या नरक को प्राप्त कराता है। स्वर्ग सर्वप्रिय है और नरक सबके लिये भयानक वह बुद्धि के लिए अगम्य है। वह समस्त द्वन्द्वों से परे है। उसका स्वाभाविक ज्ञान नित्य है, यद्यपि ज्ञान उसे कहते हैं जो पहले से ज्ञात न हो, किन्तु परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान के लिये यह बात नहीं है।"

शिष्य—क्या उसके और भी गुण हैं ?

गुरु—वह सर्वोच्च है, सृष्टि उसके द्वारा हुई है अतः वह इससे भी महान् है, वह परमानन्द है तथा समस्त भ्रांतियों से अलग है।

शिष्य—क्या वह बोलता है ?

गुरु उत्तर देता है—क्योंकि वह जानता है इसलिए निस्सन्देह वह बोलता भी है।

---

* अलवेरूनी का पतंजली, 'पतंजली के योगसूत्रों' से जिस पर भोजराज की टीका है सर्वथा भिन्न है। जो अवतरण इस पुस्तक में दिये गये हैं उनका भोजराज की टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि टीकाकार के विचार कहीं-कहीं अलवेरूनी के विचारों से मिलते हैं। दोनों पुस्तकों का असल मतलब उस शास्त्र का स्पष्टीकरण है।

शिष्य पूछता है—यदि वह इसलिए बोलता है क्योंकि वह जानता है तो उसमें और ज्ञानी मुनियों में, जिन्होंने कि अपने ज्ञान की बातें कही हैं, क्या भेद है ?

गुरु कहता है—उनमें काल का भेद है। मुनियों ने उस काल में सीखा है और उसी काल में बोला है जिसके पूर्व को वे नहीं जानते थे। बोल कर उन्होंने अपना ज्ञान दूसरों तक पहुँचाया है। अतः उनके बोलने और ज्ञान प्राप्त करने में समय लगता है। पर ईश्वरीय कामों के साथ काल का कुछ सम्बन्ध नहीं। इसलिए परमात्मा अनादि काल से जानता और बोलता है। वह ब्रह्मा और आदि सृष्टि के दूसरे लोगों के साथ भिन्न भिन्न रीतियों से बोला था। एक को उसने एक पुस्तक दी, अपने साथ वार्तालाप करने का मार्ग बता दिया और दूसरे को उसने चिन्तन शक्ति प्रदान की।

शिष्य पूछता है—उसने यह ज्ञान कहाँ से पाया ?

गुरु उत्तर देता है—उसका ज्ञान नित्य है। सदैव से चला आ रहा है। कभी कोई ऐसा समय न था जब कि उसे ज्ञान न हो। इसीलिए उसका ज्ञान स्वतः है। उसने कभी कोई ऐसी बात नहीं जानी जो उसे पहले ज्ञात न हो। वह वेद में, जो कि उसने ब्रह्मा को दिये थे, कहता है:—उसी की स्तुति और गुणगान करो जिसने वेद का ज्ञान दया और जो वेद के पहले भी था।

शिष्य पूछता है—अकल्पनीय की आप आराधना कैसे करते हैं ?

गुरु उत्तर देता है:—उसका नाम ही उसके अस्तित्व का प्रमाण है, क्योंकि बिना किसी वस्तु के उसका वर्णन और बिना किसी पदार्थ के उसका नाम नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ उसे नहीं जान सकतीं। आत्मा ही उसे देख सकता है और विचार ही उसके गुणों को जान सकता है। इस प्रकार उसका चिन्तन करना ही उसकी पूजा है। निरन्तर योगाभ्यास से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार हिन्दू लोग अपनी परम प्रसिद्ध पुस्तक में उल्लेख करते हैं।

गीता से अवतरण

निम्नलिखित वाक्य गीता * से लिया गया है। गीता 'महाभारत' नामक पुस्तक का एक भाग है:—

"मैं ब्रह्माण्ड हूँ। जन्म से मेरा आरम्भ और मृत्यु से मेरा अन्त नहीं। मैं कोई भी काम फल की इच्छा से नहीं करता। मैं किसी जाति विशेष का मित्र और किसी दूसरों का शत्रु नहीं। मैंने अपनी सृष्टि में प्रत्येक को उसके निर्वाह के लिये पर्याप्त दे रक्खा है। अतः जो कोई मुझे इस रूप में जानता है और निष्काम कर्म करता हुआ मेरे सदृश्य बनने का यत्न करता है, उसके सब बन्धन खुल जाते हैं, और वह सुगमता से ही आवागमन से छूटकर मुक्त हो जाता है।"

---

* यहाँ जो गीता से अवतरण दिये गये हैं वह उनके दशम अध्याय के तीसरे श्लोक से कुछ मिलता है। परन्तु जो वर्तमान गीता है उससे ये अलबेरूनी के अवतरण मेल नहीं खाते। ऐसा जान पड़ता है कि उसके पास भगवद्गीता का जो संस्करण था, वह हमारी वर्तमान गीता से सर्वथा भिन्न था। वह अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। उसमें लोक के तत्व जो कि वर्तमान टीकाकारों की सम्मति में प्रक्षिप्त हैं, नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बहुमूल्य ग्रन्थ-रत्न गीता में पूर्वज विद्वानों ने नाना परिवर्तन किये हैं पर आश्चर्य है कि जो संस्करण अलबेरूनी के समय में मिलता था वह अब नहीं मिलता है।

परमात्मा के सदृश्य बनने का यथा सम्भव प्रयत्न करना ही तत्व-ज्ञान है' यह लक्षण उपरोक्त वाक्य से ध्यान में आता है।

उसी पुस्तक में वासुदेव आगे चलकर कहते हैं—'मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति के लिए ही बहुधा लोग परमात्मा की शरण में आते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि उन्हें उसका सत्य ज्ञान कुछ भी नहीं। परमात्मा इन्द्रियगम्य नहीं है। इसलिए वे उसे नहीं जानते। उनमें से कई तो इन्द्रिय के विषयों से ही परे नहीं जाते। जो उनसे आगे बढ़ते भी हैं वे प्राकृतिक नियमों के ज्ञान पर जाकर ठहर जाते हैं। वे यह नहीं जानते कि इन नियमों के ऊपर भी एक ऐसी सत्ता है जिसका न तो अपना ही जन्म हुआ है और न कोई अन्य वस्तु ही उससे पैदा हुई है; जिसके वास्तविक स्वरूप को किसी ने नहीं जाना पर जो आप सब पदार्थों को जान रहा है।'

कर्म और कर्त्ता की भावना

कर्म के लक्षणों पर हिन्दुओं का आपस में मतभेद है जो लोग परमात्मा को कर्म का आदि कारण ठहराते है वे जगत् का साधारण कारण मानते हैं। कर्म करने वालों का जन्मदाता होने से वह उनके कर्म्मों का कारण है, अतः उसका अपना कर्म उनके द्वारा प्रकट होता है। कई लोग परमात्मा के स्थान में कई एक ऐसे अन्य स्रोतों को कर्म्म का मूल मानते हैं जो कि बाह्य दृष्टि से, कर्म को उत्पन्न करते हैं। इन्हें वे विशेष कारण समझते हैं।

सांख्य नामक पुस्तक से अवतरण

सांख्यदर्शन * में जिज्ञासु पूंछता है—क्या कर्म और कर्त्ता के विषय में भी कभी कोई मतभेद हुआ है ?

ऋषि कहते हैं—कई लोगों का मत है कि जीव और प्रकृति दोनों चेतन नहीं। परिपूर्ण परमात्मा दोनों का संयोग वियोग करता है। इसलिये वास्तव में वही स्वयम् कर्त्ता है। परमात्मा से निकला हुआ कर्म जीव और प्रकृति को इस प्रकार हिलाता है जिस प्रकार की चेतन और बलवान वस्तु जड़ और निर्बल पदार्थ को हिलाती है।

"कुछ दूसरों का मत है कि प्रकृति ही कर्म्म और कर्त्ता का संयोग कराती है। प्रत्येक घटने बढ़ने वाली वस्तु में यह सामान्य व्यापार है।"

कुछ का कथन है कि कर्त्ता जीवात्मा है, क्योंकि वेद में कहा है—प्रत्येक प्राणी पुरुष से निकला है। कुछ कहते हैं कि कर्त्ता काल है, क्योंकि संसार काल के साथ ऐसा हो बंधा हुआ है जैसे कि भेड़ एक दृढ़ रस्सी से बँधी हो। इस भेड़ की गति रस्सी के खुली, कसी या ढीली होने पर निर्भर होती है। इनके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी मत है कि कर्म पूर्व के किये हुए का फल-मात्र है।

"ये सब मत अयुक्त हैं। वस्तुतः कर्म का सम्बन्ध प्रकृति से है, क्योंकि प्रकृति जीव को बाँधती, भिन्न भिन्न रूपों में उसे घुमाती और फिर मुक्त कर देती है। अतः प्रकृति कर्त्ता है। जो

---

* अलबेरूनी के सांख्य और सांख्य प्रवचन में बहुत दूर का सम्बन्ध है। सांख्य सूत्रों में तो दुःखों के पूर्णतया दूर हो जाने का वर्णन है, परन्तु अलबेरूनी का सांख्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष की शिक्षा देता है। वैसे अलबेरूनी के दृष्टान्त प्रायः सभी गौडपाद में हैं।

पदार्थ प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं वे सब कर्म के करने में सहायता देते हैं। जीवात्मा कर्ता नहीं, क्योंकि वह भिन्न भिन्न शक्तियों से रहित है।"

शिक्षित लोगों का ईश्वर के विषय में ऐसा विश्वास है वे उसे ईश्वर कहते हैं, अर्थात् जो परिपूर्ण, हितकारी और बिना कुछ लिये हमें नाना प्रकार की वस्तुएँ प्रदान करने वाला है और वे केवल परमात्मा के एकत्व को ही स्वीकार करते हैं। यदि उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में भी एकत्व दीख पड़े तो वस्तुतः वह एक नहीं प्रत्युत अनेकों का समूह है। परमात्मा की सत्ता को ही वे वास्तविक सत्ता मानते हैं क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है सब उसी का आश्रित है। पदार्थ के अभाव में उसकी कल्पना सम्भव है पर उसके अभाव में पदार्थ की कल्पना सर्वथा असम्भव है।

अब यदि हम हिन्दुओं के शिक्षित समाज को छोड़ कर साधारण लोगों के विचारों की ओर आयें तो हमें यह पहले ही कह देना होगा कि उनमें बड़ी विचित्रता है। उनके कई एक विचार तो अति विचित्र हैं। पर ऐसी ऐसी भ्रान्तियाँ अन्य मतों में भी पाई जाती हैं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, स्वयम् इसलाम के अन्दर 'परमात्मा अपनी सृष्टि के सदृश है', जबरिया सम्प्रदाय की शिक्षा (मनुष्य के कर्म परमात्मा के हाथ में हैं), धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ करने की मनाही और ऐसी अन्य बातों को हम नापसन्द करते हैं। सर्वसाधारण के लिये धर्म-वाक्य के शब्द बड़ी सावधानी से तोल तोल कर रक्खे जाने चाहिएँ जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से विदित होता है। कई हिन्दू विद्वान् परमात्मा को बिन्दु कहते हैं। इससे उनका तात्पर्य्य यह है कि शरीरों के विशेषण उसमें नहीं घटते। अब एक अशिक्षित व्यक्ति उसे पढ़ता है और कल्पना करता है कि परमात्मा बिन्दु के समान छोटा है। वह यह नहीं सोचता कि इस वाक्य में बिन्दु शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह केवल इस अप्रिय तुलना तक ही बस नहीं करता प्रत्युत इससे भी बढ़ कर परमात्मा के विषय में कहता है कि "वह बारह अंगुली भर लम्बा और दस अंगुली भर चौड़ा है।" परमात्मा धन्य है जो कि माप और गिनती से परे है। अब यदि एक मनुष्य यह सुन पाये कि हम परमात्मा को सर्वदर्शी बतलाते हैं (जिससे कुछ भी छिपा नहीं) तो वह झट यह कल्पना करेगा कि वह केवल चक्षु-दृष्टि द्वारा ही सब कुछ जानता है, क्योंकि वह सोचेगा कि देखा केवल चक्षु द्वारा ही जा सकता है, और दो आँखें एक की अपेक्षा अच्छी हैं। अतः वह परमात्मा की सर्वज्ञता को विश्वासनीय बनाने के लिये उसे हजारों नेत्रों वाला कहेगा ही।

इसी प्रकार की कुत्सित परिकथाएँ हिन्दुओं में कई जगह मिलती हैं, विशेषतः उन जातियों के अन्दर जिनको विद्याध्ययन करने की आज्ञा नहीं है। इनका वर्णन हम आगे करेंगे।

तीसरा परिच्छेद

हिन्दुओं का इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा ज्ञातव्य पर विश्वास

आदिकरण के विषय में यूनानी तथा सूफी मत

ऐथेन्स के सोलन, प्रोन के बियास, कोरिन्थ के पेरियाण्डर, मिलिटस के थेलीस, लेकीडीमन के किलोन, लसबोस के पिटेकुस एवम् लिण्डस के क्लियोबोलस तथा इनके उत्तराधिकारियों के पूर्व जब

यूनान का तर्कशास्त्र विकास प्राप्त नहीं था तब तक यूनानियों की विचारधारा भी हिन्दुओं की सी ही थी। बहुतों का मत है कि समस्त पदार्थ एक ही हैं और उसी को कोई कार्यरत-शक्ति कहता है और कोई उसे अव्यक्त मानता है। कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्य जड़पदार्थ की अपेक्षा आदि कारण से कुछ अधिक निकट है और यही कारण है कि मानव ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

सूफी शब्द पर विचार

कुछ लोगों का विचार है कि सृष्टि का जो आदि कारण है उसी का वास्तविक अस्तित्व है, क्योंकि एक मात्र वही पूर्ण है, शेष सब अपूर्ण हैं। अपने अस्तित्व के लिए जो प्रमुखापेक्षी है वह वास्तविक नहीं हो सकता। उसी 'एक' और 'आदि कारण' की सत्ता ही वास्तविक सत्ता है। सूफी भी यही कहते हैं। सूफी का अर्थ ज्ञानी है, क्योंकि यूनानी भाषा में 'सूफी' प्रज्ञा को कहते हैं। इसी लिए तत्ववेत्ता को 'पैलासोफा' अर्थात् ज्ञान-प्रेमी कहा जाता है। इसलाम में जब लोगों ने तत्ववेत्ताओं के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती बहुत सी बातों को ग्रहण किया तो साथ ही उनका नाम भी वही रहने दिया; किन्तु बहुत से लोगों ने इस शब्द का अर्थ न समझने के कारण इसका सम्बन्ध अरबी शब्द 'सुफा' के साथ जोड़ दिया, मानों मुहम्मद साहब के साथियों में जो लोग अहलस्सुफा* कहलाते थे वही सूफी हैं। पीछे से, अशुद्ध लिखा जाने के कारण यह शब्द विगड़ गया, यहां तक कि अन्त को यह समझा जाने लगा कि इसकी व्युत्पत्ति सूफ धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'बकरियों का ऊन'। अबुल फतेह अलबस्ती† ने इस अशुद्धि को दूर करने के लिए बड़ा प्रशंसनीय यत्न किया। वह कहता है कि—प्राचीन समय से ही सूफी शब्दों के अर्थों के विषय में लोगों का मतभेद रहा है। वे समझते रहे हैं कि यह सूफ शब्द से निकला है जिसका अर्थ ऊन है। मैं स्वयम् इसका अर्थ एक ऐसा युवक समझता रहा हूँ जो कि साफी अर्थात् पवित्र हो। यही साफी विगड़ कर सूफी हो गया। अब विचारकों के एक सम्प्रदाय को सूफी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त उन्हीं यूनानी लोगों का विचार है कि वर्तमान जगत् केवल एक ही पदार्थ है आदि कारण इसके अन्दर विविध रूपों में व्यक्त हो रहा है, और आदिकारण की शक्ति इस जगत के भागों में भिन्न-भिन्न दिशाओं में अन्तर्निहित है। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों की मौलिक एकता रहते हुए भी उनमें विशेष भेद का कारण इन स्थितियों की भिन्नता ही है। कई लोगों का विश्वास था कि जो व्यक्ति अपनी सारी सत्ता के साथ आदिकारण की ओर गमन करता है और जहाँ तक हो सके वैसा ही बनने का प्रयत्न करता है वह मध्यवर्ती स्थितियों को पार करके सब बन्धनों और बाधाओं से मुक्त हो उसके साथ जा मिलता है। सिद्धान्त-सादृश्य के कारण सूफियों के भी ऐसे ही विचार हैं।

जीवात्माओं और प्रेतों के विषय में यूनानियों का विचार हैं कि वे शरीर में प्रवेश करने के पूर्व स्वतः विद्यमान होते हैं। उनकी विशेष संख्याएँ और दल हैं उनका एक दूसरे से विशेष सम्बन्ध है; कइयों का तो परस्पर परिचय है और कइयों का बिल्कुल नहीं। जब तक वे शरीर में

---

* ये कई एक निर्धन, शरणागत, और निराश्रय मनुष्य थे। मुहम्मद साहब के निवास का प्रथम वर्ष उन्होंने मदीना में—हजरत की मसजिद के गुफा में—व्यतीत किया था।

† अबुलफतह, अलबुस्ती अपने समय का एक प्रसिद्ध कवि था। वह उत्तरीय अफगानिस्तान के अन्तर्गत बुस्त का अधिवासी था और वहां के शासक के यहां नौकर था। जब सुबुक्तगीन ने बुस्त विजय किया तो कवि ने उसकी और उसके पुत्र महमूद की नौकरी की। हाजी खलीफा के कथनानुसार उसकी मृत्यु ४३० हिजरी में हुई।

रहते हैं इच्छानुसार कर्म करके अपना भाग्य—नाना रीतियों से संसार को शामिल करने की शक्ति—तैयार करते हैं। यह भाग्य शरीर से वियोग होने पर उन्हें मिलता है। इसी से वे लोग उन्हें देवता कहते थे। उनके नाम पर मन्दिर बनवाते थे और बलिदान देते थे।

जालीनूस का मत

अपनी पुस्तक शिल्पकला-विज्ञान की भूमिका में जालीनूस† कहता है कि सर्वोत्कृष्ट लोगों ने मल्ल-युद्ध और चक्र फेंकने में पराक्रम दिखलाने से नहीं, प्रत्युत विद्या की उन्नति करने के कारण ही देवता की पदवी पाई थी। उदाहरणार्थ अस्क्लीपियस और डायोनिशस प्राचीन समय में मनुष्य थे और आगे चलकर देवता बने चाहे वे आदि से ही अलौकिक व्यक्ति रहे हों, मैं उनका सबसे अधिक सम्मान करता हूँ, इसलिए कि उनमें से एक ने मनुष्य को आयुर्वेद की शिक्षा दी और दूसरे ने अंगूरों की खेती करना सिखलाया।

जालीनूस इपोक्रटीज के सूत्र की व्याख्या करता हुआ कहता है कि—अस्क्लीपियस के विषय में हमने कभी नहीं सुना कि किसी ने उसे बकरी भेंट की हो, क्योंकि बकरी के बालों का बुनना सुगम नहीं; और साथ ही बकरी के रेसों के बुरे होने के कारण इसका अधिकांश मांस अपस्मार (मिर्गी) रोग उत्पन्न करता है। लोग उसे केवल मुर्ग का चढ़ावा देते हैं जैसा कि स्वयम् इपोक्रटीज ने भ दिया था। कारण यह कि इस अलौकिक ने मनुष्य-मात्र के लिये आयुर्वेद की विद्या निकाली जो कि डायोनिशस और डेमीटर के आविष्कार (मदिरा और अनाज जिससे रोटी बनती है) से बहुत बढ़ कर है। अतः अनाज की बालों के साथ डेमीटर का और अंगूर के साथ डायोनिशस का नाम आता है।

प्लेटो के विचार

प्लेटो ‡ अपनी टीमियस में कहता है कि प्रेतात्माएं, जिन्हें बर्बर लोग उनके न मरने के कारण देवता कहते हैं, विद्या देवियाँ हैं। वे विशेष देवता को प्रथम देवता कहते हैं।

आगे चलकर वह कहता है—परमात्मा ने देवताओं से कहा कि तुम भी विनाश से स्वतः मुक्त नहीं हो। बात केवल इतनी है कि तुम्हारा नाश मृत्यु से न होगा। तुमने अपनी उत्पत्ति के समय मेरी इच्छा से दृढ़तम नियमपत्र प्राप्त किया है।

उसी पुस्तक के किसी अन्य स्थल में वह कहता है कि—परमात्मा की संख्या एक है; परमात्मा की संख्या एक से अधिक नहीं।

इन अवतरणों से प्रमाणित होता है कि यवन लोग साधारणतया कीर्तिमान्, तेजोमय, और श्रेष्ठ वस्तु को देव कहते हैं। यही रीति कई दूसरे लोगों में पाई जाती है। वे यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि समुद्र और पर्वत आदि को भी देव कह देते हैं। दूसरे वे विशेष अर्थों में आदि कारण, फरिश्तों (देवदूतों) और अपनी आत्माओं को भी देव कहते हैं। तीसरी रीति के अनुसार प्लेटो देवों को सकीनात कहता है। इस विषय में भाष्यकारों की परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं, इसलिए हम केवल उनके नाम ही जानते हैं—उनके अर्थों का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं। वैयाकरण जोहनीज प्रोक्लस के खण्डन में कहता है कि—कई वर्बर जातियों की भाँति यवन लोग, आकाश में दिखाई

---

† गैलेनस का अरबी नाम जालीनूस है।

‡ इसका अरबी नाम अफ़लातून है। अलबेरूनी ने इसकी कई पुस्तकों के अवतरण दिये हैं।

देनेवाले लोकों को देव कहते थे। तत्पश्चात् जब वे विचार-जगत् की निगूढ़ कल्पनाओं का मनन करने लगे तो उन्होंने इनको ही देव नाम प्रदान किया।

अतः हम अनुमान करते हैं कि अवश्य ही देव हो जाने से उनका अभिप्राय प्रायः वही है जिसे हम देवदूत के अर्थ में ग्रहण करते हैं। जालीनूस उसी पुस्तक में स्पष्ट शब्दों में कहता है कि—'यदि यह सत्य है कि प्राचीन समय में स्लिकपियस नामक कोई मनुष्य था और परमेश्वर ने उसे देव बनाने का अनुग्रह किया था, तो शेष सब बातें व्यर्थ हैं। उसी पुस्तक में वह अन्यत्र कहता है—परमात्मा ने लाईकर्गस से कहा, मुझे सन्देह है कि तुम्हें मनुष्य कहूँ या देव (फरिश्ता), पर मेरी प्रवृत्ति तुम्हें देव कहने की ओर ही है।

इबरानी और सिरियन भाषाओं में परमेश्वर के अलग-अलग नाम

कई ऐसे वाक्य हैं जो एक मत के विचारानुसार तो कटु हैं पर दूसरे के अनुसार मधुर। एक भाषा में तो अच्छे समझे जाते हैं पर दूसरी में कुत्सित। इस प्रकार का शब्द देवत्व है जो कि मुसलमानों को कर्णकटु प्रतीत होता है यदि हम देव शब्द के अरबी भाषा में प्रयोग पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि जितने भी नाम सत्य स्वरूप अर्थात अल्लाह के लिए आते हैं वे सब, किसी न किसी प्रकार, उसके अतिरिक्त और पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। केवल अल्लाह ही एक ऐसा शब्द है जो केवल परमेश्वर के लिए आता है। यह उसका सर्वोत्तम नाम है।

यदि हम इबरानी और सिरियन भाषाओं में, जिनमें कि कुरान के पूर्व ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तकें मिली थीं, इस शब्द पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि और उसके पीछे लिखी गईं पैगम्बरों की पुस्तकों में, जो कि तौरेत का भाग समझी जाती हैं, शब्द रब्ब जब तक कि वह सम्बन्ध कारक में परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता और जब तक कि आप घर का रब्ब (स्वामी), सामग्री का रब्ब नहीं कहते, तब तक—रब्ब शब्द अल्लाह का समानार्थक है। दूसरे हम देखते हैं कि इबरानी भाषा का इलोआह, प्रयोग में, अरबों के रब्ब से मिलता है; अर्थात् इबरानी में इलोआह, शब्द परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के लिये भी अरबी शब्द रब्ब की नाईं प्रयुक्त हो सकता है। निम्नलिखित वाक्य उन पुस्तकों में मिलते हैं :—

जल-प्रलय के पहले "इलोहिम के पुत्र मनुष्य की पुत्रियों के पास आये" (उत्पत्ति पुस्तक ६, ४) और उनके साथ समागम किया।

'शैतान इलोहिम के पुत्रों के साथ उनकी सभा में घुस गया।' (अय्यूब १, ६)

मूसा की तौरेत में परमेश्वर उससे कहता है—मैंने तुझे फरऔन के लिए एक देव बनाया है। (निर्गमम पुस्तक ७, १)

दाऊद की जबूर के ८२ वें स्तोत्र में इस प्रकार है—'परमेश्वर देवों अर्थात् देवदूतों के समाज में उपस्थित होता है।'

तौरेत में प्रतिमाओं का उल्लेख विदेशीय देवों के नाम से है। यदि तौरेत में परमेश्वर के अतिरिक्ति किसी अन्य पदार्थ के पूजन का निषेध न होता, यदि इसमें प्रतिमाओं के सामने साष्टाङ्ग प्रणाम करने, प्रत्युत उनका नाम लेने और उन पर ध्यान देने तक को निषिद्ध न ठहराया होता तो इस वाक्य से अनुमान हो सकता था कि बायबिल की आज्ञा केवल विदेशीय देवताओं (जो इबरानी नहीं हैं) को ही लोप कर देने की है। पैलस्टाइन के आस पास की जातियाँ साकारवादी यूनानियों की भाँति मूर्ति-पूजक थीं और इसराईल की सन्तान परमेश्वर से मुख मोड़ कर बआल तथा अशतारोथ (रति) की प्रतिमाओं का पूजन करती थी।

इनसे स्पष्ट है कि इबरानी लोग देव शब्द का प्रयोग, जो कि व्याकरण की दृष्टि से राजा की परिभाषा के समान है, फरिश्तों (देवदूतों) तथा अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न आत्माओं के लिए करते थे। वे उपमा के लिए इन अलौकिक आत्माओं के शरीरों की प्रतिनिधिरूपा प्रतिमाओं और दृष्टान्त रूप से राजाओं तथा महापुरुषों को भी देव कह देते थे।

परमेश्वर शब्द को छोड़ कर जब हम पिता और पुत्र शब्द पर आते हैं तो कहना पड़ता है कि इसलाम इन शब्दों के प्रयोग में उदार नहीं। अरबी में पुत्र शब्द प्रायः सदैव, स्वाभाविक क्रम में, बालक के अर्थों में ही आता है और व्युत्पत्ति तथा जन्म में जिन भावों का समावेश है उनसे कभी भी कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती जिसका अर्थ सृष्टि का नित्य स्वामी हो। दूसरी भाषाएँ इस विषय में बड़ी उदार हैं, यहाँ तक कि यदि लोग एक पुरुष को पिता कह कर पुकारते हैं तो यह वही बात समझी जाती है जैसा कि उसे आर्य्य शब्द से सम्बोधन किया जाय। हर कोई यह जानता है कि इस कार के वाक्य ईसाइयों में इतने प्रचलित हो गये हैं कि जो कोई दूसरों को सम्बोधन करने में पिता शब्द और पुत्र शब्द का सदैव प्रयोग नहीं करता, वह ईसाई ही नहीं समझा जाता। पुत्र से उनका तात्पर्य सदैव, विशेष रूप से यसूह होता है। परन्तु उसके अतिरिक्त अन्यों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। यसूह ने ही अपने शिष्यों को प्रार्थना में "हे हमारे स्वर्गवासी पिता" ऐसा कहने का आदेश किया है (मत्ती ६, ९) और उन्हें अपनी मृत्यु का समाचार सुनाते हुए कहा है कि मैं अपने पिता और तुम्हारे पिता के पास जा रहा हूँ। (योहन २०, १७)। अपनी बहुत सी वक्तृताओं में पुत्र शब्द का अर्थ वह अपने आपको बतलाता है अर्थात् कि वह मनुष्य का पुत्र है।

ईसाइयों के अतिरिक्त यहूदी लोग भी इसी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

राजाओं की दूसरी पुस्तक में लिखा है कि परमेश्वर ने दाऊद को उसके पुत्र की मृत्यु पर, जो कि उसके यहाँ उरिया की भार्य्या से उत्पन्न हुआ था, समाश्वासन दिया और वर दिया कि उसी स्त्री से एक और पुत्र उत्पन्न होगा जिसे मैं अपना पुत्र ठहराऊँगा (१ तवारीख अध्याय २२, वाक्य ९, १०)। यदि इबरानी भाषा का प्रयोग वह स्वीकार करता है कि सुलेमान परमेश्वर का ठहराया हुआ पुत्र था तो कह सकते हैं कि जिसने उसे पुत्र ठहराया वह पिता अर्थात् परमेश्वर था।

मनीचियों पर संक्षिप्त टिप्पणी

मनिची लोगों का ईसाइयों से निकट सम्बन्ध है। मआनी अपनी पुस्तक प्राणी-भण्डार में इसी प्रकार कहता है:—ज्योतिष्मान् लोकों को हम तरुणी नारियाँ, कुँवारी कन्याएँ, पिता, माता, पुत्र, भ्राता और भगिनियाँ कहेंगे क्योंकि भविष्यक्ताओं की पुस्तकों में ऐसा ही किया गया है। आनन्दधाम में न कोई स्त्री है न कोई पुरुष और न सन्तानोत्पत्ति की इन्द्रियाँ ही हैं। सबको सजीव शरीर मिले हुए हैं। उन शरीरों के अलौकिक होने के कारण बल और निर्बलता, लम्बाई और छुटाई, तथा आकृति और सौन्दर्य की दृष्टि से उनमें आपस में कुछ भेद नहीं। वे समान प्रदीपों के समान हैं जो कि एक ही प्रदीप से जलाये गये हैं और जिनमें एक ही सामग्री जल रही है। इस प्रकार नाम रखने की आवश्यकता दो प्रदेशों के परस्पर मिल जाने की स्पर्धा से उत्पन्न हुई है। जब नीचे का अन्धकारमय प्रदेश भूत-प्रलय की गहरी गुफा से बाहर निकला और ऊपर के ज्योतिष्मान् प्रदेश ने उसमें स्त्री और पुरुष के जोड़े देखा तो उसने भी अपनी सन्तान को उसी प्रकार के बाह्य आकार प्रदान किये। तब यह सन्तान नीचे के लोक के साथ युद्ध करने चली। उसने दूसरे लोक के एक प्रकार के व्यक्तियों के साथ लड़ने के लिए उसी प्रकार के लोग खड़े किये, अर्थात् नरों के साथ नर और नारियों के साथ नारियाँ।

सुशिक्षित हिन्दुओं के विचार

सुशिक्षित हिन्दू इस प्रकार देदीप्यमान व्यक्तियों में नर और नारी का भेद करना बुरा समझते हैं, परन्तु सामान्य जन-समुदाय और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी बहुधा ऐसा करते हैं। वे तो जितना हमने ऊपर कहा उससे भी बहुत बढ़े हुए हैं। यहाँ तक कि वे परमेश्वर को स्त्री, पुत्र, और पुत्री होने; उसके गर्भाधान करने, तथा और भी कई भौतिक क्रियाओं को उसके सम्बन्ध में मानते हैं। उनमें भक्तिभाव इतना कम है कि जब वे इन बातों का उल्लेख करने बैठते हैं तो अनुचित और अश्लील शब्दों के प्रयोग में भी सङ्कोच नहीं करते। ये लोग और इनके सिद्धान्त चाहे बहुसंख्यक हैं पर कोई भी इनकी परवा नहीं करता।

हिन्दू-विचार की मुख्य और सबसे आवश्यक बात यह है जिसे ब्राह्मण लोग सोचते हैं और जिस पर उनका विश्वास होता है। इसका कारण यह है कि ये लोग धर्म की स्थिति और रक्षा के लिए विशेष रूप से तैयार किये जाते हैं। हम इन्हीं ब्राह्मणों के विश्वास का ही वर्णन करेंगे।

सृष्टि के विषय में, उनका विचार है कि यह सब एक पदार्थ है, क्योंकि वासुदेव गीता में कहता है—सच पूछो तो सब पदार्थ ब्रह्म रूप हैं, क्योंकि विष्णु ने ही पृथिवी का रूप धारण किया है ताकि प्राणिमात्र उस पर रह सकें; वह आप ही जल बना, ताकि उनका पोषण हो। उनकी वृद्धि के लिए वही विष्णु अग्नि और वायु के रूप में प्रकट हुआ है। वही प्रत्येक प्राणि का हृदय है। उसने उन्हें, जैसा कि वेद में कहा है, स्मृति, ज्ञान, और द्वन्द्वों से सम्पन्न किया।

यह कथन अपोलोनियस † की पुस्तक, किताब फ़िल अलल के कर्ता के इस वाक्य में ऐसा मिलता है मानो एक ने दूसरे से लिया है—सब मनुष्यों में एक दैवी शक्ति है जिसके द्वारा सब साकार और निराकार वस्तुएँ जानी जाती हैं। इस प्रकार फारसी में निराकार प्रभु को खुदा कहते हैं, और यौगिक रीति से इसका अर्थ पुरुष अर्थात् मानव-प्रभु का भी निकलता है।

१—जो हिन्दू संदिग्ध संकेतों के स्थान में स्पष्ट और यथार्थ लक्षणों को पसन्द करते हैं वे आत्मा को पुरुष कहते हैं, क्योंकि विद्यमान जगत् में यही एक चेतन-सत्ता है। उनके विचार में वह केवल प्राण-स्वरूप है। उनका मत है कि उसमें कभी अविद्या रहती है और कभी ज्ञान। अविद्या तो उसमें स्वाभाविक है पर ज्ञान वह अपने यत्न-द्वारा प्राप्त करता है। पुरुष की अविद्या के कारण ही कर्म उत्पन्न होता है। कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान ही एक मात्र साधन है।

२—इसके बाद सामान्य द्रव्य अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ आता है जिसे अव्यक्त या निराकार पदार्थ कहते हैं। यह जड़ है परन्तु इसमें सत्व, रजस् तमस् नामक तीन गुण हैं। ये इसके अपने स्वाभाविक गुण नहीं प्रत्युत उपलब्धियां हैं। मैंने सुना है कि बुद्धोदन अपने अनुयायी शमनियों से बात करते समय उन्हें बुद्ध, धर्म और संघ कहता है, मानों इनसे उसका अभिप्राय ज्ञान, धर्म और अविद्या है। पहला गुण शान्ति और भलाई का है। यह अस्तित्व और वृद्धि का कारण है। दूसरा गुण उद्यम और क्लान्ति है। इससे दृढ़ता और संस्थिति प्राप्त होती है। तीसरा गुण शिथिलता और अधीरता है। इससे विनाश और विध्वंस होता है। इसलिए पहला गुण देवताओं में, दूसरा मनुष्यों में और तीसरा पशुओं में प्रधान माना जाता है। आगे, पीछे, और उसी जगह आदि शब्द इनके सम्बन्ध में सापेक्षता की दृष्टि से और भाषा की असमर्थता के कारण ही बोले जाते हैं न कि किसी प्रकार की काल-सम्बन्धी साधारण भावना प्रकट करने के लिए।

---

† टायना की अपोलोनियस नामक युनानी पुस्तक का पता नहीं चलता परन्तु अरबी में यह मौजूद है।

३—संभाव्य अवस्था से निकल कर साकार अवस्था में जाने वाला द्रव्य जो कि तीन आदि गुणों के साथ विविध रूपों में प्रकट होता है, व्यक्त अर्थात आकारवाला कहलाता है। सूक्ष्म अव्यक्त और स्थूल व्यक्त को मिलावट का नाम ही प्रकृति है। परन्तु इस परिभाषा से हमें कुछ काम नहीं। हमें सूक्ष्म पदार्थ का वर्णन नहीं करना है। केवल द्रव्य की परिभाषा ही हमारे लिए पर्याप्त है, क्योंकि एक के विना दूसरे का अस्तित्व असंभव है।

४—इसके बाद है स्वभाव। इसे वे अहङ्कार कहते हैं। यह शब्द अतिप्रबलता, विकास, और स्थिति के भावों को लिए हुए है। कारण यह है कि जब द्रव्य नाना रूपों में प्रकट होता है तो वस्तुएं विकसित होकर नवीन आकार धारण करतीं हैं। यह विकास वाह्य द्रव्य को बदल कर उसे बढ़ने वाली वस्तु में परिवर्तित करने से होता है। अतः मानो अहङ्कार ही उन दूसरे अथवा वाह्य द्रव्यों का इस परिवर्तन क्रिया द्वारा अपने अधीन करने और परिवर्तित पदार्थ को वश में रखने की चेष्टा कर रहा है।

महाभूत

५—९ यह स्पष्ट है कि एक मिश्रण के पूर्व उन अनेक अमिश्रित मूल द्रव्यों का होना आव-श्यक है जिनसे कि वह मिश्रण बना है और जिनमें कि वह पुनः विलय हो जाता है। सारा विश्व, हिन्दुओं के विचारानुसार, पाँच तत्वों या भूतों का बना है। ये तत्व आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। उन्हें महाभूत करते हैं। अन्य लोगों की भाँति उनका ऐसा विचार नहीं कि अग्नि आकाश के अधोभाग के निकट एक उष्ण और शुष्क पदार्थ है। अग्नि से उनका अभिप्राय पृथिवी पर की सामान्य आग से होता है जो कि धूएँ के जलने से उत्पन्न होती है। वायु पुराण† के अनुसार आदि में पृथ्वी, जल, वायु, और आकाश थे। ब्रह्मा ने पृथवी के नीचे चिनगारियां देखीं और उनको ऊपर लाकर तीन भागों में विभक्त किया। पहला भाग पार्थिव अर्थात् सामान्य अग्नि है। इसे ईन्धन की आवश्यकता है और यह जल से बुझ जाती है। दूसरा भाग दिव्य अर्थात् सूर्य्य, और तीसरा विद्युत अर्थात् बिजली है। सूर्य्य जल का आकर्षण करता है और बिजली जल द्वारा चमकती है। पशुओं के भीतर गीली चीजों में भी अग्नि है। ये चीजें अग्नि को प्रचण्ड करती हैं, बुझाती नहीं।

पंचतन्मात्र

१०—१४. ये मूल पदार्थ मिश्रण हैं, इसलिए इनके पूर्व अमिश्रित पदार्थों का होना स्वाभा-विक है। इन अमिश्रित पदार्थों को पंचमातर अर्थात् पाँच माताएँ‡ कहते हैं। वे उन्हें इन्द्रियों का व्यापार बतलाते हैं। आकाश का निज गुण है शब्द, अर्थात् जो कुछ सुनाई देता है; वायु का स्पर्श अर्थात् जो कुछ छुआ जाता है; अग्नि का रूप अर्थात् जो कुछ दिखाई पड़ता है; जल का रस अर्थात् जो कुछ चखा जाता है; और पृथवी का गंध अर्थात जो कुछ सूंघा जाता है। इन महाभूतों (पृथ्वी, जलादि) में से प्रत्येक में एक तो उसका निजी गुण रहता है और साथ ही जिन तत्वों का उसके पूर्व वर्णन हो चुका है उन सबके गुण भी उसमें रहते हैं। इसलिए हिन्दुओं के मतानुसार, आकाश में

---

† अलबेरूनी ने पुराणों के बहुत से दृष्टान्त दिये हैं। जिनसे यह पता लगता है कि उसके पास आदित्य, मत्स्य, और वायु पुराण के कुछ कुछ खण्ड, और सम्भवतः सारा विष्णु-पुराण था।

‡ पाँच माताओं का लिखना ग्रन्थकार का भ्रम है। यह पाँच मात्र अर्थात पंचमात्राणि पञ्चतन्मात्राणि) होना चाहिये।

केवल शब्द है, वायु में शब्द और स्पर्श है, अग्नि में शब्द, स्वर्ग और गन्ध है, जल में शब्द, रस रूप और स्पर्श हैं और पृथ्वी में शब्द, रस रूप, स्पर्श और गन्ध हैं।

मैं नहीं जानता हिन्दू शब्द का आकाश से क्यों सम्बन्ध बताते हैं। शायद उनका आशय कुछ वैसा ही है जैसा कि प्राचीन यूनानी कवि होमर ने कहा था—जिन्हें सात स्वर मिले हैं वे बड़ी मधुर तान में परस्पर वार्तालाप और प्रश्नोत्तर करते हैं। वहाँ उसका अभिप्राय सात ग्रहों से है। एक और कवि का कथन है—आकाशचारी लोक, जिन्हें भिन्न भिन्न स्वर-संयोग मिले हैं, सात हैं। ये सदैव से घूमते हुए स्रष्टा का गुण-गान कर रहे हैं, क्योंकि वही उन्हें धारण करके तारिका-शून्य आकाश मण्डल के दूरतम सिरे तक उनका आलिङ्गन कर रहा है।

प्रसिद्ध तत्ववेत्ताओं की खगोल-विषयक सम्मतियों के सम्बन्ध में पोरफायरी अपनी पुस्तक में कहता है—अन्तरिक्ष में आकृतियाँ तथा आकार बनाते हुए और अद्भुत स्वर निकालते हुए जो नक्षत्र और ग्रह घूम रहे हैं, और जिनके स्वर—जैसा कि पाईथेगोरस और देवानस का मत है—सदा के लिए स्थिर हैं, वे अपने निराकार और अद्वितीय निर्माता का स्मरण दिलाते हैं। कहते हैं कि देवजानस की श्रवणशक्ति इतनी प्रबल थी कि वह, और केवल वही, आकाशचक्र की गति के नाद को सुन सकता था।

ये सब वाक्य व्याख्या नहीं, संकेतमात्र हैं। परन्तु वैज्ञानिक आधार पर इनका यथार्थ अर्थ निकाला जा सकता है। इन तत्ववेत्ताओं का एक उत्तराधिकारी, जिसने सचाई को भली-भाँति नहीं समझा, कहता है—दृष्टि का सम्बन्ध जल से, श्रवण का वायु से, घ्राण का अग्नि से, चखने का पृथ्वी से, और स्पर्श का उससे है जो कि प्रत्येक पदार्थ को आत्मा के संयोग से प्राप्त होता है। मेरा अनुमान है कि यह दार्शनिक पण्डित दृष्टि का सम्बंध जल से इसलिए बताता है कि इसने चक्षुओं की गीली वस्तुओं और उनकी भिन्न-भिन्न श्रेणियों के विषय में सुन रक्खा था। वह सूंघने का सम्बन्ध अग्नि से धूएँ और सुगन्धि के कारण, और चखने का सम्बन्ध पृथ्वी से उस आहार के कारण बताता है जो कि वसुधा उसे प्रदान करती है इस प्रकार चार तत्वों के समाप्त हो जाने से उसे पाँचवाँ इन्द्रिय-स्पर्श, के लिए आत्मा की आवश्यकता प्रतीत हुई।

ऊपर कहे सब तत्वों का फल, अर्थात् इन सबका मिश्रण, जन्तु है। हिन्दू लोग अफ़लातूं की भाँति पौधों को भी जन्तु का एक प्रकार मानते हैं। अफ़लातूं की राय थी कि पौधे सज्ञान हैं क्योंकि वे अपने इष्ट और अनिष्ट में भेद कर सकते हैं। जन्तु का पाषाण से यही भेद है कि उसमें ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं।

इन्द्रियाणि

१५—१९ ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं अर्थात् सुनने के लिए कान, देखने के लिए आँख, सूंघने के लिए नाक, चखने के लिए रसना और स्पर्श के लिए त्वचा।

२०—इसके बाद इच्छा है। यह इन्द्रियों से उनके विविध व्यापार कराती है। इसका निवास स्थान हृदय है। इसीलिए इसे मनस् कहते हैं।

२१—२५ पशु-प्रकृति पांच आवश्यक व्यापारों से पूर्ण होती है। इन्हें वे कर्मेन्द्रियाणि अर्थात् काम करने की इन्द्रियाँ कहते हैं। पहली इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान और बोध प्राप्त होता है और दूसरी से कर्म और श्रम किया जाता है। हम इन्हें आवश्यक कहेंगे। इनका काम निम्नलिखित है :—

(१) मनुष्य की विविध आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को प्रगट करने के लिए शब्द उत्पन्न करना। (२) किसी वस्तु को अपनी ओर खींचने या ढकेलने के लिए हाथ से कार्य कराना। (३) किसी वस्तु को ढूंढ़ने या उससे परे भागने के लिए पाँव के साथ दौड़ना। (४-५) पोषण के फालतू द्रव्यों को इसी प्रयोजन के लिए बने हुए दो छिद्रों के द्वारा बाहर फेंकना।

ये सब मूल पदार्थ पच्चीस हैं; अर्थात्—

१. पुरुष।

२. अव्यक्त।

३. व्यक्त।

४. अहङ्कार।

५,६,७,८,९. पंचतन्मात्र।

१०,११,१२,१३,१४. आदि पंचमहाभूत।

१५,१६,१७,१८,१९. ज्ञानेन्द्रियाँ।

२०. मनस्।

२१,२२,२३,२४,२५. कर्मेन्द्रियाँ।

इन सबके समूह को तत्व कहते हैं। सारा ज्ञान इन्हीं तक परिमित है। इसीलिए पराशर का पुत्र व्यास कहता है।—पच्चीसों को लक्षणों, भेदों और प्रकारों के द्वारा केवल जिह्वा से ही नहीं प्रत्युत युक्ति-सिद्ध न्याय-वाक्यों की भाँति, निश्चित तथ्य समझ कर सीख लो। फिर चाहे किसी भी मत के अनुयायी बनो तुम्हें मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

चौथा परिच्छेद

कर्म का कारण तथा आत्मा का प्रकृति के साथ संयोग

उत्सुक आत्मा का प्रेतात्मा के साथ संयोग

कार्यरत होने के लिए शरीर को जीव की आवश्यकता है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार आत्मा न तो अपने शुद्ध रूप को जानता है और न अपने भौतिक आधार को। अज्ञात को जानने की इच्छा उसे भी रहती है। उनका यह भी विश्वास है कि आत्मा के लिये शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। वह लालायित रहता है मंगलरूप संस्थिति के लिए एवं अज्ञात को जानने के लिये। इसी इच्छा के कारण उसे प्रकृति से संयोग करना पड़ता है। अति स्थूल एवं अति-सूक्ष्म द्रव्य तब तक संयुक्त नहीं हो सकते जब तक सम्बन्ध बनाने वाले मध्यवर्ती तत्व न हों। उदाहरण स्वरूप जल और अग्नि विरोधी तत्व हैं और वायु दोनों का मध्यवर्ती तत्व है। विरलता में अग्नि एवं वायु में साम्य है और सघनता में वायु एवं जल में। इसीलिये वायु ही इन दोनों की संयोजिका है। निराकार और साकार भी विरोधी गुणवाले हैं। अतः अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आत्मा को समान माध्यम की आवश्यकता होती है। प्रेतात्माएं ही ये समान माध्यम हैं। समान माध्यमों के बिना वह अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सकता। ये समान माध्यम

अमूर्त प्रेतात्मायें हैं जो भूर्लोक, भुवर्लोक, और स्वर्लोक में मूल माताओं से उत्पन्न होते हैं। सामान्य पाँच तत्वों के बने स्थूल शरीरों से इनका भेद करने के लिये हिन्दू इन्हें सूक्ष्म शरीर कहते हैं। पृथ्वी पर सूर्य्य की भांति, आत्मा इन सूक्ष्म शरीरों पर चढ़ता है। इन माध्यमों से संयुक्त होकर आत्मा शरीर से रथ का काम लेता है। यद्यपि सूर्य्य एक है पर उसके सामने रक्खे हुए अनेक दर्पणों और जलपूर्ण घड़ों में उसका प्रतिबिम्ब समान रूपेण पड़ता है। उसका ताप और प्रकाश देनेवाला प्रभाव भी सबमें तुल्य प्रतीत होता है।

शारीरिक कियाओं को कराने वाले पाँच प्राण

विविध शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थों के संयोग से बने हैं अतः जब हड्डी, नाड़ी, और वीर्य्य प्रभृति नर-तत्व-मांस, लहू और केश आदि नारी तत्वों से संयुक्त होकर देह बनाते हैं और वे देह जीव को धारण करने के लिए पूर्णतया तैयार हो जाते हैं तो ये आत्मा इनमें प्रवेश करते हैं। शरीर इन आत्माओं को वही काम देते हैं जो बड़े-बड़े दुर्ग और प्रासाद नरेशों को। अधिक उन्नत हो जाने पर पाँच प्राण शरीर में प्रवेश करते हैं। इन पाँच में से पहले दो के द्वारा प्राणी श्वास को अन्दर लेता और बाहर निकालता है। तीसरा प्राण आमाशय में खाद्य द्रव्यों को मिलाता है। चौथा शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है और पाँचवाँ ज्ञानेन्द्रियों की चेतना को शरीर के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाता है।

उक्त आत्मायें, हिन्दुओं के विचारानुसार, अपने शुद्ध स्वरूप में एक दूसरे से भिन्न नहीं। इन सब का प्रकृत स्वरूप एक सा ही है। पर इनके व्यक्तिगत आचार-व्यवहार में भेद है। इसका कारण एक तो उनके धारण किये हुए शरीरों की भिन्नता, दूसरे उनके अन्दर के तीन गुण जो एक दूसरे से बढ़ने की सदा चेष्टा करते रहते हैं, और तीसरे ईर्ष्या और क्रोध के विकारों से उन तीनों गुणों की साम्यावस्था का बिगड़ जाना है।

प्रकृति की आत्मा के साथ मिलने की अभिलाषा

इसके विपरीत, प्रकृति-सम्भूत नीच-तम कारण यह है कि प्रकृति पूर्ण बनने की चेष्टा करती रहती है और जो बात कम अच्छी अर्थात सम्भाव्य अवस्था से निकल कर साकार अवस्था में जाने वाली है उसकी अपेक्षा अधिक अच्छी को पसन्द करती हैं मिथ्या-प्रशंसा तथा उच्चपद लालसा के कारण जो कि इसके स्वाभाविक गुण हैं, प्रकृति अपनी सारी शक्ति से नाना रूप धारण कर अपने शिष्य—आत्मा को दिखाती है, और उसे सब प्रकार की वनस्पतियों और जन्तुओं के शरीरों में घुमाती है। हिन्दू लोग आत्मा को एक ऐसी नर्तकी से उपमा देते हैं जो कि अपनी कला में निपुण है और जानती है कि उसकी प्रत्येक चेष्टा और संकेत क्या परिणाम रखता है। वह एक विषयी पुरुष के सामने खड़ी है जो कि उसकी विद्या का आनन्द लूटने के लिये बड़ा लालायित है। वह अपनी माया के नाना चमत्कार क्रमशः दिखलाना आरम्भ करती है। इस पर वह विषयी उसकी प्रशंसा करता हुआ नहीं थकता। अन्त को उसके खेल समाप्त होते हैं और साथ ही दर्शक की उत्सुकता भी जाती रहती है। इस पर वह सहसा ठहर जाती है, क्यों कि अब उसके पास कोई नया खेल नहीं रहता और वह पुराना खेल देखना नहीं चाहता, इसलिए उसे विदा कर देता है। इसके साथ ही कर्म की भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार के सम्बन्ध की समाप्ति निम्नलिखित दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है:—

एक वन में पथिकों की एक टोली जा रही थी । डाकुओं के एक समूह ने उन पर आक्रमण किया । एक अंधे और एक लूले के अतिरिक्त, जो भाग कर छिप नहीं सकते थे, शेष सब पथिक इधर-उधर भाग गये तत्पश्चात जब वे दोनों आपस में मिले और उन्होंने एक दूसरे को पहचान लिया तो लूला बोला—मैं चल तो नही सकता पर मार्ग दिखा सकता हूँ। तुम्हारी दशा इसके विपरीत है । इसलिए मुझे अपने कन्धों पर उठा कर ले चलो । मैं तुम्हें मार्ग दिखाता चलूंगा और इस प्रकार हम दोनों आपत्ति से बच जाएंगे । अंधे ने ऐसा ही किया । परस्पर सहायता से उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया और वन से बाहर निकल कर वे एक दूसरे से जुदा हो गये ।

प्रकृति के कर्म का कारण और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति

हिन्दू लोग, जैसा कि हम कह आये हैं, कर्ता का वर्णन कई प्रकार से करते हैं । विष्णु पुराण कहता है—प्रकृति जगत का आदिकारण है । स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति से ही यह जगत में कर्म्म करती है—जैसे कि एक वृक्ष स्वभावतः अपने ही बीज बो देता है, उसकी अपनी ही इच्छा नहीं होती; या जिस प्रकार पवन जल को ठण्डा कर देता है, यद्यपि उसका विचार केवल चलने का ही होता है । स्वेच्छाधीन कर्म्म केवल विष्णु का ही है । इस पिछले वाक्य से ग्रन्थकार का अभि-प्राय चेतन सत्ता से है जो कि प्रकृति के ऊपर है । उसी के द्वारा प्रकृति कर्ता बन कर उसके निमित्त इस प्रकार काम करती है जिस प्रकार कि एक मित्र बिना किसी पुरस्कार की कामना के परिश्रम करता है ।

इस वाद पर मानी ने निम्न वाक्य कहा है :—

प्रेरितों ने ईसू से जड़ जगत में जीवन के विषय में जिज्ञासा की । उसने उत्तर दिया कि जो जड़ है यदि उसे चेतन से, जो कि उसके साथ संयुक्त है और अपने आप अलग प्रतीत होता है । अगर उसे जुदा कर लें तो वह जड़ का जड़ और जीवन शून्य रह जाता है । परन्तु चेतन सत्ता, जुदा होनेपर भी, प्राणात्मक बनी रहती है । यह कभी नहीं मरती ।

सांख्य-मतानुसार प्रकृति और कर्म का कारण

सांख्यदर्शन कर्म की उत्पत्ति प्रकृति से मानता है, क्यों कि प्रकृति के नाना रूपों में जो भेद दीख पड़ता है उसका कारण आदि गुण और उन गुणों में से एक या दो की प्रधा-नता हैं । ये गुण मानुषी और पाशविक हैं । ध्यान रहे कि ये तीनों प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं । आत्मा का काम दर्शक की भांति प्रकृति के कार्यों का ज्ञान-प्राप्त करना है, जिस प्रकार कि यात्री किसी ग्राम में विश्राम लेने बैठता है । ग्रामवासी नर-नारी अपने अपने काम में मग्न हैं, पर वह उन्हें देखता है और उनके कामों पर विचार करता है कई कामों को बुरा और कइयों को अच्छा समझता और उनसे शिक्षा ग्रहण करता है । इस प्रकार, यद्यपि उसका उनके कार्यों में कोई भाग नहीं फिर भी वह व्यग्र है । साथ ही जो व्यापार हो रहा है उसका वह कारण भी नहीं ।

यद्यपि आत्मा का कर्म से कोई वास्ता नहीं तो भी सांख्य-दर्शन उनका इतना संबन्ध बताता है जितना कि एक पथिक का उन अपरिचित लोगों से जो कि दैवयोग से मार्ग में उसके साथी हो गये हैं । वे अपरिचित लोग डाकू हैं और किसी गाँव को लूट कर आ रहे हैं । वह पथिक उनके साथ अभी थोड़ा ही मार्ग चला है कि इतने में पीछे के गाँव वालों ने आकर घेर लिया । सब के सब डाकू पकड़ लिए गये और साथ ही निरपराधी पथिक भी पकड़ा गया । उसके साथ ठीक वैसा ही

वर्ताव हुआ जैसा कि डाकुओं के साथ। यद्यपि उसने उनके काम में भाग नहीं लिया था तो भी उसे वही दण्ड मिला।

लोग कहते हैं कि आत्मा आकाश से सदैव एक ही रूप में वरसने वाले वर्षा-जल के सदृश है। जिस प्रकार वर्षा जल को सोना, चाँदी, काँच, मिट्टी, चिकनी मिट्टी, या खारी मिट्टी, आदि भिन्न द्रव्यों के वने हुए वर्तनों में इकट्ठा करने पर उसके रूप, रस, और गन्ध में भेद हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का प्रकृति पर केवल यही प्रभाव है कि इसके संसर्ग से उसमें जीवन आ जाता है। जब प्रकृति कर्म करती है तो तीनों गुणों में से प्रधान गुण के अनुसार, और शेष दो अभिभूत गुणों की उसके साथ पारिस्परिक सहायता के अनुसार, परिणामान्तर होता है। यह सहायता कई प्रकार की है यथा ताजा तेल सूखी वत्ती और सुलगती हुई अग्नि प्रकाश उत्पन्न करने के लिए परस्पर सहायता देते हैं। प्रकृति में आत्मा, रथ में सारथि की तरह है। इन्द्रियों से सम्पन्न होने के कारण वह रथ को स्वेच्छानुसार चलाता है। आत्मा परमेश्वर की दी हुई वुद्धि के अनुसार कार्य करता है। वे लोग वुद्धि उसे समझते हैं जिससे पदार्थों का यथार्थ रूप जाना जाता है, जो ब्रह्म-विद्या का मार्ग बताती है और जो प्रशंसनीय तथा शुभ कार्यों के लिए प्रेरणा करती है।

पाँचवां परिच्छेद

जीवात्मा और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का आरम्भ, विकास और अन्तिम परिणाम

"परमेश्वर ही पूज्य है और मुहम्मद उसका रसूल है" यह कलमा इसलाम का साम्प्रदायिक शब्द है। उसी प्रकार त्रिमूर्ति ईसाइयों का, सब्वथ का संस्कार यहूदियों का तथा पूनर्जन्म हिन्दुओं का साम्प्रदायिक शब्द है। प्रत्येक हिन्दू पुनर्जन्म को अवश्य ही मानता है। उसके विश्वास को यों प्रगट कर सकते हैं:—पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के अभाव में आत्मा विश्व के सकल पदार्थों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अतः आवश्यकता इस वात की है कि वह सभी योनियों एवम् सभी प्राणी की खोज व परीक्षा करे। इन योनियों की संख्या अत्यधिक है यद्यपि अनन्त नहीं। इन सभी का ज्ञान प्राप्त करने के लिये एवम् इसीलिये सभी योनियों में जाकर उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मा को वड़ा लम्बा समय चाहिये। विभिन्न योनियों की विभिन्न एवम् विशिष्ट क्रियाओं का चिन्तन करने से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रत्येक पदार्थ से अनुभव प्राप्त करते रहने से आत्मा की ज्ञान-वृद्धि होती रहती है।

इन कर्मों में इतना ही भेद है जितना कि तीनों आदिगुणों में इसके अतिरिक्त जगत् को भी किसी अभिसन्धान के विना नहीं रहने दिया गया। जैसे घोड़े को लगाम से चलाते हैं वैसे ही जगत को भी एक लक्ष्य की ओर चलाया जाता है। इसलिए अनश्वर आत्मायें अपने अच्छे और वुरे कर्मों के अनुसार नश्वर शरीरों में घूमती-फिरती हैं। फल के जगत (स्वर्ग) में से परिभ्रमण कराने का प्रयोजन आत्मा को पुण्य की ओर प्रेरित करना है ताकि उसे यथा-सम्भव ग्रहण करने की लालसा

इसके अन्दर उत्पन्न हो। नरक में से घुमाने का प्रयोजन आत्मा का पाप की ओर ध्यान दिलाना है ताकि यथा-सम्भव यह उससे बचती रहे।

देहान्तरगमन निचली अवस्थाओं से आरम्भ होकर उच्चतर और उत्तमतर अवस्थाओं की ओर होता है, इसके विपरीत नहीं। यह बात हमने जानबूझ कर कही है क्योंकि ऊपर के कथनसे दोनों बातें सम्भव प्रतीत होती हैं। इन नीच और उच्च अवस्थाओं का भेद कर्मों के प्रभेद पर निर्भर है। फिर कर्मों का प्रभेद प्रकृतियों के भेद पर है अर्थात् उनके अन्दर तीनों गुणों—सत्व, रजस्, तमस्—में से कौन-कौन से प्रधान हैं। इस पर जब तक आत्मा और प्रकृति अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर भली-भाँति नहीं पहुँच जाते तब तक यह आवागमन का चक्र बराबर चलता रहता है। निकृष्ट लक्ष्य तो यह है कि किसी एक वांछनीय नवीन आकार के सिवाय प्रकृति के शेष सब रूप लोप हो जांय अर्थात् उनका ज्ञान न प्राप्त हो और उत्कृष्ट लक्ष्य यह है कि जो पदार्थ आत्मा को पहले अज्ञात थे उनके जानने की अभिलाषा उसमें न रहे अर्थात् उसे सबका ज्ञान हो जाय। उसे अपने शुद्ध स्वरूप और स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान हो जाय। प्रकृति के लक्षणों को नीचता और उसके रूपों की अस्थिरता, इन्द्रियों के विषयों तथा उनके नाम मात्र सुखों की यथार्थता को जान लेने के पश्चात् उसे मालूम हो जाय कि मैं प्रकृति के बिना भी निर्वाह कर सकता हूँ। ऐसा होने पर आत्मा प्रकृति से विमुख हो जाता है। दोनों को जोड़नेवाली शृङ्खलाओं के टूट जाने से संयोग नष्ट हो जाता है। वियोग और पार्थक्य का आविर्भाव होता है। और जैसे तिल का एक दाना बढ़ कर बहुत से दाने और फूल बनता है परन्तु पीछे से अपने खेल से कभी अलग नहीं होता वैसे ही आत्मा ज्ञानानन्द को लिये हुए अपने घर को वापिस लौटता है। ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय मिलकर कैवल्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अब हमारा कर्तव्य है कि इस विषय में उनके ही साहित्य से स्पष्ट प्रमाण उद्धृत करें और साथ ही दूसरी जातियों के भी वैसे ही सिद्धान्त लिखें।

गीता के प्रमाण

कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े हुए वासुदेव अर्जुन को युद्ध के लिए उत्तेजित करते हुए कहते हैं—यदि तुम प्रारब्ध को मानते हो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि न वे और न हम विनाशवान् हैं। हमें मरण के पश्चात् जन्म-ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि आत्माएँ अमर और नित्य हैं। वे देहान्तरगमन करती हैं, पर मनुष्य बाल्यावस्था से कौमारावस्था, कौमारावस्था से यौवनावस्था, और फिर जरावस्था को प्राप्त होता है। जरावस्था का अन्त ही शरीर की मृत्यु है। इसके बाद आत्मा वापिस लौटती है।

वे पुनः कहते हैं :—जिस मनुष्य को यह ज्ञान है कि आत्मा नित्य, अजन्मा, अमर, स्थिर और अचल है; और तलवार उसे काट नहीं सकती, अग्नि उसे जला नहीं सकती, पानी उसे बुझा नहीं सकता, और पवन उसे सुखा नहीं सकता, वह मारे जाने और मृत्यु का विचार भी मन में कैसे ला सकता है? जिस प्रकार शरीर के कपड़े पुराने हो जाने पर उसे और नये वस्त्र मिल जाते हैं उसी तरह शरीर के जरावस्था को प्राप्त हो जाने पर आत्मा उसे छोड़ कर दूसरी देह को पा लेता है। तो फिर जो आत्मा अविनाशी है उसके लिए तुम शोक कैसा करते हो? यदि यह नाश होनेवाली वस्तु होती तो भी तुम्हारा एक अनित्य पदार्थ के लिए, जिसकी कोई सत्ता ही नहीं, और जिसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, शोक करना उचित न होता। परन्तु यदि तुम अपने आत्मा की अपेक्षा अपने शरीर पर अधिक ध्यान देते हो और तुम्हें इसके नाश होने की चिन्ता बनी रहती है तो तुम्हें जानना चाहिए कि जिसका जन्म हुआ है वह अवश्य मरेगा, और जो मरता है उसका पुनर्जन्म भी जरूरी है।

परन्तु जन्म मरण से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। ये परमेश्वर के हाथ में हैं जो सबका कर्ता और ती है।

आगे चलकर अर्जुन वासुदेव से कहता है :—इस प्रकार तुमने उस ब्रह्मा के साथ लड़ने का कैसे साहस किया जो कि संसार और मनुष्य दोनों के पहले था, परन्तु आप एक प्राणि की भाँति हमारे अन्दर रहते हैं, और आपका जन्म तथा आयु हमें ज्ञात है ?

इस पर वासुदेव ने उत्तर दिया :—वह और हम दोनों अनादि हैं। हम एक बार इकट्ठे रहे हैं। मुझे पिछले जन्म-मरण का ज्ञान है परन्तु तुम्हें उनका कुछ पता नहीं। जब मैं उपकारार्थ प्रकट होना चाहता हूँ तो देह धारण करता हूँ, क्योंकि मनुष्यों के साथ मनुष्य देह में ही रहना पड़ता है।

लोग एक राजा की कथा सुनाते हैं। उस राजा का नाम मुझे स्मरण नहीं रहा। उसने आदेश किया था कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे शरीर को ऐसे स्थान में जलाया जाये जहाँ पहले कभी कोई शव न जलाया गया हो। लोगों ने ऐसे स्थान की बहुतेरी तलाश की परन्तु कोई भी ऐसा स्थान न मिला। अन्ततः समुद्र से बाहर निकली हुई एक चट्टान को देखकर उन्होंने समझा कि अब वैसा स्थान मिल गया परन्तु वासुदेव ने उन्हें बतलाया कि—यही राजा ठीक इसी चट्टान पर पहले भी अनेक बार जलाया जा चुका है। अब जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। राजा तुम्हें एक शिक्षा देना चाहता था, सो उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया।

वासुदेव कहते हैं :—जो मनुष्य मोक्ष की आशा करता है और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए यत्न करता है, परन्तु जिसका मन उसके वश में नहीं, वह अपने कर्मों का फल उन लोगों में भोगता है जहाँ उत्तम कर्मों वाले लोग रहते हैं। परन्तु उसे अपनी त्रुटियों के कारण अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए उसका पुनर्जन्म होता है। और उसे नवीन जन्म ऐसा मिलता है जिसमें भक्ति करने का उसके लिए विशेष सुभीता रहता है। दैव-ज्ञान इस नवीन देह में उसे उस लक्ष्य की ओर क्रमशः चढ़ने में सहायता देता है जिसकी प्राप्ति की उसे पूर्व जन्म में अभिलाषा थी। उनका मन उसकी इच्छा का अनुगामी हो जाता है; भिन्न-भिन्न जन्मों में वह अधिक और अधिकतर निर्मल हो जाता है, यहाँ तक कि अन्त में निरन्तर नवीन जीवन जन्मों के द्वारा वह मोक्ष लाभ करता है।

वासुदेव फिर कहते हैं :—प्रकृति से वियुक्त हुआ आत्मा ज्ञानवान् होता है, परन्तु जब तक इस पर प्रकृति का आवरण रहता है, प्रकृति के गँदला होने के कारण यह भी अज्ञानी रहता है। यह समझता है कि 'मैं कर्त्ता हूँ और सृष्टि के कर्म सब मेरे लिए बनाये गये हैं।' अतः वह उनमें लिप्त हो जाता है और उस पर इन्द्रियों के संस्कार बैठ जाते हैं। जब आत्मा शरीर को छोड़ता है तो ये इन्द्रियों के संस्कार उसके साथ बने रहते हैं। इनका पूर्णतया नाश नहीं होता क्योंकि यह पुनः इन्द्रियस्वाद के लिए लालायित होता है और इसी में वापस आता है। इन स्थितियों में इसके अन्दर परस्पर विरोधी परिवर्तन पैदा होते हैं, अतः इस पर तीन गुणों का प्रभाव पड़ता है। यदि आत्मा को यथेष्ट हरीति से शिक्षित न किया जाय और अभ्यासी न बनाया तो पंख कटे से होने के कारण आत्मा कर ही क्या सकेगा ?

वासुदेव कहते हैं—जो पूर्ण ज्ञानवान है वही नरोत्तम है क्योंकि वह परमात्मा से प्रेम करता है और परमात्मा उससे प्रेम करता है। न जाने कितनी बार वह मरा और कितनी बार जन्मा। अपने सभी जीवनों में वह सिद्धि के लिये यत्न करता है और अन्ततः उस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

विष्णु-धर्म

विष्णु-धर्म * नामक पुस्तक में मारकण्डेय देवगण के विषय में कहते हैं—"ब्रम्हा, महादेव का पुत्र कार्त्तिकेय, लक्ष्मी जिसने अमृत उत्पन्न किया था, दक्ष जिसको महादेव ने मारा था, महादेव की स्त्री; उमादेवी इनमें से प्रत्येक इस कल्प के मध्य में हुए हैं और पहले भी कई बार हो चुके हैं।"

वराहमिहिर † मनुष्य पर आनेवाली विपत्तियों का सम्बन्ध नक्षत्रों से मानता है। उसके अनुसार विपत्तियाँ मनुष्यों को घर बार से निकाल देती हैं; उनके शरीरों को दुबला कर देती हैं; और वे बच्चों को उँगली से पकड़े, दुर्घटनाओं पर रुदन करते, सड़क पर धीमे धीमे इस प्रकार परस्पर बातें करते चलते हैं—हमारे राजाओं के दुष्कर्मों के कारण हमें कष्ट मिल रहा है। इस पर दूसरा उत्तर देता है नहीं यह बात नहीं। यह सब हमारे पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों का परिमाण है।

मानी और पुनर्जन्म

जब मानी को ईरान शहर से निकाल दिया गया तो वह भारतवर्ष में गया और वहाँ जाकर उसने हिन्दुओं से पुनर्जन्म का सिद्धान्त सीखा और उसका अपनी पद्धति में समावेश किया। वह अपनी "रहस्यों की पुस्तक" में कहता है—प्रेरितों को यह ज्ञात था कि आत्माएं नित्य हैं। आवागमन के चक्र में वे प्रत्येक आकार धारण कर लेती हैं। सर्व प्रकार के जन्तुओं के रूप में वे प्रकट होती हैं और प्रत्येक आकृति के ढांचे में वे समा जाती हैं। इसलिए उन्होंने इशू से पूछा कि उन आत्माओं की क्या गति होगी जिन्होंने सत्य को ग्रहण नहीं किया और अपने वास्तविक रूप को नहीं समझा। तब उसने उत्तर दिया कि जिस निर्बल आत्मा ने सत्य का यथोचित अंश ग्रहण नहीं किया वह शान्ति और आनन्द के अभाव से नष्ट हो जाती है। नष्ट होने से मानी का अभिप्राय दण्ड पाने से है, न कि सर्वथा अभाव से; क्योंकि वह अन्यत्र कहता हैं—बारडेसनीस के अनुयायी वर्ग का यह विचार है कि शरीर में चेतन आत्मा का उत्थान और शुद्धि होती है। वे यह नहीं जानते कि शरीर आत्मा का शत्रु है, उसके उत्थान को रोकता है। यह एक कारागार है और आत्मा के लिए एक कड़ा दण्ड है। यदि मानव देह की एक सच्ची सत्ता होती तो इसका स्रष्टा कभी भी इसे घिसने या टूटने न देता और उसे वीर्य्य के द्वारा गर्भाशय में बारम्बार जन्म लेते रहने के लिए बाधित न करता।

पतंजलि

निम्नलिखित वाक्य पतंजलि की पुस्तक से लिया गया है—आत्मा चारों ओर से अविद्या से आच्छन्न हैं। यही इसके बद्ध होने का कारण है। इस प्रकार आत्मा छिलके के अन्दर चावल की भांति हैं। जब तक यह इस दशा में रहता है इसमें जन्म लेने और जन्म देने के बीच की अनित्य अवस्थाओं के अन्दर बढ़ने और परिपक्व होने की सामर्थ्य रहती है। परन्तु जब चावल पर से

---

* वर्तमान विष्णु-स्मृति का विष्णु-सूत्र, या वैष्णव-धर्मशास्त्र से यह पुस्तक सर्वथा भिन्न है। अलबेरूनी द्वारा वर्णित इस विष्णु-धर्म नामक संस्कृत की पुस्तक का कुछ पता नहीं है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण नाम की एक और पुस्तक मौजूद है। सम्भावतः उसका अभिप्राय इसी पुस्तक से हो।

† वराह मिहिर को अलबेरूनी 'एक सच्चा वैज्ञानिक' कहता है और उसको अपने से ५२६ वर्ष पहिले हुआ बतलाता है। इस तरह वराह मिहिर का काल ५०४ ई० ठहरता है। अलबेरूनी ने उसकी लिखी दो पुस्तकों बृहत् संहिता तथा लघुजातकम् का अरबी में अनुवाद किया है।

छिलका उतर गया तो इसका इस प्रकार बढ़ना बन्द हो जाता है और यह स्थिर हो जाता है। आत्मा के कर्मों का फल विविध शरीरों पर जिनमें कि यह जाता है, जीवन की लम्बाई छुटाई पर और इसके विशेष प्रकार के आनन्द पर—चाहे वह आनन्द थोड़ा हो चाहे बहुत—निर्भर है।

शिष्य पूछता है—जब आत्मा फल पाने को अधिकारी होकर आनन्द भोगने अथवा कोई पाप करने के कारण दण्ड पाने के निमित्त एक प्रकार के नवीन जन्म में फँसा हुआ हो तो उस समय इसकी क्या अवस्था होती है?

गुरु कहता है—आत्मा अपने पूर्व कर्म्मों के अनुसार जन्म धारण करता फिरता है। कभी दुःख भोगता है कभी सुख।

शिष्य पूछता है—यदि मनुष्य कोई ऐसा कर्म करता है जिसका प्रतिफल पाने के लिये उसे उस रूप से भिन्न रूप की आवश्यकता है जिसमें कि उसने वह कर्म किया था, और यदि इन दो अवस्थाओं में समय का भारी अन्तर हो और वह उस बात को ही भूल जावे, तो ऐसी अवस्था में क्या होता है?

गुरु उत्तर देता है—कर्म स्वभावतः ही आत्मा के साथ रहता है। क्योंकि कर्म उसकी कृति है और शरीर उसके करने में एक साधन-मात्र है। नित्य पदार्थों में विस्मृत नहीं, क्योंकि वे काल के बन्धन से रहित हैं; और चिर और अचिर का व्यवहार केवल काल के साथ ही है। कर्म आत्मा के साथ युक्त होकर उसके स्वभाव और आचार को उसके आगामी जन्म की अवस्थाओं के अनुकूल बना देता है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था में इस बात को जानती है, इसका चिन्तन करती है, और इसको भूलती नहीं। परन्तु परमात्मा का प्रकाश, जब तक इसका शरीर से संयोग रहता है, प्रकृति के गँदले स्वरूप के कारण ढँका रहता है। उस समय आत्मा उस मनुष्य के सदृश होती है जिसे पूर्वज्ञात वस्तु तो याद है पर जो रोग, या पागलपन, या किसी मादक द्रव्य के सेवन से मन के विकृत हो जाने के कारण पीछे का उसे भूल गया है। क्या तुमने कभी नहीं देखा कि जब बच्चों के लिए दीर्घायु की कामना की जाय तो वे बड़े प्रसन्न होते हैं; परन्तु जब उन्हें शाप दिया जाय—कि तुम शीघ्र ही मर जाओ तो वे बड़े शोकातुर होते हैं? यदि कर्मों का फल भोगते समय उन्होंने पूर्व-जन्मों में जीवन के सुखों और मृत्यु के दुखों का रस न चखा होता तो उन पर इन बातों में से एक का अच्छा और दूसरी का बुरा असर क्यों होता?

प्लेटो और प्रोक्लस के प्रमाण

प्राचीन यवन लोग भी हिन्दुओं के इस विश्वास से सहमत थे। सुकरात अपनी पुस्तक फाएडो में कहता है—प्राचीन लोगों की कथाओं में हमें याद दिलाया गया है कि आत्माएँ यहाँ से हेडीज में जाती हैं और फिर हेडीज से यहाँ आती हैं; चेतन जड़ से उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने से विपरीत वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं। इसलिये जो मर चुके हैं वे जीवितों में हैं। हेडीज में हमारी आत्माओं का अपना अपना अलग जीवन होता है। वहां प्रत्येक मनुष्य की आत्मा किसी न किसी बात से प्रसन्न या शोकान्वित रहती है और उसी वस्तु का चिन्तन करती रहती है। संस्कारों को ग्रहण करने वाली प्रकृति ही आत्मा का शरीर के साथ संबंध करती है, उसे शरीर में निबद्ध कर देती है, और देहाकार में प्रकट करती है। अपवित्र आत्मा हेडीज में नहीं जा सकता। शरीर छोड़ने पर भी इसमें शरीर के विकार बने रहते हैं। वह शीघ्र ही दूसरे में चली जाती है। उसमें जाकर मानों वह निबद्ध हो जाती है; इसलिए उसे अद्वितीय, पवित्र और दिव्य तत्त्व की संगति में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

आगे चलकर वह कहता है—यदि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है तो जिस बात को हमने पूर्व-काल में सीखा था उसे स्मरण रखने के अतिरिक्त हमारा ज्ञान और कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य रूप में प्रकट होने के पूर्व हमारी आत्माएँ किसी एक स्थान में थीं। जब लोग किसी ऐसी वस्तु को देखते हैं जिसके उपयोग का अभ्यास वे बाल्यावस्था में किया करते थे तो उस समय वे भी इसी पूर्व संस्कार से प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ घण्टी के देखने से उन्हें वह लड़का याद आ जाता है जो उसे बजाया करता था परन्तु जिसे वह भूल गये थे। भूल जाना ज्ञान के लोप हो जाने का नाम है, और जानना आत्मा की उस बात को याद करने का नाम है जिसे उसने शरीर में प्रवेश करने के पहले सीखा था।

प्रोक्लस कहता है—याद रखना और भूल जाना युक्ति-सम्पन्न आत्मा का विशेष गुण है। वह स्पष्ट है कि आत्मा नित्य है। फलतः यह सदा से ज्ञानी और अज्ञानी दोनों है। अज्ञानी तो उस समय जब कि यह शरीर से संयुक्त हो और ज्ञानी उस समय जब कि शरीर से रहित हो। शरीर से अलग हो जाने पर इसका सम्बन्ध आत्माओं के प्रवेश से हो जाता है, इसीलिए उस अवस्था में यह ज्ञानवान् है। परन्तु शरीर से संयुक्त होने पर यह आत्माओं के प्रवेश से गिर पड़ता है अतः इसके लिए भूल जाना सम्भव है, क्योंकि उस दशा में कई प्रबल प्रभाव इस पर अधिकार जमा लेते हैं।

सूफीवाद

यह सिद्धान्त उन सूफ़ियों का भी है जो यह मानते हैं कि यह लोक आत्मा की स्वप्नावस्था है और परलोक आत्मा की जाग्रतावस्था है। इन लोगों का यह भी मत है कि परमेश्वर किसी विशेष स्थान अर्थात् आकाश में अपने ईश्वरीय सिंहासन (अर्श) और गद्दी (कुरसी) पर बैठा है। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और भी हैं जो यह मानते हैं कि परमात्मा सारे संसार में जन्तुओं, वृक्षों और जड़ पदार्थों में स्थिर है। इसे वे उसका विश्वरूप कहते हैं जिन लोगों का ऐसा मत है उनके लिए पुनर्जन्म के चक्र में आत्मा का विविध शरीरों में प्रवेश करना कोई गौरव की बात नहीं।

छठवां परिच्छेद

स्वर्ग तथा नरक आदि विभिन्न लोक

तीन लोकों का वर्णन

हिन्दू विद्वान दुनिया को लोक कहते हैं उनका विभाजन इस प्रकार है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, पाताललोक। ऊर्ध्व को स्वर्लोक या स्वर्गलोक कहते हैं, नीचे वाले को नागलोक कभी कभी नरकलोक भी कहते हैं। मध्यवर्तीलोक मृत्युलोक या नरलोक कहा जाता है। नरलोक कर्मलोक एवम् शेष दोनों भोगलोक है। ऊर्ध्वलोक पुण्यात्माओं के लिये है और अधोलोक पापात्माओं के लिये। अपने शुभाशुभ फलों को तदनुसार विभिन्न कालावधियों तक भोग कर आत्मा पुनर्जन्म ग्रहण करता है। इन दोनों लोकों में आत्मा अकेला रहता है। एक तिर्यक् लोक भी है। उपरोक्त तीनों लोकों में

प्रवेश की योग्यता न होने पर आत्मा इस लोक में जाता है जो विवेक रहित पशुओं एवम् वनस्पतियों का लोक है। आत्मा इन्हीं पशु व वनस्पति योनियों में भटकता है। इन्हीं में उन्नति करते करते वह फिर मानव योनि में आता है। इस लोक में आत्मा के ठहरने का कारण निम्नलिखित में से कोई एक होता है:—या तो इसके कर्मों का फल इतना नहीं जो इसे स्वर्ग या नरक में भेजने के लिए पर्य्याप्त हो; या आत्मा नरक से वापिस लौट रही है—क्योंकि उनका विश्वास है कि स्वर्ग से मनुष्य-लोक की ओर लौटते समय आत्मा झटपट मनुष्य-जन्म पाती है, पर नरक से वापस आते समय मनुष्य-जन्म पाने के पूर्व उसे वनस्पति और जन्तुओं में से घूम कर आना पड़ता है।

विष्णु पुराण में नरक

हिन्दू अपनी लोक-कथाओं में बहुत से नरक, उनके भिन्न भिन्न नाम और गुण बताते हैं। प्रत्येक प्रकार के पाप के लिए विशेष प्रकार का नरक है। विष्णुपुराण नरकों की संख्या ८८,००० बताता है। इस विषय में हम उस पुस्तक के प्रमाण देते हैं।

जो किसी वस्तु को झूठे ही अपनी बताता है, जो झूठी साक्षी देता है, जो इन दोनों कामों में सहायता करता है, और जो लोगों का उपहास करता है वह रौरव नरक में फेंका जाता है।

जो निरपराधियों का रक्तपात करता है, जो दूसरों के अधिकार छीनता है तथा उन्हें लूट लेता है, और जो गो-हत्या करता है, वह रोध नामक नरक में जाता है। गला घोंट कर लोगों की हत्या करने वाले भी इसी नरक में जाते हैं।

जो ब्राह्मण की हत्या करता है, जो स्वर्ण चुराता है, और जो इन कामों में हत्यारे या चोर का साथ देते हैं; जो राजा अपनी प्रजाओं का पालन नहीं करता, जो मनुष्य गुरु के कुल की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करता है, या जो अपनी सास के साथ भोग करता है वह तप्तकुम्भ नरक में जाता है।

जो लोभवश अपनी स्त्री के व्यभिचार पर आंख मीचता है, जो अपनी बहिन या पुत्र-वधू के साथ व्यभिचार करता है, जो अपनी सन्तान को बेचता है, जो धन बचाने के लिए कृपणता से अपने आप को तंग रखता है वह ज्वाला में जाता है।

जो गुरु का अपमान करता है और उससे प्रसन्न नहीं रहता, मनुष्यों से घृणा करता है, पशुओं के साथ व्यभिचार करता है, वेद और पुराण की निन्दा करता है या उन्हें धन कमाने का साधन बनाता है वह शबल में जाता है।

जो मनुष्य चोरी करता है या धोखा देता है, जो सदाचार का विरोध करता है, जो अपने पिता से घृणा करता है, परमेश्वर और मनुष्यों से प्रेम नहीं करता, जो परमात्मा के बनाये उज्ज्वल रत्नों का निरादर करता है—बल्कि उन्हें साधारण पत्थर समझता है, वह कृमीश में जाता है।

जो कोई माता-पिता और पुर्वजों के अधिकारों का आदर नहीं करता; जो देवताओं के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तीरों बरछियों के बनाने वाला, ये सब लालाभक्ष में जाते हैं।

तलवारों और चाकुओं का बनाने वाला विसशन नरक में जाता है।

जो राजाओं से दान लेने के लालच से अपनी सम्पत्ति को छिपाता है, और जो ब्राह्मण मांस; तैल या घी, अचार या मदिरा बेचता है वह अधोमुख में जाता है।

जो कुक्कुट और बिल्लियां, छोटे जन्तु, सूअर, पक्षी पालता है वह रुधिरान्ध को जाता है।

तमाशा करने वाले, बाजार में गानेवाले, लोगों के घरों में आग लगानेवाले, मित्रों से उनकी सम्पत्ति के लोभ से—द्रोह करने वाले रुधिर में जाते है।

छत्ते में से मधु निकालने वाला वैतरणी में जाता है।

यौवनान्ध होकर दूसरों की सम्पत्ति और स्त्रियाँ छीन लेने वाला कृष्ण में जाता है।

वृक्षों को काटनेवाला असिपत्रवन में जाता हैं।

व्याज और जाल तथा फन्दे से धन बनाने वाला वह्निजाल में जाता है।

प्रचलित मर्यादा का अपमान करने वाला तथा नियमों का उल्लंघन करने वाला सबसे निकृष्ट है और सन्दंशक में जाता है।

यह गणना हमने इसलिए दी है कि जिससे यह पता लग जाय कि हिन्दू किस प्रकार के कर्मों को पाप समझ कर उनसे घृणा करते हैं।

कई हिन्दुओं का विश्वास है कि मध्यलोक, जो कि कर्म करने का स्थान है, मर्त्यलोक का ही नाम है। मनुष्य इस लोक में इसलिए भटकता फिरता है कि उसके पूर्व कर्म न तो इतने उच्च हैं कि स्वर्ग मिल सके और न इतने नीच ही कि नरक में डाल दिया जाये। स्वर्ग को वे एक उच्च अवस्था समझते हैं जहाँ मनुष्य अपने किये हुए कर्मों के अनुसार परिमित काल तक आनन्द में रहता है। इसके विपरीत वनस्पतियों और पशुओं की योनियों में चक्कर काटते फिरने को वे नीचावस्था समझते है। यहाँ मनुष्य अपने पूर्व काल के किए हुए पापों के अनुसार विशेष काल तक रह कर दंड भोगता है। जो लोग ऐसा विश्वास रखते हैं वे अन्य किसी प्रकार का नरक नहीं मानते। इनके अंत में मनुष्य जन्म से इस प्रकार पतित हो जाने का नाम ही नरक है।

पुनर्जन्म के नैतिक नियम

कर्मों का फल भोगने के लिए उक्त नाना प्रकार के लोकों की आवश्यकता का कारण यह है कि प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होने के लिए जो विशुद्ध ज्ञान की खोज होती है वह किसी सीधे मार्ग पर नहीं होती, वरन् अनुमान से अथवा दूसरों की देखादेखी बहुधा कोई एक मार्ग चुन लिया जाता है। मनुष्य का एक भी कर्म निष्फल नहीं जाता। जब उसके पुण्य और पाप को तोला जाता है तो छोटे से छोटा कर्म भी लेखे में गिन लिया जाता है। फल कर्म के अनुसार नहीं मिलता, बल्कि उस प्रयोजन के अनुसार जिससे मनुष्य ने कर्म किया हो। अर्थात् प्रयोजन ही मुख्य है और कर्म गौण है। फल या तो जिस योनि में मनुष्य पृथ्वी पर है उसी योनि में मिल जाता है, या मरने के बाद उस योनि में मिलता है जिसमें वह जन्म लेगा, या इस देह को छोड़ने और नवीन देह में प्रवेश करने के बीच की किसी एक अवस्था में मिल जाता है।

सांख्य का पुनर्जन्म पर आक्षेप

अब यहाँ पर हिन्दू लोग दार्शनिक कल्पना को छोड़ देते हैं और परम्परागत कथाओं की ओर चले जाते हैं। दण्ड भोगने और फल भोगने के दो स्थानों के विषय में उनका विचार है कि मनुष्य वहाँ अमूर्त प्राणि के रूप में रहता है और निज-कर्मों का फल भोग चुकने पर पुनः देह धारण करता है और मनुष्य-जन्म पाता है, ताकि अपने भविष्य भाग्य को भोगने के लिए तैयार हो जाय। इसीलिए सांख्यदर्शन का कर्त्ता फल से कोई विशेष लाभ नहीं मानता, क्योंकि यह शान्त और अनित्य है। साथ ही उस स्थान का जीवन हमारे इस लोक के जीवन के सदृश है, क्योंकि वहाँ का जीवन

भी स्पर्धा और द्वेष से रहित नहीं। वहाँ भी जीवन की अनेक उच्च और नीच श्रेणियाँ हैं। जहाँ-जहाँ साम्यावस्था है उसे छोड़ कर शेष सब कहीं काम और वासना बराबर बने हुए हैं।

स्वर्ग-प्राप्ति पर सूफीमत

सूफी लोग भी एक और कारण से स्वर्ग-प्राप्ति का कोई विशेष महत्व नहीं समझते क्योंकि वहाँ आत्मा सत्य अर्थात् परमेश्वर को छोड़ अन्य पदार्थों में आनन्द अनुभव करता है, और उसके विचार कल्याण स्वरूप से फिर कर अभद्र पदार्थों की ओर झुक जाते हैं।

आत्मा के शरीर त्याग पर सर्व साधारण मत

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दुओं के विश्वासानुसार इन दोनों स्थानों में आत्मा शरीर-रहित होता है परन्तु ऐसा मत उनमें से केवल शिक्षित लोगों का ही है, जो कि आत्मा को एक स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। छोटी श्रेणी के लोग जो शरीर-रहित आत्मा की कल्पना नहीं कर सकते इस विषय में बहुत भिन्न विचार रखते हैं। उनका एक विचार यह है कि मृत्यु समय जो यंत्रणायें होती हैं उसका कारण यह है कि आत्मा के लिए अभी नवीन देह तैयार नहीं हुई होती और आत्मा उसकी परीक्षा कर रही है। जब तक सदृश व्यापारोंवाला उसी प्रकार का एक शरीर न तैयार हो जाये तब तक आत्मा देह-परित्याग नहीं करता। प्रकृति या तो ऐसा शरीर माता के गर्भ में भ्रूण रूप में तैयार करती है और या पृथ्वी के भीतर बीज रूप में। तब आत्मा जिस शरीर में ठहरा हुआ था उसे छोड़ देता है।

कई दूसरे इससे अधिक पुरातन विचार को मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। दूसरा शरीर तत्वों का बन कर पहले तैयार हो जाता है तब यह पहले शरीर को, उसकी निर्बलता के कारण, छोड़ता है। तत्वों के इस शरीर को अतिवाहिक अर्थात् शीघ्रता से बढ़ने वाला कहते हैं, क्योंकि इसका आविर्भाव जन्म द्वारा नहीं होता। आत्मा के कर्म चाहे स्वर्ग के योग्य हों चाहे नरक के, एक वर्ष तक उसे इस शरीर में रह कर बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। यह भी फारस वालों के बर्जख की भाँति कर्म करने, उपार्जन करने, और फल भोगने की अवधियों की मध्यवर्ती अवस्था है। इसलिये मृत मनुष्य के उत्तराधिकारियों को, हिन्दुओं की रीत्यानुसार मृतक के निमित्त वर्ष के सारे अनुष्ठान और क्रिया-कर्म पूरे करना आवश्यक है, क्योंकि एक वर्ष के पश्चात् ही आत्मा उस स्थान को जाता है जो कि उसके लिये तैयार किया गया है।

विष्णु पुराण तथा सांख्य मतानुसार कर्मभोग का फल

अब हम उनके ही साहित्य से उनके विचारों को स्पष्ट करने के लिए प्रमाण देते हैं। पहले विष्णुपुराण से लीजिए —

मैत्रेय ने पराशर से नरक और दंड भोगने के विषय में जिज्ञासा की। उन्होंने उत्तर दिया कि इसका अभिप्राय पुण्य का पाप से, तथा ज्ञान का अविद्या से भेद करना, और न्याय का प्रकाश करना है परन्तु सारे ही पापी नरक-गामी नहीं होते। उनमें से अनेक पहले ही प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप द्वारा नरक से बच जाते हैं। प्रत्येक कर्म में विष्णु भगवान का निरन्तर ध्यान रखना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित है। दूसरे प्राणी वृक्षों, गन्दे कीड़ों तथा पक्षियों, और जुओं तथा कृमियों जैसी रेंगनीवाली जघन्य योनियों में, जितने समय के लिए उनकी कामना हो उतने काल तक भटकते रहते हैं।

सांख्यदर्शन में लिखा है कि जो मनुष्य अभ्युदय और पुरस्कार का अधिकारी होता है वह या तो देवता बन कर देवताओं में जा मिलता है और स्वर्गलोक में सब कहीं विना रोक टोक के विचरता हुआ वहां के अधिवासियों की संगति करता है, और या देवताओं की आठ श्रेणियों में से किसी एक के सदृश हो जाता है। परन्तु जो अपने पापों और अपराधों के कारण अपमान और अधःपतन का अधिकारी है वह पशु या वृक्ष वन जाता है और जब तक वह ऐसे फल का भागी नहीं वनता जो उसे दण्ड से वचा सके, अथवा जब तक वह शरीर रूपी रथ को परे फेंक कर अपने आपका होम नहीं कर देता तथा मुक्ति लाभ नहीं कर लेता तब तक वह वरावर इस चक्र में घूमता रहता है।

पुनर्जन्म पर मुसलमान लेखकों की सम्मति

पुनर्जन्म की ओर प्रवृत्ति रखने वाला एक ब्रह्मज्ञानी कहता है कि 'पुनर्जन्म की चार अवस्थाएँ हैं (१) संक्रमण (स्थलपरिवर्तन) अर्थात उत्पादन-क्रिया जो कि मनुष्य जाति तक ही परिमित है, क्योंकि इससे जीवन एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित हो जाता है। इसके विपरीत है—

(२) इस का विशेषतः मनुष्यों से सम्वन्ध है, क्योंकि उनका रूपान्तर करके उन्हें वानर, वाराह, और हाथी वना दिया जाता है।

(३) स्थावर योनि, जैसी कि वृक्षों की अवस्था है। यह संक्रमण से बुरी है क्योंकि यह जीवन की स्थावर अवस्था है, सर्व कालों में एक सी वनी रहती है और इतनी ही स्थायी है जितने कि पर्वत।

(४) यह (३) के विपरीत है इसका उपयोग उखाड़े जानेवाले वृक्षों, और वलिदान के लिए वध किये जाने वाले पशुओं पर होता है, क्योंकि वे अपने पीछे सन्तान छोड़े विना ही विलुप्त हो जाते हैं।

सजिस्तान का अबू याकूब अपनी "रहस्यप्रकाश" नामक पुस्तक में लिखता है कि जातियां स्थिर रहती हैं। देहान्तर-गमन केवल एक जाति के अपने अन्दर ही होता है—एक जाति का उल्लङ्घन करके दूसरी जाति में कभी नहीं होता।

वैयाकरण जोहनीज, अफलातूं और सुकरात के पुनर्जन्म पर मत

प्राचीन यूनानियों का मत इसी प्रकार का था, क्योंकि वैयाकरण जोहनीज अफलातूं का मत वताता हुआ कहता है कि सज्ञान आत्माओं को पशुओं के शरीर मिलेंगे। इस विषय में उसने पाइथेगोरस की कथाओं का अनुकरण किया है।

सुकरात फाइडो नामक पुस्तक में कहता है कि शरीर पार्थिव, भारी और अति गुरु है। आत्मा जो इससे प्रेम करता है इधर उधर घूमता रहता है, और उस स्थान की ओर आकृष्ट हो जाता है जिसकी ओर निराकार और हेडीज के भय से इसकी आँखें लगी रहती हैं। यह हेडीज आत्माओं के इकट्ठा होने का स्थान है। ये भिन्न-भिन्न आत्माएँ कवरों और श्मशान-भूमियों में इकट्ठा रहते हैं और कई वार छायाकार देखे जाते हैं। इस प्रकार का ऐन्द्रजालिक आलोक केवल उन्हीं आत्माओं के साथ पाया जाता है जिनका कि पूर्णतः वियोग नहीं हुआ, जिनमें अभी तक भी उस वस्तु का अंश शेष है जिसकी ओर उनकी दृष्टि लगी होती है।

वह पुनः कहता है—ऐसा प्रतीत होता है कि केवल अधर्मियों की आत्मा ही इन वस्तुओं में घूमती हैं ताकि उनके पूर्वजन्म के पापों का प्रायश्चित हो जाय। इस प्रकार जब तक उन्हें दुवारा

शरीर न मिल जाय वे वहाँ रहते हैं। शरीर पाने की आकांक्षा; जिसके कारण कि उन्हे देह मिलती है, पीछे से ही उनके साथ आती है। उन्हें अपने पूर्व आचार के अनुरूप शरीर मिलते हैं। जैसे, जो लोग केवल खानपान का ही ध्यान रखते हैं वे नाना प्रकार के गधों और वनैले जन्तुओ की योनियों में जाते हैं, और जो अन्याय और अत्याचार से प्रसन्न होते हैं वे विविध प्रकार के भेड़ियों, गिद्धों और बाजों की योनि पाते हैं।"

मृत्यु के पश्चात आत्माओं के इकट्ठा होने के स्थानों के विषय में वह फिर कहता है—यदि मैंने यह न सोच लिया होता कि मैं पहले बुद्धिमान, शक्तिशाली, पुण्यमय देवताओ के पास, फिर उनके बाद मनुष्यों, तथा प्रेतों के पास—जो कि यहाँ वालों की अपेक्षा अच्छे हैं– जा रहा हूँ, तो मृत्यु के लिए शोकातुर न होना मेरी भारी भूल होती।

आगे चल कर अफलातूं दंड और फल के दो स्थानों के विषय में कहता है:—

"प्राणी के मरने पर नरक के दो पहरेदारों में से दैमुन नामक एक पहरेदार उसे न्याय सभा में ले जाता हैं। तब एक और दूत, जिसका विशेष काम यह है, उसे बाकी सब के साथ जो वहाँ लाकर इकट्ठे किये गये हों, हेडीज में ले जाता है। वहाँ वह प्राणी, जितने वर्ष तक आवश्यक हो, रहता है। हेडीज के वर्ष बड़े लम्बे लम्बे होते हैं। टेलीफोस कहता है कि हेडीस का मार्ग समतल है पर मैं कहता हूँ कि यदि मार्ग समतल या एक ही होता है तो फिर पथ प्रदर्शक की आवश्यकता न होती, जो आत्मा शरीर के लिये ललायित है या जिसके कर्म बुरे तथा अन्याययुक्त हैं, जो उन आत्माओं के सदृश है जिन्होंने कि हत्या की है, वह वहाँ से उड़ कर प्रत्येक प्रकार की योनियों में प्रवेश करता हुआ एक विशेष काल तक वहाँ रहता है। इस लिए अपने अनुरूप स्थान में आना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। परन्तु पुण्यात्मा के साथी और प्रदर्शक देवता होते है और वह अपने अनुरूप स्थानों में निवास करता हैं।"

वह फिर कहता है—मृतों में से जिनका जीवन मध्यम श्रेणी का होता है वे अकेरन पर से एक नौका पर बैठ कर जाते हैं। यह नौका विशेष रूप से उनके लिए बनी होती है। दण्ड पा चुकने और पापों से मुक्त हो जाने पर वे स्नान करते हैं और जितने जितने और जैसे जैसे पुन्यकर्म उन्होंने किये हों उनके अनुसार आदर पाते हैं। पर जिन्होंने महापाप किये हैं—यथा देवताओं के चढ़ावे की चोरी, बड़े बड़े डाके डालना, निरपराध हत्या, बार बार जान बूझ कर मर्यादा का भंग करना इत्यादि—वे सब टारटरस में फेंके जाते हैं जहां से कि वे कभी भी भाग नहीं सकते।

वह कहता है—जिन लोगों ने अपने जीवन काल में ही अपने पापों का विधिवत प्रायश्चित कर लिया है, या जिनके अपराध कुछ हलके हैं—जैसे कि माता-पिता के विरुद्ध कोई अमर्यादित काम करना या भूल से हत्या करना—वे टारटरस में फेंके जाते हैं, और वहाँ वे पूरे एक वर्ष दंड भोगते हैं। तब लहर उन्हें उठा कर किसी ऐसे स्थान पर फेंक देती है जहाँ से कि वे अपने विरोधियों से आर्त स्वर के साथ प्रार्थना करते है कि 'अब अधिक दंड न दीजिये और हमें दण्ड की यन्त्रणाओं से बचाइये'। अब यदि वे इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लें तो ये बच गये, नहीं तो पुनः उसी टारटरस में फेंक दिये जाते हैं। जब तक इनके विरोधी क्षमा दान न दें इन्हें बराबर दंड मिलता ही रहता हैं। जिनका जीवन पुण्यमय होता है वे इन स्थानों से मुक्त होकर पृथ्वी पर आते हैं। उन्हें ऐसा अनुभव होता है मानों कारागार से छूट कर निकले हैं और अब पवित्र धरती पर निवास करेंगे।

टारटरस एक बहुत गहरी कन्दरा है जिसमें कि नदियाँ बहती हैं। भयानक से भयानक जो वस्तुयें लोगों को मालूम है और जलप्लावन और बाढ़ें जो भी यूनान आदि पाश्चात्य देशों में आती

हैं सब नरक के दंडों में समझी जाती है। परन्तु अफलातूं एक ऐसे स्थान के विषय में कहता है जहाँ कि ज्वाला भड़क रही है ऐसा जान पड़ता है। कि उसका अभिप्राय समुद्र या समुद्र के किसी भाग से है। जहाँ कि एक जलावर्त (दुर्दूर, टारटरस पर श्लेष) है। निस्सन्देह इस वृत्तान्त से तत्कालीन लोगों की विश्वास पद्धति का परिचय मिलता है।

सातवाँ परिच्छेद

संसार से मुक्ति एवं मोक्ष का मार्ग

मोक्ष की रूपरेखा

यदि आत्मा संसार में है और इस बन्धन के कारण सुदृढ़ है तो वह आत्मा तब तक मुक्त नहीं हो सकती जब तक कोई विशेष कारण उपस्थित न हो। हिन्दुओं के अनुसार अविद्या ही इस प्रकार के बन्धन का कारण है। अतः मुक्त होने के लिये आवश्यक है कि अविद्या का नाश हो और ज्ञान की प्राप्ति हो। ज्ञान का तात्पर्य है कि सब पदार्थों के सामान्य एवम् विशेष गुण ज्ञात हो जायँ और सब प्रकार के अनुमान और सन्देह दूर हो जायँ। लक्षणों की सहायता से पदार्थों में भेद करने से आत्मा अपने को पहचान लेती है और उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह अजर, अमर और अजन्मा है। वह समझ लेती है कि नाश तो उन पदार्थों का होता है जो प्रकृति-जन्य हैं। ऐसी स्थिति में इन पदार्थों से प्रेम करना वह छोड़ देती है और समझ लेती है कि वास्तव में वे आनन्द-दायिनी वस्तुएँ दुःखदायिनी ही हैं। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने के पश्चात् आत्मा जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है, कर्मों का नाश हो जाता है और प्रकृति एवम् आत्मा एक दूसरे से अलग होकर स्वतंत्र हो जाते हैं।

मोक्ष पर पतंजलि के विचार

पतन्जलि की पुस्तक का रचयिता कहता है:—जिन पदार्थों पर मनुष्य आसक्त है, यदि वह परमेश्वर के एकत्व पर चित्त को एकाग्र करे तो उनके अतिरिक्त कुछ और भी उसे सूझने लगता है। जो मनुष्य परमेश्वर की अभिलाषा रखता है वह सम्पूर्ण सृष्टि के लिए मङ्गल-कामना करता है, परन्तु जो केवल अपने आप में ही मग्न रहता है वह अपने हितार्थ श्वास तक नहीं लेता। जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो उसका आध्यात्मिक बल शारीरिक बल को मात कर देता है और उसे आठ प्रकार की भिन्न भिन्न बातें करने की शक्ति (योग-सिद्धि) प्राप्त हो जाती है जिससे उसे बन्धन-मुक्त होने का अनुभव होता है; क्योंकि मनुष्य केवल उसी को परित्याग कर सकता है जिसके करने की शक्ति उसमें है, न कि जो उसके सामर्थ्य से ही बाहर है। वे आठ बातें ये हैं:—

१. अपने-शरीर को इतना सूक्ष्म बना लेना कि नेत्र उसे देख न सकें।

२. शरीर को इतना हल्का बना लेना कि कीचड़ में या रेत पर चलना एक सा मालूम हो।

३. शरीर को इतना बड़ा बना लेना कि एक भयानक और अद्‌भुत रूप दीख पड़े।

४. प्रत्येक प्रकार की इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति।

५. चाहे जो कुछ जान लेने की शक्ति।

६. चाहे जिस धार्मिक सम्प्रदाय का नेता बन जाने की शक्ति।

७. जिन लोगों पर वह शासन करता है वे आज्ञाकारी और विनीत बने रहें।

८. मनुष्य और किसी सुदूरवर्ती वस्तु के बीच की दूरी की स्थिति न रह जाय।

ज्ञान पर सफी विचार

सूफियों के अनुसार ज्ञानी और मनुष्य का ज्ञान-पद को प्राप्त होना दोनों में कोई विशेष भेद नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि मनुष्य की दो आत्माएँ होती हैं। एक तो नित्य-आत्मा जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन और हेर फेर नहीं होता, इसी के द्वारा यह गुप्त बातों, अर्थात् ज्ञानातीत जगत् को जानता है और चमत्कार दिखलाता है। दूसरी मानुषी-आत्मा जो जन्म लेती है और जिसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इन और ऐसे ही अन्य विचारों से ईसाई सिद्धान्तों का बहुत कम भेद है।

पतंजलि के अनुसार ज्ञान की विभिन्न अवस्थायें

हिन्दू कहते हैं कि यदि मनुष्य में इन बातों को करने की शक्ति हो तो वह इन्हें छोड़ सकता है, और अनेक अवस्थाओं में से होता हुआ क्रमशः लक्ष्य तक पहुँच जाता है:—

१. पदार्थों के नामों, गुणों, और भेदों का ज्ञान। इसमें अभी उनके लक्षणों का ज्ञान नहीं होता है।

२. पदार्थों का ऐसा ज्ञान जो कि उन लक्षणों तक जाता है जिनके विषय में मनुष्य को विवेक करना सीखना आवश्यक है।

३. यह भेद (विवेक) मिट जाता है और मनुष्य सब पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से झट जान लेता है, परन्तु फिर भी समय लगता है।

४. इस प्रकार का ज्ञान काल से ऊपर है। जिसको यह ज्ञान प्राप्त हो जाय वह सब प्रकार के नामों और संज्ञाओं का, जो कि मनुष्य की अपूर्णता का साधन मात्र है, परित्याग कर सकता है। इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय ज्ञानी के साथ इस प्रकार संयुक्त हो जाते हैं कि उन सब की एक ही सत्ता बन जाती है।

ज्ञान और मोक्ष

आत्मा को मुक्ति दिलाने वाले ज्ञान के विषय में पतञ्जलि का मत बताया गया है। आत्मा का बन्धनों से छूटना संस्कृत में मोक्ष अर्थात् अन्त कहलाता है। ग्रहण में जो लोक तमसावृत होता है और जिसके कारण ग्रहण लगता है उन दोनों के अन्तिम मिलाप या वियोग को, क्या चन्द्र-ग्रहण में और क्या सूर्य ग्रहण में, मोक्ष ही कहते हैं, क्योंकि यह ग्रहण का अन्त या वह समय होता है जब कि दोनों ज्योतियों का, जो कि पहले एक दूसरे से मिली हुई थीं, परस्पर वियोग होता है।

हिन्दूओं का मत है कि इन्द्रियाँ ज्ञान की प्राप्ति के लिए बनी हैं। उससे जो आनन्द प्राप्त होता है। वह इसलिए है कि लोगों को अनुसन्धान और जिज्ञासा के लिए उत्तेजना मिले। यथा खान-पान में जो आनन्द और स्वाद आता है उसका कारण यह है कि आहार और पोषण के द्वारा मनुष्य जीवित रह सके। ऐसे ही भोग-विलास का आनन्द भी इसलिए है कि नई सन्तान के उत्पन्न होते रहने से जातियों की रक्षा हो। आनन्द के अभाव में मनुष्य और पशु इन दो उद्देश्यों के लिए कभी ये कर्म न करते।

ज्ञान के विषय में गीता का मत

गीता में लिखा है—मनुष्य का जन्म ज्ञान-प्राप्ति के लिए हुआ है। ज्ञान सदा एक ही रहता है, इसलिए मनुष्य को वही इन्द्रियाँ मिलती हैं। यदि मनुष्य कर्म करने के लिए उत्पन्न हुआ होता तो उसकी इन्द्रियाँ भी भिन्न भिन्न होतीं, क्योंकि तीन आदि गुणों † की भिन्नता के कारण कर्म भिन्न भिन्न हैं। परन्तु मनुष्य प्रकृति ज्ञान की सारतः विरोधिनी होने के कारण कर्म की ओर झुकी हुई है। इसके अतिरिक्त वह कर्म के साथ उस सुख ‡ का संयोग करना चाहती है जो कि वास्तव में दुःख है। परन्तु ज्ञान इस मनुष्य प्रकृति पर एक शत्रु की तरह विजय लाभ करता है और आत्मा पर से सारे अन्धकार को दूर कर देता है जैसे सूर्य पर से छाया दूर हो जाती है।

ज्ञान पर प्लेटो लिखित फाइडो से प्रमाण

उपरोक्त वाक्य सुकरात की सम्मति से मिलता है। उसकी राय है कि आत्मा शरीर से संयुक्त होने और किसी वस्तु विशेष के विषय में अन्वेषण की अभिलाषा रखने के कारण शरीर के फन्दे में फँस जाती है। परन्तु चिन्ता से इसको कुछेक आकांक्षाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इसलिए चिन्तन उसी समय होता है जब कि आत्मा देखने, सुनने, अथवा सुख दुःख से क्षुब्ध न हो, जब कि यह अपने आप अकेली हो और शारीरिक संसर्ग को यथासम्भव छोड़ बैठी हो। विशेषतया, तत्वदर्शी की आत्मा शरीर से ग्लानि करती है और उससे अलग होना चाहती है।

यदि हम जीवन में शरीर से कुछ काम न लें और सिवाय अनिवार्य दशाओं के न इसके साथ कोई बात साझी रखें, यदि इसका स्वाभावरूपी विष हममें प्रवेश न करे बल्कि हम उससे सर्वथा बचे रहें, तो हम शरीर की अविद्या से छुट्टी पाकर ज्ञान के निकट आ जायंगे और अपने आपको जान कर, जहाँ तक परमेश्वर की आज्ञा होगी वहाँ तक पवित्र हो जायंगे। इसी बात को सत्य स्वीकार करना उचित और यथार्थ है।

गीता के अनुसार ज्ञान और तर्क की रीति

अब हम फिर लौट कर गीता नामक पुस्तक से उद्धरण देते हैं।

दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में सहायता देती हैं। ज्ञानी मनुष्य उन्हें ज्ञान क्षेत्र में आगे पीछे फेरकर बड़ा आनन्द लाभ करता है, अतः वे उसे गुप्तचर का काम देती हैं। इन्द्रियों द्वारा लाभ किया हुआ ज्ञान समयानुसार भिन्न भिन्न होता है। जो इन्द्रियाँ हृदय के अधीन हैं वे प्रत्यक्ष विषय को ही अनुभव करती हैं। हृदय वर्तमान विषय का चिन्तन करता और भूत को स्मरण

---

† तीन आदि गुणा से मतलब रजस्, तमस् और सत्व से है।

‡ गीता के अध्याय में दिया हुआ है कि जो सुख है वही वास्तव में दुःख है।

करता है। प्रकृति वर्त्तमान को थामे रहती, भूत में इसपर अपना प्रभुत्व जतलाती, और भविष्यमें उसके साथ महायुद्ध करने के लिए तैयार रहती है। तर्क वस्तु के वास्तविक गुणों को समझता है। इस पर काल या तिथि का कोई प्रभाव नहीं, क्योंकि भूत और भविष्य दोनों ही इसके लिए समान हैं। इसके निकटतम सहायक प्रकृति तथा ध्यान और दूरतम सहायक पाँच इन्द्रियाँ हैं। जब इन्द्रियाँ ज्ञान के किसी विशेष विषय को ध्यान के सम्मुख लाती हैं तो ध्यान उसे इन्द्रियों के व्यापार की अशुद्धियों से साफ करके तर्क के सिपुर्द कर देता है। तब जो पहले विशेष था तर्क उसे सार्वदेशिक बना कर आत्मा के पास भेज देता है। इस प्रकार आत्मा को उसका ज्ञान होता है।

ज्ञानवान बनने के उपाय

हिन्दू मानते हैं कि निम्नलिखित तीन उपायों में से किसी एक के द्वारा मनुष्य ज्ञानवान बन सकता है:—

१—सहसा दैवज्ञान किसी विशेष कालक्रम से प्राप्त नहीं होता बल्कि जन्म के समय माता की गोद में ही मिल जाता है, जैसे कि कपिल मुनि को मिला था; क्यों कि वे जन्म से ही ज्ञानी और बुद्धिमान उत्पन्न हुए थे।

२—विशेष काल पश्चात दैवज्ञान की प्राप्ति से—जैसा कि ब्रह्मा के पुत्रों को विशेष आयु पर पहुँचने पर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था।

३—विद्याभ्यास से, विशेष अवधि के पीछे जैसे कि सब मनुष्यों के साथ होता है जो कि मन के परिपक्व हो जाने पर विद्या सीखते हैं।

मोक्ष के मार्ग में बाधक क्रोध तथा अविद्या

पाप से बचे रहने से ही ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। पाप की शाखाएँ तो अनेक हैं पर हम उन्हें लोभ, क्रोध, और अविद्या में ही विभक्त करते हैं। यदि मूल काट दिया जाय तो शाखाएँ मुरझा जाती हैं। यहाँ हमें पहले लोभ और क्रोध रूपी दो शक्तियों के नियम पर विचार करना है जो कि मनुष्य के सबसे बड़े और अत्यन्त हानिकारक शत्रु हैं। खाने में जो प्रसन्नता और बदला लेने में जो आनन्द प्राप्त होता है उसी से ये मनुष्य को धोखा देते हैं। वास्तव में वे उसे दुःख और पाप की ओर अधिक ले जाते हैं। वे मनुष्य को बनैले और गृह-पशुओं के समान—नहीं नहीं, राक्षस और पिशाचों के समान बना देते हैं।

आगे हमें यह विचार करना है कि मनुष्य को उचित है कि मन की विवेक शक्ति को, जिसके प्रताप से वह देवताओं के सदृश्य बन जाता है, लोभ और क्रोध से अच्छा समझे और संसारिक कर्मों से विमुख हो जाय। परन्तु इन कर्मों को वह छोड़ नहीं सकता जब तक कि उनके कारणों अर्थात् कामुकता और उच्चाकांक्षा को दूर न कर ले। इससे तीन गुणों में से दूसरा गुण कट कर अलग हो जाता है। अपितु कर्म से दो भिन्न उपायों द्वारा बच सकते हैं:—

१—तीसरे गुण के अनुसार आलस्य, दीर्घसूत्रता, और अविद्या के द्वारा। यह उपाय अच्छा नहीं क्योंकि इसका परिणाम निन्दनीय है।

२—विवेचनापूर्वक उस मार्ग को चुनने से जो सराहनीय परिणाम की ओर ले जाता है; और उत्तम को उत्तमतर से श्रेष्ठ समझने से।

कर्म से पूर्णतया बच सकने का उपाय यह है कि मनुष्य उस वस्तु का ही परित्याग कर दे जिसमें कि वह लीन रहता है, और अपने आपको उससे छिपा ले। इससे वह अपनी इन्द्रियों को

वाह्य पदार्थों से ऐसा रोक रखने में समर्थ होगा कि उसे यह भी ज्ञान न रहेगा कि वहाँ उसके अतिरिक्त और भी कोई है, और वह सब प्रकार की गतियों यहाँ तक कि श्वास को भी रोक सकेगा। यह स्पष्ट है कि लोभी मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए परिश्रम करता है; जो परिश्रम करता है; वह थक जाता है, और थका हुआ मनुष्य हाँफने लगता है, अतः हाँफना लोभ का परिणाम है। यदि यह लोलुपता दूर कर दी जाय तो श्वास ऐसे चलने लगता है जैसे समुद्र-तल पर रहने वाले किसी जन्तु का जिसे की श्वास की आवश्यकता ही नहीं। पर इस समय हृदय शान्तिपूर्वक एक वस्तु—अर्थात् मोक्ष और परम एकता पर पहुँचने के लिए खोज पर ठहर जाता है।

मोक्ष पर गीता के विचार

गीता कहती है—वह मनुष्य मोक्ष को कैसे पा सकता है जिसका मन इधर उधर भटकता है, जो परमात्मा में अपने मन को लीन नहीं करता, और जो सब बातों को छोड़ कर अपने कर्मों को केवल परमात्मा के ही अर्पण नहीं कर देता? यदि मनुष्य इधर उधर की सब चिन्ताओं को त्याग कर केवल एक (ब्रह्म) का ही ध्यान करे तो उसके हृदय का प्रकाश उस प्रदीप की ज्योति की तरह स्थिर हो जाता है जो कि निर्मल तेल से भरा हुआ एक ऐसे कोने में पड़ा है जहाँ कि पवन के झोंके उसे डगमगा नहीं सकते; और वह ऐसा मग्न हो जाता है कि सरदी गरमी आदि दुःखदायक चीजों का उसे अनुभव ही नहीं होता, क्योंकि वह समझ जाता है कि एक प्रधान सत्य के अतिरिक्त शेष सब मिथ्याभ्यास है।

उसी पुस्तक में लिखा है—प्रकृति-संसार पर सुख और दुःख का कुछ प्रभाव नहीं—जैसे निरन्तर बहनेवाली नदी का जल सागर के जल को न्यूनाधिक नहीं करता। जिसने कामना और क्रोध को दमन करके जड़ नहीं बना दिया उसके अतिरिक्त और कौन इस घाटी पर चढ़ सकता है?

उपर के वर्णन के लिए यह आवश्यक है कि चिन्तन निरन्तर हो। किसी प्रकार से भी यह अङ्कों की गिनती में नहीं क्योंकि संख्या सदैव समयों की लौटान को प्रकट करती है, और समयों की वापसी का मतलब यह है कि दो क्रमागत समयों के बीच चिन्तन की डोरी टूट गई है। इससे निरन्तरता में बाधा पड़ती है और चिन्तन अपने विषय के साथ युक्त होने से रुक जाता है पर यह अभीष्ट नहीं, बल्कि इसके विपरीत निरन्तर चिन्तन ही उद्देश्य है।

इस चरमोद्देश्य की प्राप्ति या तो एक ही योनि अर्थात् आवागमन की एक दशा में हो जाती है या अनेक जन्मों में। इस प्रकार मनुष्य सदैव सात्विक आचार का अभ्यास करते करते मन को उसका अभ्यासी बना लेता है, और यह सात्विक आचार उसकी प्रकृति बन कर एक अनिवार्य्य गुण हो जाता है।

हिन्दू धर्म की नौ आज्ञाएँ

सात्विक आचार वह है जिसका उल्लेख कि धर्मशास्त्र में है। इसके मुख्य धर्म्म, जिनसे वे लोग अन्य कई गौड़ धर्म निकालते हैं, संक्षेपतः निम्नलिखित नौ नियमों में कहे जा सकते हैं जो धर्म की नौ आज्ञायें * हैं।

१ मनुष्य किसी का वध न करे।

२ झूठ न बोले।

---

* हिन्दू धर्म की नौ आज्ञाएँ में से पाँच का वर्णन योग सूत्रों में मिलता है।

३ चोरी न करे।

४ व्यभिचार न करे।

५ धन के ढेर न इकट्ठा करे।

६ सदैव आत्मा तथा शरीर को पवित्र और शुद्ध रक्खे।

७ नियत लंघनों का पालन करे, उन्हें कभी भंग न होने दे, और बहुत थोड़े वस्त्र पहने।

८ परमात्मा की स्तुति और धन्यवाद करके सदैव उसका पूजन करता रहे।

९ विना उच्चारण किये ही सृष्टि के शब्द 'ॐ' को मन में रक्खे।

पशुओं का वध न करने का जो (सं० १) का आदेश है वह सार्वदेशिक अहिंसा-धर्म का ही एक विशेष रूप है। दूसरों को सम्पत्ति का चुराना (सं० ३) और झूठ बोलना (सं० २) भी, यदि इन कामों को नीचता और मालिन्य का न भी विचार किया जाय, इसी के अन्तर्गत हैं।

धन को अधिक इकट्ठा करने को निषिद्ध कहा गया है इसलिए कि मनुष्य श्रम और अभ्यास को छोड़ दे। जो मनुष्य भगवान् का ही दिया हुआ पाना चाहता है उसे विश्वास रहता है कि वह उसे अवश्य मिलेगा; और दैहिक जीवन के नोच दास्य से आरम्भ करके; चिन्तन की सम्भ्रान्त स्वतन्त्रता के द्वारा, हम नित्यानन्द को प्राप्त कर सकते हैं।

पवित्र रहने (सं० ६) का अभ्यास करने से यह अभिप्राय है कि मनुष्य शरीर के मैल को जानता है इसलिए मन उससे घृणा और आत्मा की शुद्धता से प्रेम करने लगता है। थोड़े कपड़े पहन कर अपने आपको कष्ट देने का (सं० ७) आशय यह है कि मनुष्य अपने शरीर आवश्यकताओं को घटाये, इसकी अस्थिर आकांक्षाओं का दमन करे, और इसकी इन्द्रियों को तीक्ष्ण करे। पाइथे-गोरस ने एक बार एक मनुष्य से, जो अपने शरीर को खूब मोटा ताजा बनाये रखता था और उसकी प्रत्येक आकांक्षा को पूर्ण करता था, कहा था—तू अपने वन्दीगृह को बनाने, और अपनी बेड़ियों के यथासम्भव दृढ़ करने में तनिक भी आलस्य नहीं करता।

परमात्मा और दिव्य आत्मा

परमात्मा और दिव्य आत्माओं का निरन्तर ध्यान करते रहने से यह लाभ है कि उनके साथ मेल-मिलाप और सम्पर्क हो जावे। सांख्य कहता है कि जिस वस्तु का मनुष्य अनुगामी होता है वह उस वस्तु से परे नहीं जा सकता, क्योंकि उसका लक्ष्य ही वही है। इस प्रकार उसके विचार जकड़ जाने से वह परमात्मा का ध्यान करने से रुक जाता है। गीता कहती है—जिस बात का मनुष्य निरन्तर ध्यान करता है—और जो बात सदैव उसके मन में रहती है वह उस पर अंकित हो जाती है, यहाँ तक की वह विना सोचे समझे ही उसकी अनुगामी हो जाती है। जैसे उजड़ते समय वे वस्तुएँ याद आया करती हैं जिनसे मनुष्य का प्रेम होता है वैसे ही शरीर-परित्याग के पश्चात् आत्मा उस वस्तु से जा मिलती है जिससे हमारा प्रेम था, और उसी में परिवर्तित हो जाती है।

पाठक, कहीं यह न समझ लें कि आत्मा का किसी मरने और जन्म लेनेवाली देह में चले जाना ही पूर्ण मोक्ष है, क्योंकि वही गीता कहती है—जो कोई मृत्यु समय यह जानता है कि परमात्मा ही सब कुछ है, और उसी से सब कुछ निकलता है, वह मुक्त हो जाता है; चाहे उसकी पदवी ऋषियों से कम ही क्यों न हो।

वही पुस्तक कहती है—संसार के मिथ्याचारों से सब सम्बन्ध तोड़ कर सब कर्म और यज्ञ विना फल की इच्छा के शुद्ध भाव से करते हुए, मनुष्यों से अलग रह कर इस संसार के बन्धनों से

मुक्ति लाभ करो। इसका प्रकृत तात्पर्य यह है कि तुम एक व्यक्ति को दूसरे से केवल इसीलिए अच्छा न समझो कि पहला तुम्हारा मित्र है और दूसरा वैरी है; और जब दूसरे लोग जाग रहें हो उस समय सोने और जब दूसरे सो रहे हों उस समय जागने में कभी न चूको, क्योंकि यह भी एक प्रकार का उनसे अलग ही रहना है—यद्यपि बाहर से तुम उनके बीच हो हो। इसके अतिरिक्त मुक्ति के लिए आत्मा को कलुषित आत्मा से बचाओ, क्योंकि जिस आत्मा में लम्पटता आ गई है वह वैरी है परन्तु पवित्र आत्मा से बढ़कर कोई अच्छा मित्र नहीं।

यूनानियों और सूफ़ियों के परमात्मा पर विचार

सुकरात ने सिरहाने खड़ी मृत्यु का भय न करके अपने स्वामी (परमात्मा) के निकट जाने की आशा से ही हर्षित होकर कहा था कि 'मेरी पदवी हंस की पदवी से कम न समझी जाय।' हंस के विषय में लोग कहते हैं कि यह अपोलो अर्थात् सूर्य का पक्षी है, इसलिए यह गुप्त बातों को जानता है। अर्थात् जब उसे प्रतीत होता है कि मैं शीघ्र ही मरनेवाला हूँ तो अपने स्वामी के समीप पहुँचने की आशा से ही हर्षित होकर बढ़ बढ़ कर रागिनियाँ अलापता है। अपने इष्टदेव के पास पहुँचने से जो हर्ष मुझे प्राप्त होगा वह कम से कम इस पक्षी के हर्ष से तो कम होना ही नहीं चाहिए।

ऐसे ही कारणों से सूफी लोग प्रेम का लक्षण सब वस्तुओं को छोड़ कर परमात्मा से लीन हो जाना बतलाते हैं।

मोक्ष के क्रियात्मक मार्ग

पतंजलि मुनि की पुस्तक में लिखा है—हम मोक्ष मार्ग को तीन भागों में विभक्त करते हैं :-

१ क्रियात्मक मार्ग (क्रिया योग)—इस साधन के द्वारा इन्द्रियों को शनैः शनैः वश में करके बाह्य जगत् से उनका सम्बन्ध तोड़ कर अन्तर्जगत् पर ध्यान जमाना पड़ता है, यहाँ तक कि वे सर्वथा ब्रह्म में ही लीन रहें। साधारणतया यह उन लोगों का मार्ग है जो अपनी आजीविका के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की आकांक्षा नहीं करते। विष्णु धर्म में लिखा है—भृगु-वंश के राजा परीक्ष ने उपस्थित ऋषि-मण्डली के प्रधान शतानीक ऋषि से परमात्मा विषयक किसी एक कल्पना की व्याख्या के लिए प्रार्थना की। ऋषि ने उत्तर में जो कुछ उन्होंने शौनक से, शौनक ने उशासन से, और उशासन ने ब्रह्मा से सुना था कह सुनाया। उन्होंने कहा—परमात्मा अनादि और अनन्त है। वह अजन्मा है और उससे कभी कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न नहीं हुई, जिसके विषय में यह कहा जा सके कि यह परमात्मा है या यह परमात्मा नहीं है। जब तक मैं उसका निरन्तर ध्यान न करूँ और सामान्य संसार से विमुख होकर केवल उसी में ही लीन न हो जाऊँ, मैं विशुद्ध कल्याण को और पूर्ण पाप को कैसे सोच सकता हूँ?

उनके सम्मुख शंका उपस्थित की कि मनुष्य निर्बल है और उसका जीवन अति छोटी अवधि का है। जीवन की आवश्यकताओं से मुख मोड़ लेना उसके लिए अत्यन्त असम्भव के ही समान है। इसी से वह मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने में प्रायः असमर्थ है। यदि हम मनुष्यों के प्रथम युग में होते; जब कि लोग हजार हजार वर्ष पर्यन्त जीते थे, और जब कि पापभाव से संसार कल्याणमय था तो हमें आशा हो सकती थी कि इस मार्ग के लिए जो जो आवश्यकताएँ हैं वे पूरी की जा सकती थीं। परन्तु हम तो अन्तिम युग में रहते हैं इसलिए आपकी सम्मति में वह कौन सी बात है जो सागर के जलप्लावनों से मनुष्य की रक्षा कर सकती है और उसे डूबने से बचा सकती है?

तब ब्रह्मा जी बोले—मनुष्य को आहार वस्त्र, और रक्षा की परम आवश्यकता है, इसलिए उनकी पूर्ति के प्रयत्न करने से कोई हानि नहीं, परन्तु आनन्द केवल तभी प्राप्त होता है जब इनके सिवाय अन्य सब बातों अर्थात् फालतू और थका देनेवाले कर्मों का परित्याग कर दिया जाय। परमात्मा—और केवल परमात्मा—का ही पूजन और अर्चन करो। पूजा-भवन में पुष्प और सुगन्धि प्रभृति वस्तुओं की भेंट लेकर उसके समीप जाओ। उसकी स्तुति करो और अपने मन को उसके साथ ऐसा संयुक्त करो कि फिर कभी अलग न हो। ब्राह्मणों तथा अन्यों को दान दो, और मांस भक्षण-त्याग जैसे विशेष, तथा निराहार रहने जैसे सामान्य व्रत करो। उसके सामने प्रतिज्ञा करो कि हम उन पशुओं को अपने से भिन्न न समझेंगे ताकि उन्हें मारना कहीं तुम अपना अधिकार ही न समझने लग जाओ। जानो कि वही सब कुछ है। इसलिए जो कुछ भी तुम करो सब उसी के निमित्त करो। यदि संसार के मिथ्याडम्बरों में आनन्द आने लगे तो अपने संकल्पों में उसे न भूल जाओ। यदि तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा का भय और उसका पूजन है तो तुम्हें इसी से मुक्ति प्राप्त हो जायगी, किसी अन्य वस्तु से नहीं।

गीता कहती है :—जो मनुष्य अपनी लालसा को दमन कर लेता है वह अनिवार्य आवश्यकता से बढ़कर कोई काम नहीं करता; और जो उतनी ही वस्तु के साथ सन्तुष्ट है जितनी कि उसे जीवित रखने के लिए पर्याप्त है वह न लज्जित होता है और न घृणित ही समझा जाता है।

वही पुस्तक कहती है :—मनुष्य-प्रकृति जिन वस्तुओं को चाहती है यदि मनुष्य उन कामनाओं से मुक्त नहीं हुआ, यदि उसे क्लान्ति और भूख की अग्नि को शान्त करने के लिए आहार की, थकाने वाली दौड़-धूप के हानिकारक प्रभावों का सामना करने के लिए निद्रा की, और विश्राम के के लिए पलङ्ग की जरूरत है, तो क्यों न पलङ्ग साफ़ सुथरा, भूमि से एक समान ऊँचा और लेटने के लिए यथेष्ट चौड़ा हो? उसे ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ का जलवायु मन्दोष्ण हो अर्थात् जहाँ दारुण शीत और भीषण ताप पीड़ित न करें जहाँ रेंगनेवाले कीड़े उस तक न पहुँच सकें। ये सब बातें उसके हृदय की क्रियाओं तो तेज करने में सहायता देती हैं ताकि यह सुगमता से अद्वैत पर पर ध्यान जमा सके। आहार और वस्त्रादि जीवन की आवश्यकताओं को छोड़ कर शेष सब बातें ऐसे सुख हैं जो वास्तव में सुख के रूप में दुःख ही हैं। इसलिए उनसे प्रसन्न होना असम्भव है; और उनका अन्तिम परिणाम भारी दुःख है। केवल उसी को आनन्द प्राप्त होता है जो काम और क्रोध रूपी दो असह्य शत्रुओं को अपने जीवन-काल में हो, न कि अपने मरने के पीछे मार डालता है; जो बाह्य को छोड़कर अन्तर से आनन्द लेता है; और जो, अन्तिम फल; में अपनी इन्द्रियों का भी त्याग कर सकता है।

वासुदेव अर्जुन से बोले :—यदि तुम विशुद्ध कल्याण के अभिलाषी हो तो अपने दरवाजों का ध्यान रक्खो, और देखते रहो कि उनमें से क्या कुछ अन्दर जाता है और क्या कुछ बाहर निकलता है। अपने मन को विचार बखेरने से रोको और बालक के मस्तिक के ऊपर की झिल्ली का ख्याल करके आत्मा को शान्त करो, क्योंकि यह झिल्ली पहले कोमल होती है और फिर बन्द होकर दृढ़ हो जाती है, यहाँ तक कि ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि इसकी कोई आवश्यकता ही न थी। इन्द्रियों के अनुभव को उनके गोलकों की आभ्यन्तरीण प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ न समझो, अतः उसका अनुकरण करने से बचे रहो।

गीता के अनुसार त्याग-मार्ग ही मोक्ष-मार्ग है

२. मोक्ष मार्ग का द्वितीय भाग त्याग है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाय की सृष्टि को अस्थिरता और परिवर्तनशीलता में क्या क्या खराबियाँ हैं। इनका

ज्ञान हो जाने पर मनुष्य संसार से घृणा करने लगता है। सांसारिक वस्तुओं के लिए पहले जो लालसा उसे रहती है थी वह भी जाती रहती है। मनुष्य उन तीन आदि गुणों में ऊपर उठ जाता है जो कि कर्मों और उनकी विभिन्नता का कारण हैं। जो मनुष्य संसार के व्यवहारों को भली प्रकार समझ लेता है, जो जान लेता है कि इनमें जो अच्छे हैं वे वस्तुतः बुरे हैं, और इनमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह फल मिलने के समय दुःख का रूप धारण कर लेता है। वह उन सब बातों से बचता है जो उसे संसार में अधिक फँसानेवाली और मर्त्य-लोक में ठहरने की उसकी अवधि को अधिक बढ़ानेवाली हैं।

गीता कहती है :—जिन बातों की आज्ञा है और जिनका निषेध है। उन्हीं में मनुष्य भूल कर देते हैं। वे अच्छे और बुरे कर्मो में भेद नहीं कर सकते, इसलिए कर्म का सर्वथा त्याग कर देना और उससे अलग रहना ही विशेष कर्म है।

वही पुस्तक कहती है :—ज्ञान की शुद्धि शेष सब वस्तुओं की शुद्धि से उच्च है, क्योंकि ज्ञान से अविद्या का मूलोच्छेद हो जाता है, और संशय का स्थान निश्चय ले लेता है। संशय दुःख देने का एक साधन है क्योंकि जो मनुष्य संशयात्मक है उसे चैन कहाँ?

इससे स्पष्ट है कि मुक्ति-मार्ग का प्रथम भाग दूसरे भाग का साधनीभूत है।

३. मोक्ष-मार्ग का तृतीय भाग जिसे पहले दो भागों का साधनीभूत समझना चाहिए पूजा हैं, ताकि मोक्ष प्राप्ति में परमात्मा मनुष्य की सहायता करे और कृपा करके उसे ऐसी योनि में भेजने के योग्य समझे जिसमें कि वह परमानन्द की प्राप्ति के लिए यत्न कर सके।

गीताकार पूजा के धर्मों को शरीर, वाणी और हृदय में इस प्रकार बाँटता है :—

उपवास करना; प्रार्थना करना, नियम का पालन करना, ब्राह्मणों, ऋषियों और देवों की सेवा करना, शरीर को पवित्र रखना, किसी अवस्था में भी वध न करना, और कभी पर-स्त्री और पर-संपत्ति को न ताकना—ये शरीर के धर्म हैं।

पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करना, परमात्मा की स्तुति करना, सदा सत्य बोलना, नम्रता से बात करना, लोगों को मार्ग बताना, और उन्हें पुण्य करने का आदेश करना—ये वाणी के धर्म हैं।

सरल और निष्कपट सङ्कल्प रखना, गर्व न करना, सदा शान्त रहना, इन्द्रियों को अधीन रखना, और सदा प्रसन्न-चित्त रहना—ये हृदय के कर्तव्य हैं।

रसायन, मोक्ष का चौथा मार्ग

ग्रन्थकार (पतंजलि) मोक्ष-मार्ग के तीन भागों में चौथा एक और आवश्यक मार्ग बताता है। इसका नाम रसायन है। इसमें जड़ी-बूटियों द्वारा रसविद्या-सम्बन्धी छलों से उन बातों का अनुभव कराया जाता है जिनका स्वभावतः होना असम्भव है। हम इनका आगे जाकर (देखो अध्याय १७) वर्णन करेंगे। सिवाय इस बात के, कि रसायन के छलों में भी प्रत्येक बात संकल्प, अर्थात् उन्हें पूरा करने के लिए भली भाँति समझे हुए निश्चय पर निर्भर है। मोक्ष-सिद्धान्त से इनका और कोई सम्बन्ध नहीं। यह निश्चय तब ही सकता है जब उनमें दृढ़ विश्वास हो, ताकि उनकी सिद्धि के लिए प्रयत्न किया जाय।

मोक्ष का स्वरूप

हिन्दुओं के विचार में परमात्मा के साथ एकाकार हो जाने का नाम ही मोक्ष है, क्योंकि वे परमात्मा को एक ऐसी सत्ता बताते हैं जो न फल की आशा रखती है और न विरोध से भय-

भीत होती है; विचार उस तक पहुँच नहीं सकता क्योंकि वह सारे घृणित असादृश्यों और सब समानुभावी सादृश्यों से ऊपर है; परमात्मा अपने आपको, किसी ऐसी वस्तु के विषय में जो प्रत्येक अवस्था में उसे पहले ज्ञात न हो, अकस्मात् प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा नहीं जानता। मुक्त आत्मा की हिन्दू यही स्थिति बताते हैं, क्योंकि इन सब बातों में वह परमात्मा के समान हो जाता है। भेद केवल इतना है कि आत्मा अनादि नहीं, और मुक्ति से पूर्व वह वृद्धावस्था में होता है। उस समय उसे विषयों का ज्ञान केवल एक प्रकार ऐन्द्रजालिक आलोक के समान ही होता है और वह भी उद्यम करने से। इस पर भी ज्ञातव्य विषय ऐसा आच्छन्न रहता है मानों उस पर आवरण पड़ा है। इसके विपरीत मुक्तावस्था में सब आवरण उठ जाते हैं, आकांक्षायें समाप्त हो जाती हैं और समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। इस अवस्था में आत्मा को पूर्ण ज्ञान होता है और किसी अज्ञात विषय के जानने की इच्छा नहीं रहती, इन्द्रियों के सर्व दूषित अनुभवों से अलग होकर वह नित्य विचारों से युक्त होता है। इसलिए पतंजलि की पुस्तक के अन्त में, जब शिष्य मुक्ति की अवस्था पूछता है तो गुरु उत्तर देता है:—यदि तुम जानना ही चाहते हो, तो मुक्ति तीन गुणों की क्रियाओं के बन्द हो जाने, और उनके किसी आदि स्थान पर लौट आने का नाम है—जहाँ से कि वे आये थे। अथवा, दूसरे शब्दों में, आत्मा के ज्ञानवान होकर अपनी ही प्रकृति में लौट आने का नाम मुक्ति है।

सांख्य द्वारा मोक्ष का स्वरूप

मुक्तावस्था को प्राप्त हुए आत्मा के विषय में, दो मनुष्यों—गुरु और शिष्य—में मतभेद है। सांख्य में यति जिज्ञासा करता है—जब कर्म बन्द हो जाता है तो मृत्यु क्यों नहीं हो जाती! ऋषि उत्तर देते हैं—क्योंकि वियोग का कारण आत्मा की एक विशेष दशा से है जब कि आत्मा शरीर में ही होती है। आत्मा और शरीर का वियोग एक नैसर्गिक दशा से उत्पन्न होता है। जो कि उनके संयोग को भंग कर देती है। प्रायः जब किसी कर्म का कारण बन्द हो जाने पर भी अथवा लुप्त हो जाने पर भी कर्म स्वयं कुछ काल तक जारी रहता है, फिर ढीला पड़ जाता है और क्रमशः घटते घटते अन्त को सर्वथा बन्द हो जाता है। जैसे रेशम कातने वाला जुलाहा चरखे की छोटी सी मुठिया को पकड़ कर घुमाता है यहाँ तक कि चरखा द्रुतगति से घूमने लगता है। तब वह मुठिया को छोड़ देता है पर फिर भी यह चरखा रुक नहीं जाता। चरखे की गति शनैः शनैः कम होकर अन्त को बिल्कुल बन्द हो जाती है। यही दशा शरीर की है। शरीर के कर्मों के बाद भी उनका प्रभाव बना रहता है। यहाँ तक कि गति और विश्राम की विविध अवस्थाओं में से हो कर यह उस दशा को प्राप्त हो जाता है जब कि भौतिक शक्ति और पहले के कारणों से उत्पन्न हुए कर्म बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर के पूर्णतयाः भूमिगत होने के साथ मुक्ति पूर्ण हो जाती है।

पतंजलि द्वारा मोक्ष का स्वरूप

पतन्जलि की पुस्तक में भी एक वाक्य है जो ऐसे ही विचारों को प्रकट करता है। उस मनुष्य का वर्णन करते हुए पतन्जलि से जो अपनी इन्द्रियों को ऐसे समेट लेता है जैसे कि कछुआ भयभीय होकर अपने अवयवों को अन्दर समेट लेता है, कहा गया है कि वह बद्ध नहीं, क्योंकि उसके बन्धन खुल गये हैं। वह मुक्त नहीं, क्यों कि उसका शरीर अभी उसके साथ है।

उसी पुस्तक में और एक वाक्य है जो मोक्ष सिद्धान्त के इस वर्णन से नहीं मिलता। वह कहता है—कि शरीर फल भोगने के निमित्त आत्मा के लिए एक जाल है। जो मनुष्य मुक्तावस्था

तक पहुँच गया है वह पहले ही, इसी वर्तमान योनि में, अपने पिछले कर्मों का फल भोग चुका है। तब वह भविष्य में कर्म फल पाने का अधिकारी बनने से बचने के लिए परिश्रम करना छोड़ देता है। वह फन्दे से अपने आपको मुक्त कर लेता है। वह अपने विशेष देह को छोड़ सकता है और इसमें बिना फँसे ही स्वतंत्रतापूर्वक विचरता है। वह जहाँ जो चाहे वहाँ जाने को भी समर्थ होता है। यदि वह चाहे तो मृत्यु के अधिकार से भी ऊपर हो सकता है, क्योंकि सघन और स्थूल पदार्थ उसे इस रूप में रोक नहीं सकते—जैसे कि पर्वत उसे बीच में रोक नहीं सकता। ऐसी अवस्था में उसका शरीर उसकी आत्मा के आगे भला क्या रुकावट उपस्थित कर सकता है?

मोक्ष के स्वरूप पर सूफी विचार

ऐसे ही विचार सूफियों में भी पाये जाते हैं। उनकी एक कथा है:—

सूफियों की एक मण्डली हमारे पास आई और आकर हमसे कुछ दूरी पर बैठ गई। तब उनमें से एक ने उठ कर नमाज पढ़ी। नमाज पढ़ चुकने पर वह मेरी ओर मुँह करके बोला— प्रभो? क्या आप यहाँ कोई ऐसा स्थान जानते हैं जो हमारे मरने के लिए अच्छा हो। मैंने समझा कि उसका अभिप्राय सोने से है। अतः मैंने उसे एक स्थान दिखा दिया। वह मनुष्य वहाँ गया और पीठ के बल चित लेट कर नितान्त निश्चेष्ट पड़ा रहा। अब मैं उठा और उसके पास जाकर उसे हिलाने लगा पर क्या देखता हूँ कि वह ठण्डा हो चुका है।

सूफी लोग कुरान की इस आयत का 'हमने उसके लिए पृथ्वी पर स्थान खाली किया है, इस प्रकार अर्थ करते हैं कि—यदि वह चाहता है तो पृथ्वी उसके लिए अपने आपको लपेट लेती है; यदि वह चाहे तो जल पर और पवन में चल सकता है क्योंकि ये इतने दृढ़ हो जाते हैं कि उसे उठाये रखते हैं। पर्वत भी, जब वह उनके आर-पार जाना चाहे तो, उसके लिये कोई रुकावट उपस्थित नहीं करते।

मोक्ष को न प्राप्त करने वालों पर विचार

अब हम उन लोगों का वर्णन करते हैं जो बहुत परिश्रम करने पर भी मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं होते। इनकी कई श्रेणियाँ हैं। सांख्य कहता है—जो मनुष्य पुण्याचार लेकर संसार में आता है, जो अपनी सांसारिक सम्पत्ति को उदारभाव से देता है उसे संसार में इस प्रकार फल मिलता है कि उसकी सब मनोकामनायें पूर्ण हो जाती हैं; वह संसार में आनन्दपूर्वक विचरता है और उसका शरीर तथा आत्मा, जीवन की सब दशाओं में प्रसन्न रहते हैं। कारण यह कि वस्तुतः उत्तम भाग्य पूर्व कर्मों का ही फल है, चाहे ये कर्म उसी योनि में किये हों चाहे पहले किसी योनि में। जो मनुष्य इस संसार में धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करता है, पर जो ज्ञानशून्य है, वह उन्नत किया जायगा और उसे फल मिलेगा— परन्तु उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी क्योंकि मुक्ति के साधनों का उसके पास अभाव है। जो कोई ऊपर दी हुई आठ आज्ञाओं के अनुकूल कर्म करने का सामर्थ्य रख कर ही सन्तुष्ट और शान्त है, जो उन पर गर्व करता है, उनके द्वारा सफलीभूत होता है और विश्वास रखता है कि वे मोक्ष हैं वह उसी अवस्था में रहता है।

ज्ञान की अवस्थाओं को दर्शानेवाला दृष्टान्त

नीचे लिखा दृष्टान्त उन लोगों के विषय में है जो ज्ञान की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से उन्नति करते हुए एक दूसरे की तुलना कर रहे हैं:—

एक मनुष्य अपने शिष्यों सहित किसी काम पर जा रहा है। इस समय रात का अतिन्म पहर है। वे दूर से ही सड़क पर कोई वस्तु खड़ी देखते हैं; परन्तु रात्रि के अन्धकार के कारण उसको भली भाँति पहचानना उनके लिए असम्भव है। वह मनुष्य प्रत्येक शिष्य से वारी वारी से पूछता है कि वह क्या वस्तु है ? पहला उत्तर देता है—'मैं नहीं जानता वह क्या है।' दूसरा कहता है—'मैं नहीं जानता वह क्या है ? मेरे पास उसके जानने का कोई साधन नही ?।' तीसरा कहता है—'यह जानने का यत्न करना कि वह क्या वस्तु है सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि दिन चढ़ते ही अपने आप पता लग जायगा। यदि यह कोई भयानक वस्तु है तो दिन निकलने पर वह स्वयं छिप जायगी। यदि यह कुछ और है तो भी हमें इसकी प्रकृत अवस्था का पता लग जायगा।' इनमें से किसी एक को भी ज्ञान प्राप्त न हुआ था। पहले को तो इसलिए नहीं हुआ कि वह मूर्ख था। दूसरे को इस कारण कि उसके पास न तो जानने की शक्ति थी और न साधन ही। तीसरे को इसलिए कि वह निरुत्साह और अपनी अविद्या में ही प्रसन्न था।

अपितु चौथे शिष्य ने कुछ उत्तर न दिया। वह पहले चुपचाप खड़ा रहा और फिर उस वस्तु की ओर बढ़ा। निकट पहुँच कर उसने देखा कि कद्दू के ऊपर किसी वस्तु का उलझा हुआ ढेर पड़ा है। वह जानता था कि कोई भी स्वतन्त्र इच्छा रखने वाला प्राणधारी मनुष्य, जब तक कि वह उलझी हुई वस्तु उसके शिर पर ही न उगी हुई होती, कभी भी अपने स्थान पर निश्चल खड़ा नहीं रहता; इसलिए उसने झट पहचान लिया कि यह कोई जड़ वस्तु सीधी खड़ी है। इससे अधिक वह इस बात का निश्चय न कर सका कि कहीं यह लीद और गोवर के ढेर के निमित्त कोई गुप्त स्थान तो नहीं। अतः वह उसके बहुत ही निकट चला गया और पाँव से उसे ठोकर दी, यहाँ तक कि वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। इस प्रकार उसके सब संदेह दूर हो गये और उसने अपने गुरु के पास जाकर ठीक-ठीक बात कह सुनाई। इस रीति से गुरु ने शिष्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया।

प्राचीन यूनानियों के इसी प्रकार के विचारों के विषय में हम अमोनियस का प्रमाण दे सकते हैं जिसके अनुसार पाइथेगोरस का कथन है :—

इस संसार में तुम्हारी कामना और तुम्हारे प्रयास आदि कारण के साथ मिलने की ओर लगने चाहिये, क्योंकि वही तुम्हारे जीवन का कारण है और उसी से तुम सदैव स्थिर रह सकोगे। तुम नष्ट होने और मिट जाने से बचे रहोगे। तुम सच्चे अर्थ, सच्चे आनन्द, और सच्ची कीर्ति के लोक में सदैव बने रहनेवाले आनन्दों और उल्लासों का उपयोग करोगे।

पाईथेगोरस और कहता है :—जब तक तुम शरीर-रूपी वस्त्र धारण किये हो तब तक तुम मुक्त होने की आशा कैसे कर सकते हो ? जब तक कि तुम शरीररूपी कारागार में बन्द हो तुम मुक्त कैसे हो सकते हो ?

अमोनियस * कहता है—एम्पीडोक्लीस और उसके हरेक्लीस तक के उत्तराधिकारियों का मत है कि मलिन आत्मा जब तक विश्वात्मा से सहायता न माँगे तब तक सदैव संसार के साथ संयुक्त रहता है। विश्वात्मा बुद्धि के पास इसकी सिफारिश करता है और बुद्धि आगे विधाता के पास। विधाता अपना थोड़ा सा प्रकाश बुद्धि को देता है बुद्धि उसका थोड़ा सा अंश विश्वात्मा को देती है जो इसी संसार में स्थिर है। अब अत्मा बुद्धि से प्रकाशित होना चाहता है—यहाँ तक कि

* अमोनियस नवीन अफलातूनी मत का तत्ववेत्ता था। अरबी लोग इसे अरस्तू के टीकाकार के रूप में जानते हैं।

अन्त को व्यक्ति की आत्मा विश्वात्म को पहचान कर उसके साथ संयुक्त हो जाता है और उसीके जगत के साथ जुड़ जाता है। परन्तु यह एक ऐसी क्रिया है जिसमें अनेकानेक युग लग जाते हैं। तब आत्मा एक ऐसे प्रदेश में आता है जहाँ देश और काल नहीं और जहाँ क्षणिक दुःख-सुखादि सांसारिक चीजों का भी पूर्ण अभाव है।

सुक़रात कहता है :—'पुण्य स्वरूप के साथ संवन्ध होने के कारण आकाश को त्याग कर आत्मा उसके पास जाती है। यह पुण्यस्वरूप सदैव जीवित और नित्य है। संस्थिति में आत्मा पुण्यस्वरूप के सदृश हो जाती है क्योंकि विशेष प्रकार के संसर्ग के द्वारा उसके संस्कार इस पर पड़ते रहते हैं। संस्कारों को ग्रहण करने की इस क्षमता को वुद्धि कहते हैं।

सुकरात और कहता है :—आत्मा दिव्य सत्ता से वहुत मिलती-जुलती है। वह सत्ता न न कभी मरती है और न कभी विलीन होती है। वही एक चेतन सत्ता है जो कि नित्य रहती है, पर शरीर की स्थिति ऐसी नहीं है। जब शरीर और आत्मा का संयोग होता है तो प्रकृति शरीर को दास और आत्मा को प्रभु रहने का आदेश करती है, परन्तु जब उनका वियोग होता है तो आत्मा और शरीर अलग-अलग स्थानों को जाते हैं। वहाँ अनुकूल पदार्थों के साथ आत्मा प्रसन्न रहता है। आकाश के अन्दर घिरा न होने से वहाँ इसे आराम मिलता है। वहाँ मूर्खता, अधीरता, स्नेह और भय आदि मानवीय विकार इसे पीड़ित नहीं करते। यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जब आत्मा सदैव शुद्ध रहता हुआ शरीर से घृणा करता रहता है। यदि आत्मा ने शरीर की ओर असावधान होकर उससे ऐसा प्रेम किया है और उसकी ऐसी सेवा की है कि वह उसकी विषय-वासनाओं के अधीन हो गया है और इससे आत्मा स्वयम् मैला हो गया है तो आत्मा को नाना प्रकार के देहधारी प्राणियों और उनके संसर्ग से वढ़ कर और किसी सत्य पदार्थ का अनुभव नहीं होता।

प्रोक्लस का कहना है :—जिस शरीर में बुद्धिमान् आत्मा निवास करती है उसकी, आकाश और उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत भूतों की भाँति, गोल आकृति होती है। जिस शरीर में बुद्धिमान और अज्ञानी दोनों आत्माएँ रहते हैं उसकी मनुष्य के समान सीधी आकृति होती है। जिस शरीर में केवल अज्ञानी आत्मा ही निवास करती है, ज्ञानशून्य पशुओं की भाँति उसका आकार खड़ा और साथ ही झुका हुआ होता है। उस शरीर में किसी प्रकार की भी आत्मा का निवास नहीं रहता, जिसमें आहार खाकर वढ़ने फूलने की शक्ति के सिवा और कुछ नहीं, उसका आकार सीधा परन्तु साथ ही मुड़ा हुआ और इस प्रकार उलटा होता है कि शिर भूमि में रहता है, जैसे कि पौधों का। यह अन्तिम अवस्था मनुष्य की अवस्था के विपरीत है क्योंकि मनुष्य तो एक आकाश-तरु है जिसकी जड़ें उसके घर अर्थात आकाश की ओर गई हैं, पर वनस्पतियों की जड़ें उनके घर अर्थात पृथवी की ओर जाती हैं।

ब्रह्म की अश्वत्थ-वृक्ष से तुलना

प्रकृति के विषय में इसी प्रकार का विचार हिन्दुओं का भी है। अर्जुन पूछता है :— संसार में ब्रह्म की उपमा किससे दी जा सकती है ?

तब वासुदेव उत्तर देते हैं—उसे अश्वत्थ-वृक्ष † की भाँति समझो। यह वृक्ष उन लोगों में वड़ा प्रसिद्ध है। यह एक भारी और वहुमूल्य वृक्ष है जो कि मूल ऊपर को ओर और शाखाएँ

---

† ब्रह्म की अश्वत्थ-वृक्ष से उपमा भगवदगीता अध्याय १५ श्लोक १ से ६ तक, तथा अध्याय १० श्लोक २६ में मिलती है।

नीचे को ओर कर उलटा खड़ा रहता है। यदि इसे पर्याप्त आहार दिया जाय तो इसका आकार बहुत बड़ा हो जाता हैं; इसकी शाखाएँ दूर दूर तक फैल जाती है और भूमि से चिमिट कर इसके अन्दर जड़ जमा लेती है। ऊपर और नीचे की जड़े और शाखाएँ एक दूसरे से इतनी मिलती हैं कि एक दुसरे से भिन्न करना बहुत कठिन हो जाता है।

इस वृक्ष की ऊपर की जड़े ब्राह्मण हैं। वेद इसका तना है। इसकी शाखाएँ भिन्न भिन्न सिद्धान्त और दर्शन हैं। इसके पत्ते अर्थ लगाने की भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं। इसका आहार तीन गुण हैं। इन्द्रियों के द्वारा यह वृक्ष सुदृढ़ और मोटा होता है। ज्ञानी पुरुष की यही आकांक्षा रहती है कि इस वृक्ष को उखाड़ दे, अर्थात् संसार और उसका मिथ्या आडम्बरों से बचे रहे। जब वह इसे उखाड़ डालता है तो फिर जिस स्थान में उगा हुआ था, जिस स्थान में आगामी पुनर्जन्म से लौट कर नहीं आता, उस स्थान में आप निवास करने लगता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाने पर वर गरमी सरदी के दुःखों को अपने पीछे छोड़ जाता है और सूर्य, चन्द्र तथा साधारण अग्नियों के प्रकाश को छोड़ कर दिव्य ज्योतियों को प्राप्त करता है।

ब्रह्म पर सूफी विचार

सत्य के ध्यान में मग्न रहने के विषय में पतन्जलि का सिद्धान्त सूफियों के सिद्धान्त से मिलता है, क्योंकि वे कहते हैं कि जब तक कोई वस्तु तुम्हारा लक्ष्य तुम से बाहर है तुम अद्वैत-वादी नहीं, परन्तु जब सत्य तुम्हारी लक्षित वस्तु का स्थान ले ले और उस वस्तु को नष्ट कर दे तब न कोई लक्ष्य बनाने वाला रह जाता है और न कोई लक्ष्य ही इस प्रकार साधक और साध्य एक हो जाते हैं।

उनके धर्म में कई ऐसे वाक्य पाये जाते हैं जिनसे मालूम होता कि वे अद्वैतवादी प्रति-पादित एकता को मानते हैं। उदाहरणार्थ जब उनमें से एक से पूछा गया कि सत्य (ईश्वर) क्या है तो उसने यह उत्तर दिया—मैं उस सत्ता को क्या जानूं जो सारतः "मैं" है, और आकाश की दृष्टि से 'मैं नहीं' है। यदि मैं एक बार फिर जन्म ग्रहण करता हूँ तो मेरा उससे वियोग हो जाता है, और यदि मुझे त्यागकर दिया जाता है (अर्थात मैं फिर जन्म नहीं पाता और संसार में भेजा नहीं जाता) तो मैं हलका हो जाता हूँ, संयोग का अभ्यासी बन जाता हूँ।

अबूबकर अश्शिबली कहता है:—अपना सर्वस्व त्याग दो और तभी तुम हमें पूर्णतया प्राप्त कर सकोगे। तब तुम जीवित रहोगे। परन्तु जब तक तुम्हारे कर्म हमारे ऐसे हैं तुम हमारे विषय में दूसरों को कुछ नहीं बताओगे।

जब यजीद से एक बार किसी ने पूछा कि आपने सूफी मत में इतनी उच्च पदवी कैसे पाई तो उसने उत्तर दियाः—मैंने अपने आपको ऐसे ही दूर कर दिया जैसे कि सर्प अपनी केंचुली को दूर कर देता है। तब मैंने अपने आप पर विचार किया और मुझे मालूम हो गया कि "मैं" 'वह' अर्थात् ईश्वर हूँ।

सूफी, कुरान के इस वाक्य 'तब हम बोले, इस मनुष्य को उस स्त्री के टुकड़े के साथ मारो'—का इस प्रकार अर्थ करते हैं कि मृत चीज को मारने की आज्ञा—ताकि वह जी उठे—यह प्रकट करती है कि जब तक शरीर को तपस्वी साधनों द्वारा इतना न मार दिया जावे कि उसकी वास्तविक सत्ता नष्ट हो जावे और वह आकार मात्र ही रह जाय, जब तक तुम्हारा हृदय एक सत्य वस्तु न हो जाय जिस पर बाह्य जगत के किसी भी विषय का प्रभाव न पड़े, तब तक तुम्हारा हृदय ज्ञान के प्रकाश से जीवित नहीं हो सकता।

वे और कहते हैं:—"मनुष्य और ईश्वर के बीच प्रकाश और अन्धकार की असंख्य सीढ़ियाँ हैं। मनुष्य की प्रकृति है कि वह यत्नपूर्वक अन्धकार से प्रकाश में जाना चाहता है जब एक बार वह प्रकाश के प्रदेश में पहुंच जाता है तो फिर से लौटना नहीं पड़ता।"

आठवाँ परिच्छेद

सृष्टि की विभिन्न जातियाँ तथा उनके नाम

साँख्य के मतानुसार सृष्टि के विविध रुप

इस परिच्छेद का वर्णन विषय बहुत कुछ उलझा हुआ सा है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो हिन्दुओं ने इस विषय को पूर्णता तक नहीं पहुँचाया है और दूसरे इसको केवल मात्र बाहर से देखने के सिवा मुसलमानों के लिये कोई रास्ता नहीं है। जिस विषय को प्रस्तुत करने को मेरी इच्छा है उसके वर्णन के लिए हमें इस विषय की महती आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में इस विषय पर हम जितना कुछ जान सके हैं उसे ज्यों का त्यों यहाँ रख देते हैं। सर्व प्रथम हम सांख्य शास्त्र का विचार देते हैं:—

जिज्ञासु ने जिज्ञासा की, इस संसार में प्रणियों की कितनी जातियाँ है?

ऋषि ने समझाया, प्राणियों की तीन श्रेणियाँ हैं। ऊपर आध्यात्मिक जन, मध्य में मानव और नीचे पशु। इनको मिलाकर कुल चौदह जातियाँ हैं, जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सौम्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच ये आठ जातियाँ आध्यात्मिक हैं। पशुओं की पांच जातियाँ हैं:— गृह पशु; वन पशु, पक्षी, रेंगनेवाले और उगने वाले वृक्ष इत्यादि और मध्य में एक ही जाति है और वह है मनुष्य की।

इसी शास्त्र के एक मत के अनुसार ये नाम इस प्रकार हैं:—ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर और पिशाच। हिन्दू लोग वस्तुओं के एक ही क्रम को बहुत कम स्थिर रखते हैं। उनकी वस्तुओं की गिनती में बहुत कुछ स्वच्छन्दता रहती है, वे एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। उन्हें कौन रोके या वश में रक्खे?

गीता नामक पुस्तक में वासुदेव कहते हैं—जब तीन गुणों में से प्रथम अर्थात सतो गुण प्रधान होता है तो इससे विशेषतया बुद्धि बढ़ती है, ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र होती हैं; और देवताओं के लिए (यजन) कर्म किये जाते हैं। आनन्दमयी शान्ति इस गुण का एक परिणाम है और मुक्ति इसका फल है।

द्वितीय गुण अर्थात राजस प्रधान होने पर विशेपतया धन-लालसा और विषयानुराग बढ़ता है। यह क्लान्तिकर है और यक्ष तथा राक्षसों के लिये कर्म का प्रेरक है। इस अवस्था में फल कर्म के अधीन होता है।

यदि तृतीय गुण अर्थात तामस प्रधान हो तो इससे विशेपतः अविद्या बढ़ती है; और लोग बड़ी आसानी से अपनी ही वासनाओं से भ्रम में पड़ जाते हैं। अन्त में इससे अनिद्रा, असावधानी, आलस्य, कर्त्तव्य पालन में दीर्घ-सूत्रता, और चिरकाल तक सोते रहना प्रभृति दोष उत्पन्न हो जाते

हैं। यदि मनुष्य कोई (उपासना) कर्म करता है तो भूतों, पिशाचों, असुरों, और प्रेतों के लिए करता है जो कि जीवात्माओं को, न नरक में और न स्वर्ग में ही बल्कि, वायु में उठा ले जाते हैं। इस गुण का परिणाम दण्ड भोगना है; मनुष्य मनुष्य-जन्म से पतित होकर पशु और वृक्ष बन जाता है।

किसी दूसरे स्थल में वही ग्रन्थकार कहता है—आध्यात्मिक प्राणियों में से केवल देवों में ही विश्वास और धर्म पाये जाते हैं। इसलिए जो मनुष्य उनके सदृश है वह परमात्मा में विश्वास रखता है, उसी का आश्रय लेता है, और उसी की लालसा करता है। अविश्वास और अधर्म राक्षसों में पाये जाते हैं जिन्हें कि असुर और निशाचर भी कहते हैं। जो मनुष्य उनके सदृश है वह परमात्मा में विश्वास नहीं रखता न उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। वह संसार को नास्तिक बनने की प्रेरणा देता है और सदैव ऐसे कर्म करता है जो इस लोक तथा परलोक दोनों में हानिकारक और कुफलदायक है।

आठ आध्यात्मिक जातियों का वर्णन

अब यदि हम इन दोनों वर्णनों को एक दूसरे से मिला दें तो यह स्पष्ट दीख पड़ेगा कि उनके क्रम और नामों में बहुत कुछ गड़बड़ है। अधिकांश हिन्दुओं में जो मत सर्व लोकप्रिय मत है उसके अनुसार आध्यात्मिक प्राणियों की निम्न लिखित आठ श्रेणियां हैं:—

१—देव—जिनके अधिकार में उत्तर है। इनका हिन्दुओं से विशेष सम्बन्ध है। लोग कहते हैं जरशस्त ने पापात्माओं (देवों) का नाम पुण्यात्मा रख कर, जिन्हें शमनिया अर्थात बौद्ध लोग सबसे उच्च अर्थात देव समझते हैं उन लोगों को रुष्ट कर दिया। यही उपयोग मग लोगों के समय से हमारी आधुनिक फारसी तक चला आया है।

२—दैत्य दानव—अर्थात पापात्माएं जो दक्षिण में रहती हैं। हिन्दू धर्म के विरोधी और गो-हत्या करनेवाले सब इन्हीं में गिने जाते हैं। यद्यपि इनमें और देवों में बड़ा समीप का सम्बन्ध है, फिर भी जैसा कि हिन्दुओं का विचार है, इनमें परस्पर लड़ाई रहती है।

३—गन्धर्व—अर्थात गायक और वादक जो देवों के सामने संगीत करते हैं। इनकी स्त्रियां अप्सरा कहलाती हैं।

४—यक्ष अर्थात देवों के कोषाध्यक्ष या रक्षक।

५—राक्षस अर्थात कुरूप और भद्दी आकृतिवाली पापात्माएँ।

६—किन्नर—जिनकी आकृति तो मनुष्य जैसी है पर शिर घोड़े का सा है। इनके विपरीत यूनानियों के एक कल्पित पशु है जिनका शिर मनुष्य जैसा और निचला भाग घोड़े जैसा है यूनानियों की यह आकृति राशि-चक्र के धनिष्ठा नक्षत्र का चिन्ह है।

७—नाग—साँप की आकृति के प्राणी।

८—विद्याधर—अर्थात वे निशाचर जो विशेष प्रकार की माया के जाल फैलाते हैं परन्तु इस माया का परिणाम चिरस्थायी नहीं होता।

आध्यात्मिक जातियों की समालोचना

यदि हम प्राणियों के इस अनुक्रम पर विचार करें तो मालूम होता है कि पुण्य-शक्ति तो ऊपर के सिरे पर है और पापशक्ति निचले पर और इन दोनों के बीच में बहुत कुछ पारस्परिक मिलावट है। इन प्राणियों के गुण भिन्न भिन्न हैं यहाँ तक कि आवागमन की सीढ़ी पर वे कर्मों

द्वारा इस अवस्था को पहुँचे हैं। उनके कर्मों में अन्तर का कारण तीन गुण हैं। वे चिरकाल तक जीते हैं, क्योंकि वे शरीरों से सर्वथा रहित हैं। न उन्हें किसी प्रकार का प्रयास करना पड़ता है वे ऐसी ऐसी बातें कर सकते हैं जिनका करना मनुष्यों के लिए सर्वथा असम्भव है। वे मनुष्य की उसकी इच्छानुसार सेवा करते हैं और आवश्यकता होने पर उसके पास भी रहते हैं।

तथापि हमें सांख्य के अवतरण से मालूम हो सकता है कि यह मत ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा, इन्द्र, और प्रजापति जातियों के नाम नहीं बल्कि व्यक्तियों के नाम हैं। ब्रह्मा और प्रजापति का अर्थ प्रायः एक ही है; उनके भिन्न भिन्न नाम किसी एक गुण के कारण हैं। इन्द्र, लोकों का राजा है। इसके अतिरिक्त वासुदेव यक्ष और राक्षस दोनों को पापात्माओं की जाति में गिनते हैं, पुराण में यक्षों को संरक्षक-पुण्यात्मा और संरक्षक पुण्यात्माओं का दास कहा गया है।

देवों का वर्णन

चाहे कुछ भी हो, हम कहते हैं कि जिन आध्यात्मिक प्राणियों का हमने उल्लेख किया है वे विभिन्न योनियाँ हैं। उन्होंने इन योनियों को उन कर्मो के अनुसार पाया है जो कि मनुष्य-जन्म में किये गये थे। वे शरीरों को पीछे छोड़ गये हैं, क्योंकि शरीर ऐसा बोझ है जो शक्ति को मन्द करता और जीवन काल को घटाता है। उनके गुणों और अवस्थाओं में उतना ही अन्तर है जितना कि तीन गुणों में से एक या दूसरे का उनमें प्रधानत्व है। पहला गुण अर्थात् सतोगुण देवों या पुण्यात्मों में विशेष रूप से पाया जाता है, और ये बड़ी शान्ति और आनन्द से रहते हैं। उनके मन की प्रधान शक्ति यह है कि किसी विषय को प्रकृति से अलग समझ लें, जैसे कि मनुष्य के मन की प्रधान शक्ति विषय को प्रकृति के साथ जानना है। तीसरा गुण अर्थात् तमोगुण पिशाच और भूतों में प्रधानतया पाया जाता है, और दूसरा गुण स्वयं उनकी जातियों में।

हिन्दू कहते हैं कि देवों की संख्या तेंतीस कोटि है जिनमें से ग्यारह महादेव की है। अतः यह संख्या उसके उपनामों में से एक है, और स्वयम् उसका नाम (महादेव) इसी बात को प्रकट करता है। पुण्यात्माओं की कुल संख्या ३३,००,००,००० होती है।

इसके अतिरिक्त वे कहते हैं, कि देवता खाते-पीते, भोग-विलास करते, जीते और मरते हैं क्योंकि वे प्रकृति के अन्दर है—चाहे वह प्रकृति अति सूक्ष्म और अति सरल ही हो साथ ही उन्होंने यह जन्म कर्मों द्वारा पाया है न कि ज्ञान द्वारा। पतंजलि की पुस्तक के अनुसार नन्दिकेश्वर ने महादेव के नाम पर बहुत से यज्ञ किये जिनके कारण वह मनुष्यदेह के साथ ही स्वर्ग भेज दिया गया। राजा इन्द्र का नहुष ब्राह्मण की स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध था इसलिए यह दण्ड मिला कि वह सर्प बना दिया गया।

पितर और ऋषियों का वर्णन

देवों के पश्चात् पितरों अर्थात् मृत पूर्वजों की श्रेणी है और उनके पश्चात् भूत अर्थात् वे मनुष्य जिन्होंने अपना सम्बन्ध आध्यात्मिक प्राणियों (देवों) से जोड़ा है और जो मानव मनुष्य जाति तथा देव-जाति के मध्य में हैं। जो मनुष्य इस पदवी पर पहुँच गया है पर अभी शरीर के बन्धनों से मुक्त नहीं हुआ उसे वह ऋषि, या सिद्ध या मुनि कहते हैं। इन लोगों में अपने अपने गुणों के अनुसार परस्पर भेद है। सिद्ध वह है जिसने अपने कर्मों द्वारा ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है कि वह संसार में जो चाहे सो करे। वह इससे आगे नहीं बढ़ना चाहता और मोक्ष-प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता। यदि वह चाहे तो ऋषि पदवी को प्राप्त कर सकता है। यदि ब्राह्मण यह

पद प्राप्त करे तो वह ब्रह्मर्षि कहलाता है। नीच जातियों के लिए यह पद पाना असम्भव है। ऋषि वे ज्ञानी हैं जो यद्यपि मानव देहधारी हैं पर तो भी अपने ज्ञान के कारण देवताओं से भी उच्च हैं। इसलिए देवता भी उनसे शिक्षा लेते हैं। उनके ऊपर सिवाय ब्रह्म के और कोई नहीं है।

ब्रह्मर्षि और राजर्षि के पश्चात् प्राकृतजन की वह श्रेणियाँ हैं जो कि हम लोगों के अन्दर भी पाई जाती हैं। इन जातियों पर हम एक अलग परिच्छेद लिखेंगे।

रुद्र नारायण और ब्रह्मा की विष्णुरूप में एकता

जिन प्राणियों का अभी ऊपर वर्णन हुआ है उन सबकी पदवी प्रकृति के नीचे है; और जो चीज प्रकृति से ऊपर है उसकी कल्पना के विषय में हम कहते हैं कि महत्तत्व प्रकृति और आध्यात्मिक दिव्य विचारों का मध्य है जो प्रकृति से ऊपर है और तीन गुण उस महत्तत्व में गति रूप से रहते हैं। इसलिए महत्तत्व और वह सब जिसका इसमें समावेश है मिलकर ऊपर से नीचे तक एक पुल सा बनाते हैं।

आदि कारण मात्र के प्रभाव से जिस जीवन का महत्तत्व में संचार होता है वह ब्रह्मा, प्रजापति, और अन्य कई ऐसे नामों से पुकारा जाता है जो उनकी धर्म-स्मृतियों और पुराणों में मिलते हैं। प्रकृति की भाँति ये भी कर्मरत हैं क्योंकि सृष्टि का उत्पन्न करना और जगत् का निर्माण करना सब इसी का काम बतलाया जाता है। यही सर्जक शक्ति है।

जो जीवन द्वितीय गुण के प्रभाव से महत्तत्व में संचरित होता है वह हिन्दुओं के पुराणों में नारायण कहलाता है। नारायण का अर्थ यह है कि प्रकृति अपने कर्म के अन्त तक पहुँच चुकी है और जो कुछ उत्पन्न कर चुकी है अब उसे स्थिर रखने के लिए यत्न कर रही है। अतः नारायण संसार का प्रबन्ध इस प्रकार करने का यत्न करता है कि जिससे यह स्थिर रहे। यह स्थिति-स्थापक शक्ति है।

जिस जीवन का संचार महत्तत्व में तृतीय गुण के प्रभाव में होता है वह महादेव या शंकर कहलाता है; पर इसका प्रसिद्ध नाम रुद्र है। उत्साह के अन्तिम अवस्थाओं में प्रकृति की भाँति, जबकि इसकी शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं, इसका काम विनाश और प्रलय करना है। यह संहारक शक्ति है।

इन तीन सत्ताओं के नाम, जैसे जैसे वे ऊपर और नीचे की ओर विविध दशाओं में से घूमती हैं, भिन्न भिन्न होते हैं। इसी के अनुसार उनके कर्मों में भी भेद होता है।

परन्तु इन सब सत्ताओं से ऊपर एक महत्तमशक्ति है जिससे कि प्रत्येक वस्तु निकलती है। इसी एक में ये तीनों शक्तियाँ लीन रहती हैं। इस शक्ति को वे विष्णु कहते हैं। यह नाम विशेषतः मध्यवर्ती गुण को प्रकट करता है। परन्तु कई बार वे मध्यवर्ती गुण और आदि कारण में कुछ भेद नहीं समझते (अर्थात् नारायण को ही आदि कारण बना देते है)।

यहाँ हिन्दुओं और ईसाइयों में सादृश्य है, क्योंकि ईसाई तीन व्यक्तियों में भेद करके उनके अलग अलग नाम —पिता, पुत्र और पवित्रात्मा—रखते हैं, पर उनको एक ही मूर्त्ति में इकट्ठा कर देते हैं।

हिन्दू-सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यही बातें मालूम होती हैं। उनके पुराणों का, जिनमें कि मूर्खता की बातें भरी पड़ी हैं, हम पीछे प्रसंग-क्रम से वर्णन करेंगे। जिन देवों का अर्थ हमने पुण्यआत्मा (फरिश्ते) लिखा है, उनकी कथाएँ कहते हुए हिन्दू लोग उनके विषय में सब प्रकार की बातें कह डालते हैं। इनमें से कई एक तो स्वयमेव अयुक्त होती हैं, और कई एक

शायद ऐसी नहीं है कि जिन पर दोषारोपण किया जा सके, पर कुछ एक अवश्यमेव सदोष होती हैं। इन दोनों प्रकार की वातों को मुसलमान ब्रह्मज्ञानी लोग पुण्यात्माओं के माहात्म्य और स्वभाव के लिए असंगत वतायेंगे। पर इन वातों को सुनकर हमें विस्मित नहीं होना चाहिए।

देवों के वारे में हिन्दुओं के समान ही यूनानियों के विचार

यदि आप इन पुराणों का मिलान यूनानियों की धर्म-सम्बन्धी लोककथा के साथ करें तो फिर आपको हिन्दू विचार विचित्र प्रतीत न होंगे। हम पहले ही कह आये हैं कि वे पुण्यात्माओं को देव कहते हैं। अव तनिक जोउस (इन्द्र) के विषय में यूनानियों की कथाओं पर विचार कीजिए, आपको हमारे कथन की सत्यता ज्ञात हो जायगी। जिस प्रकार की आकृति, रूप और स्वभाव वे उसके वताते हैं उनका इस लोककथा से आपको पता चल जायगा :—

जव जीउस का जन्म हुआ तो उसका पिता उसे खा जाना चाहता था, परन्तु उसकी माता ने एक पत्थर पर कपड़े के चिथड़े लपेट कर उसे खाने को दे दिया। तव वह चला गया। इसी वात का जालीनूस ने "वक्तृताओं की पुस्तक" में उल्लेख किया है। वहाँ वह कहता है कि फाइलों ने गूढ़ रीति से अपनी एक कविता में निम्नलिखित शब्दों में माजून फलोनिया * के वनाने की विधि लिखी है :—

लाल वाल लो जिनमें से कि मीठी मीठी सुगन्धि की लपटें आ रही हों, जो सुगन्ध कि देवताओं की भेंट है।

और मनुष्य की मानसिक शक्तियों की संख्या के भार से मनुष्य के रक्त को तोलो।

कवि का अभिप्राय पांच सेर केसर से है क्योंकि इन्द्रियाँ भी पाँच हैं। 'अवलेह' के अन्य उपादानों की मात्रा को भी वह उसी प्रकार पहेली के रूप में वर्णन करता है और जालीनूस उसकी व्याख्या देता है। उसी कविता में यह छन्द आता है:—

और उस मिथ्या नामवाली जड़ का जो कि उस प्रान्त में उगी है जहाँ कि जीउस उत्पन्न हुआ था।

इसके साथ जालीनूस यह अपनी ओर से मिलाता है:—सुम्वल † का ही नाम मिथ्या है, क्योंकि इसे अनाज की वाल कहते है, यद्यपि यह वाल नहीं वल्कि जड़ है। कवि निर्देशित करता है कि वह प्रान्त क्रेटन होना चाहिये क्योंकि पुराण शास्त्रज्ञ कहते हैं कि जीउस क्रेटा में दीकतावन पर्वत पर उत्पन्न हुआ था जहाँ कि उसकी माता ने उसे उसके पिता क्रोनस से छिपा कर रखा था ताकि वह जैसे दूसरों को खा गया था वैसे ही —उसे भी न खा जाय।

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध कथा-पुस्तकें कहती हैं कि उसने कई अन्य स्त्रियों से एक दूसरी के वाद विवाह किया, और कितनी ही अन्यों से भोग भी किया और उनके साथ वाद में विवाह न कर के अत्याचार किया। उनमें से एक फिनिकस की पुत्री यूरोपा भी थी जिसे क्रीट के राजा अस्टरियस ने उससे ले लिया था। तत्पश्चात् उससे उसके यहाँ मीनोस और हडमन्यस नामक दो वालक पैदा हुए। जव इसराइल की सन्तान ने वन को छोड़ कर पैलस्टाइन में प्रवेश किया था, यह घटना उससे भी वहुत पूर्व की है।

---

* माजून फलोनिया—अलफन नामक वैद्य का वनाया हुआ एक विशेष अवलेह।

† सुम्वल—एक प्रकार की सुगन्धित घास इसे अंग्रेजी में 'एन्ड्रीयोगन नारदुस' कहते हैं।

एक और लोक कथा है कि वह क्रीट में मर गया और ७८० वर्ष की आयु में वहाँ ही सम्सन इसराईली के समय में दबाया गया। बूढ़े होने पर उसका नाम जीउस पड़ा, पहले उसे डीउस कहते थे। जिसने पहले पहल उसका यह नाम रखा वह एथेन्स का प्रथम राजा कक्रोप्स था। उन सब की यह वात थी कि वे बिना रोक टोक के विषय भोग में लिप्त रहते थे। और भड़वे और कुटनेपन के काम को बढ़ाते थे। जहाँ तक उनकी आकांक्षा राज्य तथा शासन को दृढ़ करने की थी वे जर्दुत और गुश्तासप से भिन्न नहीं थे।

इतिहास-लेखकों का मत है कि एथेन्स के अधिवासियों में सब प्रकार के पापों का मूल कक्रोप्स और उसके उत्तराधिकारी थे। पापों से उनका अभिप्राय ऐसी वातों से है जैसी कि अलक्षेन्द्र 'सिकन्दर' की कथा मिलती है। उदाहरणार्थ मिश्रदेश का राजा नेकटीनाबुस श्याम अर्कक्सस के सामने से भागकर राजधानी मकदूनिया में जा छिपा और वहाँ फलित ज्योतिष तथा भविष्य कथन में लगा रहा; और उसने राजा फिलिप की स्त्री ओलिम्पियास के साथ उसके पति की अनुपस्थिति में छल किया। उसने कपट से अपने आपको अम्मोन तेवता, अर्थात् मेढ़ों के शिरों जैसे दो शिरों वाले सर्प में उसके सामने प्रकट हो करके उसके साथ भोग किया। इससे गर्भ में अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) रह गया। लौटने पर फिर उसे स्वप्न हुआ कि यह अम्मोन देवता का वालक है। तब उसने उसे अपना वालक स्वीकार कर लिया और यों कहा—मनुष्य देवताओं का विरोध नहीं कर सकता। नक्षत्रों के संयोग ने नकटा-नीवुस पर विदित कर दिया था कि वह अपने पुत्र के हाथों मरेगा। इसलिए जब वह अलक्षेन्द्र के हाथों गर्दन में घाव खाकर मरने लगा तो उसने पहचान लिया कि मैं इसका पिता हूँ।

यूनानियों के पुराण इसी प्रकार की वातों से भरे पड़े हैं। हिन्दुओं के विवाह का वर्णन करते समय हम इसी प्रकार की वातें लिखेंगे।

देवताओं के बारे में अराट के अवतरण

अब हम अपने विषय की ओर आते हैं। जीउस (इन्द्र) की प्रकृति के उस अंश के विषय में जिसका कि मानव जाति से कोई सम्बन्ध नहीं, यूनानी कहते हैं कि वह सैटर्न (शनि) का पुत्र जूपीटर (बृहस्पति) है, क्योंकि विद्वत्परिषद् के तत्ववेत्ताओं के अनुसार (जैसा कि जालीनूस अपनी 'अनुमान की पुस्तक' में कहता है) केवल शनि ही अजन्मा होने के कारण अनादि है। यह बात अराटस की व्यक्त पदार्थों पर पुस्तक से भली भांति प्रमाणित होती है, क्योंकि इस पुस्तक का मङ्गलाचरण ही उसने जीउस की स्तुति के साथ किया है :—

'हमारी मानव-जाति उसे नहीं छोड़ती और न उसके विना हमारा निर्वाह हो सकता है। उससे सड़कें और मनुष्यों के एकत्र होने के स्थान भरे पड़े हैं। वह उनके साथ दयापूर्वक व्यवहार करता है और उन्हें काम करने के लिये प्रोत्साहित करता है। उन्हें जीवन की आवश्यकताओं का स्मरण कराता है। वह बताता है कि उत्तम पैदावार के लिए हल चलाने और भूमि खोदने का अनुकूल समय कौन सा है। उसी ने आकाश में तारे और राशियाँ बनाई हैं। इसलिये आदि तथा अन्त में हम उसी की चरण-वन्दना करते हैं।'

और इसके पश्चात् वह आध्यात्मिक प्राणियों की स्तुति करता है। यदि आप यवन-धर्म की हिन्दू-धर्म से तुलना करेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि वहाँ भी ब्रह्मा का वर्णन उसी प्रकार किया गया है जैसे की अराटस जीउस का करता है।

अराटस की व्यक्त पदार्थ नामक पुस्तक का टीकाकार कहता है कि देवताओं की स्तुति के साथ पुस्तक का मङ्गलाचरण करने की शैली अराटस ने चलाई थी, तत्कालीन अन्य कविगण ऐसा नहीं करते थे, उसका विचार था कि वह दिव्य मण्डल के टीकाकार जालोनूस की भाँति अस्क्लेपियस की व्युत्पत्ति पर भी विचार-दृष्टि डालता हुआ कहता है—हम यह जानना चाहते हैं कि अराटस का अभिप्राय किस जीउस से था—तान्त्रिक से या भौतिक से। कारण यह कि क्रेटीज कवि ने दिव्य-मण्डल को ही जीउस कहा है, और होमर का भी ऐसा ही कथन है :—

मानों हिम के टुकड़े जीउस से काट कर अलग किये गये है। इस वाक्य में अराटस आकाश और वायु को जीउस (इन्द्र) कहता है—सड़कें और सभा-मण्डप उससे भरे पड़े हैं, हम सबको उसी का श्वास लेना पड़ता है।

इसीलिए स्टोआ के तत्वज्ञानियों का मत है कि जीउस एक आत्मा है जो कि महत्तत्व में फैली हुई है और हमारी आत्माओं के सदृश है—अर्थात वह प्रकृति जो प्रत्येक नैसर्गिक शरीर पर शासन कर रही है। ग्रन्थकार यह कल्पना कर लेता है कि वह दयालु है, क्योंकि वह पुण्य का कारण है। इसलिए उसका यह विचार सर्वथा सत्य है कि उसने न केवल मानव ही बनाये हैं बल्कि देवताओं को भी उसी ने बनाया है।

नवाँ परिच्छेद

जातियाँ तथा उनसे नीचे के वर्ण

जाति और राज-सिंहासन

जिनमें शासन करने की स्वाभाविक इच्छा है, जो अपनी योग्यता के आधार पर वस्तुतः शासक बनने के पात्र हैं, जिनके विश्वासों में दृढ़ता एवम् संकल्पों में स्थिरता है, आवश्यक होने पर भाग्य जिनके अनुसार चलता है, पूर्णगुणों का स्मरण करके लोग जिनके पक्षपाती हो जाते हैं, यदि ऐसा पुरुष सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में एक नवीन व्यवस्था की नींव डाल दे तो सम्भव है कि जिन लोगों के लिये वह व्यवस्था बनाई गई है वे लोग जीवन में स्थिर हो जायँ और वह पहाड़ की भाँति अचल हो जाय। ऐसे लोगों में वह व्यवस्था चिरकाल तक बनी रह सकती है। यदि कहीं ऐसी व्यवस्था का आधार धर्म हो तो राज्य और धर्म में पूर्ण एकता हो जाती है और इस एकत्व से मानव-समाज की उच्चतम उन्नति प्रगट होती है। सम्भवतः मानव इससे अधिक की इच्छा भी नहीं कर सकता।

अति प्राचीन समय के राजा लोग, जो बड़े ही कर्तव्य-परायण थे, प्रजाओं को भिन्न-भिन्न श्रेणियों और कक्षाओं में विभक्त करने की व्यवस्था करते थे। साथ ही वे यह प्रयत्न करते थे कि इन जातियों की व्यवस्था में न तो गड़बड़ी हो और न ये मिश्रित होने पावें। इसीलिए उन्होंने भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोगों को एक दूसरे के साथ मिलने-जुलने से रोक दिया और प्रत्येक श्रेणी को एक विशेष प्रकार का काम या शिल्प-कर्म सौंप दिया। वे किसी को अपनी श्रेणी की सीमा का

उल्लङ्घन करने की आज्ञा नहीं देते थे, वल्कि जो लोग अपनी श्रेणी के साथ सन्तुष्ट नहीं रह पाते थे, उन्हें दण्ड दिया जाता था।

प्राचीन फारसियों की जातियाँ

ये सब बातें प्राचीन खुसरों के इतिहास से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती हैं क्योंकि उन्होंने भी इसी प्रकार की विशेष संस्था प्रतिष्ठित की थी जो न किसी व्यक्ति की विशेष योग्यता से और न घूस देने से ही टूट सकती थी। जब अर्दशीर बिन बाबक के समय में फारस ने पुनः उन्नति किया साथ ही उसने जन-साधारण की जातियों या वर्णों को भी इस प्रकार फिर ठीक कर दिया :—

पहले वर्ण में सम्भ्रान्त लोग और राजपुत्र थे।

दूसरे वर्ण में संन्यासी, अग्नि-पुरोहित, और धर्मशास्त्र वेत्ता लोग थे।

तीसरे वर्ण में चिकित्सक, ज्योतिषी, और अन्य विज्ञानी लोग थे।

चौथे में कृषक और शिल्पी लोग थे।

इन वर्णों या जातियों के अन्दर फिर अलग-अलग उपजातियाँ थीं, जैसे कि हिन्दुओं में गोत्र होते हैं। जब तक इनका मूल याद रहता है तब तक इस प्रकार की सब संस्थाओं की वंशावलि एक प्रकार की ही रहती हैं, पर जब एक बार इनको उत्पत्ति-स्थान ही विस्मृत हो गया तो फिर वे एक प्रकार से सारी जाति का स्थिर गुण हो जाती हैं। तब कोई भी अपनी व्युत्पत्ति के विषय में जिज्ञासा नहीं करता। और कई शताब्दियों और पीढ़ियों के पश्चात् इन सब को भूल जाना अवश्यम्भावी है।

हिन्दुओं के अन्दर इस प्रकार की संस्थाएँ अत्यधिक हैं। हम मुसलमान लोग इस प्रश्न के सर्वथा दूसरी ओर हैं क्योंकि हम समझते हैं कि ईश्वर-भक्ति को छोड़कर शेष सब प्रकार से सब लोग बराबर हैं। यही सबसे बड़ी रुकावट है जो हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक मेल-जोल को रोकती है।

हिन्दु जातियों में चार वर्ण

हिन्दू अपनी जातियों को वर्ण अर्थात् रङ्ग कहते हैं, और वंश-विवरण की दृष्टि से उसका नाम जातक अर्थात् जन्म रखते हैं। ये वर्ण प्रारम्भ से ही केवल चार हैं।

१. सबसे उच्च ब्राह्मण वर्ण हैं। इनके विषय में हिन्दू-पुस्तकें कहती हैं कि वे ब्रह्म के शिर से उत्पन्न हुए हैं। जिस शक्ति को माया कहते हैं उसका दूसरा नाम ब्रह्मा भी है, और शरीर का सब से उच्च अंग है इसलिए ब्राह्मण सभी जातियों में श्रेष्ठ हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें मानव जाति में सर्वोत्कृष्ट समझते हैं।

२. दूसरा वर्ण क्षत्रिय है, जो कि—जैसा वे कहते हैं— ब्रह्मा के बाहुओं से उत्पन्न हुए थे। उनकी पदवी भी ब्राह्मणों से बहुत कम नहीं है।

३. उनके पश्चात वैश्य हैं जो कि ब्रह्मा की जाँघों से उत्पन्न हुए थे।

४. शूद्र, जो कि उसके पाँव से उत्पन्न हुए थे।

पिछले दो वर्णों में कोई बड़ा भेद नहीं। यद्यपि ये वर्ण एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं पर एक नगर और एक ही ग्राम में वे साथ साथ ही इकट्ठा रहते हैं।

निम्न श्रेणी के लोग

शूद्रों के पश्चात अन्त्यज लोग है जो कि नाना प्रकार का सेवा कार्य करते हैं। इनकी गिनती किसी वर्ण में नहीं होती, परन्तु इन्हें विशेष व्यवसायी या शिल्पी समझा जाता है। इनकी आठ जातियाँ हैं बनिए, मोची और जुलाहे को छोड़ कर और सब आपस में खुल्लमखुल्ला रोटी बेटी का व्यवहार करती हैं। क्योंकि दूसरे लोग इनके साथ व्यवहार करना स्वीकार नहीं करते। इनकी आठ जातियाँ ये हैं—धुनिए, मोची, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, माँझी (नाविक), मछली पकड़ने वाले, वन पशुओं और पक्षियों का आखेट करने वाले (अहेरिये) और जुलाहे। उपरोक्त चार वर्ण इनके साथ एक स्थान में नहीं रहते। ये लोग चार वर्णों के गाँवों और नगरों के पास, परन्तु उनके बाहर, रहते हैं।

जो लोग हाड़ी, चण्डाल, और बधिक कहलाते हैं उनकी किसी वर्ण या जाति में गणना नहीं होती। उनका व्यवसाय गाँव की सफाई प्रभृति मैले कर्म करना है। वे एक पूर्ण जाति समझे जाते हैं और केवल अपने व्यवसाय से ही पहचाने जाते हैं। वस्तुतः उन्हें विजात सन्तान की भाँति समझा जाता है, क्योंकि लोकमत के अनुसार उनका जन्म शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता के व्यभिचार से हुआ है। इसलिए वे पतित और निष्कासित हैं।

वर्णों और श्रेणियों के भिन्न-भिन्न व्यवसाय

हिन्दुओं की परम्परा है कि वे प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक मनुष्य की जाति का नामकरण उसके व्यवसाय और कर्म के अनुसार, कर देते हैं। उदाहरणार्थ जब तक ब्राह्मण घर पर रह कर अपना काम करता है तब तक इसी नाम से पुकारा जाता है। जब वह एक अग्नि की सेवा करता है तो इष्टि कहलाता है जब वह तीन अग्नियों की सेवा करता है तो अग्नि-होत्रिन् कहलाता है। यदि वह इसके अतिरिक्त आग में नैवेद्य भी देता है तो उसका नाम दीक्षित होता है। जिस प्रकार का विभाजन ब्राह्मणों में है वैसे ही दूसरे वर्णों में भी हैं। वर्णों से नीची जातियों में से हाड़ियों को अच्छा समझा जाता हैं क्योंकि ये लोग कोई मैला कर्म नहीं करते। इनके पीछे डोम है जो जो बाँसुरी बजाते और गाते हैं। इनसे भी नीची जातियों का व्यवसाय, मारना और राजदंड देना है। सबसे बुरे बधतौ हैं जो न केवल मृत पशुओं का मांस ही खा लेते हैं बल्कि कुत्ते आदि को भी नहीं छोड़ते।

चार वर्णों में से प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए आवश्यक है कि वे सहभोज के समय अपनी अपनी मंडली बनाकर अलग-अलग बैठें; और एक मण्डली में दो मनुष्य भिन्न-भिन्न वर्णों के न हों। इसके अतिरिक्त यदि ब्राह्मण-मण्डली में दो ऐसे मनुष्य हैं जिनका आपस में वैर है, और उन दोनों के मण्डली में बैठने के स्थान एक दूसरे के पास हैं, तो वे उन दोनों स्थानों के बीच एक तख्ता रख कर या कपड़ा बिछा कर या किसी अन्य प्रकार से एक आड़ बना लेते हैं। यदि उनके बीच में एक लकीर ही खींच दी जाए तब भी वे अपने आपको एक दूसरे से अलग समझते हैं। उनमें दूसरों का जूठा खाना मना है इसलिये प्रत्येक अपना-अपना भोजन अलग रखता है। भोजन करनेवालों में से यदि कोई एक थाली में से कुछ भोजन खाले तो उसके खा चुकने पर जो कुछ थाली में शेष बचे वह उसके बाद के दूसरे खानेवालों के लिये जूठा हो जाता है; उसका खाना मना है।

चार वर्णों की ऐसी अवस्था है। अर्जुन द्वारा चारों वर्णों के स्वभाव, कर्म और लक्षण पूछे जाने पर वासुदेव ने उत्तर दिया :—

ब्राह्मण में प्रचुर बुद्धि, शान्त हृदय, सत्य भाषण, और यथेष्ट धैर्य होना चाहिये। वह इन्द्रियों का स्वामी, न्याय-प्रेमी, स्पष्ट, शुद्ध, सदा ईश्वर-भक्ति में निमग्न, और पूर्ण धार्मिक होना चाहिये।

क्षत्रिय ऐसा हो जिससे लोगों के हृदय भयभीत रहें, बड़ा शूरवीर और उदार-चरित हो, प्रत्युत्पन्न वक्ता और उदार दानी हो; और निर्भयता-पूर्वक सदैव अपने कर्तव्य का भलीभाँति पालन करने पर तुला रहे।

वैश्य का कर्म खेती बाड़ी करना, पशुओं का पालन करना, और व्यापार करना है।

शूद्र का कर्तव्य अपने से उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना है जिससे वे उसे पसन्द करें।

इनमें से प्रत्येक वर्ण का सदस्य अपने कर्तव्यों और रीतियों का पालन करता हुआ इच्छित आनन्द-लाभ कर सकता है, पर साथ ही यह आवश्यक है कि वह भगवद्भक्ति में किसी प्रकार का प्रमाद न करे, और किसी भी कार्य में परमेश्वर को न भूले। अपने वर्ण के कर्तव्यों और कर्मों को छोड़ कर दूसरे वर्ण के कर्तव्यों और कर्मों को ग्रहण करना (चाहे ऐसा करने से किसी की यश-वृद्धि ही होती हो) पाप है, क्योंकि इससे मर्यादा का उल्लघंन होता है।

फिर वासुदेव उसे शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं :--

हे महाबाहो ! क्या तू नहीं जानता कि तू क्षत्रिय है; तेरी जाति साहस पूर्वक आक्रमण करने के कारण ही वीर कही जाती है। तुझे काल के परिवर्तनों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और भावी विपत्ति की भेट से भयभीत नहीं हो चाहिए क्योंकि उसी से फल मिलेगा। क्षत्रिय के विजयी होने पर उसे राज्य और सम्पदा प्राप्त होती है। यदि वह वीर-गति पाता है तो उसे स्वर्ग और परमानन्द की प्राप्ति होतो है। इसके विरुद्ध तू शत्रु के सन्मुख अपनी निर्बलता प्रकट कर रहा है और इस दल का वध करने के विचार-मात्र से उदास दिखाई पड़ रहा है परन्तु यदि तेरा नाम डरपोक, भीरू, और कायर के रूप में कुख्यात हो गया तो बहुत निन्दनीय बात होगी। वीरों और योद्धाओं में तेरा यश और गौरव नष्ट हो जायगा और उन लोगों में कभी तेरा नाम भी न लिया जायगा। ऐसी दुर्दशा से भयानक दंड और क्या हो सकता है ? ऐसा कलङ्क लेने से तो मर जाना श्रेयस्कर है। इसलिए यदि परमात्मा ने तुझे युद्ध करने की आज्ञा दी है, और यदि उसने तेरे वर्ण के लिए युद्ध का कार्य ही निर्धारित किया है और तुझे इसी काम के लिए उत्पन्न किया है, तो निष्काम भाव और दृढ़ सङ्कल्प से उसकी आज्ञा और इच्छा का पालन कर जिससे कि तेरे समस्त कार्य उसी को अर्पित हो।

मोक्ष का अधिकारी कौन है

इन वर्णों में से इस विषय में हिन्दुओं का परस्पर मतभेद है। अनेक धर्म-गुरुओं का मत है कि मुक्ति केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों को ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि अन्य वर्णों को वेदपाठ का अधिकार नहीं है परन्तु हिन्दू तत्ववेत्ताओं का मत है कि समस्त वर्ण और सारी मानव-जाति मुक्ति प्राप्त कर सकती है—यदि उनमें मोक्ष-प्राप्ति की पूर्ण इच्छा और उनके कर्म मोक्ष प्राप्ति के ध्येय से किए जांय। इस विचार का आधार व्यास का निम्नलिखित वाक्य है:—

पच्चीस पदार्थों को पूर्णतया जानना सीखो। फिर तुम चाहे किसी मत के अनुयायी हो तुम्हें निःसंदेह मोक्ष की प्राप्ति होगी। वासुदेव का शूद्र के कुल में उत्पन्न होना, और अर्जुन को दिया गया यह उपदेश भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है—परमात्मा अन्याय और पक्षपात से रहित होकर फल देता है। वह पुण्य को भी पाप समझता है—यदि पुण्य करते समय मनुष्य उसे

भूल जाए। वह पाप को पुन्य समझता है—यदि पाप करते समय लोग उसका स्मरण करें, चाहे वे वैश्य हों; शूद्र हों, या स्त्री हों। यदि वे लोग ब्राह्मण या क्षत्रिय हुए तो यह बात और भी अधिक उत्तम होगी।

दसवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं के धार्मिक तथा नागरिक नियमों का मूल

यूनानी ऋषियों द्वारा स्थापित नियम तथा धर्म

प्राचीन यूनानी लोग अपने लिए धार्मिक तथा नागरिक नियमों के लिए अपने ऋषियों पर निर्भर रहा करते थे। उनका विश्वास था कि सोलन, ड्रैको, पाइथेगोरस, मीनस इत्यादि ऋषियों को ईश्वरीय सहायता प्राप्त हुआ करती थी। उनके राजा भी उनके लिये नियम बनाया करते थे। मूसा के कोई दो सौ वर्ष पश्चात जब मियानस, सागर के द्वीपों और क्रेटन का राजा था तो वह भी नियम बनाया करता था, परन्तु प्रकट यही करता था कि उसके पास ये नियम ज़ीउस (इन्द्र) द्वारा भेजे गए हैं। उन्हीं दिनों मीनस भी अपने राज्य के नियम आप ही बनाया करता था।

कायरस के उत्तराधिकारी प्रथम डेरियस के समय में रोमन लोगों ने एथेन्स वालों के पास दूत भेज कर नियमों के बारह ग्रंथ मँगाये थे और पम्पिलियस (नुमा) के शासन-काल तक वे उन्हीं नियमों का अनुसरण करते रहे। पम्पिलियस ने नये नये नियम बनाये। इसी ने वर्ष के बारह मास बनाये, इससे पूर्व वर्ष में दस मास होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपनी नवीन रीतियां रोमवालों की इच्छा के विरुद्ध ही चलाईं क्योंकि उसने लेन-देन में चाँदी के सिक्कों के स्थान पर चमड़े और मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े चलाने की आज्ञा दी। इससे विद्रोही प्रजा के विरुद्ध उसका कोप अनुभव होता है।

प्लेटो के नियमों से अवतरण

प्लेटो की "नियमों की पुस्तक" के प्रथम अध्याय में एथेन्स का एक विदेशी कहता है—तुम्हारे विचार में किस मनुष्य ने तुम्हें पहिले नियम दिये?' क्नोसस के मनुष्य ने कहा:—'वह देवता था। वस्तुतः हम तो यह समझते हैं कि नियम बनाने वाला ज़ीउस (इन्द्र) था, पर लाकाडेमोनिया वालों का विश्वास है कि अपोलो (सूर्य) ही नियमों का बनाने वाला था।'

इसके अतिरिक्त वह उसी अध्याय में कहता है:—'व्यवस्थापक का, यदि वह परमात्मा की ओर से आया है, यह धर्म है कि उसके व्यवस्थापन का उद्देश्य बड़े से बड़े पुन्य और उच्च न्याय की प्राप्ति हो।'

क्रेटन लोगों के नियमों के संबंध में, उनकी श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि जो लोग उनका सदुपयोग करते हैं उनको पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है क्योंकि उनके द्वारा वे सारा मानव-मंगल प्राप्त कर लेते हैं जिसका आधार ईश्वरीय मंगल है।

एथेन्स-निवासी उसी पुस्तक के द्वितीय अध्याय में कहता है:—देवताओं ने मनुष्य पर दया दिखा कर, क्योंकि मनुष्य दुःखों को सहन करने के लिये ही उत्पन्न हुए है, उनके लिए देवों, विद्या-देवियों, विद्यादेवियों के राजा अपोलो (सूर्य), और डायोनिश के उत्सव बनाये। डायोनिस ने वृद्धावस्था की कटुता को दूर करने के लिये मनुष्य को मदिरारूपी औषधि दी ताकि वृद्ध जन खिन्नता को भूल कर और आत्मा को दुःखितावस्था से स्वस्थावस्था में लाकर पुनः यौवन का आनन्द लूटें।

इसके अतिरिक्त वह कहता है—'मनुष्यों की क्लान्ति और परिश्रम के बदले में उन्होंने उनको नाचने की विधि और शुद्ध ताल तथा स्वर देवज्ञान द्वारा सिखलाये हैं ताकि वे सहभोजों और उत्सवों के अवसरों पर उनके साथ सहभाव रखने के अभ्यासी हो जांय। इसीलिए वे अपने एक प्रकार के सङ्गीत को स्तुति कहते हैं जिसमें परोक्ष रीति से देवताओं को प्रार्थनाओं की ओर संकेत है।'

यह तो हुई यूनानियों की अवस्था, यही हाल हिन्दुओं का समझिए। उनका विश्वास है कि धर्मशास्त्र और उसकी साधारण आज्ञाएँ ऋषियों अर्थात पुण्यात्माओं द्वारा निर्मित हुई है। ये ऋषि उनके धर्म के स्तम्भ हैं। वे भविष्यद्वक्ता अर्थात नारायण को जो इस संसार में आते समय मनुष्य देह धारण करता है— इनका स्रोत नहीं मानते। जिस पाप से संसार को हानि पहुँचने का भय हो उसकी जड़ को काटने या संसार में व्याप्त पाप कर्मो के निरकारण के लिए ही नारायण इस लोक में आता है। नियमों का आपस में इससे बढ़ कर अदल बदल नहीं हो सकता, क्योंकि ये लोग नियमों को जिस रूप में प्राप्त करते हैं, उसी रूप में उनको प्रयोग करने लग जाते हैं अतः नियम और पूजन के सम्बन्ध में वे अवतारों के विना भी काम चला लेते हैं, यद्यपि सृष्टि के अन्य कार्यो में उन्हें कई वार इनकी आवश्यकता पड़ती है।

नियमों का लोप किया जाये या न किया जाये

ऐसा प्रतीत होता है कि नियमों का लोप करना हिन्दुओं के लिए बड़ी बात नहीं, क्योंकि वे कहते हैं कि ऐसी अनेक वस्तुयें जिन्हें आज निषिद्ध समझा जाता है वासुदेव के अवतार के पूर्व निषिद्ध न थीं, जैसे कि गोमांस। मानव प्रकृति में परिवर्तन होने और निर्धारित कर्त्तव्यों का सारा भार वहन करने में असमर्थता आ जाने के कारण ही इन परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। विवाह-प्रणाली और सन्तति-सिद्धान्त के परिवर्तन भी इन्हीं कारणों से हुए है। प्राचीन समय में सन्तति या आत्मीयता का निश्चय करने की तीन विधियां थीं :—

विवाह की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ

१ धर्मशास्त्र की रीति से विवाहित स्त्री से उत्पन्न हुआ बालक पिता का बालक है—जैसा कि हम लोगों और हिन्दुओं में माना जाता है।

२. यदि एक मनुष्य एक स्त्री से विवाह करता है—पर विवाह में यह संकल्प कर लिया जाता है कि जो सन्तान उत्पन्न होगी वह स्त्री के पिता की कहलायेगी—तो जो बालक उत्पन्न होगा वह नाना का होगा जिसने वह प्रतिज्ञा कराई थी। उसे उस पुरुष का पुत्र न माना जायेगा जो वस्तुतः उसके जन्म का निमित्त बना था।

३. यदि पर पुरुष किसी विवाहित स्त्री से सन्तान उत्पन्न करे तो वह सन्तान उसके प्रकृत पति की मानी जायगी क्योंकि स्त्री एक प्रकार की भूमि मानी गई है जिसमें कि सन्तान पौधों की भांति उत्पन्न होती है और यह भूमि पति की सम्पत्ति है। इसमे यह बात पहले से ही मान ली गई है कि बीज डालने का कार्य अर्थात् सम्भोग पति की अनुमति से किया गया है।

व्यास और पाण्डु की कथा

इसी सिद्धान्त के अनुसार पाण्डु शान्तनु का पुत्र माना गया था क्योंकि यह राजा एक मुनि के शाप के कारण अपनी स्त्री के साथ सम्भोग करने में सर्वथा असमर्थ था। साथ ही पहले कोई सन्तान न होने से वह बहुत दुःखित था। उसने पराशर के पुत्र व्यास से प्रार्थना की कि मेरी स्त्रियों में मेरे लिए सन्तान उत्पन्न कर दीजिए। पाण्डु ने उसके पास अपनी एक पत्नी को भेजा पर जब वह उसके साथ सम्भोग करने लगा तो वह डर गई और कांपने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके गर्भ में एक पीत वर्ण रोगी बालक रह गया। तब राजा ने अपनी दूसरी पत्नी को भेजा। उसने भी हृदय में व्यास के लिए महत् सम्मान का अनुभव करते हुए, लज्जा से अपने आपको वस्त्रों से भलि भांति आवृत कर लिया, फलतः उसके गर्भ से धृतराष्ट्र ऐसा रोगी और नेत्र हीन बालक उत्पन्न हुआ। अन्ततः उसने तीसरी पत्नी को भेजा, और उसे समझा दिया कि मुनि से किसी प्रकार का भय या लज्जा न करे। वह हँसती खेलती उसके पास गई जिससे उसके गर्भ में ऐसा बालक रहा जो चन्द्रमा के समान सुन्दर और चातुर्य तथा निर्भयता में अनुपम था।*

पाण्डु के पाँच पुत्रों में एक स्त्री थी। यह बारी बारी से एक एक वर्ष प्रत्येक के पास रहती थी। हिन्दुओं की पुस्तकों में लिखा है कि एक दिन पराशर मुनि एक नौका में यात्रा कर रहे थे। नाव में नाविक की लड़की भी बैठी थी। वे उस पर मोहित हो गये और उसे प्रलोभन देकर फँसाना चाहा। अन्ततः वह मान गई। परन्तु नदी के तट पर लोगों की दृष्टि से छिपने के लिए कोई आड़ न थी। इसलिए तुरन्त ही वहाँ एक वंशलोचन का वृक्ष उग आया जिससे उन्हें कार्यसिद्धि में सुभीता हो गया। तब उसने उसके साथ उस वृक्ष की ओट में सम्भोग किया और वह गर्भवती हो गई। इससे उसे सर्वश्रेष्ठ पुत्र व्यास उत्पन्न हुआ।

तिब्बती और अरबी लोगों में विविध प्रकार के विवाह

ये सब रीतियाँ अब लुप्त हो गई हैं। उक्त निरीक्षणों से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनमें नियमों का लोप कर देने की आज्ञा है। प्राकृतिक प्रकार के विवाहों के विषय में उल्लेखनीय है कि अरबी लोगों के मुसलमान बनने के पूर्व भी ऐसे विवाह होते थे और अभी हमारे समय में भी होते हैं, क्योकि जो पर्वतश्रेणी पंचीर प्रदेश से आरम्भ होकर कश्मीर के निकट तक चली गई है उसके अधिवासियों में अभी तक यह प्रथा प्रचलित है कि कई भाई मिलकर एक स्त्री रख लेते हैं। मुसलमानी धर्म को न ग्रहण करनेवाले अरबी लोगों में भी विवाह कई प्रकार के होते थे :—

---

* यहाँ अलबेरूनी ने कथा को तोड़-मरोड़ दिया है। पाण्डु और धृतराष्ट्, शान्तनु के पुत्र चित्रवीर्य और विचित्रवीर्य के पुत्र थे, जो व्यास के वीर्य से उत्पन्न हुए थे, तीसरी स्त्री राजरानी नहीं बल्कि दासी थी जिससे विदुर उत्पन्न हुआ था।

१. एक अरबी अपनी स्त्री को किसी दूसरे के पास सम्भोग करने के लिए जाने की आज्ञा न देता था। फिर वह जब तक गर्भ रहे उससे सर्वथा अलग रहता था क्योंकि वह उससे एक सत्कुलीन और उदार सन्तान की अभिलाषा रखता था। यह हिन्दुओं के तीसरे प्रकार के विवाह की श्रेणी में आता है।

२. दूसरी विधि यह थी कि एक अरबी दूसरे से कहता था—तुम मुझे अपनी स्त्री दे दो, मैं तुम्हें अपनी देता हूँ। इस प्रकार वे अपनी स्त्रियाँ परिवर्तन कर लिया करते थे।

३. तीसरा ढंग यह है कि अनेक पुरुष एक स्त्री से सम्भोग करते थे। जब बालक उत्पन्न होता था तो स्त्री स्वयं बता देती थी कि बालक किस पुरुष से उत्पन्न हुआ है। या फिर इस बात के निर्णय के लिये ज्योतिषी निर्णायक माना जाता है।

४. निकाहल मक्त अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपने पिता या पुत्र की विधवा से विवाह कर ले तो उसकी सन्तान दैजन कहलाती थी। यह प्रथा यहूदियों के एक विशेष प्रकार के विवाह में पाई जाती है। यहूदियों में यह नियम प्रचलित है कि यदि किसी का भाई सन्तानहीन मर जाय तो उसे उसकी विधवा के साथ विवाह करके मृत भाई के वंशानुक्रम को बनाएँ रखने के लिए उससे सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए। यह सन्तान मृतक पति की समझी जाती है, प्रकृत पिता की नहीं। इस प्रकार वह उसके नाम को संसार से मिट जाने से बचाता है। जिस मनुष्य का इस प्रकार विवाह हो उसे इबरानी भाषा में याभाम कहते हैं।

प्राचीन ईरानियों में विवाह की रीति

मग लोगों में भी इसी प्रकार की एक संस्था है। तौसर की पुस्तक या बड़ी हरबध एक प्रकार से बाबक के पुत्र अर्दशीर पर पदशवार-गिरशाह द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर है। इसमें एक मनुष्य द्वारा दूसरे का प्रतिपुरुष बनकर विवाह किये जाने की व्यवस्था दी गई है। यह रीति फारिसवालों में प्रचलित थी। यदि कोई मनुष्य सन्तानहीन मर जाये तो उसकी अवस्था का निरीक्षण करना सुहृदों व परिजनों का कर्तव्य माना जाता है। यदि मृतक के पीछे उसके स्त्री हो तो लोग उसका विवाह उसके निकटतम पुरुष सदस्य के साथ कर देते हैं। यदि उसकी कोई भी स्त्री जीवित न हो तो वे परिजन मृतक के धन द्वारा किसी अन्य स्त्री से उसके कुल के लिए विवाह कर लेने की याचना करते हैं और उसे किसी पुरुष-बन्धु से व्याह देते हैं। ऐसे विवाह की सन्तान को मृतक की ही सन्तान माना जाता है।

जो मनुष्य इस कर्तव्य पर ध्यान नहीं देता और इसका पालन नहीं करता वह असंख्य आत्माओं को आघात पहुंचाता है क्योंकि वह मृतक के वंश और नाम को सदैव के लिए नष्ट कर देता है।

इन बातों का यहाँ उल्लेख करने में हमारा उद्देश्य यह है कि पाठकों को ज्ञात हो जाये कि इस्लाम की संस्थाएँ कितनी उत्तम हैं। इस्लामी संस्थाओं से भिन्न रीति-रिवाजों की बड़ी भारी मलिनता भी इससे स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

मूर्ति-पूजन का आरम्भ और विभिन्न प्रतिमायें

मनुष्य-प्रकृति में ही प्रतिमा-पूजन का मूल है

यह बात सर्व विदित है कि सर्वसाधारण की प्रवृत्ति इन्द्रियगोचर वस्तुओं की ओर होती है। निगूढ़ विचारों से वे घवड़ाते हैं। गूढ़ और सूक्ष्म विचारों की योग्यता रखने वाले सब कालों में और सब कहीं केवल थोड़े से ही उच्च शिक्षा प्राप्त मनुष्य होते हैं। जन-साधारण मूर्तिमान चित्र देखकर ही सन्तुष्ट होते हैं और यही कारण है कि कई एक धार्मिक सम्प्रदायों के नेता सत्य मार्ग से इतने विचलित हो गये हैं कि उन्होंने इन चित्रों को अपने ग्रन्थों और उपासना गृहे में स्थान दे डाला है जैसे यहूदी, ईसाई और सबसे अधिक मनोचियन लोग। यदि मेरे इन शब्दों की सत्यता का निरीक्षण करना आवश्यक प्रतीत हो तो भविष्य वक्ता (मुहम्मद साहब) अथवा मक्के और काबे का चित्र बनाकर तनिक किसी शक्षित स्त्री या पुरुष को दिखलाइए वह इन चित्रों को देखकर इतने भावातिरेक में आ जायगा कि उनका चुम्बन करने लगेगा, अपने कपोलों को उसके साथ मलेगा और उनके सामने मिट्टी में साष्टांग पड़ा दिखाई देगा। वह मान लेगा कि वह चित्र को नहीं बल्कि मूल अस्तित्व को ही देख रहा है और किसी तीर्थ-स्थान में यात्रा का अनुष्ठान कर रहा है।

यही कारण है जिससे अत्यन्त श्रद्धाजनक मनुष्यों, अवतारों, ऋषियों, मुनियों और देवताओं की अनुपस्थिति में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात उनकी स्मृति को बनाएँ रखने के लिए स्मारक-चिन्ह और प्रतिमूर्तियां बनाने की प्रेरणा मिलती है—ताकि उनकी मृत्यु के पश्चात मनुष्यों के हृदयों में उनके लिए चिरस्थायी सम्मान बना रहे। जब इन स्मारक-चिन्हों को बने कई पीढ़ियां और शताब्दियाँ व्यतीत हो जाती हैं तो इनकी मूल व्युत्पत्ति जन मानस से लुप्त हो जाती है। ये चिन्ह परम्परा रूप ले लेते हैं तथा इनका सम्मान करना एक साधारण संस्कार बन जाता है। यह बात मनुष्य-प्रकृति में गहरी जड़ जमाए हुए है, इसी से प्राचीन व्यवस्थापकों ने मनुष्यों की इस स्वाभाविक दुर्बलता से लाभ उठाते हुए उन पर प्रभाव स्थापित करने का यह यत्न किया था और चित्रों और ऐसे ही अन्य स्मारक-चिन्हों के पूजन को उनके लिये अनिवार्य्य घोषित किया था। इसका विस्तृत वर्णन जलप्रलय के पूर्व तथा पश्चात के ऐतिहासिक लेखों में पाया जाता है। यहाँ तक कि कई व्यक्ति इस बात की सत्यता का भी दावा करते हैं कि परमात्मा की ओर से भविष्य-वक्ताओं के आने के पूर्व सारी मानव-जाति ही मूर्ति-पूजा में विश्वास रखती थी।

तौरेत के अनुयायी मूर्ति-पूजन का आरम्भ इब्राहीम के प्रपितामह सरूग के समय से मानते हैं। इस विषय में रोमन लोगों में निम्नलिखित कथा प्रचलित है—फ्रांक्स देश के रोमूलस और रोमानस (!) नामक दो भाइयों ने राजसिंहासन पर बैठ कर रोम नगर को बसाया। तब रोमूलस ने अपने भाई को मार डाला। इस भ्रातृवध के फलस्वरूप देश में एक लम्बे समय तक अशान्ति का वातावरण बना रहा। जब रोमूलस का दर्प खंडित हुआ तो उसने स्वप्न देखा देश में तभी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब वह अपने भाई को सिंहासन पर बैठाने के लिए सहमत होगा। विवश हो रोमूलस उसकी एक स्वर्ण मूर्ति बनवाकर अपने साथ सिंहासन पर बिठाया और तब से वह हमारी (मेरी नहीं) ऐसी आज्ञा है इस प्रकार कहने लगा। (उसी समय से राजा लोगों में 'हम' बोलने की प्रथा चली आती है) इस उपाय से देश को अशान्ति से मुक्ति प्राप्त हो गई। जो लोग

भ्रातृवध के कारण उससे अप्रसन्न थे उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिये उसने उनके मनोरंजनार्थ एक भोज का आयोजन किया और भोज के साथ ही एक नाटक का प्रदर्शन कराया। इसके अतिरिक्त उसने सूर्य के एक स्मारक-चिन्ह की भी प्रतिष्ठा की जिसमें चार मूर्तियाँ चार अश्वों पर सवार थी इनमें से हरी पृथ्वी की प्रतीक थी नीली जल की, लाल अग्नि की और श्वेत वायु की। यह स्मारक-चिन्ह अभी तक रोम नगर में विद्यमान है।

मूर्तिपूजन केवल नीच श्रेणियों तक ही परिमित है

इस स्थल पर इस सम्बन्ध में हमें हिन्दुओं के सिद्धान्तों और शैलियों का वर्णन करना है अतः अब हम उनके उपहासास्पद विचारों का उल्लेख करते हैं, पर साथ ही यह स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि ऐसे विचार केवल अशिक्षित जनता में ही मिलते हैं। जो लोग मोक्ष-मार्ग पर चल रहे हैं, अथवा जो दर्शनशास्त्र तथा ब्रह्म-विद्या का अध्ययन कर रहे हैं, और जो निर्मल सत्य को, जिसे वे सार कहते हैं, प्राप्त करना चाहते हैं, वे परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के पूजन को आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वे परमात्मा के रूप आकार को प्रस्तुत करने के लिए बनाई हुई मूर्तियों के पूजन का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। शौनक ने जो निम्नलिखित दृष्टान्त राजा परीक्ष (परीक्षित) को सुनाया था उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

राजा अम्बरीष और इन्द्र की कथा

एक समय अम्बरीष नाम का एक राजा था। उसका सार्वभौम राज्य था। कालान्तर में वह राज्य से विरक्त हो गया और संसार के बन्धनों का त्याग करके एक लम्बे समय तक ईश्वर-चिन्तन और भगवद्भक्ति में निमग्न रहा। अन्त में भगवान ने देवताओं के राजा इन्द्र के रूप में हाथी पर चढ़ कर उसे दर्शन दिया। वे राजा से बोले :—माँग, जो कुछ तू माँगेगा वही मैं तुझे दूँगा।

राजा ने उत्तर दिया :—मैं आपका दर्शन पाकर कृतकृत्य हुआ, जो सौभाग्य और सहायता आपने मुझे प्रदान की है उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। परन्तु मुझे आपसे कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो उसी से माँगता हूँ जिसने आपको उत्पन्न किया है।

इन्द्र बोला :—पूजा का उद्देश्य उत्तम फल प्रात करना है इसलिए अपने उद्देश्य को पहचानो। जो आजतक तुम्हारी मनोकामनाओं को पूर्ण करता रहा है उसी के दिये हुए फल को स्वीकार करो।

राजा ने उत्तर दिया :—मैं सारी पृथ्वी का स्वामी हूँ पर मुझे इसके सकल पदार्थों की कुछ भी चिन्ता नहीं है। मेरी पूजा का उद्देश्य भगवान का दर्शन प्रात करना है और यह वस्तु देने में आप असमर्थ है, अतः अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए भला मैं आप से क्यों प्रार्थना करूँ?

इन्द्र ने कहा :—सारा संसार और जो कुछ उसके अन्तर्गत है सब मेरी सत्ता के अन्तर्गत है। तुम कौन हो जो मेरा विरोध करते हो?

राजा ने उत्तर दिया :—मैं भी सुनता हूँ और आज्ञापालन करता हूँ, परन्तु मैं पूजन उसी का करता हूँ जिसने तुम्हें यह शक्ति प्रदान की है, जो ब्रह्माण्ड का स्वामी है और जिसने राजा बलि और हिरण्याक्ष के आक्रमणों से आपकी रक्षा की थी। इसलिए मुझे अपने इच्छानुकूल चलने दीजिए। मेरा अन्तिम नमस्कार स्वीकार कीजिए और कृपया अपने स्थान को जायँ।

इन्द्र बोला :—यदि तुम मेरा सर्वथा विरोध करोगे तो मैं तुम्हारा अन्त कर दूँगा और तुम्हारा सर्वनाश कर दूँगा।

राजा ने उत्तर दिया :—लोग कहते हैं सुख से सब ईर्ष्या करते हैं पर दुःख से किसी को ईर्ष्या नहीं होती। जो मनुष्य संसार से विरक्त हो जाता है, देवगण उससे ईर्ष्या करने लगते हैं और उसे सत्य-मार्ग से विचलित कर देने का उपाय करने लगते हैं। मैं उन लोगों में से हूँ जिन्होंने ससार का सर्वथा परित्याग कर दिया है और जो भगवद्भक्ति में निमग्न हो गये हैं। जब तक मुझमें प्राण है मैं कभी भी इसका त्याग नहीं करूँगा। मैं नहीं जानता मैंने कौन सा अपराध किया है जिसके लिए मैं आपसे मृत्यु-दण्ड पाने का अधिकारी हूँ, पर यदि आप बिना अपराध के ही मेरा वध करना चाहते हैं तो जैसा चाहे करें। आप मुझसे क्या चाहते हैं? यदि मेरी ईश्वर-भक्ति सर्वथा विशुद्ध और निष्काम है तो आपमें मुझे हानि पहुँचाने की सामर्थ्य भला कैसे आ सकती है? जिस आराधना में मैं लगा हुआ हूँ, मेरे लिए वही पर्याप्त है, और अब मैं फिर उसी में निमग्न होता हूँ।'

राजा ने भक्ति का परित्याग न किया इसलिए भगवान भूरे कमल के सदृश रङ्गवाले मनुष्य के रूप में उसके सामने प्रकट हुए। वे गरुड़ पक्षी पर आरूढ़ थे। उनके चार हाथों में से एक में शंख था। यह एक प्रकार का समुद्री घोंघा होता है और इसे हाथी पर चढ़ कर बजाया जाता है। दूसरे हाथ में चक्र था। यह एक प्रकार का गोला-कार तीक्ष्ण शस्त्र होता है। जिस वस्तु से यह टकराता है उसे काटता चला जाता है। तीसरे हाथ में गदा और चौथे हाथ में पद्म अर्थात लाल कमल था। जब राजा ने उन्हें देखा तो वह सम्मान के अतिरिक्त कम्पित हो उठा और साष्टांग दण्डवत कर उनकी स्तुति करने लगा। भगवान ने उसे अभयदान दे उसे वर दिया कि तुम्हारी सब मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी। राजा बोला:—'मेरा निष्कंटक चक्रवर्ती राज्य था। मेरे जीवन की दशाएँ ऐसी थीं कि रोग और शोक में मुझे दुःखित करने की सामर्थ्य नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों सारा संसार मेरी ही प्रभुसत्ता के अन्तर्गत है। इस पर भी मैंने संसार से मुख मोड़ लिया क्योंकि मैंने समझ लिया कि इसकी अच्छी वस्तुएँ वास्तव में अन्तत दुखदायिनी ही तो हैं। मुझे जो कुछ इस समय प्राप्त हो रहा है उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं है। यदि इस समय मेरे मन में कोई इच्छा है तो यही है कि मैं इस सासांरिक बन्धन से मुक्त हो जाऊँ।'

भगवान बोले:—'यह बात तुम्हें संसार से पृथक रहने, एकान्त सेवन, निरन्तर चिन्तन और इन्द्रियों के दमन से ही प्राप्त होगी।'

राजा ने कहा:—'सम्भव है कि मैं भगवन द्वारा कृपापूर्वक प्राप्त हुई शुचिता के तेज से ऐसा करने में समर्थ बनूं, पर दूसरे मनुष्यों से कैसे सम्भव हो सकेगा? मनुष्य को भोजन और वस्त्र की आवश्यकता है जिसके कारण वह संसार से बँधा हुआ है। उसे किसी अन्य वस्तु की चिन्ता हो ही कैसे सकती है?

भगवान बोले—अपना राज्य कार्य जहाँ तक हो सके दूर-दृष्टि और निष्कपटता से सम्पन्न करते हुए, संसार को सभ्य बनाने, पृथ्वी के लोगों को रक्षा प्रदान करने, और प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान में रत होते हुए भी सदैव अपना ध्यान मेरी ओर केन्द्रित किए रहो। यदि मानव-विस्मृति तुम पर अधिकार जमा ले तो अपनी सहायता के लिए इस प्रकार की एक मूर्त्ति बना लो जिसमें कि तुम मुझे देख सको। उस पर सुगंधि और पुष्प चढ़ाओ और उसे मेरा स्मारक-चिह्न समझो, जिससे तुम मुझे विस्मृत न कर सको। यदि तुम शोकातुर हो तो मेरा ध्यान करो। यदि बोलो तो मेरे लिए बोलो। यदि कर्म करो तो मेरे निमित्त करो।

राजा बोला—'अब मुझे साधारणतः अपने कर्तव्य का ज्ञान हो गया है, परन्तु सविस्तार उपदेश देकर कृतार्थ कीजिए।'

भगवान बोले—'यही तो मैंने अभी कहा। मैंने तुम्हारे धर्माध्यक्ष वशिष्ठ के मन में समस्त आवश्यक बातों के ज्ञान को समाविष्ट कर दिया है, इसलिए सब बातों में उसी की व्यवस्था पर विश्वास रक्खो।'

और तत्पश्चात वह दिव्य मूर्त्ति उसकी दृष्टि से अन्तर्ध्यान हो गई। राजा अपनी राजधानी में लौट आया और प्राप्त आदेशों के अनुसार राज्यकार्य करने लगा।

हिन्दुओं का मत है कि उसी समय से मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। हमने जिस चतुर्भूजी आकार का उल्लेख ऊपर किया है कई लोग उसके समान मूर्ति बनाते हैं और जिस व्यक्ति की प्रतिमूर्त्ति बनानी होती है, उससे सम्बद्ध कई एक कथाओं और वर्णनों के आधार पर उसी के अनुरूप वाली मूर्तियों का निर्माण करते हैं।

नारद और अग्नि से अभिप्राय

इसी के सम्बन्ध की एक अन्य कथा इस प्रकार है।

ब्रह्मा का एक पुत्र था जिसका नाम था नारद। नारद के मन में भगवान के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा थी। भ्रमण के लिए जाते समय उसके हाथ में एक दण्ड रहा करता था। जब दंड को वह पृथ्वी पर पटकता तो वह जीवित सर्प का रूप ले लेता था और वह उसके अनेक चमत्कार दिखला सकता था। इस छड़ी के बिना वह कभी बाहर नहीं जाता। एक दिन भगवद्दर्शन की अपनी लालसा के सम्बन्ध में चिन्तामग्न और ध्यानावस्थित नारद को कुछ दूरी पर अग्नि-ज्वाला दिखाई पड़ी और वह उत्सुकतावश आग के निकट जा पहुँचा। उसी समय उसने अग्नि पुन्ज से निकलते ये शब्द सुने—"जो कुछ तुम चाहते और मांगते हो वह असभंव है। तुम मुझे इस रूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप में नहीं देख सकते।" जब उसने उस ओर दृष्टिपात किया तो मानव के आकार का तेजमय रूप दिखाई पड़ा। उसी समय से विशेष आकृतियों वाली मूर्तियों के निर्माण की रीति प्रचलित हो गयी।

मुलतान की आदित्य नामक मूर्ति

उनकी एक प्रसिद्ध मूर्ति मूलतान में थी। सूर्य को समर्पित होने के कारण वह आदित्य कहलाती थी। वह लकड़ी की बनी थी ऊपर से लाल चमड़े में मढ़ी थी। उसके दोनों नेत्रों के स्थान में लाल पद्मराग थे। कहते हैं यह पिछले कृतयुग में बनी थी। यदि यह बात मान ली जाय कि यह कृतयुग के अन्त में बनी तो उस समय से आज तक २१६,४३२ वर्ष हुए। जब मुहम्मद इब्न अलकासिम इब्न अलमुनब्बिह ने मुलतान को पराजित किया तो उसने पूछा कि नगर के इतना ऐश्वर्यवान् होने और अनेक खजानों के वहाँ इकट्ठा होने का कारण क्या है? इस पर उसे पता लगा कि इसका का कारण यह मूर्त्ति ही है, क्योंकि चारों ओर से यात्री लोग उसके दर्शनार्थ आते थे। अतः उसने मूर्त्ति को वहीं का वहीं रहने दिया। परिहास के लिए उसके गले में गो-मांस का एक टुकड़ा लटका दिया। उसी स्थान में एक मसजिद बना दी गई। जब करामतवालों ने मुलतान पर अधिकार पाया तो राज्यापहारी जलम इब्न शैबान ने मूर्ति को टुकड़े-टुकड़े कर डाला और पुजारियों को मार डला। उसने पुरानी मसजिद को छोड़ कर अपने भवन को, जो कि एक उच्च स्थान पर ईंटों का बना दुर्ग था, मसजिद बनाया। उमैयावंशीय खलीफों के शासन-काल में किसी

बात के हो जाने से जो घृणा उत्पन्न हो गई थी उसी के कारण उसने पुरानी मसजिद को बन्द करा दिया। पीछे से, राजा महमूद ने उन देशों में उनके राज्य को नष्टभ्रष्ट कर के फिर पुरानी मसजिद को शुक्रवार की नमाज (पूजा) का स्थान नियत किया और दूसरी मसजिद को उजाड़ दिया। आजकल यह केवल अनाज का भण्डार बन गयी हैं जहाँ कि हिना के गुच्छे इकट्ठा बांधे हुए हैं।

अब यदि ऊपर दी हुई वर्ष-संख्या में से सैकड़ों, दहाइयों, और इकाइयों अर्थात ४३२ वर्षों को, कोई १०० वर्ष के जोड़फल का स्थूल तुल्यार्थ मानकर—क्योंकि करामतवालों का उदय हमारे समय से इतने ही वर्ष पहले हुआ—निकाल दिया जाय तो शेष हमारे पास कृतयुग के अन्तकाल और हिजरी संवत के आरम्भकाल के लिए २१६००० वर्ष रह जाते हैं। तब वह लकड़ी इतने दीर्घ काल तक कैसे रह सकी होगी, विशेषतया ऐसे स्थान में जहाँ कि भूमि और वायु दोनों नम हैं ? सर्वज्ञ परमात्मा की इच्छा के बिना यह असम्भव ही है।

चक्र-स्वामिन नाम की थानेश्वर की मूर्ति।

थानेश्वर नगरी के लिए हिन्दुओं के हृदयों में पूजा का बड़ा भाव है। वहाँ की मूर्ति का नाम है चक्र-स्वामिन अर्थात चक्र का स्वामी। चक्र एक प्रकार का शस्त्र है इसका उल्लेख हो चुका है। यह मूर्ति पीतल की बनी है और मनुष्य के बराबर लम्बी चौड़ी है। यह इस समय सोमनाथ स्वामी के साथ गजनी नगरी की घुड़दौड़ के चक्कर में पड़ी है। सोमनाथ स्वामी महादेव के लिङ्ग अर्थात् मूत्र की इन्द्रिय की प्रतिमूर्ति है। इसका वर्णन उचित स्थल पर आगे किया जायगा। कहते हैं यह चक्र-स्वामिन भारत के समय में महाभारत-युद्ध का स्मारक बनाया गया था।

काशमीर में शारद की प्रतिमूर्ति।

अन्तर्वर्ती कश्मीर में, बोलर पर्वतों की ओर, राजधानी से पर एक शारद की मूर्ति है। इसका बड़ा पूजन होता है। असंख्य यात्री वहाँ जाते हैं।

अब हम मूर्ति-निर्माण के विषय में संहिता से एक पूरा परिच्छेद यहाँ देते हैं। उपस्थित विषय को भलीभाँति समझने के लिए जिज्ञासु को इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

वराहमिहिर की संहिता से अवतरण।

वराहमिहिर कहता है—यदि दशरथ के पुत्र राम अथवा विरोचन के पुत्र बलि की मूर्ति बनानी हो तो १२० कला ऊँची बनाओ। ये मूर्ति की कलायें हैं। इन्हें सामान्य अङ्कों में लाने के लिए इनमें से इनका दशांश घटा देना चाहिए। अतः इस दशा में मूर्ति की ऊँचाई १०८ कला होगी।

विष्णु की मूर्ति के या तो आठ हाथ बनाओ, या चार, या दो, और बाईं ओर छाती के नीचे श्री की मूर्ति बनाओ। यदि आठ हाथ बनाओ तो दाहिने हाथों में से एक में कृपाण, दूसरे में सोने या लोहे की गदा, तीसरे में बाण पकड़ाओ, और चौथे को ऐसा बनाओ मानो जल खींच रहा है। बायें हाथों में धनुष, चक्र और शंख पकड़ाओ।

यदि तुम उसके चार हाथ बनाते हो तो धनुष, बाण, कृपाण, और ढाल को छोड़ दो।

यदि दो हाथ बनाते हो तो दाहिना हाथ पानी खींचता हुआ बनाओ और बायें में शंख दो।

यदि नारायण के भाई बलदेव की मूर्ति बनानी हो तो उनके कानों में कुन्डल चाहिए और आँखें मद्यप की सी।

यदि नारायण और बलदेव दोनों की मूर्ति बनाओ तो उनके साथ उनकी बहिन भगवती (दुर्गा एकानंशा) को भी मिला दो। उसका बाया हाथ कक्ष से थोड़ा परे अंक पर धरा हो और दाहिने हाथ में एक पुस्तक तथा कमल का फूल पकड़ा दो।

यदि चतुर्भुजी बनाते हो तो दायें हाथों में से एक में जयमाला दो और दूसरे को जल खींचता हुआ बनाओ। बाएँ हाथों में पुस्तक और कमल दो।

यदि उसे अष्टभुजी बनाना हो तो बाएँ हाथों में कमंडलु अर्थात पात्र, कमल, धनुष, और पुस्तक दो; दाहिने हाथों में से एक में जपमाला, एक में दर्पण, एक में बाण और एक में जल खींचता हुआ बनाओ।

यदि विष्णु के पुत्र साम्ब की मूर्ति बनानी हो तो केवल उसके दाहिने हाथ में एक गदा दे दो। यदि विष्णु के पुत्र प्रद्युम्न की मूर्ति बनानी हो तो उसके दाहिने हाथ में बाण और बाँयें में धनुष दो। यदि उनकी दो स्त्रियाँ बनाते हो तो उनके दाहिने हाथ में कृपाण और बाँयें में ढाल दो।

ब्रह्मा की मूर्ति के चारों ओर चार मुख होते हैं और वह कमल पर बैठा होता है।

महादेव के पुत्र स्कन्द की मूर्ति मोर पर चढ़ा हुआ एक लड़का होता है। उसके हाथ में शक्ति अर्थात् दुधारी तलवार जैसा एक शस्त्र होता है जिसके मध्य में ओखली के मूसल जैसा एक मूसल होता है। इन्द्र की मूर्ति के हाथ में एक शस्त्र होता है जिसे हीरे का वज्र कहते हैं। इसकी मूँठ शक्ति को मूँठ के समान होती है, परन्तु दोनों ओर दो दो कृपाणें होती हैं जोकि मूँठ में आकर मिली होती हैं। उसके ललाट पर एक तीसरा नेत्र होता है। वह चार दाँतोंवाले श्वेत हाथी पर चढ़ा होता है।

इसी प्रकार महादेव की मूर्ति के ललाट पर दाईं तरफ ऊपर की ओर एक तीसरा नेत्र बनाओ, उसके शिर पर एक अर्धचन्द्र, उसके हाथ में शूल नामक शस्त्र और एक कृपाण दो। शूल गदा के आकार का होता है और इसमें तीन शाखाएँ होती हैं। महादेव के बाँयें हाथ में उसकी स्त्री—हिमवन्त की पुत्री गौरी हो जिसे वह छाती से लगा रहा हो।

जिन अर्थात् बुद्ध की मूर्ति का मुखमंडल तथा अङ्ग यथासंभव बहुत सुन्दर बनाओ। उसके पाँव और हथेलियों की रेखाएँ कमल के सदृश हों। उन्हे कमल पर बैठा हुआ दिखलाओ। उसके बाल श्वेत हों, आकृति बड़ी शान्त हो, मानों वह सृष्टि का पिता है।

यदि तुम अर्हन्त की मूर्ति बनाओ जो कि बुद्ध के शरीर का दूसरा रूप है, तो उसे एक नंगे युवा के रूप में दिखलाओ जिसका मुख कि शोभायुक्त और सुन्दर हो, और जिसके हाथ घुटनों तक पहुँचते हों। उसकी स्त्री—श्री—की मूर्ति उसकी बाईं ओर छाती के नीचे हो।

सूर्य के पुत्र रेवन्त की मूर्ति व्याघ्र की भाँति घोड़े पर चढ़ी हुई होती है।

मृत्यु के देवता यम की मूर्ति भैंसा पर सवार होती है और उसके हाथ में एक गदा होता है।

सूर्य्य की मूर्ति का मुख लाल कमल के गूदे की भाँति लाल और हीरे की भाँति उज्वल होना चाहिए। उसके अंग आगे को बढ़े हुए, कानों में कुण्डल, गले में मोतियों की माला, सिर पर कई छिद्रोंवाला मुकुट, हाथ में दो कमल, और वस्त्र उत्तरी लोगों की भाँति घुटनो के नीचे तक लम्बे होते हैं।

यदि सात माताओं की मूर्ति बनानी हो तो उनमें से अनेक की एक मूर्ति इकट्ठा दिखलाओ। ब्राह्मणी के चारों दिशाओं में चार मुख हों। कौमारी के छः मुख, वैष्णवी के चार हाथ, वाराही का शिर सूअर और शरीर मनुष्य के समान; इन्द्राणी की अनेक आँखें और उसके हाथ में गदा; भगवती (दुर्गा) साधारण लोगों की तरह बैठी हुई; चामुण्डा कुरूपा, दांत आगे को बढ़े हुए और कटि-देश क्षीण हो। उनके साथ महादेव के पुत्रों को मिला दो—एक तो क्षेत्रपाल, जिसके पुलकित केश, मलिन मुख, और कुरूप आकृति है; परन्तु दूसरा विनायक जिसका धड़ मनुष्य का, सिर हाथी का, और हाथ चार हैं जैसा की हम पहले कह आये हैं।

इन देव-प्रतिमाओं के पुजारी भेड़ों और भैंसों को कुल्हाड़ों से काटते हैं ताकि ये देवता रुधिर से अपना पोषण करें! प्रत्येक अंग के लिये मूर्ति-अंगुलियों द्वारा नियत किये हुये विशेष प्रमाणों के अनुसार ही सब मूर्तियां बनाई जाती हैं। परन्तु कई बार किसी एक अंग के माप के विषय में उनमें मतभेद भी पाया जाता है। यदि शिल्पी माप ठीक रखता है और किसी अंग को न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा ही बनाता है तो वह पाप से रहित है और निश्चय ही जिस सत्ता की वह प्रतिमूर्ति बनाता है वह उस पर कोई विपत्ति न भेजेगी। यदि वह मूर्ति को एक हाथ और सिंहासन सहित दो हाथ ऊँची बनायेगा तो उसे उत्तम स्वाथ्य और सम्पत्ति मिलेगी! यदि वह इससे भी अधिक ऊँची बनायेगा तो उसकी प्रसंशा होगी।

परन्तु उसे विदित होना चाहिये कि मूर्ति—विशेषतः सूर्य की मूर्ति—को बहुत बड़ा बनाने से राजा को और बहुत छोटा बनाने से स्वयम शिल्पी को हानि पहुँचती है। यदि वह उसका पेट पतला बनायेगा तो इससे देश में दुर्भिक्ष बढ़ेगा, यदि पेट ढीला बनायेगा तो सम्पत्ति नष्ट हो जायगी।

यदि शिल्पी का हाथ फिसल जावे और मूर्ति पर घाव हो जाय तो इससे स्वयं उसके ही शरीर में घाव लग जायगा जिससे उसकी मृत्यु हो जायगी।

यदि यह पूर्णतया दोनों ओर से बराबर न हो जिससे एक कन्धा दूसरे की अपेक्षा ऊँचा हो जाय तो उसकी पत्नी मर जायगी।

यदि वह नेत्रों को ऊपर की ओर फेर देता है तो वह उम्र भर के लिए अन्धा हो जाता है। यदि वह नीचे की ओर फेरता है तो उसे अनेक कष्ट होते हैं और शोकजनक दुर्घटनाएँ सहन करनी पड़ती हैं।

किसी बहुमूल्य पत्थर की मूर्ति लकड़ी की मूर्ति से, और लकड़ी की मूर्ति मिट्टी की मूर्ति से अच्छी समझी जाती हैं। बहुमूल्य पत्थर की मूर्ति देश के सब नर-नारियों के लिए मङ्गलकारिणी होती है। सुवर्ण की मूर्ति अपने स्थापन करने वाले को शक्ति, चाँदी की मूर्ति यश, काँसे की दीर्घ शासन-काल, और पत्थर की बहुत स्थावर सम्पत्ति पर अधिकार प्रदान करती है।

हिन्दू लोग मूर्तियों का सम्मान उन्हें स्थापित करने वालों के कारण करते हैं न कि उस द्रव्य के कारण जिसकी वे बनी होती हैं। हम पहले कह आये हैं कि मुलतान की मूर्ति काठ की थी। असुरों के साथ युद्ध की समाप्ति पर जो मूर्ति राम ने स्थापित की थी वह रेत की थी। इस रेत को उन्होंने स्वयं अपने हाथ से इकट्ठा किया था। परन्तु तब यह सहसा पाषाण की बन गई, क्योंकि ज्योतिषी के हिसाब से मूर्ति स्थापन का ठीक मुहुर्त्त उस समय के पहले आ पड़ा था जब कि शिल्पी और लोग उस पाषाण-मूर्ति की कटाई समाप्त कर सके जिसके निर्माण के लिए कि राम ने वस्तुतः आज्ञा दी थी। देवालय और उसके चारों ओर स्तम्भों के बनाने, चार भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्षों को काटने, स्थापना के लिए ज्योतिषी के हिसाब से शुभ मुहुर्त्त निकालने, और ऐसे अवसर के

अनुकूल अनुष्ठानों को पूरा करने आदि सब बातों के विषय में राम ने बहुत विस्तृत विधि बताई थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने आदेश दिया था कि मूर्तियों के पुजारी और सेवक भिन्न भिन्न जातियों के लोग नियत किये जायँ। विष्णु की मूर्ति के पुजारी भागवत जाति के लोग हैं; सूर्य की मूर्ति के मग अर्थात मजूस; महादेव की मूर्ति के भक्त एक प्रकार के साधु और यति हैं जो कि लम्बे लम्बे केश रखते हैं, शरीर पर विभूति रमाते हैं, अपने साथ मुर्दों की हड्डियाँ लटकाए फिरते हैं, और खप्परों में भोजन करते है। ब्राह्मण अष्ट माताओं के, शमन बुद्ध के, और नग्न लोग अर्हन्त के भक्त हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक मूर्ति के भक्त अलग अलग हैं, क्योंकि जिन लोगों ने जिसको मूर्ति बनाई है वही उसका भली भाँति पूजन करना जानते हैं।

परमात्मा की देव प्रतिमायें और गीता

इन सारे उन्मत्त-चित्तविभ्रम के वर्णन से हमारा तात्पर्य्य यह था कि पाठकों को यदि कभी किसी देव-प्रतिमा के देखने का अवसर मिले तो वे उसका यथार्थ वृत्त जान लें और साथ ही उन्हें यह भी मालूम हो जाए कि ऐसी प्रतिमाएँ, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, केवल अशिक्षित तथा नीचे जाति के मन्द-बुद्धि लोगों के लिए ही बनाई जाती हैं; और हिन्दुओं ने, परमात्मा की बात तो दूर रही, किसी अन्य अलौकिक सत्ता की भी कभी मूर्ति नहीं बनाई; और अन्त में उन्हें यह विदित हो गया कि सर्वसाधारण किस प्रकार पुरोहितों के नाना प्रकार के प्रपंचों और छलों के द्वारा दासत्व में रक्खे जाते हैं। इसलिए गीता नाम की पुस्तक कहती है कि बहुत से लोग अपनी आकांक्षाओं में मुझे किसी ऐसी वस्तु के द्वारा प्राप्त करने का यत्न करते हैं जो कि मुझसे भिन्न है। वे मुझसे भिन्न किसी दूसरी वस्तु के नाम पर दान, स्तुति, और प्रार्थना करके मेरे कृपापात्र बनना चाहते हैं। मैं फिर भी उनके इन सब कामों में उन्हें दृढ़ता और सहायता प्रदान करता हूँ और उनकी मनोवाञ्छित कामनाओं को पूर्ण करता हूँ क्योंकि मैं उनसे अलग रह सकता हूँ।

उसी पुस्तक में वासुदेव अर्जुन से कहते हैं :—क्या तुम नहीं देखते हो कि किसी की कामना करनेवालों में से बहुत से लोग अनेक प्रकार की आध्यात्मिक सत्ताओं और सूर्य्य, चन्द्र, तथा अन्य दिव्य पिण्डों का पूजन करते और उन्हें नैवेद्य चढ़ाते हैं ? यदि परमात्मा उनकी आशाओं को पूर्ण करता है (यद्यपि उनसे अपना पूजन कराने की कोई आवश्यकता नहीं); यदि वह उन्हें उससे भी अधिक दे देता है जितने के लिए वे याचना करते हैं; यदि वह उनकी इच्छाओं को इस प्रकार पूर्ण करता है मानों इनका उपास्य देव—वह देव-मूर्ति—ही पूर्ण कर रहा है तो वे उन्हीं मूर्तियों को पूजते चले जायेंगे, क्योंकि उन्होंने उसे जानना नहीं सीखा, चाहे वही इस प्रकार बीच में आकर उनके कर्मों का उनकी कामना के अनुकूल फल देता है। परन्तु जो वस्तु कामना और बीच में पड़ने से प्राप्त होती है वह चिरस्थायिनी नहीं होती क्योंकि वह केवल किसी विशेष पुण्य का ही फल होती है। केवल वही वस्तु चिरस्थायिनी है जो अकेले परमात्मा से प्राप्त होती है। पर लोग वृद्धावस्था, मृत्यु, और जन्म से घृणा करने लग जाते हैं।

यह वासुदेव का कथन है। जब दैवयोग से मूर्ख-मण्डल को कुछ सौभाग्य अथवा लक्षित वस्तु प्राप्त हो जाती है, और जब इसके साथ पुरोहितों के उपर लिखे छल-कपट का सम्बन्ध हो जाता है तो जिस अन्धकार के अन्दर वे रहते हैं वह बढ़ता है—उनकी बुद्धि नहीं बढ़ती। वे झट उन देव-प्रतिमाओं के पास भागे जाते हैं और अपने रक्तपात तथा अंगच्छेदन से उनके सामने अपनी आकृति को बिगाड़ लेते हैं।

प्राचीन यूनानी भी देव-प्रतिमाओं को अपने और प्रथम कारण के बीच मध्यस्थ समझा करते थे और उच्च वस्तुओं तथा नक्षत्रों के नाम से उनका पूजन करते थे। वे प्रथम कारण का वर्णन भावसूचक विशेषणों द्वारा नहीं बल्कि अभावसूचक द्वारा करते थे क्योंकि वे समझते कि वह इतना उच्च है कि मानुषी गुणों से उसका वर्णन नहीं हो सकता, और साथ ही वे उसे सर्व प्रकार की त्रुटियों रहित बताना चाहते थे। इसीलिए पूजा में वे उसे सम्बोधन नहीं कर सकते थे।

जब प्रतिमापूजक अरबी लोग सिरिया देश से स्वदेश में देवमूर्तियाँ लाये थे तो वे भी उनका पूजन इसी आशा से किया करते थे कि वे परमात्मा से उनकी वकालत करेंगी।

अफलातूं अपनी 'नियमों की पुस्तक' के चौथे अध्याय में कहता है :—'जो मनुष्य देवताओं का पूर्ण रीति से पूजन करना चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि देवताओं और विद्यादेवियों के रहस्यों को परिश्रम से जान ले, और विशेष देव-मूर्तियों को पैतृक देवताओं की स्वामिनी न बनावे। इसके अतिरिक्त जीवित माता-पिता का यथासम्भव पूजन करना परम कर्तव्य है।'

रहस्य से अफलातूं का तात्पर्य्य एक विशेष प्रकार की शक्ति से है। हर्रान के साहब लोगों, द्वैतवादी मनीषियों, और हिन्दुओं के ब्रह्मज्ञानियों, में इस शब्द का बड़ा प्रचार है।

जालीनूस अपनी किताब 'अखलाकुन नफ्स' में कहता है कि 'सम्राट् कुमोदस के शासनकाल में, अर्थात् अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के पश्चात् ५०० से ५१० वर्ष के बीच, दो मनुष्य एक मूर्तियों के व्यापारी के पास गये और उससे हरमीस की एक मूर्ति का सौदा किया। उन मनुष्यों में से एक तो उस मूर्ति को एक देवालयालय में हरमीस के स्मारक-चिह्न के रूप में स्थापित करना चाहता था, और दूसरा उसे एक कबर पर मृत मनुष्य की स्मारक-वस्तु के रूप में खड़ा करना चाहता था। पर वे व्यापारी के साथ मूल्य तै न कर सके अतः इस काम को उन्होंने दूसरे दिन के लिए छोड़ दिया। मूर्तियों के पुजारी ने उसी रात स्वप्न में देवमूर्ति को देखा। मूर्ति उससे इस प्रकार कहने लगी :—'हे नरश्रेष्ठ! तूने मुझे बनवाया है। मैंने तेरे हाथों के द्वारा एक ऐसा आकार प्राप्त किया है जो कि एक तारे का आकार समझा जाता है। अब मैं पूर्ववत् पाषाण नहीं रहा; मुझे लोग अब बुध देवता समझते है। अब यह बात तुम्हारे हाथ में है कि चाहे मुझे एक अनीश्वर पदार्थ का स्मारक-चिह्न बना दो, चाहे एक ऐसी वस्तु का जो कि पहले ही नष्ट हो चुकी है।'

अलक्षेन्द्र ने अरस्तू के पास ब्राह्मणों के कुछ प्रश्न भेजे थे जिनका उत्तर उसने एक पुस्तक में दिया है। उसमें वह कहता है :—'यदि तुम समझते हो कि कई यूनानियों ने यह झूठी कथा बना ली है कि देव-मूर्तियाँ बोलती हैं, और लोग उन्हें भेंट चढ़ाते और अमूर्त प्राणी समझते हैं, तो हमें इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं; और जिस विषय को हम सही जानते है उसके विषय में एक वाक्य भी नहीं कह सकते।' इन शब्दों के द्वारा वह अपने आपको मूर्ख और अशिक्षित लोगों की श्रेणी से ऊपर उठा लेता है और यह प्रकट करता है कि वह स्वयम् ऐसी बातों में नियुक्त नहीं होता। यह स्पष्ट है कि मूर्ति-पूजन का प्रथम कारण मृतों के स्मरणोत्सव मनाने और जीवितों को सान्त्वना देने की अभिलाषा थी, परन्तु इस मूल से बढ़ते बढ़ते यह अन्त को एक हानिकारक और मलिन कुरीति बन गई है।

इस पहले विचार में कि देव-मूर्तियाँ केवल स्मारक-चिह्न ही हैं सिसली की मूर्तियों के विषय में खलीफा मुआवीया भी सहमत है। जब संवत् ५३ हिजरी में सिसली विजय हुई और विजेताओं ने मुकुटों और हीरों से जड़ित देव-मूर्तियों को, जो कि वहाँ उनके हाथ आईं, उसके

पास भेज दिया तो उसने आज्ञा दी कि इन्हें सिंध देश में भेज कर वहाँ के राजाओं के हाथ बेच दिया जाय। इसका कारण यह था कि वह उन्हें इतने दीनार की बहुमूल्य वस्तुएँ समझ कर बेच डालना ही अच्छा समझता था। उसे यह तनिक भी विचार न था कि मूर्तियाँ पूजन की जघन्य वस्तुएँ हैं। उसने उस बात के आर्थिक पहलू को देखा न कि राजनैतिक पहलू को।

बारहवाँ परिच्छेद

वेद पुराण, एवं अन्य धार्मिक साहित्य

वेद के विषय में विविध टिप्पणियाँ

वेद का अर्थ है उस पदार्थ का ज्ञान जो कि पहले मालूम न था। वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है। हिन्दुओं के मतानुसार यह ईश्वर का बनाया हुआ है और ब्रह्मा ने अपने मुख से इसको प्रकाशित किया है। ब्राह्मण लोग इसका अर्थ बिना समझे ही इसका पाठ करते हैं और वे इसे कण्ठस्थ भी कर लेते हैं; एक से सुनकर दूसरा याद कर लेता है। ब्राह्मणों में वेद का अर्थ जाननेवाले बहुत कम हैं। फिर ऐसे लोगों की संख्या तो और भी कम है जो पाण्डित्य पूर्ण ढंग से वेद के विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उसकी व्याख्या पर धार्मिक विवाद कर सकें।

ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को वेद पाठ कराते हैं। क्षत्रिय वेद को पढ़ते तो हैं, पर उन्हें इसे किसी दूसरे को, यहाँ तक कि ब्राह्मण को पढ़ाने का अधिकार नहीं। वैश्यों और शूद्रों को, वेद का उच्चारण और पाठ करना दूर रहा, इसके सुनने की भी आज्ञा नहीं। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि किसी वैश्य या शूद्र ने वेद का पाठ किया है तो ब्राह्मण लोग उसे पकड़ कर न्यायाधीश के पास ले जाते हैं और उसकी जीभ काट दी जाती है।

वेद में आज्ञायें और निषेध हैं, अर्थात् पुण्य-कर्मों के प्रोत्साहन और पाप-कर्मों के निवारण के उद्देश्य से पुरस्कार और दंड का विस्तार पूर्वक वर्णन है। लेकिन इसका बड़ा भाग स्तुति के गीतों से भरा है, और इसमें नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। ये यज्ञ इतने अधिक और कठिन हैं कि आप इन्हें कठिनाई से गिन सकेंगे।

ब्राह्मण लोग वेद को लिखने की आज्ञा नहीं देते, क्योंकि इसका उच्चारण विशेष ताल-स्वरों से होता है। वे लेखनी का प्रयोग इसलिए नहीं करते कि कहीं कोई अशुद्धि और लिखित पाठ में कोई अधिकता और अभाव न हो जाय। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे कई बार वेद को भूल जाने से इसे खो चुके हैं। कारण यह है कि वे मानते हैं कि शौनक ने यह बात शुक्र से सुनी थी कि सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बोलते हुए परमेश्वर ने ब्रह्मा से कहा था—जिस समय पृथ्वी जलमग्न हो जायगी, उस समय तुम वेद को भूल जाओगे। तब वह नीचे पृथ्वी की गहराई में चला जायगा, और कोई बाहर न निकाल सकेगा। इसलिए मैं मछली को भेजूंगा और वह वेद को लाकर तुम्हारे हाथों में दे देगी। और मैं सूअर को भेजूंगा वह पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठाकर पानी से बाहर ले जायगा।

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं का यह भी विश्वास है कि द्वापरयुग में, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे, वेद और उनके देश तथा धर्म की सभी रीतियाँ लोप हो गई थीं। परमेश्वर के पुत्र व्यास ने उनका नये सिरे से प्रचार किया।

विष्णुपुराण कहता है :—हर एक मन्वन्तर के आरम्भ में नये सिरे से उस मन्वन्तर का एक अधीश पैदा किया जायगा। उसकी सन्तान सारे संसार पर राज्य करेगी। एक राजा जन्म लेगा जो सारे संसार का प्रधान होगा और देवता पैदा होंगे, जिन्हें लोग यज्ञों में नैवेद्य चढ़ायेंगे और सप्तर्षि पैदा होंगे जो कि वेद का फिर से उद्धार करेंगे; क्योंकि यह प्रत्येक मन्वन्तर के समाप्त होने पर लोप हो जाता है।

वसुक्र ने वेदों को लिपिबद्ध किया

इसलिए अभी थोड़े ही वर्ष बीते हैं कि, काश्मीर का रहने वाला वसुक्र नाम के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण ने अपनी ही इच्छा से वेद को लिखने और इसकी व्याख्या करने का काम अपने हाथ में लिया था। यह एक ऐसा काम था जिसे करने से दूसरे सभी लोग संकोच करते थे; परन्तु उसने इसे पूरा करके छोड़ा। कारण यह कि वह डरता था कि वेद कहीं एक दम से लोप न हो जायँ, क्योंकि वह देखता था कि लोगों के चरित्र दिन प्रति दिन बिगड़ते जा रहे हैं, और वे धर्म की बिलकुल परवा नहीं करते।

उनका विश्वास है कि वेदों के कुछ वचन ऐसे हैं जिनका घर में उच्चारण करना उचित नहीं, क्योंकि वे डरते हैं कि उनसे स्त्रियों, गायों या भैंसों के गर्भ गिर जाते हैं। इसलिये उनको पढ़ते समय वे घर से बाहर खुले मैदान में चले जाते हैं। वेद का एक भी ऐसा मन्त्र नहीं जिसके साथ इस तरह का कोई न कोई भयप्रदर्शक बन्धन न लगा हुआ हो।

हम पहले कह आये हैं कि हिन्दुओं के ग्रंथ अरबी के ग्रन्थों की तरह पद्यात्मक रचनायें हैं। उनमें से बहुत से श्लोक नामक छन्द में हैं। इसका कारण पहले बताया जा चुका है। जालीनूस भी पद्यात्मक रचना को ही अच्छा समझता है। वह अपनी 'काता जानस' नामक पुस्तक में कहता है कि—'ओषधियों के तोल को दिखलाने वाले शुद्ध चिन्ह नकल करने से नष्ट हो जाते हैं; वे किसी ईर्ष्यालु मनुष्य की मनमानी अपकृति से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये यह बिलकुल सही है कि डेमोक्रटीज की ओषधियों के ग्रंथ दूसरों से अच्छे समझे जायँ और उनकी प्रशंसा और ख्याति हो, क्योंकि वे यूनानी छन्द में लिखे हुए हैं। यदि सभी पुस्तकें इसी प्रकार लिखी जायँ तो बहुत ही अच्छी बात हो।' वास्तव में बात यह है कि पद्यात्मक रचना से गद्यात्मक रचना के भ्रष्ट हो जाने की अधिक सम्भवना होती है।

परन्तु वेदों की रचना इस साधारण छन्द अर्थात श्लोक में नहीं प्रत्युत एक और छन्द में हुई है। अनेक हिन्दुओं का मत है कि उस छन्द में कोई मनुष्य रचना नहीं कर सकता। परन्तु उनके विद्वानों की सम्मति है कि वह बात वस्तुतः सम्भव है, लेकिन वे केवल वेद के सम्मान के विचार से ही इस छन्द के लिए यत्न नहीं करते।

व्यास के चार शिष्य और चार वेद

उनका ऐतिह्य कहता है कि व्यास ने वेद को चार भागों में बाँटा। वे चार भाग ये हैं:—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

व्यास के चार शिष्य थे उसने एक-एक को एक-एक वेद पढ़ाया और उसे कंठस्थ करा दिया। उनकी गिनती उसी क्रम से होती है जिससे वेद के चारों भागों की होती है; जैसे, पैल, वैशम्पायन; जैमिनि, सुमन्तु।

ऋग्वेद पर विचार

इन चारों भागों में से हर एक का एक विशेष प्रकार का पाठ है। पहला ऋग्वेद है। यह ऋच् नामक पद्यात्मक रचनाओं का बना है। ये ऋचायें एक सी लम्बी नहीं। इसका नाम ऋग्वेद इसलिए है कि इसमें सब ऋचायें हो ऋचायें हैं। इसमें यज्ञों का वर्णन है और इसके उच्चारण की तीन भिन्न-भिन्न रीतियाँ हैं। पहली रीति एक रूप पढ़ते जाने की है, जैसे कि और दूसरी पुस्तकें पढ़ी जाती हैं। दूसरी रीति में प्रत्येक शब्द के बाद रुकना पड़ता है। तीसरी, वह है जो कि सबसे अधिक श्लाघ्य है और जिसके लिए स्वर्ग में बहुत अधिक पुरस्कार का वचन दिया गया है। पहले एक छोटा सा लेख पढ़ते हैं जिसका प्रत्येक शब्द साफ-साफ बोला जाता है; फिर इसे उस लेख के एक भाग के साथ जिसका पाठ अभी नहीं हुआ दुहराते हैं; तब अकेले साथ मिलाये हुए उस भाग को ही पढ़ते हैं, और फिर उसका उस लेख के अगले भाग के साथ पाठ करते हैं जो कि अभी पढ़ा नहीं गया है इत्यादि, इत्यादि। इस प्रकार अन्त तक करते रहने से सारे पाठ को दो बार पढ़ लेते हैं।

यजुर्वेद और याज्ञवल्क्य की कथा

यजुर्वेद काण्डों का बना हुआ है। यह शब्द एक व्युत्पन्न विशेष्य है। इसका अर्थ काण्ड-समष्टि है। इसमें और ऋग्वेद में भेद यह है कि इसको सन्धि के नियमों द्वारा संयुक्त पाठ के तौर पर पढ़ सकते हैं, परन्तु ऋग्वेद में ऐसा करने की आज्ञा नहीं। इन दोनों का विषय यज्ञ और होम है। ऋग्वेद को सन्धि के नियमों द्वारा संयुक्त पाठ के रूप में क्यों नहीं पढ़ सकते इस विषय में मैंने यह कहानी सुनी है:—

याज्ञवल्क्य अपने गुरु के यहाँ रहता था। उसके गुरु का एक ब्राह्मण मित्र यात्रा पर जाना चाहता था। इसलिए याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु से कहा कि आप किसी ऐसे मनुष्य को उसके घर भेजिए जो उसकी अनुपस्थिति में अग्नि में होम किया करे और उस आग को बुझने न दे। गुरु उस मित्र के घर अपने शिष्यों को एक-एक करके भेजने लगा। इस प्रकार याज्ञवल्क्य की भी बारी आ गई। वह बड़ा रूपवान् और सुन्दर वस्त्र पहने हुए था। जिस स्थान में अनुपस्थित मनुष्य की स्त्री बैठी थी वहाँ जा कर वह होम करने लगा। उस स्त्री को उसके वस्त्र बुरे मालूम हुए। यद्यपि उसने इस बात को छिपाये रक्खा पर याज्ञवल्क्य को उसके भीतरी मन का पता लग गया। होम की समाप्ति पर उसने स्त्री के सिर पर छिड़कने के लिये जल लिया, क्योंकि मन्त्र पढ़ने के बाद फूंक मारने की जगह में वे जल छिड़कते हैं। इसका कारण यह है कि वे फूंक मारने को पसन्द नहीं करते हैं और इसे अपवित्र समझते हैं। तब स्त्री ने कहा, इसको इस खम्भे पर छिड़क दो। उसने ऐसा ही किया और वह खम्भा तुरन्त हरा हो गया। अब वह स्त्री उसके पुण्य-कर्म का प्रसाद खो बैठने पर पछताने लगी। इसलिए उसने दूसरे दिन गुरु के पास जाकर प्रार्थना की कि मेरे घर आज भी उसी शिष्य को भेजिए जिसे कल भेजा था। पर याज्ञल्क्य ने अपनी बारी के बिना जाने से इन्कार कर दिया। किसी प्रकार की प्रेरणा का भी उस पर कुछ प्रभाव न हुआ। उसने अपने गुरु के कोप की भी कुछ परवा न की, और केवल यह कहा कि जो कुछ आपने मुझे पढ़ाया है वह

सब मुझसे ले लीजिए। इतना कहते ही तुरन्त उसका सारा पढ़ा-पढ़ाया उसे भूल गया। अब वह सूर्य के पास गया और उनसे वेद पढ़ाने की प्रार्थना की। सूर्य ने कहा यह कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि मैं तो सदा घूमता फिरता हूँ और तुम ऐसा करने में असमर्थ हो। परन्तु याज्ञवल्क्य सूर्य के रथ के साथ लटक गया और उससे वेद पढ़ने लगा। परन्तु रथ की तीव्र गति के कारण उसको कहीं-कहीं पाठ को रोकना पड़ता।

सामवेद और अथर्ववेद

सामवेद में यज्ञों, आज्ञाओं और निषेधों का वर्णन है। यह गीत के स्वर में पढ़ा जाता है, इसी से इसका यह नाम है, क्योंकि साम का अर्थ पाठ का माधुर्य है। इस प्रकार गाकर पढ़ने का कारण यह है कि जब नारायण वामन अवतार होकर राजा बलि के पास गये थे तब उन्होंने ब्राह्मण का रूप धारण किया था। वे मर्मस्पर्शी स्वर में सामवेद का पाठ करते थे। इससे राजा बहुत प्रभावित हुआ था, जिसके फल से उसके साथ प्रसिद्ध कथा की घटना हुई थी।

अथर्ववेद पाठ रूप से सन्धि के नियमों द्वारा संयुक्त है। इसकी छन्द-रचनायें वही नहीं है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद की हैं, बल्कि इसकी भर नामक एक तीसरी रचना भी है। इसको एक अनुनासिक स्वर के साथ पढ़ा जाता है। हिन्दू लोग इस वेद से दूसरे वेदों के तुल्य प्रेम नहीं करते। इसमें भी अग्नि में होम और मृतकों के संस्कारों का वर्णन है।

पुराणों की सूची

पुराणों के विषय में पहले हम यह बताते हैं कि पुराण शब्द का अर्थ प्रथम, सनातन है। पुराण अठारह हैं। इनमें से बहुतों के नाम पशुओं, मनुष्यों और देवताओं के नाम पर हैं। इसका कारण यह है कि या तो इनमें उसकी कहानियाँ हैं, या पुस्तक के विषय का उनके साथ किसी प्रकार से सम्बन्ध है, या फिर पुस्तक में उन उत्तरों का वर्णन है जो कि उस जन्तु ने जिसके नाम पर पुस्तक का नाम है किसी-किसी प्रश्नों के विषय में दिये थे।

पुराणों की उत्पत्ति मनुष्यों द्वारा हुई है। वे ऋषि कहलानेवालों की रचनायें हैं। नीचे मैं उनके नामों की सूची देता हूँ। यह मैंने सुनकर लिखी है :—

१. आदि-पुराण, अर्थात पहला। २. मत्सस्य-पुराण, अर्थात मछली।
३. कूर्म-पुराण, अर्थात कछुआ। ४. वराह-पुराण, अर्थात सूअर।
५. नरसिंह-पुराण, अर्थात सिंह के सिरवाला मनुष्य।
६. वामन-पुराण, अर्थात बौना। ७. वायु-पुराण, अर्थात हवा।
८. नन्द-पुराण, अर्थात महादेव का एक सेवक।
९. स्कन्द-पुराण, अर्थात महादेव का एक पुत्र।
१०. आदित्य-पुराण, अर्थात सूर्य। ११. सोम-पुराण, अर्थात चन्द्र।
१२. साम्ब-पुराण, अथात विष्णु का पुत्र।
१३. ब्रह्माण्ड-पुराण, अर्थात आकाश। १४. मार्कण्डेय-पुराण, अर्थात एक महर्षि।
१५. तार्क्ष्य-पुराण, अर्थात गरुड़ पक्षी। १६. विष्णु-पुराण, अर्थात नारायण।
१७. ब्रह्म-पुराण, अर्थात वह प्रकृति जिसका काम जगत का रक्षण और पालन करना है।
१८. भविष्य-पुराण, अर्थात भावी चीजें।

इन सारे ग्रन्थों में से मैंने केवल मत्स्य, आदित्य और वायु-पुराण के कुछ भाग देखे हैं।

पुराणों की इससे कुछ भिन्न सूची मुझे विष्णु-पुराण से पढ़कर सुनाई गई है। मैं इसे यहाँ विस्तार पूर्वक देता हूँ, क्योंकि उन सब विषयों में जिनका आधार ऐतिह्य हो, ग्रन्थकार का यह कर्तव्य है कि वह उन ऐतिह्यों को यथा सम्भव पूर्णरूप से लिख दे :—

१. ब्रह्म। २. पद्म, अर्थात लाल कमल।
३. विष्णु। ४. शिव, अर्थात महादेव।
५. भागवत, अर्थात वासुदेव। ६. नारद अर्थात ब्रह्मा का पुत्र।
७. मार्कण्डेय। ८. अग्नि, अर्थात आग।
९. भविष्य अर्थात आनेवाला समय। १०. ब्रह्मवैवर्त, अर्थात पवन।
११. लिङ्ग, अर्थात महादेव की उपस्थेन्द्रिय की मूर्ति।
१२. वराह १३. स्कन्द। १४. वामन।
१५. कूर्म। १६. मत्स्य, मछली।
१७. गरुड़, अर्थात विष्णु की सवारी का पक्षी।
१८. ब्रह्माण्ड।

पुराणों के ये नाम विष्णु-पुराण के अनुसार हैं।

स्मृतियों की सूची

स्मृति नाम की पुस्तक वेद से निकाली गई है। इसमें आज्ञायें और निषेध हैं। इसको ब्रह्मा के निम्नलिखित वीस पुत्रों ने रचा है।

१. आपस्तम्भ। २. पराशर।
३. शतपथ (शातापत?) ४. सामवर्त। ५. दक्ष।
६. वसिष्ठ। ७. अङ्गिरस। ८. यम।
९. विष्णु। १०. मनु। ११. याज्ञवल्क्य।
१२. अत्रि। १३. हारीत। १४. लिखित।
१५. शङ्ख। १६. गौतम। १७. वृहस्पति।
१८. कात्यायन १९. व्यास। २०. उशनस।

इनके अतिरिक्त, हिन्दुओं के यहाँ उनके धर्म्मशास्त्र, ब्रह्मविद्या, तपस्या, देवता बनाने और संसार से मुक्त हो जाने को विधि पर पुस्तकें हैं; जैसे, गौड़ मुनि की बनाई हुई पुस्तक जो उसी के नाम से प्रसिद्ध है; कपिल-कृत सांख्य जो कि परमार्थिक विषयों की पुस्तक है; मोक्ष की तलाश और आत्मा के ध्येय के साथ मिलाप के अनुसन्धान पर पतञ्जलि की पुस्तक; वेद और उसकी व्याख्या के विषय में कपिल रचित न्यायभाषा * जिसमें वह भी दिखाया गया है कि वेद पैदा किया हुआ है, और इसमें वैदिक आज्ञाओं के भेद दिखलाये गये हैं कि कौनसी केवल विशेष अवस्थाओं के लिए ही हैं और कौन सामान्य अवस्था के लिए; फिर इसी विषय पर जैमिनि-कृत

* न्याय भाषा नामक पुस्तक का गौतम के न्याय दर्शन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जैमिनीकृत मीमांसा से उसके अवतरण मिलते-जुलते है। इसके अलावा यह भी पता नहीं चलता कि कपिल ने ऐसा कोई ग्रन्थ लिखा हो।

मीमांसा;† बृहस्पति-कृत लौकायत नामक पुस्तक, जिसका विषय है कि सभी निरूपणों में हमें केवल इन्द्रियों की उपलब्धि पर ही भरोसा करना चाहिए; अगस्त्य-कृत अगस्त्यमत, जिसका विषय यह है कि सकल निरूपणों में हमें इन्द्रियों की उपलब्धि और ऐतिह्य दोनों का प्रयोग करना चाहिए; और विष्णु-धर्म्म नामक पुस्तक है। धर्म शब्द का अर्थ पुरस्कार है परन्तु प्रायः इसका प्रयोग मजहब के लिए किया जाता है; इसलिए पुस्तक के इस नाम का अर्थ हुआ ईश्वर का मजहब (धर्म), ईश्वर से यहाँ अभिप्राय नारायण से है। फिर व्यास के छः शिष्यों की पुस्तकें हैं। वे शिष्य ये हैं :—देवल, शुक्र, भार्गव, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, और मनु। विज्ञान की सभी शाखाओं पर हिन्दुओं के यहाँ अनेक पुस्तकें हैं। इन सबके नामों को कौन मनुष्य जान सकता है? विशेषतः जब कि वह हिन्दू नहीं प्रत्युत एक विदेशी हो।

महाभारत

इसके अतिरिक्त, उनकी एक और पुस्तक है। इसका वे इतना सम्मान करते हैं और प्रतिज्ञा-पूर्वक कहते हैं कि जो बातें दूसरी पुस्तकों में लिखी हैं वे सबकी सब इसमें भी पाई जाती हैं, परन्तु इस पुस्तक की सारी बातें दूसरी पुस्तकों में नहीं पाई जातीं। इसका नाम भारत है ‡ इसको पराशर के के पुत्र व्यास ने उस समय बनाया था जब कि कुरु और पाण्डु के पुत्रों में महायुद्ध हुआ था। इसका नाम स्वयं ही उन समयों का ज्ञापक है। पुस्तक के १,००,००० श्लोक और अठारह भाग हैं। प्रत्येक भाग पर्व कहलाता है। हम यहाँ उनकी सूची देते हैं :—

१. सभा-पर्व, अर्थात् राजा का घर।

२. अरण्य, अर्थात बाहर खुले मैदान में जाना; इसका तात्पर्य पाण्डु के पुत्रों का प्रस्थान है।

३. विराट, अर्थात एक राजा का नाम जिसके देश में वे जाकर छिपे थे।

४. उद्योग, अर्थात युद्ध की तैयारी।

५. भीष्म।

६. द्रोण, ब्राह्मण।

७. कर्ण, सूर्य का पुत्र था।

८. शल्य, दुर्योधन का भाई। ये लड़ाई में लड़नेवाले वीरों में शिरोमणि थे। जब एक मर जाता था तब सदा दूसरा आगे उसकी जगह आ जाता था।

९. गदा, अर्थात मोगरी।

१०. सौप्तिक, अर्थात सोते हुए मनुष्यों का मारा जाना, जब द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने पाञ्चाल नगर पर रात्रि को आक्रमण किया और वहाँ के निवासियों को मार डाला।

११. जलप्रदानिक, अर्थात मृतकों को छूने से पैदा होने वाली अशुचिता को धो चुकने के उपरान्त मृतकों के लिए लगातार पानी निकालना।

---

† कपिल के विपरीत जैमिनी वेद को सनातन और अपौरुषेय बताता है। यह सिद्धान्त और जिन-जिन विवादों में से गुजर चुका है वे सब इसलाम के कुरान सम्बन्धी इतिहास में भी पाये जाते हैं। इसलाम की दृष्टि में कुरान भी सनातन तथा अमानुषिक है।

‡ भारत को महाभारत कहते हैं। प्रसिद्ध पुस्तक श्री मद्भागवतगीता इसका एक भाग है। वासुदेव के जन्म और पाँच पाण्डवों की कथा महाभारत से ली गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसको मूल पुस्तक अलबेरूनी के पास नहीं थी। क्योंकि इस पुस्तक के अवतरण देते वक्त वह इस बात का उल्लेख नहीं करता। अगर यह पुस्तक उसके पास होती तो वह बराबर इसके अवतरण देता।

१२. स्त्री, अर्थात स्त्रियों का विलाप।

१३. शान्ति, अर्थात हृदय से घृणा का उन्मूलन करना। इसके चार भाग हैं और २४००० श्लोक। उन भागो के नाम ये हैं :—

(क) राजधर्म, राजाओं के पुरस्कार पर।

(ख) दानधर्म, राजओं के दान देने के पुरस्कार पर।

(ग) आपद्धर्म, दरिद्रों और दुखियों के पुरस्कार पर।

(घ) मोक्षधर्म, उस मनुष्य के पुरस्कार पर जो कि संसार से मुक्त हो चुका है।

१४. अश्वमेध, अर्थात संसार में घूमने के लिए सेना-सहित भेजे हुए घोड़े का वलिदान। तब वे जनता में यह विघोषित करते हैं कि यह घोड़ा सारे संसार के राजा का है, और जो उसे चक्रवर्ती राजा नहीं मानता वह सामने आकर युद्ध करे। घोड़े के पीछे-पीछे ब्राह्मण जाते हैं और जहाँ-जहाँ वह लीद करता है वहाँ वे अग्नि में होम करते हैं।

१५. मौसल, अर्थात यादवों का आपस में लड़ना। यादव वासुदेव की जाति का नाम है।

१६. आश्रमवास, अर्थात अपने देश को छोड़ना।

१७. प्रस्थान, अर्थात मोक्ष की तलाश में राज्य का परित्याग।

१८. स्वर्गारोहण, अर्थात स्वर्ग की यात्रा।

इन अठारह भागों के वाद हरिवंश-पर्व नामक एक और प्रकरण है। इसमें वासुदेव-सम्बन्धी कथाएँ है।

इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे वचन मिलते हैं, जिनके पहेलियों की तरह अनेक अर्थ निकल सकते हैं। इसका कारण बताने के लिए हिन्दू यह कहानी सुनाते हैं :—व्यास ने ब्रह्मा से कहा कि मुझे कोई ऐसा व्यक्ति दीजिए जो भारत को मेरे मुँह से सुन कर लिखता जाय। उसने यह काम अपने गणेश के सिपुर्द किया और उसके लिए यह आवश्यक कर दिया कि वह लिखने से कभी रुक न जाय। साथ ही व्यास ने आज्ञा दी कि केवल वही बातें लिखना जिनको कि तुम समझ लो। इस लिए व्यास ने बोलते हुए ऐसे वाक्य बोले जिन पर लेखक को विचार करना पड़ा, और इससे व्यास को आराम करने के लिए थोड़ा समय मिलता गया।

तेरहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं का व्याकरण तथा छन्द सम्बन्धी साहित्य

व्याकरण की पुस्तकों की सूची

व्याकरण और छन्दःशास्त्र दूसरे शास्त्रों से सम्बन्धित हैं। इन दोनों में से व्याकरण का स्थान सर्व प्रथम है। व्याकरण उनकी वाणी तथा उत्पत्ति-सम्बन्धी नियमों की शुद्धि का कानून है। इसके द्वारा वे लिखने और पढ़ने की श्रेष्ठ और अस्खलित शैली प्राप्त करते हैं। हम मुसलमान लोग इसका कुछ भी अंश नहीं सीख सकते, क्योंकि यह एक ऐसे मूल से निकली हुई

शाखा है जो कि हमारी पकड़ के अन्दर नहीं। यह कहने से मेरा तात्पर्य स्वयम भाषा से है। इसल शास्त्र के ग्रन्थों के जो नाम मुझे बताये गये है वे ये हैं:—

१. ऐन्द्र, इसका सम्बन्ध देवताओं के राजा इन्द्र से बताया जाता है।

२. चान्द्र, यह चन्द्र की रचना है जो कि बौद्ध धर्म का एक भिक्षु था।

३. शाकट, इसका नाम इसके रचयिता के नाम पर है। उसकी जाति भी एक ऐसे नाम, अर्थात शाकटायन, से पुकारी जाती है जिसकी व्युत्पत्ति इसी शब्द से है।

४. पाणिनि, अपने रचयिता के नाम पर इसका यह नाम है।

५. कातन्त्र, इसका रचयिता शर्ववर्मन है।

६. शशिदेववृत्ति, यह शशिदेव की रचना है।

७. दुर्गविवृत्ति।

८. शिष्यहितावृत्ति, यह उग्रभूति की बनाई हुई है।

राजाआनन्दपाल और उसका गुरु उग्रभूति

मुझे बताया गया है कि उग्रभूति जयपाल के पुत्र शाह आनन्दपाल का शिक्षक और गुरु था। जयपाल वही राजा है जो हमारे समय में शासन करता था। पुस्तक को पूरा कर लेने पर उसने इसे काश्मीर भेज दिया; परन्तु वहाँ वालों ने इसे ग्रहण नहीं किया, क्योंकि ऐसी बातों में वे बड़े ही अभिमानी और परिवर्तन-विरोधी थे। अब उसने इस बात की शाह से शिकायत की, और शाह ने, गुरु के प्रति शिष्य-धर्म्म का पालन करते हुए, उसकी मनः कामना पूर्ण करा देने का वचन दिया। उसने आज्ञा दी कि २,००,००० दिर्हम और इतने ही मूल्य के उपहार काश्मीर में भेज कर उन लोगों में बाँट दिये जायँ जो उसके गुरु की पुस्तक का अध्ययन करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि वे सब इस पुस्तक पर टूट पड़े, और उन्होंने इसके सिवा और दूसरे व्याकरण की प्रतिलिपि करना छोड़ दिया। इससे उनके लोभ की नीचता प्रकट होती है। इस प्रकार पुस्तक का प्रचार और आदर बहुत बढ़ गया।

व्याकरण की उत्पत्ति के विषय में वे यह कथा बताते हैं:—एक दिन समलवाहन, अर्थात् संस्कृत भाषा में सातवाहन, नामक उनका एक राजा एक सरोवर में अपनी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ उसने उनमें से एक को कहा "मा उदकम् देहि" अर्थात् मुझ पर पानी मत फेंको। परन्तु वह स्त्री इसका अर्थ "मोदकम् देहि" अर्थात् मिठाई दो, समझी। इसलिये वह वहाँ से जाकर मिठाई ले आई। जब राजा ने उसके इस काम को नापसन्द किया तब उसने उसे बड़े क्रोध से उत्तर दिया और उसके प्रति गर्ह्य भाषा का प्रयोग किया। अब राजा इससे बहुत अप्रसन्न हुआ और, जैसी कि उनके यहाँ रीति है, उसने सब प्रकार के भोजन का परित्याग कर दिया, और एक कोने में छिप कर बैठ गया। अन्त को एक ऋषि उसके पास आया। उसने उसे समाश्वासन दिया और प्रतिज्ञा की कि मै लोगों को भाषा के विकार और व्याकरण सिखला दूंगा। इस पर वह ऋषि महादेव के पास गया और उसकी स्तुति, प्रार्थना और भक्ति की। महादेव ने उसे दर्शन दिया और उसे कुछ नियम सिखलाये, जैसे कि अबुल-असवद दुएली ने अरबी भाषा के लिये दिये हैं। महादेव ने उसे यह भी वचन दिया कि इस शास्त्र के विकास में मैं तुम्हें सहायता दूंगा। तब ऋषि ने वहाँ से लौट कर यह विद्या राजा को सिखाई। व्याकरण-शास्त्र की उत्पत्ति यहाँ से हुई थी।

व्याकरण के बाद एक दूसरा जो शास्त्र आता है। इसका नाम छन्द है। यह हमारे छन्दों के सदृश है। यह शास्त्र उनके लिये अनिवार्य है; क्योंकि उनकी सभी पुस्तकें कविता में हैं। पुस्तकों की छन्दों में रचना करने से उनका उद्देश्य यह है कि इन्हें कण्ठस्थ करने में सुभीता हो, और शास्त्र-सम्बन्धी सर्व प्रश्नों के लिए, परमावश्यकता के बिना, लोगों को बार-बार लिखित पुस्तक को न देखना पड़े। क्योंकि उनका ख्याल है कि जिन चीजों में आकार-शुद्धता और व्यावस्था है उनके साथ मानव-मन की सहानुभूति और जिनमें व्यवस्था नहीं उनसे विरक्ति होती है। इसलिए प्रायः हिन्दू अपने छन्दों पर बड़े ही अनुरक्त हैं। वे अर्थ न समझते हुए भी सदा उनका पाठ करते रहते हैं और श्रोतागण हर्ष और प्रशंसा प्रकट करने के लिये अपनी अँगुलियाँ चटकाते हैं। वे गद्यात्मक रचनाओं को पसन्द नहीं करते, यद्यपि इनका समझना अपेक्षाकृत बहुत सुगम है।

उनकी पुस्तकें प्रायः श्लोकों में बनी हुई हैं। मैं भी आजकल श्लोकों का अभ्यास कर रहा हूँ, क्योंकि मैं हिन्दुओं के लिए यूक्लिड और अलमजस्ट की पुस्तकों का भाषान्तर तैयार करने और उनको अस्तरलाव के निर्माण पर एक निबन्ध के लिखवाने में लगा हुआ हूँ। इसमें मेरा उद्देश्य विद्या-प्रचार के सिवा और कुछ नहीं। जब हिन्दुओं के हाथ कोई ऐसी पुस्तक लग जाती है जिसका उनमें अभी अभाव हो तो वे फौरन उसे श्लोक-बद्ध करना आरम्भ कर देते हैं। ये श्लोक दुर्बोध्य होते हैं क्योंकि पद्यात्मक रचना के लिए एक कृत्रिम और संकुचित शैली की आवश्कता होती है। यह बात उस समय स्पष्ट हो जायगी जब हम उनकी संख्या को प्रकट करने की रीति का वर्णन करेंगे। और यदि छन्द पर्याप्त क्लिष्ट न हों तो लोग उनके रचयिताओं पर नाक-भौं चढ़ाते हैं कि उन्होंने गद्य ऐसा लिख डाला है। इससे उनको बहुत दुःख होता है। जो कुछ मैं उनके विषय में कह रहा हूँ उनमें परमात्मा ही मेरे साथ न्याय करेगा।

छन्द पर पुस्तकें

इस शास्त्र के आविष्कारक पिङ्गल थे। इसको अनेक पुस्तकें हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध पुस्तक गैसित (?गै-स-त) है। इसका यह नाम इसके रचयिता के नाम पर है। यह इतनी प्रसिद्ध है कि सारा छन्दः शास्त्र इसी नाम से पुकारा जाता है। और पुस्तकें मृगलाञ्छन, पिङ्गल, और औलियान्द [?ऊ-(औ)-ल-या-आ-न-द] की रचनायें हैं। परन्तु मैंने इन पुस्तकों में से एक भी नहीं देखी, न मुझे ब्रह्मसिद्धान्त के छन्द-गणना के अध्याय का कुछ अधिक ज्ञान है, इसलिए उनके छन्दःशास्त्र के नियमों का पूरा-पूरा ज्ञान रखने का मैं अभिमानी नहीं। इस पर भी जिस विषय का मुझे अल्प ज्ञान है उसे छोड़ जाना ठीक नहीं और मैं उस समय तक जब कि मेरा इस पर पूर्ण अधिकार हो जाय, इसका वर्णन करना स्थगित न करूँगा।

लघु और गुरु नामक परिभाषाओं का अर्थ

अक्षरों (गणछन्दस्) को गिनने में वे उसी प्रकार के चिन्हों का प्रयोग करते हैं जिस प्रकार के चिन्हों का अलखलील इब्न अहमद और हमारे छन्दःशास्त्रियों ने स्वर-रहित व्यञ्जन को प्रकट करने के लिए व्यवहार किया हैं। वे चिह्न । और < हैं इनमें से पहला लघु अर्थात हलका और दूसरा गुरु अर्थात भारी कहलाता है। नापने (मात्राछन्दस्) में लघु से गुरु दुगुना गिना जाता है, और एक गुरु के स्थान को दो लघु रखते हैं।

इसके अतिरिक्त उनका एक लम्बा (दीर्घ) अक्षर होता है। इसकी मात्रा या छन्द गुरु के बराबर गिना जाता है। मैं समझता हूँ यह दीर्घ स्वरवाला अक्षर है (यथा का, की, कू)। परन्तु

यहाँ मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि इस समय तक मैं लघु और गुरु के स्वरूप को पूरी तरह से नहीं समझ सका जिससे मैं अरबी से वैसे ही उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट कर सकूं। तिस पर भी मेरा खयाल है कि लघु का अर्थ स्वर-रहित व्यञ्जन नहीं, और न गुरु का अर्थ स्वर-सहित व्यञ्जन है, प्रत्युत, लघु का अर्थ छोटे स्वरवाला व्यञ्जन (यथा क, कि, कु) है और गुरु का अर्थ स्वर-रहित व्यञ्जन से संयुक्त लघु है। जैसा कि (कत्, कित्, कुत्,)। अरबी छन्दःशास्त्र में इसके सदृश सबव (अर्थात—या, एक लम्बा अक्षर जिसका स्थान दो छोटे ले सकते हैं।) नामक एक उपक्रम है। लघु के पूर्वलिखित लक्षण में मेरे सन्देह का कारण यह है कि हिन्दू एक-दूसरे के बाद लगातार अनेक लघुओं का प्रयोग कर देते हैं। अरबी लोग एक-दूसरे के पीछे इकट्ठा दो स्वर-रहित व्यञ्जनों का उच्चारण करने में असमर्थ हैं, परन्तु अन्य भाषाओं में यह बात सम्भव है। उदाहरणार्थ, फारसी छन्दःशास्त्र ऐसे व्यञ्जन को हलके द्वारा हिलाया हुआ (अर्थात इब्रानी स्च्व की तरह बोला जानेवाला) कहते हैं। परन्तु जिस अवस्था में ऐसे व्यञ्जन तीन अधिक हों तो उनका उच्चारण करना अति कठिन बरन असम्भव है; और इसके विपरीत, एक व्यञ्जन और एक छोटे स्वर के बने हुए छोटे-छोटे अक्षरों के एक अविरत अनुक्रम का उच्चारण करना कुछ भी कठिन नहीं, जैसे जब हम अरबी में कहते हैं "—बदनुक् कमसलि सिफ़तिक् व फ़मुक् बिसअते शफतिक्" (अर्थात तेरा शरीर तेरे वर्णन के सदृश है, और तेरे मुँह का निर्भर तेरे होंठ की चौड़ाई पर है)। फिर, यद्यपि शब्द के आरम्भ में स्वर-रहित व्यञ्जन का बोलना कठिन है, तो भी हिन्दुओं के प्रायः विशेष्यों का आरम्भ यदि ठीक स्वर-रहित व्यञ्जनों से नहीं तो कम से कम ऐसे व्यञ्जनों से अवश्य होता है जिनके बाद केवल स्च्व-सदृश स्वर-ध्वनि है। यदि ऐसा व्यञ्जन पद्य के आरम्भ में हो तो वे इसे नहीं गिनते, क्योंकि गुरु का नियम यह चाहता है कि इसमें स्वरहीन व्यञ्जन स्वर के पहले नहीं प्रत्युत इसके पीछे आये (क-त, कि-त्, कु-त्)

मात्रा की परिभाषा

फिर, जिस प्रकार हमारे लोगों ने चरणों से विशेष कल्पनायें या रीतियाँ तैयार की हैं जिनके अनुसार पद्य बनाये जाते हैं, और जैसे चरण के भागों अर्थात स्वर-हीन और स्वर-सहित व्यञ्जनों को प्रकट करने के लिए चिह्न बनाये हैं उसी प्रकार हिन्दू भी लघु और गुरु के बने हुए चरणों को दिखलाने के लिए विशेष नामों का प्रयोग करते हैं। इन चरणों में या तो लघु पहले और गुरु पीछे या गुरु पहले और लघु पीछे होता है, पर ये आगे-पीछे होते इस रीति से हैं कि अक्षरों की संख्या चाहे बदलती रहे पर मात्रा सदा वही रहेगी। इन नामों से वे एक विशेष रूढ़ छान्दस ऐक्य (अर्थात विशेष चरणों) को दिखलाते हैं। मात्रा से मेरा तात्पर्य यह है कि लघु एक मात्रा के बराबर गिना जाता है, और गुरु दो के बराबर। यदि वे चरण को लिख कर प्रकट करते हैं तो वे केवल अक्षरों की मात्रायें ही बताते हैं उनकी संख्या नहीं, जैसा कि (अरबी में) द्विगुण व्यञ्जन (क्क) एक स्वरहीन व्यञ्जन और एक स्वरसहित व्यञ्जन के बरानर गिना जाता है, और एक व्यञ्जन जिसके पीछे तन्वीन (कुन) हो वह एक स्वरयुक्त व्यञ्जन और एक स्वरहीन व्यञ्जन के बराबर जाता है, परन्तु लिखने में दोनों एक से दिखलाये जाते हैं (अर्थात प्रस्तुत व्यञ्जन के चिह्न से)।

लघु और गुरु के अन्य नाम

लघु और गुरु का अलग विचार करें तो इनके अनेक नाम हैं। लघु ल, कलि, रूप, चामर, और ग्रह कहलाता है, और गुरु ग; नीव्र, और अर्द्ध अंशक। पिछला नाम यह प्रकट करता है

कि पूर्ण अंशक दो गुरुओं के बराबर या उनका प्रतिफल है। ये नाम उन्होंने केवल इसलिए गढ़े हैं जिससे उनको पद्यात्मक पुस्तकों को श्लोकबद्ध करने में सुगमता हो। इस कार्य के लिए उन्होंने इतने नाम निकाले हैं कि यदि दूसरे नाम छ ंदों के ठीक न भी बैठें तो एक तो अवश्य ठीक बैठ जायगा।

इकहरे चरण

लघु और गुरु के संयोग से पैदा होनेवाले चरण ये हैं :—

संख्या और मात्रा दोनों में द्विगुण चरण हैं ॥, अर्थात दो अक्षर और दो मात्रायें।

मात्रा में नहीं, प्रत्युत केवल संख्या में, द्विगुण चरण होते हैं, ।<और<।; मात्रा में वे तीन मात्रा के बरार हैं ।।। (परन्तु, संख्या में केवल दो अक्षर हैं)।

दूसरा चरण <। कृत्तिका कहलता है।

चतु:संख्यक चरणों के प्रत्येक पुस्तक में भिन्न भिन्न नाम हैं :—

<<पक्ष अर्थात आधा महीना। ॥ <ज्वलन, अर्थात आग।

।<। मध्य (? मधु)।

<॥ पर्वत, अर्थात पहाड़। इसका नाम हार और रस भी है। ।।।। घन।

पाँच मात्राओं के बने चरणों के अनेक रूप हैं; इनमें से जिनके विशेष नाम हैं वे ये हैं :—

।<<हस्ति, अर्थात हाथी। <।<, काम, अर्थात इच्छा।

<<। (? दीमक चाट गई)। ।।।< कुसुम।

जिस चरण में छः मात्रायें हों वह <<<है। अनेक लोग इन चरणों के शतरंज के मुहरों के नाम रखते हैं, यथा :—

ज्वलन = हाथी। मध्य = कोट या किला।

पर्वत = पियादा घन = घोड़ा।

एक शब्द-कोश में जिसक. नाम उसके रचयिता (हरिभट्ट) ‡ ने अपने ही नाम पर रखा है। तीन लघु या गुरु के बने चरणों को शुद्ध व्यञ्जन के नाम दिये हैं। वे नीचे के कोठे में बाईं ओर लिखे गये हैं।

कोठा

म <<< छः गुना (अर्थात छः मात्रावाला) य। << हस्तिन।

र <।< काम। त <<। (? दीमक चाट गई)

स ॥< ज्वलन। ज।<। मध्य।

भ < ॥ पर्वत। न।।। तिगुना (अर्थात तीन मात्रावाला)।

इन चिह्नों के द्वारा ग्रन्थकार आनुमानिक रीति से (एक प्रकार के बीजगणित-सम्बन्धी परिवर्तन से) इन आठ चरणों के बनाने की विधि सिखाता है। वह कहता है :—

---

‡ इसनाम के किसी अभिधान-प्रणेता का पता नहीं चलता। अलबेरूनी ने इसे हरिउद्द लिखा है, जो संस्कृत में अनेक रूप भी प्रकट कर सकता है।

दोनों प्रकारों (गुरु और लघु) में से एक को पहली पंक्ति में अमिश्रित रखो (जो कि, यदि हम गुरु से आरम्भ करें तो, <<<होगा) । तब इसे दूसरे प्रकार के साथ मिला दो, और इसमें से एक को दूसरी पंक्ति के आरम्भ में रख दो, बाकी के दो तत्व पहले प्रकार के हों (।<<।)। तब इस संमिश्रण के तत्व को तीसरी पंक्ति के मध्य में रक्खो (<।<),और अन्ततः चौथी पंक्ति की समाप्ति पर (<<।) । अब तुम पहला आधा भाग समाप्त कर चुके ।

इसके आगे,दूसरे प्रकार को सबसे निचली पंक्ति में अमिश्रित रख दो (।।।), और इसके ऊपर की पंक्ति के साथ एक पहले प्रकार को मिला कर इसको पंक्ति के आरम्भ में रक्खो (<।।), फिर उसके बाद की दूसरी पंक्ति के मध्य में (।<।), और अन्ततः उनके आगे की पंक्ति के अन्त में रक्खो (।।<) । तब दूसरा आधा भाग समाप्त हो गया, और तीन मात्राओं के जितने समवायों का होना सम्भव है वे पूरे हो चुके ।

१. <<<	पहला आधा ।	५. ।।<	दूसरा आधा ।
२. ।<<		६. ।<।	
३. <।<		७. <।।	
४. <<।		८. ।।।	

रचना या परिवर्तन की यह पद्धति ठीक है, परन्तु इस परिवर्तन क्रम में शुद्ध चरण का स्थान मालूम करने के लिए उसकी गणना इसके अनुसार नहीं है । क्योंकि वह कहता है:—

"चरण का प्रत्येक तत्व (अर्थात गुरु और लघु दोनों) दिखलाने के लिए २ का अंक, सदा के लिए एक ही बार, रख दो, जिससे प्रत्येक चरण २, २, २ द्वारा प्रकट किया जाय । बायें (अंक) को मध्य से, और उनके फल को दायें अंक से गुणा करो । यदि यह गुणक (अर्थात दाईं ओरका यह अंक) लघु हो तो घात को वैसा का वैसा ही रहने दो; परन्तु यदि यह गुरु हो तो घात में से एक निकाल दो ।"

ग्रंथकार उसका दृष्टान्त छठे चरण अर्थात ।<। से देता है । वह २ का २ से गुणा करता है और घात (४) से १ निकाल देता है । बाकी ३ का वह तीसरे २ से गुणा करता है, और उसका घात ६ प्राप्त होता ।

पर बहुत से चरणों के लिए यह ठीक नहीं, और मुझे कुछ ऐसा जान पड़ता है कि हस्तलेख का पाठ भ्रष्ट है ।

इसके अनुसार चरणों का यथार्थ क्रम इस प्रकार होगा :—

	क	ख	ग		क	ख	ग
१.	<	<	<	५.	<	<	।
२.	।	<	<	६.	।	<	।
३.	<	।	<	७.	<	।	।
४.	।	।	<	८.	।	।	।

पहली पंक्ति (क) का संमिश्रण ऐसा है कि एक प्रकार के बाद सदा दूसरा प्रकार आता है

दूसरी पंक्ति (ख) में एक प्रकार के दो के बाद दूसरे प्रकार के दो आते है; और तीसरी पंक्ति (ग) में एक प्रकार के चार के बाद दूसरे प्रकार के चार आते हैं ।

तब उपर्युक्त गणना का रचयिता कहता है, "यदि चरण का पहला तत्व गुरु हो तो गुणन से पूर्व उसमें से एक निकाल लो। यदि गुणक गुरु हो तो घात में से एक निकालो। इस प्रकार तुम्हें इस क्रम में चरण का स्थान मालूम हो जायगा।"

पाद

जिस प्रकार अरबी छन्द अरूज़ अर्थात पहले श्लोकार्ध के अन्तिम चरण, और दर्ब अर्थात दूसरे श्लोकार्ध के अन्तिम चरण द्वारा दो आधों या श्लोकार्धों में विभक्त हैं उसी प्रकार हिन्दुओं के श्लोक भी दो आधों में बँटे हुए हैं। इनमें से प्रत्येक को पाद कहते हैं। यूनानी भी उन्हे पाद (: : : : क्रमिभुक्त) कहते हैं,—वे शब्द जो इसके, अर्थात अक्षर के, बने हुए हैं, और स्वरयुक्त या स्वरहीन व्यञ्जन, दीर्घ, लघु, या संदिग्ध स्वरोंवाले व्यञ्जन।

आर्याछन्द

छन्द तीन, या अधिक सामान्य रीति से चार पादों में विभक्त होता है। कई बार वे छन्द के मध्य में एक पाँचवाँ पाद भी जोड़ देते हैं। पादों में मित्राक्षर नहीं होता, पर एक प्रकार का वृत्त होता है जिसमें १ और २ पाद एक ही व्यञ्जन या अक्षर के साथ समाप्त होते हैं, मानों जैसे इस पर तुक मिलाते हों, और ३ और ४ पाद भी उसी व्यञ्जन या अक्षर पर समाप्त होते हैं। इस प्रकार के छन्द को आर्या कहते है। पाद के अन्त में लघु का गुरु हो सकता है, पर प्राय यह छन्द लघु के साथ समाप्त होता है।

हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न काव्य-ग्रन्थों में बहुसंख्यक वृत्त मिलते हैं। ५ पादों के वृत में पाँचवां पाद ३ और ४ पादों के बीच रक्खा जाता है। वृत्तों के नाम अक्षरों की संख्या, और पीछे आनेवाले श्लोकों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। क्योंकि वे यह नहीं पसन्द करते कि एक लम्बे काव्य के सभी श्लोक एक ही वृत्त के हों। वे एक ही कविता में अनेक वृत्तों का प्रयोग करते हैं जिससे वह रेशम की एक गुलकारी मालूम हो।

चार पाद के वृत्त में चार पादों की बनावट इस प्रकार होती है:—

पाद १.	<< पक्ष = १ अंशक। < ।। पर्वत। ।। < ज्वलन।।	<< पक्ष। < ।। पर्वत। << पक्ष।	पाद ३.
पाद २.	<<पक्ष। ।। <ज्वलन। ।। <मध्य। <।। पर्वत। << पक्ष।	<< पक्ष। ।।< ज्वलन। ।<। मध्य। <।। पर्वत। ।।< ज्वलन।	पाद ४.

यह उनके छन्दों की एक जाति का आलेख्य है। इस वर्ग का नाम स्कन्ध है और इसमें चार पाद होते हैं। इसमें दो श्लोकार्ध और प्रत्येक श्लोकार्ध में आठ अंशक होते हैं।

शुद्ध अंशक का १ला, २रा, और ५वाँ कभी मध्य अर्थात <। नहीं हो सकता, और छठा सदा या तो मध्य या घन होना चाहिये। यदि यह शर्त पूरी हो जाय तो फिर दूसरे अंशक घटना या कवि की अभिरुचि के अनुसार चाहे कुछ ही हों। परन्तु छन्द सदा पूर्ण होना चाहिए, कम या ज्यादा नहीं। इसलिए, शुद्ध पादों में विशेष अंकों की बनावट के नियमों का पालन करते हुए, हम चार पादों को निम्नलिखित रीति से दिखलाते हैं :—

१. << <।। ।।<
२. << ।।< ।<। <।। <<
३. << ।<। <<
४. << ।<< ।<। <।। ।।<

इस नमूने के अनुसार श्लोक बनाया जाता है।

अरबों और हिन्दुओं के श्लोक का अंकन

यदि तुम हिन्दुओं के इन चिन्हों से अरबी छन्द का वर्णन करोगे तो देखोगे कि उनका अर्थ अरबी चिह्नों के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। अरबी चिह्न छोटे स्वरवाले व्यञ्जन और स्वरहीन व्यञ्जन को दिखलाते हैं। (अरबी चिन्ह । का अर्थ स्वरहीन व्यञ्जन है; हिन्दू चिह्न । का अर्थ एक छोटा अक्षर है; अरबी चिन्ह ० का अर्थ छोटे स्वरवाला व्यञ्जन हैं; हिन्दू चिन्ह < का अर्थ लम्बा अक्षर है।)

मैं एक बार पहले भी कह चुका हूँ और अब दुबारा कहता हूँ कि इस शास्त्र का अल्प ज्ञान रखने के कारण मैं पाठकों को इस विषय का पूर्ण परिचय कराने में असमर्थ हूँ। फिर भी मैंने यथासम्भव पूरा-पूरा यत्न किया है यद्यपि मैं भली भाँति जानता हूं कि मैं केवल बहुत थोड़ा परिज्ञान ही दे सका हूँ।

वृत्त पद्य पर

वृत्त उस चार पादवाले पद्य का नाम है जिसमें छन्दःशास्त्र के चिन्ह और अक्षरों की संख्या, पादों की विशेष पारस्परिक अनुरूपता के अनुसार, एक-दूसरे के समान हो, जिससे एक पाद को जान लेने से हम दूसरों को भी जान लेते हैं, क्योंकि वे इसके सदृश ही होते हैं। इसके अतिरिक्त यह नियम है कि एक पाद में चार से कम अक्षर नहीं हो सकते, क्योंकि इनसे कम अक्षरोंवाला पाद वेद में नहीं मिलता। इसी कारण पाद में अक्षरों की संख्या कम से कम चार, और अधिक से अधिक छब्बीस होती है। फलतः वृत्तपद्य के तेईस प्रकार हैं।

यद्यपि हमारे इस सुदीर्घ वर्णन में काम की चीज बहुत थोड़ी है परन्तु हमने यह इसलिए दे दिया है कि पाठक लघुओं के संग्रह का उदाहरण समझ लें। इससे पता लगता है कि लघु का अर्थ स्वरहीन व्यजन नहीं, प्रत्युत एक ऐसा व्यजन है जिसके पीछे एक छोटा स्वर हो। इसके अतिरिक्त

उन्हें यह भी मालूम हो जायगा कि वे पद्य का वर्णन और उसकी मात्रा-गणना किस प्रकार करते हैं। अन्ततः उन्हें ज्ञात हो जायगा कि अलखलील इब्न अहमद ने सर्वथा अपनी ही कल्पना शक्ति से अरबी छन्दों का आविष्कार किया था। हाँ इतना जरूर सम्भव है, जैसा कि अनेक लोगों का मत है कि शायद उसने यह सुना हो कि हिन्दू अपनी कविता में विशेष वृत्तों का उपयोग करते हैं। भारतीय कविता के विषय में इतनी सिरपच्ची करने में हमारा उद्देश्य यह है कि श्लोक के नियमों का निश्चय किया जाय, क्योंकि उनकी पुस्तकों की रचना प्रायः इसी में हुई है।

श्लोक का सिद्धान्त

श्लोक का सम्बन्ध चार पादवाले छन्दों से है। प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं, जो कि चारों पादों में भिन्न-भिन्न होते हैं। चार पादों में से प्रत्येक का अन्तिम अक्षर एक ही अर्थात् गुरु होना आवश्यक है। फिर प्रत्येक पाद में पाँचवाँ अक्षर सदा लघु, और छठा गुरु होना चाहिए। सातवाँ अक्षर दूसरे और चौथे पाद में लघु, और पहले और तीसरे पाद में गुरु होना चाहिए। बाकी अक्षर सर्वथा घटना या कवि की अभिरुचि के अधीन हैं।

ब्रह्मगुप्त का प्रमाण

यह दिखलाने के लिए कि हिन्दू अपनी कविता में गणित का किस प्रकार प्रयोग करते हैं हम नीचे ब्रह्मगुप्त का एक प्रमाण देते हैं:—

'पहले प्रकार का छन्द गायत्री, अर्थात दो पादों का बना पद्य है। अब यदि हम यह मान लें कि इस छन्द के अक्षरों की संख्या २४ है; और एक पाद के अक्षरों की कम से कम संख्या ४ है, तो हम दो पादों का वर्णन ४+४ से करेंगे। इसमें उनके अक्षरों की संख्या उतनी कम दिखलाई गई है जितनी कम संभव हो सकती हैं। परन्तु उनकी बड़ी से बड़ी संख्या २४ सम्भव हो सकती हैं, इसलिए हम इन ४+४ और २४ के अन्तर अर्थात १६ को दाईं ओर के अंक में मिलाते हैं और हमें ४+२० प्राप्त होते है। यदि छन्द के तीन पाद हों तो यह ४+४+१६ से प्रकट किया जाता है। दायें हाथ का पाद सदा दूसरों से भिन्न होता है और इसका नाम भी अलग होता है। परन्तु पूर्ववर्ती पाद भी जुड़े हुए होते हैं और उनके जुड़ने से एक समष्टि बनती है। इनके नाम भी वैसे ही अलग अलग होते हैं। यदि छन्द के चार पाद हों तो यह ४+४+४+१२ से प्रकट किया जाता है।

'यदि कवि चार अर्थात सब से कम अक्षरों के पादों का प्रयोग न करे, और यदि हमें दो पाद वाले छन्द में आने वाले २४ अक्षरों के समवायों की संख्या जानने की इच्छा हो तो हमें ४ को बायें हाथ और २० को दायें हाथ की ओर लिखना चाहिये; हमें १ को ४ में, फिर १ को कुल जोड़ में मिलाना चाहिये इत्यादि, हम १ को २० में से, फिर १ को अवशेष में से निकालें, इत्यादि और हम तब तक ऐसा ही करते जायँ जब तक कि हमें वे दोनों अंक न मिल जायँ जिनसे हमने आरम्भ किया था, छोटा अंक उस पंक्ति में होगा जिसका आरम्भ बड़े अंक के साथ हुआ था, और बड़ा अंक उस पंक्ति में होगा जिसका आरम्भ छोटे अंक से हुआ था; निम्नलिखित कल्पना को देखिये :—

४	२०
५	१९
६	२०
७	१७
८	१६
९	१५
१०	१४
११	१३
१२	१२
१३	११
१४	१०
१५	९
१६	८
१७	७
१८	६
१९	५
२०	४

इन समवायों की संख्या १७ अर्थात ४ और २० योग १ का अन्तर है।

त्रिपाद छन्द का, जिसमें अक्षरों की पूर्व कल्पित संख्या अर्थात २४ हो, पहला प्रकार वह है जिससे तीनों ही पादों में अक्षरों की संख्या यथा सम्भव नीचतम अर्थात ४+४+१६ हो।

'दायें हाथ का अंक और मध्य अंक उसी तरह लिखते हैं जिस तरह हमने द्विपाद छन्द के पादों में लिखा है, और उनके साथ भी वैसी ही गणना करते हैं जैसी कि हमने ऊपर की है। इसके अलावा हम दाईं ओर के अंक को एक अलग घेरे में जोड़ते हैं पर हम इसमें कोई परिवर्तन नहो होने देते। नीचे की कल्पना को देखिये:—

४	४	१६
४	५	१५
४	६	१४
४	७	१३
४	८	१२
४	९	११
४	१०	१०
४	११	९
४	१२	८
४	१३	७
४	१४	६
४	१५	५
४	१६	४

'यह १३ विनिमयों की संख्या देता हैं, परन्तु निम्नलिखित रीति से संख्याओं के स्थानों को आगे और पीछे बदलने से यह संख्या छः गुना अर्थात ७८ तक बढ़ाई जा सकती है:—

१. दाईं ओर का अंक अपने स्थान पर रहे; दूसरे दो अंक अपने स्थान बदल लें, जिससे मध्य का अंक बाईं ओर आ जावे; बाईं ओर का अंक मध्य में चला जाय:—

१.

४	४	१६
५	४	१५
६	४	१४
७	४	१३ इत्यादि

२—३. दाईं ओर का अंक दूसरे दो अंको के बीच मध्य में रक्खा जाता है:—ये दो अंक पहले तो अपने मूल स्थानों में ठहरे रहते हैं, फिर एक दूसरे के साथ स्थान परिवर्तन कर लेते हैं:—

२.

४	१६	४
४	१५	५
४	१४	६
४	१३	७ इत्यादि

३.

४	१६	४
५	१५	४
६	१४	४
७	१३	४ इत्यादि

४—५. दायें हाथ का अंक बाईं ओर रक्खा जाता है, और दूसरे दो अंक पहले तो अपने स्थान पर रहते हैं, फिर एक दूसरे के साथ स्थान बदल लेते हैं:—

४.

१६	४	४
१५	४	५
१४	४	६
१३	४	७ इत्यादि

५.	१६	४	४
	१५	५	४
	१३		४
	१४	७	८ यदि

फिर जब पाद के अक्षरों की संख्यायें २ के वर्ग के सदृश बढ़ती हैं, क्योंकि ४ के बाद ८ आते हैं इसलिए हम तीन पादों के अक्षरों को इस प्रकार दिखला सकते हैं:—८+८+८=४+४+१६)। परन्तु उनकी गणित सम्बन्धी विशेषतायें एक दूसरे नियम के अधीन हैं। चतुष्पाद छन्द की अवस्था त्रिपाद छन्द के ही सदृश है।

ब्रह्मगुप्त की उपरोक्त पुस्तक का मैंने एक ही पृष्ठ देखा है निस्संदेह इसमें गणित के प्रयोजनीय तत्व भरे पड़े हैं। *जगदीश्वर की दया और कृपा से मुझे एक दिन आशा है कि मैं उन बातों* को सीख लूँगा। जहाँ तक मैं यूनानियों के साहित्य के विषय में अनुमान कर सकता हूँ मेरा ख्याल है कि वे अपनी कविता में हिन्दुओं के ऐसे पादों का प्रयोग किया करते थे। क्योंकि जालीनूस अपनी पुस्तक 'काता जानस' में कहता है:—"मेनेक्रेटीस द्वारा आविष्कृत औषध का वर्णन जो कि थूक के साथ बनती है, डेमोक्रेटीस ने तीन भागों के बने एक छन्द में किया है।"

चौदहवाँ परिच्छेद

फलित-ज्योतिष तथा नक्षत्र-ज्ञान

विद्या की उन्नति के प्रतिकूल समय

विद्याओं की संख्या बहुत बड़ी है, और यह संख्या और भी बड़ी हो सकती है यदि जनता का मन इनकी ओर ऐसे समयों पर फेरा जाय जब कि इनकी बढ़ती हो रही हो, जब सभी लोग इन्हें अच्छा समझते हों। उस समय जनता न केवल विद्या का ही सम्मान करती है बल्कि इसके प्रतिनिधियों को भी आदर दान देती है। सबसे पहले, इस काम का करना जनता पर शासन करने वालों, अर्थात राजाओं और महाराजाओं का कर्तव्य है। क्योंकि केवल वही विद्वानों के मन को जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की दैनिक चिन्ताओं से मुक्त, और उनकी शक्तिओं को अधिक ख्याति और अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उत्तेजित कर सकते हैं, और ख्याति और अनुग्रह की लालसा मानव-प्रकृति का सार और मज्जा है।

परन्तु वर्तमान समय इस प्रकार के नहीं। वे इसके सर्वथा विपरीत हैं, इसलिए हमारे समय में किसी नई खोज या नई विद्या का आविष्कार होना सर्वथा असम्भव है। हमारी विद्यायें बीते हुए अच्छे समयों के थोड़े से बचे हुए उच्छिष्ट के सिवा और कुछ नहीं।

यदि कोई विद्या या विचार एक वार सारे संसार को जीत लेता है तो प्रत्येक जाति उसके एक भाग को अपना लेती है। हिन्दू भी ऐसा ही करते हैं। कालों के चक्राकार परिभ्रमण के विषय में उनका विश्वास कोई लोकोत्तर विश्वास नहीं। वह केवल वैज्ञानिक विवेचना के परिणामों के अनुसार है।

सिद्धान्तों पर विचार

नक्षत्र-विद्या उन लोगों में बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि उनके धर्म कार्यों का इसके साथ कई प्रकार से सम्बन्ध है। यदि मनुष्य ज्योतिषी कहलाना चाहता है तो उसे न केवल वैज्ञानिक या गणित-ज्योतिष को ही वरन फलित-ज्योतिष को भी जानना चाहिए। मुसलमानों में जो पुस्तक सिंधिद नाम से प्रसिद्ध है उसे वे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त का अर्थ है सीधा, जो टेढ़ा या बदलनेवाला न हो। वे ज्योतिष की प्रत्येक आदर्श पुस्तक को, यहाँ तक कि ऐसी पुस्तकों को भी जो कि हमारी सम्मति में हमारे कथनमात्र ज़ीज अर्थात गणित-ज्योतिष के गुटकों के भी बराबर नहीं, इसी नाम से पुकारते हैं। उनके पाँच सिद्धान्त हैं :—

१—सूर्य-सिद्धान्त अर्थात सूर्य का सिद्धान्त, लाट का बनाया हुआ।

२—वसिष्ठ-सिद्धान्त, सप्तर्षि नामक तारागण में से एक के नाम पर विष्णुचन्द्र का रचा हुआ।

३—पुलिश-सिद्धान्त, सैन्त्रा नगर के रहने वाले पौलिश † नामक यूनानी का रचा हुआ उसी के नाम पर है। सैन्त्र नगर मेरा ख्याल है असकन्दरिया का ही नाम है।

४—रोमक-सिद्धान्त, जो कि रूम अर्थात रोमन राज्य की प्रजाओं के नाम से ऐसा कहलाता है। इसका लेखक श्रीषेण है।

५—ब्रह्म-सिद्धान्त, इसका यह नाम ब्रह्म के नाम पर है। यह विष्णु के पुत्र ब्रह्मगुप्त ‡ की रचना है जो कि भिल्लमाल नगर का रहनेवाला था। यह नगर मुलतान और अन्हिलवाड़ा के बीच, अन्हिलवाड़ा से १६ योजन की दूरी पर था।

इन पुस्तकों के सभी लेखकों ने एक ही स्रोत अर्थात पितामह नामक पुस्तक से अपनी जानकारी प्राप्त की है। इस पुस्तक का नाम आदि पिता अर्थात ब्रह्मा के नाम पर है।

वराहमिहिर ने एक छोटे से विस्तार का ज्योतिष का गुटका बनाया है इसका नाम पंच-सिद्धान्तिका है। इस नाम का यह अर्थ होना चाहिए कि इसमें पहले पाँच सिद्धान्तों का सार भरा है। परन्तु यह बात नहीं, और न यह उनकी अपेक्षा इतना बहुत अच्छी है कि इसे पाँचों में से शुद्ध-

---

† पुलिश—इस नाम को वराहमिहिर कृत संहिता पर उत्पल की टीका में पुलिश और पौलिश लिखा है। और अलबेरूनी ने भी यही किया है। पौलिश वह ऋषि है जिसने इस सिद्धान्त में अपना ज्ञान दिया है। यह यूनानी था और छोटे सैन्त अर्थात सिकन्दरिया का रहनेवाला था। आर्यभट्ट तथा ब्रह्मगुप्त ने इसके अवतरण दिये हैं।

‡ ब्रह्मगुप्त लिखित, ब्रह्मसिद्धान्त का अलबेरूनी ने बहुत उपयोग किया है और इसका अरबी भाषा में अनुवाद भी किया है। पूर्वीय सभ्यता के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बड़ा ही प्रतिष्ठित है। अरबों को उसीने प्रथम, ज्योतिष का ज्ञान दिया था, इसका अरबी-साहित्य की प्रसिद्ध पुस्तक 'सिन्द-हिन्द' में उल्लेख मिलता है।

तम कह सकें। इसलिए इस नाम से सिवा इस बात के और कुछ प्रकट नहीं होता कि सिद्धान्तों की संख्या पाँच है।

ब्रह्मगुप्त कहता है—सिद्धान्तों में से कई एक सूर्यसम्बन्धी हैं, और दूसरे इन्दु, पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, और यवन-सम्बन्धी अर्थात यूनानी हैं; यद्यपि सिद्धान्त अनेक हैं, पर उनमें भेद शब्दों का है, विषय का नहीं। जो मनुष्य उनका यथार्थ रीति से अध्ययन करेगा उसे मालूम हो जायगा कि उनका आपस में मतभेद नहीं।

इस समय तक मुझे इन पुस्तकों में से पुलिश और ब्रह्मगुप्त की पुस्तकों के सिवा और कोई पुस्तक नहीं मिली। मैंने उनका भाषान्तर करना आरम्भ कर दिया है, पर अभी मेरा काम समाप्त नहीं हुआ। इस बीच में मैं यहाँ ब्रह्म-सिद्धान्त की विषय-सूची देता हूँ जो किसी प्रकार उपयोगी और ज्ञान को बढ़ानेवाला सिद्ध होगी।

ब्रह्म-सिद्धांत के विषय

ब्रह्म-सिद्धान्त के चौबीस अध्यायों के विषय ये हैं :—

१. गोले का स्वरूप और पृथ्वी तथा आकाश का आकार।

२. नक्षत्रों के परिभ्रमण; काल की गणना, अर्थात भिन्न-भिन्न रेखांशों और अक्षों के लिए समय मालूम करने की विधि; नक्षत्रों के मध्यम स्थानों को जानने की रीति; वृत्तांश की ज्यात्रि कैसे मालूम करनी चाहिए।

३. नक्षत्रों के स्थानों का शोधन।

४. तीन समस्यायें; छाया अर्थात् दिन का अतीत भाग और लग्न कैसे मालूम करना चाहिये; और एक का दूसरे से कैसे अनुमान करना चाहिये।

५. सूर्य की किरणों को छोड़ने पर नक्षत्रों का दृश्य, और उनमें प्रविष्ट होने पर इनका अदृश्य हो जाना।

६. चन्द्र का प्रथम दर्शन और उसकी दो इन्दुकोटियाँ।

७. चन्द्र-ग्रहण। ८. सूर्य-ग्रहण।

९. चन्द्र की छाया। १०. ग्रह-संयोग और ग्रहयुति।

११. ग्रहों के अक्ष।

१२. ज्योतिष की पुस्तकों और गुटकों के पाठों में शुद्ध और भ्रष्ट वचनों का भेद करने के लिए सूक्ष्म निरूपण।

१३. गणित, सम मान और सजाति विषय।

१४. ग्रहों के मध्यम स्थानों की वैज्ञानिक गणना।

१५. ग्रह-स्थानों के शोधन की वैज्ञानिक गणना।

१६. तीन समस्याओं की वैज्ञानिक गणना। (अध्याय ४ देखो)।

१७. ग्रहणों का विचलन।

१८. नवीनचन्द्र और उसकी दो इन्दुकोटियों के प्रादुर्भाव की वैज्ञानिक गणना।

१९. कुट्टक अर्थात् किसी वस्तु का कूटना। तेल पैदा करने वाली चीजों के कूटने की यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत अनुसन्धान से उपमा दी गई है। इस अध्याय में बीजगणित तथा उससे

सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें गणित से थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती बहुमूल्य बातें हैं।

२०. छाया।

२१. छन्दःशास्त्र, और छन्दों की मात्राओं की गणना।

२२. चक्र और अवलोकन के साधन।

२३. काल, काल के चार मान, अर्थात सौर, नागरिक, चान्द्र और नाक्षत्रिक।

२४. इस प्रकार की पद्यात्मक पुस्तकों में संख्यावाचक अंकन।

उसके निज कथानुसार ये चौबीस अध्याय हैं परन्तु एक पच्चीसवाँ अध्याय भी है। इसका नाम ध्यान-ग्रह-अध्याय है। इसमें वह गणित-शास्त्र की रीति से नहीं, प्रत्युत कल्पना से समस्याओं को हल करने का यत्न करता है। मैंने इस अध्याय को इस सूची में नहीं गिना क्योंकि उसने इसमें जो प्रतिज्ञायें उपस्थित की हैं, गणित-शास्त्र उनका खण्डन करता है। मैं समझता हूँ कि उसका यह लेख एक प्रकार से ज्योतिष की सारी रीतियों का हेतु है, अन्यथा इस शास्त्र का कोई प्रश्न गणित के सिवा और किसी रीति से कैसे हल हो सकता है ?

तन्त्रों और करणों का साहित्य

जो पुस्तकें सिद्धान्त के आदर्श तक नहीं पहुँचतीं वे प्रायः तन्त्र या करण कहलाती हैं। तन्त्र का अर्थ अधिपति के नीचे शासन करता हुआ और करण का अर्थ पीछे चलता हुआ, अर्थात् सिद्धान्तों के पीछे चलता हुआ है। अधिपतियों के अन्तर्गत वे आचार्यों अर्थात ऋषियों, यतियों, और ब्रह्मा के अनुयायियों को समझते हैं।

भानुयशस् (?) कृत रसायन-तन्त्र के अतिरिक्त आर्यभट्ट और बलभद्र के दो प्रसिद्ध तन्त्र हैं। रसायन का क्या अर्थ है, यह हम एक अलग परिच्छेद (परिच्छेद १७) में लिखेंगे।

करणों के विषय में ब्रह्मगुप्त-कृत करण-खण्ड-खाद्यक के अतिरिक्त उसी के नाम पर कहलाने वाला एक (कृमिभुक्त) और है। पिछले शब्द खण्ड, का अर्थ उनकी एक प्रकार की मिठाई है। उसने अपनी पुस्तक का यह नाम क्यों रखा इस विषय में मुझे यह बताया गया है :—सुग्रीव नामक एक बौद्ध ने ज्योतिष का एक गुटका बनाय था इसका नाम उसने दधि-सागर अर्थात् दही का समुद्र रखा था। फिर उसके एक शिष्य ने उसी प्रकार की एक पुस्तक बना कर उसका नाम कूर-बबया (?) अर्थात चावलों का पहाड़ रखा। इसके बाद उसने एक और पुस्तक लिखी और उसका नाम लवण-मुष्टि अर्थात नमक की मुट्ठी रखा। इसलिए ब्रह्मगुप्त ने अपनी पुस्तक का नाम मिठाई खाद्यक रखा जिससे इस शास्त्र की पुस्तकों के नामों में सब प्रकार के खाद्य द्रव्य (दही, चावल, नमक, इत्यादि) आ जायँ।

करण-खण्ड-खाद्यक नामक पुस्तक की अनुक्रमणिका आर्यभट्ट के सिद्धान्त को दिखलाती है। इसलिए पीछे से ब्रह्मगुप्त ने एक दूसरी पुस्तक की रचना की जिसका नाम उसने उत्तर-खण्ड-खाद्यक अर्थात खण्ड-खाद्यक की व्याख्या रखा। इसके बाद खण्ड-खाद्यक-तिप्पा नामक एक और पुस्तक निकली। मैं नहीं जानता यह पुस्तक ब्रह्मगुप्त की रचना है या किसी दूसरे की। इसमें खण्ड-खाद्यक की गणनाओं की विधियों और युक्तियों की व्याख्या है। मैं समझता हूँ यह बलभद्र की रचना है।

इसके अतिरिक्त, काशी-नगर-निवासी विजयनन्दिन नामक टीकाकार का रचा ज्योतिष का एक गुटका है। इसका नाम करण-तिलक अर्थात करणों के ललाट पर प्रभा है। एक और पुस्तक नागपुर के भदत्त (? मिहदत्त) के पुत्र वित्तेश्वर की रची है। इसका नाम करण-सार अर्थात करण

से निकाली गई है। भानुयशस् (?) की बनाई करण पर तिलक नामक एक और पुस्तक है मुझे बताया गया है कि यह इस बात को दिखाती है कि शोधित-ग्रह-स्थानों का एक-दूसरे से कैसे अनुमान किया जाता है।

काश्मीर के उत्पल की बनाई एक पुस्तक राहुनराकरण(?)अर्थात करणों को तोड़ना है; और एक दूसरी पुस्तक करण-पात नामक है जिसका अर्थ करणों का मार डालना है। इनके अतिरिक्त एक करण-चूड़ामणि नामक पुस्तक है। इसका लेखक मुझे मालूम नहीं।

इसी प्रकार की दूसरे नामोंवाली और भी पुस्तकें हैं, यथा मनुकृत मानस, और उत्पल की टीका; दक्षिणदेशीय पञ्चल (?) कृत लघु-मानस, जो कि पहली का सार है; आर्यभट्ट कृत दशगीतिका; उसी की बनाई आर्याष्ट-शत; लोकानन्द, इसका नाम इसके लेखक के नाम पर है: भट्टिला (?), इसके रचयिता, ब्राह्मण भट्टिला के नाम पर इसका यह नाम है। इस प्रकार की पुस्तकें प्रायः संख्यातीत है।

फलित ज्योतिष की पुस्तकें या संहिताएं

निम्नलिखित लेखकों में से प्रत्येक ने फलित-ज्योतिष पर एक एक संहिता लिखी है:—

मांडव	बलभद्र	पराशर	
दिव्यतत्व	गर्ग	वारहमिहिर	ब्रह्मा

संहिता का अर्थ है इकट्ठा किया हुआ, अर्थात ऐसी पुस्तकें जिनमें प्रत्येक के विषय पर थोड़ा-बहुत लिखा गया है, जैसे यात्रा के विषय में उल्का-शास्त्र-सम्बन्धिनी घटनाओं से निकली हुई चेतावनियाँ; वंशों के भाग्य के विषय में भविष्यद्वाणियाँ, शुभाशुभ चीजों का ज्ञान; हाथ की रेखाओं को देख कर भविष्यकथन करना स्वप्नों के अर्थ निकालना और पक्षियों के उड़ने या बोलने से शकुन लेना क्योंकि हिन्दू विद्वानों का ऐसी बातों में विश्वास है। उनमें ज्योतिषियों की यह रीति है कि वे अपनी-अपनी संहिताओं में भी उल्का-शास्त्र तथा विश्वोत्पत्ति-शास्त्र की सारी विद्या का प्रतिपादन कर देते हैं।

जातक अर्थात् जन्मपत्रिकाओं की पुस्तकें

इन लेखकों में से प्रत्येक ने एक-एक जातक अर्थात् जन्मपत्रिकाओं की पुस्तकें लिखी है :—

पराशर।
सत्य।
मणित्थ।
जीवशर्मन्।
मौ, यवन।

वराहमिहिर ने दो जातक बनाये हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। बृहज्जातक की व्याख्या बलभद्र ने की है। और लघुजातक का मैंने अरबी में अनुवाद कर दिया है। इसके अतिरिक्त जन्म पत्रिकाओं के फलित-ज्योतिषी शास्त्र पर हिन्दुओं का एक बृहद ग्रन्थ है। इसका नाम वजीदज (=फ़ारसी गुजीदा?) के सदृश सारावली अर्थात् चुनी हुई है। यह कल्याण वर्मन की रचना है जिसने अपनी वैज्ञानिक पुस्तकों के लिए बड़ा नाम पाया था। परन्तु एक और पुस्तक है जो इससे भी बड़ी है। इसमें फलित-ज्योतिष-सम्बन्धी सभी विद्यायें हैं। इसका नाम यवन, अर्थात् यूनानियों की है।

वराहमिहिर की अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, यथा, शतपंचशिका, फलित-ज्योतिष पर छप्पन अध्याय, उसी विषय पर होरापंचविंशोत्तरी भी है।

तिकनी (?) यात्रा और योग-यात्रा नामक पुस्तकों में सफर का, विवाह-पटल में विवाह करने का और :: :: (दीमक चाट गई) पुस्तक में वस्तु-विद्या का वर्णन है।

पक्षियों के उड़ने और बोलने से शकुन लेने, और पुस्तक में सुई चुभा कर भविष्य-कथन करने की कला का प्रतिपादन श्रुद्धव (? श्रोतव्य) नामक पुस्तक में है। यह पुस्तक तीन भिन्न-भिन्न अनुलिपियों में मिलती हैं। कहते हैं पहली का रचयिता महादेव, दूसरी का विमलबुद्धि और तीसरी का बंगाल है। लाल वस्त्र पहननेवाले, शमनियों के सम्प्रदाय के प्रवर्तक बुद्ध की बनाई गूढ़मन (?) अर्थात् अज्ञान का ज्ञान नामक पुस्तक, तथा उत्पल-कृत प्रश्न-गूढ़मन (?) अर्थात् अज्ञात की विद्या के प्रश्न में भी ऐसे ही विषयों का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं में ऐसे भी विद्वान हैं जिनकी बनाई किसी पुस्तक का नाम तो हमें मालूम नहीं, पर स्वयं उनके नाम ज्ञात हैं, यथा :—

प्रद्युम्न।
सङ्गहिल (श्रृङ्खल ?)।
दिवाकर।
परेश्वर।
सारस्वत।
पीरुवान (?)
देवकीर्त्ति।
पृथूदक-स्वामिन्।

वैद्यक-ग्रंथ

वैद्यक और ज्योतिष दोनों एक ही श्रेणी की विद्याएँ हैं। इनमें भेद केवल इतना है कि ज्योतिष का हिन्दुओं के धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी एक पुस्तक है जिनका नाम उसके रचयिता के नाम पर चरक है। वे इसे अपने वैद्यक ग्रन्थों में सर्वोत्तम समझते हैं। उनके विश्वासानुसार चरक द्वापर युग में एक ऋषि था। उस समय उसका नाम अग्निवेश था, परन्तु पीछे से, जब सूत्र की सन्तान कुछ ऋषियों ने आयुर्वेद के आदि ज्ञान की व्याख्या की तो उसका नाम चरक अर्थात् बुद्धिमान हो गया। इन ऋषियों ने यह ज्ञान इन्द्र से, इन्द्र ने अश्विन से, जो देवताओं के दो वैद्यों में से एक हैं, और अश्विन ने प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा से प्राप्त किया था। बरमक वंश के राजाओं के लिए इस पुस्तक का अरबी में अनुवाद हो चुका है।

पंचतन्त्र

हिन्दू विज्ञान और साहित्य की और बहुसंख्यक शाखाओं की भी उन्नति करते हैं, और उनका साहित्य प्रायः अनन्त है। परन्तु मैं उसे अपने ज्ञान के साथ समझ नहीं सका। मैं चाहता हूँ कि मैं पंचतन्त्र नामक पुस्तक का, जो हम लोगों में केलीला और दिनमा नाम से प्रसिद्ध है; भाषान्तर कर सकूँ। यह फारसी, हिन्दी, और अरबी प्रवृति अनेक भाषाओं में दूर दूर तक फैल गई है। परन्तु जिन लोगों ने इसके अनुवाद किये हैं वे इसके पाठ को बदल डालने के सन्देह से खाली नहीं। उदाहरणार्थ; अब्दुल्लाह इब्नु अलमुक़फ़्फ़ा ने अपने अरबी भाषान्तर में बर्जोय के विषय का अध्याय इसलिए जोड़ दिया है कि इससे क्षीण धार्मिक विश्वासवाले लोगों के मन में सन्देह पैदा हो जाय और वे मनीचियों के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए तैयार हो जायँ। जब उस पर इस बात का सन्देह साफ है कि उसने उस पाठ में अपनी ओर से कुछ बढ़ा दिया है जिसका कि उसे केवल अनुवाद ही करना था, तब अनुवादक के रूप में वह सन्देह से कैसे खाली हो सकता है?

———

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं की परिमाण-विद्या और मानों पर टीका

हिन्दुओं की तौल प्रणाली

गिनना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। किसी चीज का माप उसकी उसी जाति की किसी दूसरी चीज के साथ, जिसे कि सर्वसम्मति से मान माना गया हो, तुलना करने से मालूम हो जाता है। इससे चीज और उस मान का अन्तर भी पता चलता है।

जब कांटे की सुई दिगन्तसम क्षेत्र के समकोन होती है, लोग भारी चीजों का वजन तौल कर मालूम करते हैं हिन्दुओं को तराजू की बहुत कम आवश्यकता होती है, क्योंकि उनके दिर्हमों का निश्चय तौल से नहीं, संख्या से होता है, और उनके अपूर्णांश भी केवल इतने और इतने फुलूओं से गिने जाते हैं। दिर्हम और फुलू का मुद्राङ्कन प्रत्येक नगर और प्रान्त के अनुसार भिन्न भिन्न है। वे सोने को मुद्रा रूप में कांटे में नहीं तौलते, प्रत्युत उसे उस समय ही तौलते हैं जब कि वह अपनी नैसर्गिक दशा में या कमाई हुई सूरत जैसा कि गहनों के रूप में हो। सोना तौलने के लिए सुवर्ण ($= १\frac{१}{३}$ तोला) का प्रयोग करते हैं। उनमें तोले का उतना ही अधिक प्रचार है जितना कि हम में मसकाल का है। जितना कुछ मैं उनसे सीख सका हूँ उसके अनुसार एक तोला हमारे तीन दिर्हम के बराबर होता है, और ३ दिर्हम ७ मिसकाल के बराबर होते हैं।

इसलिए एक तोला $= २\frac{१}{१०}$ मिसकाल हुआ।

तोले का सबसे बड़ा अपूर्णांश $\frac{१}{१२}$ है। इसे माप कहते हैं। इसलिए १६ माप = १ सुवर्ण है।

फिर, १ माप = ४ अण्डी (एरण्ड), अर्थात गौर नामक वृक्ष का बीज।

१ अण्डी = ४ यव।	१ यव = ६ कला।
१ कला = ४ पाद।	१ पाद = ४ मदरी (?)।

या दूसरे प्रकार से—

१ सुवर्ण = १६ माप = ६४ अण्डी = २५६ यव = १६००कला ६४०० पाद = २५६०० मदरी (?)।

छः मापों को १ द्रंक्षण कहते हैं। यदि आप उनसे इस बात के विषय में पूछें तो वे बतायेंगे कि २ द्रंक्षण = १ मिसकाल। परन्तु यह भूल है; क्योंकि १ मिसकाल = $५\frac{३}{५}$ माप। द्रंक्षण का मिसकाल से वैसा ही सम्बन्ध जैसा कि २० का २१ से है। इसलिए १ द्रंक्षण—$१\frac{१}{२०}$ मिसकाल। इसलिए यदि कोइ मनुष्य वही उत्तर देता है जो कि हमने अभी बताया तो ऐसा मालूम होता है कि वह अपने मन में मिसकाल को एक ऐसा बाट समझता है जिसका द्रंक्षण से कुछ अधिक भेद नहीं; परन्तु परिमाण को दुगुना कर देने से, १ द्रंक्षण के स्थान २ द्रंक्षण कहने से, यह तुलना सर्वथा बिगड़ जाती है।

तौल का मान कोई नैसर्गिक मान नहीं; वरन सर्वसम्मति से माना हुआ एक रूढ़ आदर्श है, इसलिए इसका व्यावहारिक और कल्पित दोनो प्रकार का विभाग हो सकता है। एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों में, और एक ही देश में भिन्न-भिन्न कालों में इसके उपभाग या अपूर्णांश भिन्न-भिन्न

होते हैं। स्थान और काल के अनुसार उनके नाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं; ये परिवर्तन या तो भाषाओं के ऐन्द्रियिक विकास से या दैवगति से पैदा होते हैं।

सोमनाथ के पड़ोस में रहनेवाले एक मनुष्य ने मुझे बताया कि हमारा मिसकाल तुम्हारे मिसकाल के बराबर है; और

१ मिसकाल = ८ खु। १ खु = २ पाली।
१ पालि = १६ यव अर्थात जौ।

तदनुसार १ मिसकाल = ८खु = १६ पालि = २५६ यव।

इस तुलना से स्पष्ट है कि दो मिसकालों का मुकाबला करने में उस मनुष्य की भूल थी; जिसको वह मिसमाल कहता था वह वास्तव में तोला है, और माष को वह एक भिन्न नाम अर्थात खु से पुकारता है।

तौल के बाटों पर वराहमिहिर की सम्मति

यदि हिन्दू इन बातो में विशेष रूप से परिश्रम करना चाहते हैं तो वे निम्नलिखित अनुक्रम पेश करते है। अनुक्रम का आधार वे माप हैं जो वराहमिहिर ने मूर्तियों के निर्माण के लिए बताये हैं—

१ रेणु या धूल का कण = १ रज।
८ रज = १ बालाग्र अर्थात बाल का सिरा।
८ रज बालाग्र = १ लिख्या, अर्थात जूँ का अण्डा।
८ लिख्या = १ यूका अर्थात जूँ।
८ यूका = १ यव, अर्थात जौ।

फिर वरामिहिर दूरियों के माप गिनने लगता है। उसके तौल के माप वही हैं जो हम ऊपर लिख आये हैं। वह कहता है।

४ यव = १ अण्डी। ४ अण्डी = १ माष।
१६ माष = १ सुवर्ण, अर्थात् सोना। ४ सुवर्ण = १ पल।

सूखी चीजों के लिए मान ये हैं:—

४ पल = १ कुड़व। ४ कुड़व = १ प्रस्थ।
४ प्रस्थ = १ आढक।

तरल पदार्थो के माप ये हैं :—

८ पल = १ कुड़व। ८ कुड़व = १ प्रस्थ।
४ प्रस्थ = १ आढक। ४ आढक = १ द्रण

चरक नामक पुस्तक के अनुसार तौल के बाट

चरक की पुस्तक में निम्नलिखित बाटों का वर्णन है। मैं उन्हें यहाँ अरबी भाषान्तर के अनुसार लिखता हूँ, क्योंकि मैंने उनको हिन्दुओं के मुख से नहीं सुना। अरबी पुस्तक, इस प्रकार की बाकी सभी पुस्तकों के सदृश जिनको हैं जानता हूँ, भ्रष्ट मालूम होती हैं। ऐसे

अपभ्रंश का हमारे अरबी ग्रन्थों में पाया जाना बहुत आवश्यक है, विशेषतः हमारे ऐसे काल में जब कि लोग अपनी प्रतिलिपि की शुद्धता पर बहुत कम ध्यान देते हैं। आत्रे कहता है—

६ रेणु	= १ मरीचि।	६ मरीचि	= १ राई का दाना (राजिका)।
८ राई के दाने	= १ लाल चावल।	२ लाल चावल	= १ मटर।
२ मटर	= १ अण्डी।		

और उस अनुक्रम के अनुसार जिसमें ७ दानक १ दिर्हम † के बराबर होते हैं, १ अण्डी १/८ दानक के बराबर है। फिरः—

४ अण्डी	= १ माष।	८ माष	= १ चरण (?)।
२ चरण	= १ कर्ष या २ दिर्हम भार का सुवर्ण।	४ सुवर्ण	= १ पल।
४ पल	= १ कुड़व।	४ कुड़व	= १ प्रस्थ।
४ प्रस्थ	= १ आढक।	४ आढक	= १ द्रोण।
२ द्रोण	= १ शूर्प।	२ शूर्प	= १ जना (?)।

पल का बाट हिन्दुओं के सारे काम-काज और लेन-देन में बहुत बर्ता जाता है; परन्तु यह भिन्न-भिन्न चीजों के लिए और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न हैं। कइयों के मतानुसार १ पल = १/१५ मना; फिर कुछ दूसरों के मतानुसार, १ पल = १४ मिसकाल; परन्तु मना २१० मिसकाल के बराबर नहीं। फिर कुछ एक के कथनानुसार, १ पल = १६ मिसकाल, परन्तु मना २४० मिसकाल के बराबर नहीं। फिर कई दूसरों के मतानुसार, १ पल = १५ दिर्हम, परन्तु मना २२५ दिर्हम के बराबर, नहीं। वास्तव में, पल और मना का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न है।

फिर अत्रि (आत्रेय) कहता है; "१ आढक = ६४ पल = १२८ दिर्हम = १ रतल। परन्तु यदि अण्डी १/८ दानक के बराबर है, एक सुवर्ण में ६४ अण्डी हैं, और एक दिर्हम में ३२ अण्डी हैं, तो ये ३२ अण्डियाँ, प्रत्येक अण्डी के १/८ दानक के बराबर होने के कारण, ४ दानक के बराबर हुई। इसका दुगना परिमाण १ १/७ दिर्हम है।" (एतावत)

जब लोग अनुवाद करने के बदले उच्छृङ्खल अनुमान दौड़ाने लगते हैं और गुणदोष-विवेचना के बिना भिन्न-भिन्न कल्पनाओं को मिला देते हैं तब ऐसे ही परिणाम निकला करते हैं।

पहली कल्पना के विषय में, जिसका आधार यह प्रमेय है कि एक सुवर्ण हमारे तीन दिर्हम के बराबर होता है, प्रायः लोग इस बात पर सहमत है कि—

१ सुवर्ण	= पल।	१ पल	= १२ दिर्हम।
१ पल	= मना।	१ मना	= १८० दिर्हम।

इससे मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूं कि १ सुवर्ण हमारे ३ दिर्हम के नहीं, वरन ३ मिसकाल के बराबर है।

---

† एक दिर्हम का वजन सात मिसकाल खलीफा उमर के समय से है। भारत में अलबेरुनी के समय एक दिर्हम = सात दानक।

वजन के वाटों पर विविध लेखकों की सम्मति

अपनी संहित में वराहमिहिर किसी दूसरे स्थान पर कहता है :—

"एक गज़ उँचाई और व्यास का एक गोल पात्र बना कर इसे वर्षा में रक्खो, और जब तक वर्षा होती रहे उसे वहीं पड़ा रहने दो। २०० दिर्हम वजन का जो सारा जल उसमें इकट्ठा हुआ है, यदि चौगुना किया जाय तो १ आढक के बराबर होगा।"

परन्तु यह एक आनुमानिक सा वर्णन है, क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर उसके निज के शब्दों में कहा है, १ आढक या तो, जैसा कि वे (हिन्दू) कहते हैं, ७६८ दिर्हम या, जैसा कि मैं समझता हूँ, मिसकाल के बराबर हैं।

श्रीपाल वराहमिहिर के प्रमाण से कहता है कि ५० पल = २५६ दिर्हम = १आढक। परन्तु यह उसकी भूल है, क्योंकि यहाँ २५६ का अङ्क दिर्हमों का नहीं प्रत्युत एक आढक के सुवर्णों की संख्या का सूचक है और एक आढक के पलों की संख्या ५० नहीं, बरन ६४ है।

मैंने सुना है कि जीवशर्म्मन् ने इन वज़नों की निम्नलिखित सविस्तर गणना दी है:—

४ पल	= १ कुड़व।	४ कुड़व	= १ प्रस्थ।
४ प्रस्थ	= १ आढक।	४ आढक	= १ द्रोण।
२० द्रोण	= १ खारी।		

पाठकों को ज्ञात होगा कि १६ माष का १ सुवर्ण होता है परन्तु गेहूं या जौ तौलने में वे ४ सुवर्ण = १ पल और पानी और तेल तौलने में ८ सुवर्ण = १ पल गिनते हैं।

हिन्दुओं का तराज़ू

हिन्दूओं के चीजों को तौलने के तराज़ू करस्तून हैं। इनमें बाट नहीं हिल सकते, मान-दण्ड ही विशेष चिन्हों और रेखाओं पर आगे-पीछे चलते हैं। इसीलिए तराज़ू (तुला) कहलाता है। पहले रेखायें १ से ५ तक तौल भार के मानों की हैं, उनके आगे की १० तक, फिर उनके आगे की रेखायें १०, २०, ३० इत्यादि दशमांशों की हैं। इस व्यवस्था के कारण के विषय में वे वासुदेव का निम्नलिखत कथन बयान करते हैं :—

"मैं अपनी फूफी के पुत्र शिशुपाल की, यदि उसने कोई अपराध नहीं किया, हत्या नहीं करूँगा, प्रत्युत दस तक उसे क्षमा कर दूंगा, और इसके उपरान्त उसकी ख़बर लूंगा।"

हम इस कथा का वर्णन किसी और अवसर पर करेंगे।

अलफ़ज़ारी अपने ज्योतिष के गुटके में पल का प्रयोग दिवसक्षणपादों (अर्थात् एक दिवस के साठवें भागों) के लिए करता है। मैंने हिन्दू-ग्रन्थों में यह प्रयोग कहीं नहीं देखा, परन्तु वे गणित-सम्बन्धी अर्थों में एक शुद्धि को दिखलाने के लिए इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

हिन्दुओं का एक भार नामक बाट है। सिन्ध-विजय के विषय में जो पुस्तकें हैं उनमें इसका उल्लेख है। यह २००० पल के बराबर होता है; क्योंकि वे इसकी व्याख्या १००×२० पल से करते हैं, और इसे एक बैल के वज़न के लगभग बताते हैं।

हिन्दुओं के बाटों के विषय में मैं केवल इतना ही जानता हूँ।

शुष्क मान

चीज़ के परिमाण और कार्य का निश्चय लोग (शुष्क मानों के द्वारा) नाप कर करते हैं। एक मान इस तरह नापा हुआ होता है कि उसमें एक चीज़ की इतनी मात्रा पड़ सकती है। चीज़ को नापने के लिए उसे उस मान में भर देते हैं। इसमें यह बात सर्वसम्मत होती है कि मान में चीजों को रखने की रीति, उनके उपरितल का निश्चय करने की रीति, और मान के अन्दर उनके व्यवस्थापन की रीति प्रत्येक दशा में अभिन्न रहती है। यदि दो चीजें जिनका वज़न करना है एक ही जाति की हैं तो वे न केवल परिमाण में वरन वज़न में भी सामान प्रमाणित होंगी; परन्तु यदि वे एक ही जति की नहीं, तो उनका कायिक विस्तार तो समान होगा, पर उनका वज़न बराबर न होगा।

उनका बीसी (? सिवी) नामक एक मान है। कनौज और सोमनाथ का प्रत्येक मनुष्य इसका जिक्र करता है। कनौज-निवासीयों के कथानुसार—

४ बीसी = १ प्रस्थ। $\frac{1}{4}$ बीसी = १ कुड़व।

सोमनाथवालों के अनुसार—

१६ बीसी = १ पन्ती। १२ पन्ती = १ मोर।

एक और कल्पना के अनुसार—

१६ बीसी = १ कलसी। $\frac{1}{4}$ बीसी = १ मान।

उसी सूत्र से मुझे पता लगा है कि गेहूँ का एक मान ५ मना के बराबर होता है। इसलिए १ बीसी (?) २० मना के बराबर है। प्राचीन रीति के अनुसार, बीसी ख़्वारिज्मी मान सुख़्व के और कलसी ख़्वारिज्मी मान ग़ूर के सदृश है, क्योंकि १ ग़ूर = १२ सुख़्व।

दूरियों के मान

दूरियों को रेखाओं से और उपरितल को समक्षेत्रों से नापने को क्षेत्र-मिति कहते हैं। समक्षेत्र को क्षेत्र के भाग से नापना चाहिए, परन्तु रेखाओं द्वारा की गई क्षेत्र-मिति भी वही काम कर देती है, क्योंकि रेखायें क्षेत्रों की सीमाओं का निश्चय करती हैं। वराहमिहिर का प्रमाण देते हुए हमारा यहाँ तक आगे बढ़ जाना कि एक जो के वजन का निश्चय करने लगें वजनों की व्याख्या में हमारा व्यतिक्रम था। वहाँ हमने गुरुत्व के विषय में उसके प्रमाण का प्रयोग किया था, परन्तु अब हम अन्तरों के विषय में उसके ग्रन्थों से परामर्श लेंगे। वह कहता है—

८ इकट्ठा रक्खे हुए जौ के दाने = १अंगुल, अर्थात् उङ्गली।
४ अंगुली = १ राम (?), अर्थात् मुट्ठी।
२४ अंगुली = १ हस्य (हस्त ?), अर्थात् गज़, जो दस्त भी कहलाता है।
४ हाथ = १ धनु अर्थात् वृत्तांश = एक व्याम।
४० धनु = १ नल्व।
२५ नल्व = १ क्रोश।

इसीलिए इससे यह परिणाम निकला कि एक क्रोह = ४००० गज़; और चूँकि हमारे मील में भी ठीक इतने ही गज़ होते हैं, इसलिए १ मील = १ क्रोह। पौलिश यूनानी भी अपने सिद्धान्त में कहता है कि १क्रोह = ४००० गज २ मिक्यास या २४ उङ्गल के बराबर होता है; क्योंकि

हिन्दू शंकु अर्थात् मिक्यास का निश्चय मूर्त्ति-उङ्गलियों द्वारा करते हैं। वे हमारी तरह, प्रायः मिक्यास के बारहवें भाग को अगुंल नहीं कहते, परन्तु उनका मिक्यास सदा एक वितस्ति (वालिश्त) होता है। अंगूठे और छोटी उगंली कनीनिका के सिरों के बीच, हाथ को यथासम्भव पूरी तरह फैलाने पर, जितना अन्तर होता है उसे वितस्ति और किष्कु कहते हैं।

चौथी या अंगूठी पहनने की उगंली और अंगूठे के सिरों के बीच, दोनों को खूब फैलाने पर, जितना अन्तर होता है वह गोकरण कहलाता है। प्रदेशिनि और अंगूठे के सिरों के बीच के अन्दर को करभ कहते हैं, और यह वितस्ति के दो-तिहाई के बराबर गिना जाता है।

मध्यमा और अंगूठे के अग्रों के बीच का अन्तर ताल कहलाता है। हिन्दुओं का मत है कि मनुष्य की ऊँचाई, चाहे वह लम्बा हो और चाहे छोटा, उसके ताल से आठ गुना होती है; जैसा कि लोग कहते हैं कि मनुष्य का पाँव उसकी उँचाई का सातवाँ भाग होता है।

मूर्त्तियों के निर्माण के विषय में संहिता नामक पुस्तक कहती है:

"हथेली की चौड़ाई ६, लम्बाई ७; मध्यमा की लम्बाई ५, चौथी उगंली की भी वही; प्रदेशिनी की वही ऋण $\frac{१}{६}$ (अर्थात् ४$\frac{१}{६}$); कनीनिका की वही ऋण $\frac{१}{३}$ (अर्थात् ३$\frac{१}{३}$); अंगूठे की मध्यमा की लम्बाई का दो-तिहाई भाग (अर्थात् ३$\frac{१}{३}$), और दो पिछली उगंलियों की लम्बाई एक ही समान स्थिर की गई है।"

इन अंकों और मापों से ग्रंथकार का आशय मूर्ति-अंगुलियों से हैं।

योजन, मील, और फ़र्सख का परस्पर सम्बन्ध

क्रोश का माप स्थिर हो जाने और उसके हमारे मील के बराबर सिद्ध होने के बाद, पाठकों को जानना चाहिए कि उन लोगों में दूरी का एक माप है। इसका नाम योजना है, और यह ८ मील या ३२००० गज़ के बराबर होता है। शायद कोई मनुष्य यह मान बैठे कि १ क्रोह $\frac{१}{४}$ फ़र्सख़ के बराबर है, और वह यह समझ ले कि हिन्दुओं के फ़र्सख़ १६००० गज़ लम्बे होते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं। इसके विपरीत, १ क्रोह = $\frac{१}{८}$ योजन। इस माप के हिसाब से अल फ़ज़ारी ने अपने ज्योतिष के गुटके में पृथ्वी की परिधि स्थिर की है। वह इसको एकवचन में जून और बहुवचन में अजवान कहता है।

परिधि और व्यास में सम्बन्ध

वृत्त की परिधि के विषय में हिन्दुओं की गणनाओं के आदि ज्ञान का आधार यह अनुमान है कि यह अपने व्यास से तिगुनी होती है। मत्स्य-पुराण, योजनों में सूर्य और चन्द्र के व्यासों का वर्णन करने के बाद, यही बात कहता है, अर्थात् परिधि व्यास से तिगुनी होती है।

आदित्य-पुराण, द्वीपों अर्थात् टापुओं और उनके इर्द-गिर्द के समुद्रों का उल्लेख करने के पश्चात् कहता है :—'परिधि व्यास से तिगुनी होती है।'

वायु-पुराण में भी यही बात लिखी है। परन्तु पीछे के समयों में हिन्दुओं को तीन पूर्णाङ्कों के साथ के अपूर्णाङ्क का भी पता लग गया है। ब्रह्मगुप्त के अनुसार परिधि व्यास से ३ गुना होती है; ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी ही गणना की हुई एक विशेष रीति से ही उसने यह व्यास और परिधि का सम्बन्ध मालूम किया है। वह कहता है :—'१० का मूल ३$\frac{१}{६}$ के लगभग होता है, इसलिये व्यास और इसकी परिधि के बीच का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि १ के और १० के मूल के बीच का सम्बन्ध।' तब वह व्यास को उसी के साथ, और घात को १० के साथ गुणता है, और इस घात का मूल निकाल लेता है। तब परिधि, दस के मूल के सदृश, घन अर्थात् पूर्णाङ्कों की बनी होती

है। परन्तु इस गणना से अपूर्णाङ्क उस (संख्या) से अधिक बढ़ जाता है जितना कि वह वास्तव में होता है। अर्शमीदस ने इसको $\frac{१०}{७०}$ और $\frac{१०}{७१}$ के बीचोंबीच बताया है। ब्रह्मगुप्त आर्यभट्ट के विषय में, आलोचना करता हुआ, कहता है कि उसने परिधि को ३३९३ स्थिर किया था; एक स्थान में उसने व्यास को १०८०, और दूसरे में १०५० बताया है। पहले बयान के अनुसार व्यास और परिधि के बीच का सम्बन्ध १:३ $\frac{१७}{१२०}$ के सदृश होगा। यह $\frac{१७}{१२०}$ अपूर्णांक $\frac{१}{७}$ से $\frac{१}{१७}$ कम है। परन्तु दूसरे बयान में ग्रन्थकार की नहीं, बरन पाठ में भारी अशुद्धि है; क्योंकि पाठ के अनुसार यह सम्बन्ध १:३$\frac{१}{४}$ के सदृश, और कुछ ऊपर होगा।

पौलिश १:३$\frac{१७७}{१२५०}$ के प्रमाण में अपनी गणनाओं में इसी सम्बन्ध का प्रयोग करता है।

यहाँ यह अपूर्णांक $\frac{१}{७}$ से उतना ही कम है जितना कि आर्यभट्ट ने बताया है, अर्थात् $\frac{१}{१७}$।

यही सम्बन्ध एक प्राचीन कल्पना से निकाला गया है। इस कल्पना का उल्लेख याकूब इब्न तारिक ने एक हिन्दू सूचक के प्रमाण पर अपनी 'गगनमण्डल की रचना' नामक पुस्तक में किया है, अर्थात् वह कहता है कि राशि-चक्र की परिधि १,२५,६६,४०,००० योजना और इसका व्यास ४०,००,००,००० योजन है।

ये अंक परिधि और व्यास के बीच का सम्बन्ध पहले से ही १:३$\frac{५६६४००००}{४०००००००}$ मान लेते हैं। ये दो अंक ३,६०,००० के सामान्य विभाजक द्वारा बांटे जा सकते हैं। इससे हमें १७७ गुणक के रूप में और १२५० भाजक के रूप में प्राप्त होते हैं। इसी अपूर्णांक $\frac{१७७}{१२५०}$ को पुलिश ने ग्रहण किया है।

सोलहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं की लिपियाँ, गणित तथा रीति-रिवाज

विविध प्रकार की लिखने की सामग्री

जिह्वा बोलनेवाले के विचार को सुननेवाले तक पहुँचाती है। इसलिए इसकी क्रिया का जीवन मानो केवल क्षणिक है, और मौखिक ऐतिह्य के द्वारा अतीतकाल की घटनाओं का वृत्तान्त पीछे की पीढ़ियों तक पहुँचाना असम्भव है, विशेषतः जबकि दोनों के बीच एक बहुत लम्बा कालान्तर हो, परन्तु यह बात मानव-मन के एक नवीन आविष्कार, लेखनकला, से सम्भव हो गई है। यह समाचारों को देशों में वायु की तरह और काल में प्रेतात्माओं की तरह फैला देती है। इसलिए वह भगवान् धन्य है जिसने सृष्टि को रचा है और प्रत्येक पदार्थ को परम हित के लिए पैदा किया है।

हिन्दुओं में प्राचीन काल के यूनानियों की तरह खालों पर लिखने की रीति नहीं थी। सुकरात से जब पूछा गया कि तुम पुस्तकें क्यों नहीं बनाते तो उसने उत्तर दिया :—"मैं ज्ञान को मनुष्यों के सजीव हृदयों से भेड़ों की निर्जीव खालों पर नहीं ले जाता।" मुसलमान भी, इसलाम के आरम्भिक समयों में खालों पर लिखा करते थे, उदाहरणार्थ पैगम्बर और खैबर के यहूदियों की सन्धि, और उनका किसरा के नाम पत्र। कुरान की प्रतियां अरबी मृगों की खालों पर लिखी जाया करती थीं,

जैसा आजकल भी तौरेत की प्रतियाँ लिखी जाती है कुरान (सुरा ६, ९१) में यह वचन आता है—" वे इसकी करातीस (अर्थात् कागज) बनाते हैं।" किर्तास (या छर्त) मिस्र देश में बाँस के डण्डल को काट कर बनाया जाता है। हमारे समय के कुछ ही काल पहले तक खलीफाओं की राज्ञाज्ञायें इसी सामग्री पर लिखी हुई सारे संसार में जाया करती थीं। बाँस के कागज में बछड़े की खाल की बारीक झिल्ली से यह फायदा है कि इस पर लिखा हुआ अक्षर फिर मिटाया या बदला नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा करने से यह नष्ट हो जाता है। कागज पहले-पहल चीन में बना था। समरकन्द में चीनी कैदी कागज बनाने की कला लाये थे। इस पर यह वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विविध स्थानों में बनने लगा।

हिन्दुओं के दक्षिण देश में खजूर और नारियल की तरह का एक पतला पेड़ होता है। इसका फल खाया जाता है। इसका पत्ता एक गज लम्बा और इतना चौड़ा होता है जितनी एक दूसरे के साथ-साथ रक्खी हुई तीन उङ्गलियाँ होती हैं। वे इन पत्तों को ताड़ी (ताल, या ताड़) कहते हैं, और इन पर लिखते हैं। वे इन पत्तों को एक तागे से इकट्ठा बाँध कर पुस्तक बना लेते हैं। प्रत्येक पत्ते के मध्य में एक छिद्र किया होता है। उस छिद्र में से वे सब पत्तों को उस तागे में पिरो लेते हैं।

मध्य और उत्तरीय भारत में लोग तूज के वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं। इसकी एक जाति चाप पर लपेटने के काम आती है। इस वृक्ष को भूर्ज कहते हैं। वे एक गज लम्बा और इतना चौड़ा जितनी कि हाथ की खूब फैलाई हुई उङ्गलियाँ होती हैं, या कुछ कम, टुकड़ा लेते हैं, और इसे अनेक रीतियों से तैयार करते हैं। वे इसे चिकनाते और खूब घोटते हैं जिससे यह दृढ़ और स्निग्ध बन जाय। तब वे इस पर लिखते हैं। इकहरे पत्तों के यथार्थ क्रम का निशान अंकों द्वारा किया जाता है। सारी पुस्तक कपड़े के एक टुकड़े में लपेटी और उसी आकार की दो तख्तियों के बीच बाँधी जाती हैं। ऐसी पुस्तक को पूथी (पोथी) कहते हैं। (पुस्त, पुस्तक देखो।) वे अपने पत्र, तथा और जो कुछ उन्हें लिखना होता है सब तूज वृक्ष की छाल पर लिखते हैं।

हिन्दू लिपि पर

हिन्दुओं की लिपि या वर्णमाला के विषय में हम पहले ही कह आये हैं कि यह एक बार खो गई और भूल गई थी, तथा किसी ने इसकी आवश्यकता न समझी जिससे लोग अशिक्षित हो गये, घोर अविद्या के गढ़े मे गिर पड़े, और विज्ञान से सर्वथा विमुख हो गये। परन्तु फिर पराशर के पुत्र व्यास ने परमेश्वर के प्रत्यादेश से उनकी पचास वर्णों की लिपि का दुबारा प्रकाश किया। वर्ण का नाम अक्षर है।

कई लोग कहते हैं कि पहले उनके अक्षरों की संख्या कम थी। यह केवल शनैः शनैः बढ़ी है। यह सम्भव हो सकता है; वरन मैं कहूँगा कि यह आवश्यक भी है। यूनानी लिपि की बात पूछो तो असोधस नामक व्यक्ति ने विद्या को स्थिर करने लिए प्रायः उस समय सोलह अक्षर बनाये थे जब कि मिस्र में इसराइलियों का राज्य था। इस पर कीमुश और अगेनोन ने उनका यूनानियों में प्रचार किया। चार नये संकेत मिला कर उन्होने बीस अक्षरों की वर्णमाला बना ली। इसके उपरान्त, उस समय के करीब-करीब जब कि सुकरात को विष दिया गया था, सिमोनोडस ने चार चिन्ह और मिला दिये जिससे अन्त को एथेन्सवालों के पास एक पूरे चौबीस अक्षरों की वर्णमाला हो गई। यह घटना; पश्चिमीय कालगणकों के अनुसार अर्दशीर के शासन-काल में हुई थी। यह अर्दशीर दारा का, दारा अर्दशीर का और अर्दशीर काईरस का पुत्र था।

हिन्दू-वर्णमाला के अक्षरों की संख्या के बहुत अधिक होने का पहला कारण यह है कि वे प्रत्येक अक्षर को, यदि उसके पीछे स्वर हो, या दो संयुक्त स्वर हों, या हमजा (विसर्ग) हो, या स्वर की सीमा से कुछ बाहर तक बढ़ी हुई आवाज हो, एक अलग चिन्ह द्वारा प्रकट करते हैं, दूसरा कारण यह है कि उनके यहाँ ऐसे व्यंजन हैं जो किसी दूसरी भाषा में इकट्ठा नहीं मिलते, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न भाषाओं में बिखरे हुए चाहे मिल जायें। वे इस प्रकार की आवाजें हैं कि हमारी जिह्वायें उनसे परिचित न होने के कारण, उनका मुश्किल से उच्चारण कर सकती हैं, और हमारे कान उनके अनेक सजातियुगमी में भेद करने में प्रायः असमर्थ हैं।

हिन्दू लोग यूनानियों की तरह बायें से दायें को लिखते हैं। वे रेखा के मूल पर नहीं लिखते। अरबी लिपि मे इस रेखा के ऊपर की ओर अक्षरों के सिर और नोचे की ओर उनकी पूँछे जाती हैं। इसके विपरीत, हिन्दू-अक्षरों की आधार रेखा ऊपर होती। प्रत्येक अक्षर के ऊपर एक सीधी लकीर रहती हैं। इस लकीर से अक्षर लटकता है और इसके नीचे लिखा जाता है। इस लकीर के ऊपर व्याकरण-सम्बन्धी चिन्ह के सिवा और कुछ नहीं होता। यह चिन्ह अपने नीचे के अक्षर का उच्चारण दिखलाने के लिए होता है।

सबसे अधिक प्रसिद्ध वर्णमाला का नाम सिद्धमातृका है। कई लोग समझते हैं कि यह काश्मीर में बनी थी, क्योंकि काश्मीर के लोग इसका प्रयोग करते हैं परन्तु इसका प्रचार वाराणसी में भी है। यह नगर और काश्मीर हिन्दू-विद्याओं के उच्च विद्यालय हैं। मध्यदेश अर्थात कनौज के इर्द-गिर्द के देश में भी, जिसे आर्यावर्त भो कहते हैं, इसी लिपि का प्रचार है।

मालवे में नागर नामक एक दूसरे प्रकार की लिपि है। इसका पहली से केवल अक्षरों के रूपों में ही भेद हैं।

इसके बाद अर्धनागरी अर्थात आधे नागर अक्षर हैं। ये पहली दो लिपियों के संयोग से बने हैं, इसी लिए इनका यह नाम है। इनका प्रचार भातिया और सिंध के कुछ भागों में है।

दूसरी वर्णमालयें ये हैं—मलवारी जिसका प्रचार समुद्र-तट की ओर, दक्षिण-सिन्ध के अन्तर्गत,मलवषी में है; सैन्धव, जिसका प्रयोग बह्मन्वा या अलमन्सूरा में होता है; कर्नाट, जिसका प्रचार कर्नाट-देश में है जहाँ से कि वे सिपाही आते हैं जिन्हें सेना में कन्नर कहते हैं; अन्ध्री जिसका अन्ध्र-देश में व्यवहार होता है। दिरवरी (द्राविड़ी) जिसका दिरवर देश (द्रविड़-देश) में प्रचार है; लारी, जिसका लार-देश (लाट-देश) में प्रचार है; गौरी (गौड़ी) जिसका पूर्व-देश में प्रयोग होता है; भैक्षुकी, जिसका पूर्व देश के अन्तर्गत उदुणपूर में प्रचार है। यह लिपि बुद्ध की है।

प्राम्भिक शब्द ओम्

हिन्दू लोग अपनी पुस्तकों का आरम्भ सृष्टि के शब्द, ओम् से करते हैं, जिस प्रकार हम लोग अपनी पुस्तकें परमात्मा के नाम के साथ शुरू करते हैं। ओम् शब्द का रूप यह है। यह आकार अक्षरों का बना हुआ नहीं, इस शब्द को प्रकट करने के लिए यह केवल एक कल्पना गढ़ी हुई है। इसका प्रयोग देश लोग इस विश्वास पर करते हैं कि इससे उन्हें सुख की प्रप्ति होगी और इसके द्वारा वे परमात्मा के एकत्व को स्वीकार करते हैं। यहूदी लोग भी ठीक इसी रीति से, अर्थात तीन इब्रानी योदों से परमात्मा का नाम लिखते हैं। तौरेत में यह शब्द य ह व ह लिखा है और अदोनै बोला जाता है; कई बार वे यह भी कह देते हैं। अदोनै शब्द, जिसका वे उच्चारण करते हैं, लिख कर प्रकट नहीं होता।

संख्यावचक अंक

जिस प्रकार हम अरवी अक्षरों का इब्रानी वर्णमाला के क्रम से संख्यावाचक अङ्कों के लिए प्रयोग कहते हैं उसी प्रकार हिन्दू अपने अक्षरों का प्रयोग नहीं करते। जिस प्रकार भारत के भिन्न-भिन्न भागों में अक्षरों के रूप भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही हिन्दसों ये रूप भी, जिन्हें अङ्क कहते हैं, भिन्न-भिन्न हैं। जिन संख्यावाचक चिन्हों का प्रयोग हम करते हैं वे हिन्दू-चिन्हों के अत्यन्त निर्मल आकारों से निकाले गये हैं। चिन्हों और आकारों से कुछ भी लाभ नहीं यदि लोगों को उनका अर्थ मालूम न हो, परन्तु काश्मीर के लोग अपनी पुस्तकों के इकहरे पृष्ठों पर ऐसे रूपों से निशान लगाते हैं जो कि, चित्र या चीनी अक्षर ऐसे दिखाई देते हैं। इनके अर्थ अत्यन्त दीर्घ अभ्यास से ही मालूम हो सकते हैं। परन्तु रेत में गिनते समय वे इनका प्रयोग नहीं करते।

सव जातियाँ इस विषय में सहमत हैं कि गणित में संख्याओं के सभी अनुक्रमों (यथा, एक, दस, सौ, सहस्र) का दस के साथ एक विशेष सम्वन्ध होता है, और प्रत्येक अनुक्रम अपने से पिछले का दसवाँ भाग और अपने से पहले से दस गुना होता है। मैंने सव प्रकार के लोगों से, जिनसे मिलने का मुझे अवसर मिला है, विविध भाषाओं में संख्याओं के अनुक्रमों के नामों का अध्ययन किया है, और देखा है कि कोई जाति सहस्र से आगे नहीं जाती। अरवी लोग भी सहस्र पर जा कर ठहर जाते हैं, और यही निस्सन्देह सवसे अधिक शुद्ध और सवसे अधिक नैसर्गिक काम है। मैंने इस विपय पर एक अलग प्रवन्ध लिखा है।

एक हिन्दू ही ऐसे हैं कि जिनके अङ्कों को गिनती, कमसे कम गणित-परिभाषाओं में सहस्र से आगे तक जाती है। ये परिभापायें या तो उन्होंने स्वतंत्र रीति से बना ली हैं या विशेष व्युत्पत्तियों के अनुसार निकाली गई हैं, या दोनों रीतियों को इकट्ठा मिला कर तैयार की गई हैं। वे संख्याओं के अनुक्रमों के नामों को धर्म-सम्वन्धी कारणों से १८वें दर्जे तक ले जाते हैं इनमें वैयाकरण सव प्रकार की व्युत्पत्तियों के साथ गणितज्ञों को सहायता देते हैं।

१८वाँ दर्जा परार्द्ध कहलाता है। इसका अर्थ है आकाश का आधा, या और भी यथार्थ रीति से कहें तो, उसका आधा जो कि ऊपर है। क्योंकि जब हिन्दू कल्पों के काल की अवधियाँ वताते हैं तब इस दर्जे का मान परमेश्वर का एक दिन (अर्थात आधा अहोरात्र) होता है। चूंकि हमें आकाश से वड़ी और कोई चीज मालूम नहीं, इसलिए इसके आधे (परार्द्ध) को सव से वड़ी चीज का आधा होने के कारण, सवसे वड़े दिन के आधे के साथ उपमा दी गई है। इसके दुगना करने से; रात्रि को दिन के साथ मिला देने से, सवसे वड़ा पूरा दिन वन जाता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता कि परार्द्ध नाम को इस रीति से वताया गया है, और परार्द्ध का अर्थ सारा आकाश है।

गिनती के अट्ठारह दर्जे

संख्याओं के अट्ठारह अनुक्रमों के नाम ये हैं:—

१. एकम्।	६. लक्ष।
२. दशम्।	७. प्रयुत।
३. शतम्।	८. कोटि।
४. सहस्रम।	९. न्यर्वुद।
५ अयत।	१०. पद्म।

११. खर्व ।	१५. समुद्र ।
१२. निखर्व ।	१६ मध्य ।
१३. महापद्म ।	१७. अन्त्य ।
१४. शंकु ।	१८. परार्द्ध ।

अब मैं इस पद्धति के विषय में उनके कुछ एक मतभेदों का उल्लेख करूँगा।

इन अट्ठारह दर्जों में पदा होने वाले व्यक्तिक्रम

कुछ एक हिन्दुओं का मत है कि परार्द्ध के आगे भूरि नामक एक और दर्जा है, है, और वही गिनती की अन्तिम सीमा है। परन्तु वास्तव में गिनती-असीम है; यह इसकी सीमा केवल पारिभाषिक है जिसको रूढ़ि रूप से संख्याओं का अन्तिम अनुक्रम मान लिया गया है। ऊपर के वाक्य में गिनती शब्द से उनका तात्पर्य परिभाषा से मालूम होता है, मानों १६वें दर्जे के आगे की गिनती के लिये भाषा में कोई नाम नहीं। यह मालूम है कि इस दर्जे का मान अर्थात एक भूरि, सबसे बड़े दिन के पाँचवें भाग के बराबर है; परन्तु इस विषय में उनका कोइ ऐतिह्य नहीं। उनका ऐतिह्य में केवल सबसे बड़े दिन के समवायों के चिह्न मिलते हैं, जैसा कि हम आगे चल कर बतायेंगे। इसलिये यह १६ वाँ दर्जा कृत्रिम और अत्यन्त सूक्ष्म है।

फिर कई एक के मतानुसार गिनती की सीमा कोटि है; और कोटि से आरम्भ करके संख्याओं के दर्जों की परम्परा कोटि, हजार, सैकड़े, दहाई होगी; क्योंकि देवताओं की संख्या कोटियों में प्रकट की जाती है। उनके विश्वासानुसार देवताओं की तेंतीस कोटियाँ है, जिनमें से ब्रह्मा, नारायण और महादेव की ग्यारह-ग्यारह हैं।

१८ वें दर्जे के आगे के दर्जों के नाम, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, वैयाकरणों के गढ़े हुए हैं।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि ५ वें दर्जे का प्रसिद्ध नाम दश सहस्र, और ७वें दर्जे का दश लक्ष है, क्योंकि ऊपर की सूची में जो दो नाम (अयुत,प्रयुत) हमने दिये हैं उनका प्रचार बहुत कम है।

कुसुमपुर के आर्यभट्ट की पुस्तक में दस से १० कोटि तक के दर्जों के नाम ये दिये हैं :—

अयुतम्।	कोटिपद्म।
नियुतम्।	परपद्म।
प्रयुतम्।	

इसके अतिरिक्त; यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनेक लोग भिन्न-भिन्न नामों के बीच एक प्रकार का व्युत्पत्ति-सम्बन्ध प्रतिष्ठित करते हैं, इसलिए वे ५वें दर्जे की उपमिति के अनुसार जो कि अयुत कहलाता है, ६ ठे दर्जे को नियुत कहते हैं। फिर ९ वें दर्जे की उपमिति के अनुसार, जो कि न्यर्वुद कहलाता है. वे ८वें को अर्वुद कहते हैं।

निखर्व और खर्व के बीच, कि १२ वें और ११ वें दर्जो के नाम हैं, और शंकु तथा महा-शंकु के बीच, जो कि १३ वें और १४ वें दर्जो के नाम हैं, इसी प्रकार का सम्बन्ध है। इस सादृश्य के अनुसार पद्म के बाद शीघ्र ही महापद्म होना चाहिए परन्तु पिछला तो १३ वें का और पहला १०वें दर्जे का नाम है।

उनके इन भेदों के दो विशेष कारण हो सकते हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी भेद हैं जिनका कोई कारण नहीं, जिनकी उत्पत्ति केवल इस प्रकार हुई है कि लोग किसी निश्चित क्रम का ध्यान न रख कर योंही उनके नाम लेते हैं, या वे अपनी अविद्या को साफ न कह कर कि मैं नहीं जानता स्वीकार करना पसन्द नहीं करते। मैं नहीं जानता एक ऐसा शब्द है जिसका उनके लिए किसी भी सम्बन्ध में उच्चारण करना कठिन है।

पौलिश, सिद्धान्त संख्याओं के दर्जों की निम्नलिखित सूची देता है।

४. सहस्रम्।
५. अयुतम्।
६. नियुतम्।
७. प्रयुतम्।
८. कोटि।
९. अर्वुदम्।
१०. खर्व।

इनके बाद के दर्जे, ११ वें से १८ वें तक, वही हैं जो कि उपर्युक्त सूची में दिये गये हैं।

संख्यावाचक अंक

हिन्दू लोग गणित में संख्यावाचक चिन्हों का प्रयोग हमारे सदृश ही करते हैं। मैंने एक प्रबन्ध की रचना की है, जिसमें यह दिखलाया है कि इस विषय में, सम्भवतः, हिन्दू हम से कितना आगे हैं। हम पहले कह आये हैं कि हिन्दू अपनी पुस्तकें श्लोकों में बनाते हैं। अच्छा; अब यदि उन्हें, अपने गणित-ज्योतिष के गुटकों में, विविध अनुक्रमों की कुछ संख्याओं को प्रकट करना होता है तो वे उन्हें ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट करते हैं जिनका प्रयोग या तो अकेले एक ही अनुक्रम की या एक ही साथ दो अनुक्रमों की विशेष संख्याओं के (यथा एक ऐसा शब्द जिसका अर्थ या तो केवल २० है या २० और २०० दोनों हैं) दिखलाने के लिए होता है। प्रत्येक संख्या के लिए उन्होंने एक सर्वथा विपुल शब्दराशि नियत कर रक्खी है। इसलिए यदि छन्द में एक शब्द ठीक न बैठे तो आप इसे बदल कर इसकी जगह आसानी से दूसरा और ठीक आनेवाला शब्द रख सकते हैं। ब्रह्मगुप्त कहता है यदि तुम एक लिखना चाहते हो तो इसको पृथ्वी; चन्द्र प्रभृति प्रत्येक अद्वितीय वस्तु से प्रकट करो, दो को प्रत्येक ऐसी चीज से जो कि द्विगुण हों, यथा काला और सफेद, तीन को प्रत्येक ऐसी चीज से जो कि त्रिगुणित हो; शून्य को आकाश से, और बाहर को सूर्य के नामों से प्रकट करो।

नीचे की सूची में मैंने संख्याओं के वे सब नाम मिला दिये हैं जो कि मैं उनसे सुना करता था, क्योंकि इनका ज्ञान उनकी गणित-ज्योतिष की पुस्तकों को समझने के लिए परमावश्यक है। इन शब्दों के सभी अर्थ मुझे मालूम हो जाने पर, यदि ईश्वर की आज्ञा हुई ? तो मैं उनको यहाँ जोड़ दूंगा।

० = शून्य और ख, दोनों का अर्थ बिन्दु है।

गगन, अर्थात् आकाश।	वियत्; अर्थात् आकाश।	आकाश।
अम्बर, अर्थात् आकाश।	अभ्र, अर्थात् आकाश।	
१ = आदि, अर्थात् शुरू।	शशिम्।	इन्दु।
शीता।	उर्वरा, धरणी।	पितामह, अर्थात आदि-पिता
चन्द्र, अर्थात चाँद।	रूप।	रश्मि।

२—यम। आश्विन। रविचन्द्र।
लोचन, अर्थात दो आँखें। अक्षि। दस्र।
यमल। पक्ष अर्थात मास के दो पखवाड़े। नेत्र, अर्थात दो आँखें।
३—त्रिकाल, अर्थात समय के तीन भाग। त्रिजगत्। त्रयम।
पावक, वैश्वानर दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, अग्नि अर्थात आग।
[त्रिगुण] अर्थात तीन आदि शक्तियाँ।
लोक, अर्थात ग्रह, पृथ्वी, स्वर्ग और नरक। त्रिकटु।
४—वेद, अर्थात उनकी पवित्र संहिता, क्योंकि उसके चार भाग हैं।
समुद्र, सागर अर्थात पयोधि। अब्धि। दधि।
दिश, अर्थात चार दिग्भाग। जलाशय। कृत।
५—शर। अर्थ। इन्द्रिय, अर्थात पाँच इन्द्रियाँ।
सायक। बाण। भूत।
इषु। पांडव अर्थात पांडु राजा के पाँच पुत्र। पत्रिन, मार्गण।
६—रस। अङ्ग। षट्। वर्ष।
ऋतु (?) मासार्धम।
७—अग। महीधर। पर्वत, अर्थात पहाड़।
सप्तन। नग, अर्थात पहाड़। अद्रि। मुनि।
८—वसु, अष्ट। धी, मंगल। गज, नाग। दन्तिन।
९—गो छिद्र। नन्द, पवन। रन्ध्र, अन्तर। नर्व—९
१०—दिश्, खेन्दु। आशा, रावण-शिरस्।
११—रुद्र, जगत का विनाशक। महादेव अर्थात फरिश्तों का राजा।
ईश्वर। अक्षौहिणी, अर्थात जितनी कुरु की सेना थी।
१२—सूर्य, क्योंकि सूर्यों की संख्या बारह है। आदित्य।
अर्क अर्थात सूर्य। मास, भानु। सहस्रांशु।
१३—विश्व। १४—मनु जो कि चौदह मन्वन्तरों के अधिपति हैं।
१५—तिथि, अर्थात प्रत्येक पखवाड़े के सौर दिवस। १६—अष्टि, नृप, भूप।
१७—अत्यष्टि। १८—धृति। १९—अतिधृति।
२०—नख, कृति। २१—उत्कृति।
२२— २३— २४—
२५—तत्व, अर्थात वे पच्चीस पदार्थ जिनके ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जहाँ तक मैंने हिन्दुओं को देखा है, और जहाँ तक उनके विषय में सुना है वे सामान्यतः इस प्रकार के संख्यावाचक अंकों में पच्चीस के आगे नहीं जाते।

हिन्दुओं के विचित्र रीति-रिवाज

अब हम हिन्दुओं के कुछ एक विचित्र रीति रिवाजों का उल्लेख करेंगे। किसी चीज की विचित्रता का आधार इस बात पर है कि यह बहुत कम उपस्थित होती है, और हमें इसको देखने का अवसर बहुत कम मिलता है। यदि यह विचित्रता बहुत बढ़ जाय तो फिर वह चीज एक अपूर्व वरन एक अलौकिक वस्तु बन जाती है। यह फिर प्रकृति के साधारण नियमों के अधीन नहीं

रहती, और जब तक इसको साक्षात् देख नहीं लिया जाता यह खपुष्प-सदृश मालूम होती है। हिन्दुओं के अनेक रीति-रिवाज हमारे देश और हमारे समय के रिवाजों से इतने भिन्न हैं कि वे हमें सर्वथा विकट दीख पड़ते हैं। मनुष्य प्रायः यह समझने लगता है कि उन्होंने जान-बूझ कर इनको हमारे विपरीत बनाया है, क्योंकि हमारी रीतियाँ उनकी रीतियों से बिलकुल नहीं मिलती वरन उनकी ठीक उलटी हैं, यदि उनकी कोई रीति कभी हमारी किसी रीति से मिलती भी है तो निश्चय ही इसके सर्वथा विपरीत अर्थ होते हैं।

वे शरीर के कोई भी बाल नहीं काटते। पहले-पहल वे गरमी के कारण नङ्गे फिरा करते थे, और सिर के केश न काटने से उनका उद्देश्य रौद्राघात से बचना था।

मूँछों की रक्षा के लिए वे उनके इकहरे पेच बनाते हैं। जननेन्द्रिय के बाल न काटने के विषय में वे लोगों को यह समझने का यत्न करते हैं कि वहाँ के बाल काटने से कामानल भड़कती और विषय-वासना बढ़ती है। इसलिए उनमें से वे लोग जो अपने अन्दर स्त्री-समागम के लिए प्रबल रुचि देखते हैं वे जननेन्द्रिय के बाल कभी नहीं काटते।

वे अपने नाखून बहुत लम्बे बढ़ा लेते हैं और अपने आलस्य पर गर्व करते हैं। क्योंकि वे इनसे सिर को खरोचने और केशों में जुएँ टटोलने के सिवा अपने मधुर आलस्य के जीवन में और कोई काम नहीं लेते।

हिन्दू गोबर के चौके में अकेले एक के बाद एक बैठ कर भोजन करते हैं। वे भोजनावशेष को नहीं खाते, और जिन थालियों में उन्होंने खाया हो यदि वे मिट्टी की हों तो वे उन्हें भी फेंक देते हैं।

पान और चूने के साथ सुपारी चबाने के कारण उनके दाँत लाल होते हैं।

वे मदिरा खाली पेट पीते हैं, फिर इसके बाद खाना खाते हैं। वे गायों का मूत्र तो पी लेते हैं पर उनका मांस नहीं खाते।

वे झाँझों को छड़ी से बजाते हैं।

पायजामों की जगह वे पगड़ियाँ बाँधते हैं। जो लोग थोड़ी पोशाक रखना चाहते हैं वे एक दो अंगुल चौड़ा एक चीथड़ा लेकर उसे दो रस्सियों के साथ अपने कटिदेश पर बाँध लेते हैं, और इतने पर सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु जो जियादा कपड़े पसन्द करते हैं वे इतनी अधिक रुई से भरे हुए पायजामें पहनते हैं कि उससे कई दुलाइयाँ और जीन के नमदे बन जायँ। इन पायजामों में कोई (दृश्य) राह नहीं होती और वे इतने बड़े होते हैं कि पैर दिखाई नहीं देते। जिस रस्सी से पायजामा बाँधा जाता है वह पीछे की ओर होती है।

उनका सिदार भी (एक वस्त्र जिससे सिर और छाती तथा गर्दन का उपरिभाग ढँका रहता है) पायजामे के सदृश पीछे की तरफ बेतामों से बाँधा जाता है।

कुर्तकों के (बाहों वाली छोटी कमीजें जो कि कन्धों से शरीर के मध्य तक होती हैं; यह स्त्रियों के पहनने का वस्त्र है।) अञ्चलों का काट दायें और बायें दोनों ओर होता है।

जब तक वे जूतों को पहनने नहीं लगते तब तक उन्हें कस कर रखते हैं। चलने के पहले वे पिण्डली से नीचे की ओर उलटा दिये जाते हैं (?)।

स्नान के समय वे पहले पैरों को धोते हैं और उसके बाद मुँह को। अपनी स्त्रियों के साथ समागम करने के पहले वे स्नान करते हैं।

० ० ०

त्योहार के दिन वे सुगंधियों के स्थान पर अपने शरीरों पर गोबर मलते हैं।

पुरुष स्त्रियों के परिच्छद की चीजें पहनते हैं; वे उबटना मलते हैं, कानों में बालियाँ, हाथों में चूड़िया, और हाथ और पाँव की उङ्गलियों में सोने के छाप-छल्ले पहनते हैं।

तेहि द्राक्षावल्लिस्तम्भवदुञ्चिताः सन्तो यमन्ते, योषितस्तु अधस्त ऊर्ध्व निधुवनव्यग्राः सोरस-ञ्चालनतत्परा इव लक्ष्यन्ते, तासां यवाः सर्वथाऽचकास्तिष्ठन्ति।

ते च पायुभञ्जनकारिषु मुण्डकेषु, क्लीवेषु, मुखवृतपुंध्वजचूषणरेतोद्रावाकेषु 'पुंषण्ढिल' इत्याख्येषु पुरुषेषु च दयामाचरन्ति।

ते कुड्यमभिमुखीभूय हदन्ति येन तेषां सक्थीनि पार्श्वतो यातां दृष्टिगोचरा भवन्ति।

ते उपस्येन्द्रियार्चायै मन्दिराणि निर्मान्ति, तत्र स्थापितं 'लिङ्ग' महादेवलिङ्गमित्याचक्षते।

वे जीन के बिना सवारी करते है, यदि वे जीन लगाते हैं तो घोड़े पर उसकी दाईं ओर से चढ़ते हैं। सफर में वे यह पसन्द करते हैं कि कोई व्यक्ति घोड़े पर चढ़ा हुआ उनके पीछे आवे।

वे कुठार को दाईं ओर कमर पर बाँधते हैं।

वे यज्ञोपवीत नामक एक पट्टी पहनते हैं जो कि बायें कन्धे से होकर कमर की दायीं ओर जाती है।

सभी सम्मन्त्रणाओं और संकटो में वे स्त्रियों से परामर्श लेते हैं। जब बच्चा पैदा होता है तब लोग लड़की की अपेक्षा लड़के की अधिक परवा करते हैं।

दो बालकों में से छोटे बालक का अधिक आदर किया जाता है, और यह बात देश के पूर्वीय भागों में विशेष रूप से देखी जाती है; क्योंकि उनका मत है कि बड़े का जन्म प्रबल काम लालसा के कारण होता है; परन्तु छोटे की उत्पत्ति परिपक्व चिन्तन और शान्त क्रिया का फल होता है।

हाथ मिलाते समय वे मनुष्य के हाथ को उसकी बाहरी गुलाई को, अर्थात उलटी तरफ से पकड़ लेते हैं।

वे घर में प्रवेश करते समय नहीं वरन वहाँ से जाते समय आज्ञा माँगते हैं।

अपनी सभाओं में वे पलथी मार कर बैठते है।

उन्हें पास बैठे हुए अपने पूजनीय बड़ों के सामने थूकने और नाक साफ करने में कुछ भी संकोच नहीं होता, और वे उनके सामने ही चट से जूएं मार देते हैं। वे छींकने को बुरा और पादने को अच्छा शकुन समझते हैं।

वे जुलाहे को अपवित्र, परन्तु सिङ्गी लगाने और खाल उघेड़ने वाले को, जो पैसे लेकर मरणासन्न पशुओं को डुबा कर या जला कर मार डालता है, पवित्र समझते हैं।

पाठशालाओं में उनके बच्चों के पास काली तखतियाँ होती हैं। इन पर वे सफेद चीज के साथ, चौड़ी ओर नहीं, लम्बी ओर बायें से दायें लिखते हैं। ऐसा मालूम होता है मानो नीचे की लाइनें लेखक ने हिन्दुओं के लिए ही लिखे थे:—

कितने ही लेखक कोयले जैसे काले कागज का उपयोग करते हैं, उनकी लेखनी इस पर सफेद रंग से लिखती है। लिखने से वे अँधेरी रात में उज्वल दिन रख देते हैं, वे जुलाहे की तरह बुनते हैं, परन्तु बाना नहीं लगाते। वे पुस्तक का नाम उसके आरम्भ में नहीं वरन अन्त में लिखते हैं।

वे अपनी भाषा के विशेष्यों को स्त्रीलिङ्ग देकर बढ़ाते हैं, जैसे अरबी लोग उन्हें लघु रूप देकर बढ़ाते हैं।

यदि दो मनुष्य नर्द खेलते हैं तो एक तीसरा उनके बीच पाँसे फेंकता है। वे मस्त हाथी के गालों में से निकलनेवाले रस को, जो वास्तव हैं घोर दुर्गन्धयुक्त होता है, पसन्द करते हैं।

भारतीय शतरंज

शतरञ्ज में वे हाथी को पयादे की तरह एक घर सीधा चलाते हैं, दूसरी दिशाओं में नहीं। चार कोनों में भी वे इसे रानी (फिर्जान) की तरह एक बार एक घर ही चलाते हैं। वे कहते हैं कि ये पाँच घर (अर्थात एक तो सीधा आगे और शेष कोनों पर) हाथी की सूँड और चार पैरों के स्थान हैं।

शतरञ्ज में वे दो पाँसों के साथ—एक बार चार मनुष्य—खेलते हैं। शतरंज के तख्ते पर उनके मुहरों का क्रम इस प्रकार होता है :—

रुख	घोड़ा	हाथी	बादशाह			पयादा	रुख
पयादा	पयादा	पयादा	पयादा			पयादा	घोड़ा
						पयादा	हाथी
						पयादा	बादशाह
बादशाह	पयादा						
हाथी	पयादा						
घोड़ा	पयादा			पयादा	पयादा	पयादा	पयादा
रुख	पयादा			पयादा	हाथी	घोड़ा	रुख

क्योंकि इस प्रकार के शतरंज का हमें ज्ञान नहीं इसलिए इस विषय में जो कुछ भी मुझे मालूम है वह यहां लिखे दे रहा हूँ।

एक साथ खेलने वाले चार मनुष्य शतरंज के इधर उधर चौकोर अवस्था में बैठते हैं, वे एक के बाद एक बारी से पाँसे फेकते हैं। पाँसों में पाँच और छः संख्यायें खाली होती हैं वे गिनी नहीं जाती ऐसी अवस्था में यदि पांसा पाँच या छः संख्या प्रदर्शित करे तो खेलने वाले पाँच के स्थान पर एक

वे छः के स्थान पर चार ले लिया करते हैं क्योंकि इन अंकों के आकार इस प्रकार बने हुए होते हैं ।

६ ५
४ ३ २ १

जिससे ये भारतीय चिन्हों के चार व एक के आकार के ही समान लगते हैं ।

शाह अर्थात् राजा यहाँ रानी (फिर्जान) को कहते है ।

पाँसों के प्रत्येक संख्या से कोई न कोई मोहरा अपने स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है ।

१ से या तो पैदल या वादशाह अपनी जगह से चलता है । ये चालें साधारण शतरंज के चालों की ही तरह होती है । वादशाह मारा जा सकता है पर वह अपने स्थान को नहीं छोड़ सकता ।

२ से रुख की चाल होती है । हमारे शतरंज में हाथी की चाल की तरह यह कर्ण की ओर तीसरे घर में चला जाता है ।

३ घोड़ा के चलाने के लिए है । इसकी चाल साधारणतः तिरछी तरफ तीसरे घर तक होती है ।

४ का अंक हाथी को चलाता है । यदि बीच में व्यवधान न पड़े तो यह हमारे शतरंज के रुख की तरह सीधा चलता है । यदि ऐसी स्थिति आ जाय जैसा कि प्रायः हो जाता है तो एक पाँसा इस व्यवधान को दूर कर उसको आगे वढ़ने में समर्थ कर देता है :—इसकी न्यूनतम चाल एक व अधिकतम चाल पन्द्रह घर है क्योंकि पाँसे अनेक बार दो, ४ या दो छः या एक चार व एक छः दिखाते हैं इन अंकों में से एक के फल-स्वरुप हाथी शारिपट्ट पर किनारे के साथ सबमें घूमता है दूसरे अंक मे वह पट्ट के दूसरे किनारे के दूसरी ओर साथ-साथ चलता है पर साथ ही साथ शर्त यह है कि राह में कोई व्यवधान न पड़े इन दो संख्याओं के परिणाम स्वरूप हाथी वढ़ते २ कर्ण रेखा के दोनों सिरों पर जा वैठते हैं ।

पाँसों के विशेष मूल्य होते हैं जिनके अनुसार खिलाड़ी को वाजी का हिस्सा मिलता है, क्योंकि पाँसे लेकर खिलाड़ी के हाथों में दिये जाते हैं । वादशाह का मूल्य ५, हाथी का ४, घोड़े का ३, रुख का २ और पयादे का १ है । जो वादशाह को ले लेता है उसे ५ मिल जाते हैं यदि जीतनेवाले के पास अपना वादशाह न रहा हो तो दो वादशाहों के लिये उसे १०, और तीन वाद-शाहों के लिये १५ मिल जाते हैं । परन्तु यदि उसके पास अव तक भी अपना वादशाह हो वह वाकी तीन वादशाहों को ले ले तो उसे ५४ मिल जाते हैं । यह संख्या एक ऐसी वृद्धि को दिखलाती है जिसका आधार कोई बीज-गणित सम्वन्धी नियम नहीं, वरन् सार्वजनिक सम्मति है ।

हिन्दू-चरित्र की सहज प्रतीपता

यदि हिन्दू हमसे भेद रखने और हमारी अपेक्षा कुछ उत्तम होने का दावा करते हैं, जैसा कि हम भी अपने पक्ष में इसके विपरीत करते हैं, तो इस प्रश्न का निर्णय उनके लड़कों पर किये गये एक प्रयोग द्वारा हो सकता है । मैंने कोई भी ऐसा हिन्दू लड़का नहीं देखा जो मुसलमानी प्रदेश में हाल ही में आया हो और जो लोगों के रीति रिवाजों से पूर्णतया अभिज्ञ न हो, परन्तु इसके साथ

ही वह अपने स्वामी के सामने जूतों को विपरीत क्रम से रक्खेगा, अर्थात् दाँया बाँये पैर के आगे और बाँया दाँये के पैर आगे; अपने स्वामी की पोशाक को तह करते समय उसके भीतर को बाहर कर देगा, और गलीचे को इसी प्रकार बिछाएगा जिससे उसका निचला भाग सबसे ऊपर रहे, और इस प्रकार की दूसरी बातें करेगा। यह सब हिन्दू स्वभाव की सहज प्रतीपता का परिणाम है।

मूर्त्ति-पूजक अरबियों के रीति-रिवाज

मैं हिन्दुओं को ही उनकी असभ्य रीतियों के लिये बुरा न कहूंगा, क्योंकि प्रतिमा-पूजक अरबी लोग भी अपराध और अश्लीलतायें किया करते थे। वे रजस्वला और गर्भवती स्त्रियों के साथ समागम करते थे; रजोदर्शन की एक ही अवधि में एक ही स्त्री के साथ समागम करने के लिए अनेक पुरुष सहमत हो जाते थे; वे दूसरे लोगों, आगन्तुकों, और अपनी पुत्री के प्रेमी की सन्तानों को अपनी दत्तक सन्तान बना लेते थे; इसके अतिरिक्त वे अपनी विशेष प्रकार की पूजाओं में अपनी उङ्गलियों के साथ सीटी बजाते, और अपने हाथों ताली पीटते, और अपवित्र और मृत पशु का मांस खाते थे। इसलाम ने अरबियों में से और भारत के उन भागों में से जहाँ के लोग मुसलमान हो गये हैं इन सब बातों को दूर कर दिया है। जगदीश्वर को धन्यवाद है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

लोगों की अविद्या से उत्पन्न होनेवाले हिन्दू-शास्त्र

हिन्दू जन साधारण में रस-विद्या

अभिचार का मतलब हम यह समझते हैं कि किसी प्रकार के प्रपंच के द्वारा किसी वस्तु को इन्द्रियों के सामने ऐसा प्रकट करना जैसी वह वास्तव में नहीं है। इन अर्थों में, यह लोगों में बहुत फैला हुआ है। परन्तु उन अर्थों में जिनमें इसे साधारण लोग समझते हैं, अर्थात् किसी असम्भव वस्तु के पैदा कर देने में, यह वास्तविकता की सीमाओं के अन्दर नहीं। क्योंकि जो असम्भव है वह कभी पैदा नहीं किया जा सकता; सारी बात एक निविड़ इन्द्रजाल के सिवा और कुछ नहीं। इस लिए इन अर्थों में अभिचार का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं।

इन्द्रजाल की एक जाति रस-विद्या है, यद्यपि इसको सामान्यतः इस नाम से नहीं पुकारा जाता। परन्तु यदि कोई मनुष्य रुई का एक टुकड़ा ले कर उसे ऐसा बना दे कि वह सोने का एक टुकड़ा मालूम हो तो आप इसे इन्द्रजाल के सिवा और क्या कहेंगे? यदि वह चाँदी के टुकड़े को सोने का रूप धारण करा देता है तो भी बिल्कुल वही बात है। भेद केवल इतना है कि पिछली क्रिया अर्थात चाँदी को सुनहला करना तो प्रायः प्रसिद्ध है पर पहली क्रिया अर्थात् रुई को सोना बनाना प्रसिद्ध नहीं है।

हिन्दू लोग रस-विद्या पर विशेष ध्यान नहीं देते, परन्तु कोई जाति इससे पूर्णतया खाली नहीं। किसी जाति में इसके लिए अधिक प्रवृत्ति है और किसी में कम। पर इससे उनकी बुद्धिमत्ता या अविद्या का कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि हम देखते हैं कि कई बुद्धिमान मनुष्य तो रस विद्या के

के अनुरागी हैं, और कई मूर्ख इस विद्या और इसके पारदर्शियों की हँसी उड़ाते हैं। वे बुद्धिमान लोग यद्यपि अपना विश्वास दिलानेवाली विद्या पर बड़े जोर-शोर से खुशी मनाते हैं, पर वे रस-विद्या में लीन रहने के लिए दोषी नहीं ठहराये जा सकते; क्योंकि उनका प्रयोजन विपत्ति को दूर और सम्पत्ति को प्राप्त करने की अत्यन्त लालसा के सिवा और कुछ नहीं। एक बार किसी ने एक महात्मा से से पूछा कि इसका क्या कारण है कि विद्वान तो सदा धनाढ्यों के द्वार पर दौड़े जाते हैं परन्तु धनाढ्य विद्वानों के यहाँ जाने की इच्छा नहीं प्रकट करते। महात्मा ने उत्तर दिया कि विद्वानों को तो धन का सदुपयोग भली भाँति ज्ञात है परन्तु धनाढ्यों को विद्या की श्रेष्ठता का पता नहीं। इसके विपरीत, यद्यपि मूर्खों की वृत्ति सर्वथा शान्त होती है तो भी केवल रस-विद्या से उनकी निवृत्ति होने के कारण ही वे प्रशंसा के पात्र नहीं हो सकते, क्योंकि उनके प्रयोजन आपत्तिजनक, वरन किसी और चीज के वदले सहज अविद्या और मूढ़ता के व्यावहारिक परिणाम होते हैं।

इस विद्या के पारदर्शी पण्डित इसे गुप्त रखने का यत्न करते हैं और उन लोगों के साथ मिलने-जुलने से संकोच करते हैं जिनका उनके साथ सम्बन्ध नहीं। इसलिए मैं हिन्दुओं से वे रीतियाँ नहीं सीख सका जिनका वे इस विद्या में प्रयोग करते हैं। मैं यह भी नहीं जान सका कि जिस मूल पदार्थ का वे मुख्यतः प्रयोग करते हैं वह कोई धातु है या जीव है या वनस्पति है। मैंने उन्हें हड़ताल को जिसे वे अपनी भाषा में तालक कहते हैं, शोधने, मारने, विश्लिष्ट करने, और मोम करने की वातें करते सुना है, इससे मैं समझता हूँ कि उनकी प्रवृत्ति रस-विद्या की खनिज-विद्या-सम्बन्धी रीति की ओर है।

रसायन-शास्त्र

रस-विद्या से मिलती-जुलती उनकी एक और विद्या है, जो कि विशेषतः उन्हीं की सम्पत्ति है। वे इसे रसायन कहते हैं। रसायन शब्द रस के संयोग से बना है जिसका अर्थ सुवर्ण है। इसका अभिप्राय एक ऐसी कला से है जो कि विशेष क्रियाओं, जड़ी-बूटियों, और मिश्रित औषधियों तक, जिनमें से प्रायः वनस्पतियों से ली जाती हैं, परिमित है। इसके मूलतत्व उन रोगियों को रोग-मुक्त कर देते हैं जिनके बचने की कोई आशा नहीं थी, वे जराजीर्ण व्यक्तियों को पुनः नवयुवक बना देते हैं। वे श्वेत केशों को फिर काला कर देते हैं। उनसे इन्द्रियों में पुनः बल आता है, स्त्री के साथ समागम करने की शक्ति बढ़ती है, और मन में बालकोचित उत्साह की तरंगें उठने लगती हैं, यहाँ तक कि इस लोक में मनुष्यों का जीवन बहुत लम्बा हो जाता है। क्यों न हो? क्या हम पहले ही पतंजलि के प्रमाण से नहीं कह आये कि मोक्ष-प्राप्ति का एक मार्ग रसायन है? कौन ऐसा मनुष्य है जिसमें इसको सत्य मानने की प्रवृत्ति हो, और वह इसको सुन कर मूढ़ हर्ष से छलाँगें न मारने लगे और ऐसी अद्भुत विद्या जाननेवाले के मुँह में अपना सर्वोत्कृष्ट भोजन डाल कर उसकी प्रतिष्ठा न करने लगे?

रसायन की एक पुस्तक का रचयिता, नागार्जुन

इस कला का एक प्रसिद्ध प्रतिनिधि नागार्जुन था। यह सोमनाथ के समीपवर्ती दैहक कोट का रहनेवाला था। उसने इस कला में निपुणता प्राप्त की थी और एक पुस्तक रची थी, जिसमें कि इस विषय के सारे ग्रन्थों का सार है। यह पुस्तक बहुत दुर्लभ है। वह हमारे समय से कोई एक सौ वर्ष पूर्व हुआ है।

विक्रमादित्य के समय का व्याडि नामक रसज्ञ

राजा विक्रमादित्य के समय में, जिसके शक का उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे, उज्जैन नगर में व्याडि नामक एक मनुष्य रहता था। उसने इस विद्या पर पूरा ध्यान दिया था और इसके कारण अपना जीवन और सम्पत्ति दोनों नष्ट कर डाले थे। परन्तु उसके सारे परिश्रम से उसे इतना लाभ भी न हुआ कि वह ऐसी चीजें ले सके जिनका लेना साधारण अवस्थाओं में भी बहुत सुगम होता है। हाथ के तंग हो जाने के कारण उसे उस विषय से घृणा हो गई जो कि इतने समय तक उसके सारे उद्यम का उद्देश्य बना रहा था, और वह एक नदी के तट पर बैठ कर शोक और निराशा से विश्वास छोड़ने लगा। उसने अपने हाथ में अपना वह भेषज-संस्कार ग्रन्थ पकड़ लिया जिसमें से वह अपनी औषधियों के लिए व्यवस्थापत्र लिया करता था, और उसमें से एक-एक पत्र फाड़ कर जल में फेंकने लगा। उसी नदी के किनारे नीचे की तरफ कुछ अन्तर पर एक वेश्या बैठी थी। उसने पत्रों को बहते देखकर पकड़ लिया, और रसायन-सम्बन्धी कुछ एक पत्रों को बाहर निकाल लिया। व्याडि की दृष्टि उस पर उस समय पड़ी जब कि पुस्तक के सारे पत्रे उसके पास जा चुके थे। तब वह स्त्री उसके पास आई और पुस्तक को फाड़ डालने का कारण पूछा। इस पर उसने उत्तर दिया, क्योंकि मुझे इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। मुझे वह चीज नहीं मिली जो कि मुझे मिलनी चाहिए थी। मेरे पास प्रचुर धन था पर इसके कारण मेरा दिवाला निकल गया। इतनी देर तक सुख प्राप्ति की आशा में रहने के अनन्तर अब मैं दुखी हूँ। वेश्या बोली, उस व्यापार को मत छोड़ो जिसमें तुमने अपना जीवन व्यतीत किया है, उस बात के सम्भव होने में सन्देह मत करो जिसको तुम्हारे पूर्ववर्ती ऋषियों ने सत्य बताया है। तुम्हारी कल्पनाओं की सिद्धि में जो बात है शायद वह नैमित्तिक है जो शायद अकस्मात ही दूर हो जायेगी। मेरे पास बहुत सा नकद रुपया है। आप इसे ले लीजिये और अपनी कल्पना-सिद्धि में लगाइए। इस पर व्याडि ने फिर अपना काम शुरू कर दिया।

परन्तु इस प्रकार की पुस्तकें पहेलियों के रूप में लिखी हुई हैं। इसलिए उससे एक औषधि के व्यवस्था पत्र का एक शब्द समझने में भूल हो गई। उस शब्द का अर्थ यह था कि तेल और नर रक्त दोनों की इसके लिए आवश्यकता है। यह रक्तामल लिखा था जिसका अर्थ उसने लाल आमलक समझा। जब उसने ओषधि का प्रयोग किया तो उसका कुछ भी असर न हुआ। अब वह विविध ओषधियाँ पकाने लगा; परन्तु अग्नि शिखा उसके सिर से छू गई और उसका मस्तिष्क जल गया। इसलिए उसने अपनी खोपड़ी पर बहुत सा तेल डाल कर मला। एक दिन वह किसी काम के लिए भट्टी के पास से उठ कर बाहर जाने लगा। ठीक उसके सिर के ऊपर छत में एक मेख बाहर को निकली हुई थी। उसका सिर उसमें लगा और रक्त बहने लगा। पीड़ा होने के कारण वह नीचे की ओर देखने लगा। इससे तेल के साथ मिले हुए रक्त के कुछ बिन्दु उसकी खोपड़ी के ऊपरी भाग से देगची में गिर पड़े, पर उसने इन्हें गिरते नहीं देखा। फिर जब देगची पक चुकी तो उसने और उसकी स्त्री ने क्वाथ की परीक्षा करने के लिए उसे अपने शरीरों पर मल लिया। इसके मलते ही वे दोनों वायु में उड़ने लगे। विक्रमादित्य इस घटना को सुनकर अपने प्रासाद से बाहर निकला और अपनी आँखों से उन्हें देखने के लिए चौक में गया। तब उस मनुष्य ने उसे आवाज दी, मुँह खोल ताकि मैं उसमें थूकूँ। राजा को इससे घृणा आई और उसने मुँह न खोला। इसलिए थूक दरवाजे के पास गिरा। इसके गिरते ही डेवढ़ी सोने से भर गई। व्याडि और उनकी स्त्री जहाँ चाहते थे उड़कर वहाँ चले जाते थे। उसने इस विद्या पर प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं। लोग कहते हैं कि वे दम्पति अभी तक जीवित हैं।

धार के राज-भवन के द्वार में चाँदी के टुकड़े की कहानी

इसी प्रकार की एक दूसरी कथा यह है:—मालवे की राजधानी धार नगर में, जहाँ का राजा हमारे समय में भोजदेव है, राज-भवन के द्वार में शुद्ध चाँदी का एक ऐसा आयत टुकड़ा पड़ा है, जिसमें मनुष्य के अवयवों की वाह्यरेखा दिखाई देती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में निम्न कहानी बताई जाती है:—प्राचीनकाल में एक बार एक मनुष्य उनके एक राजा के पास एक ऐसा रसायन लेकर गया जिसका प्रयोग उसे अमर, विजयी, अजेय और प्रत्येक मनोवाञ्छित कार्य को करने में समर्थ बना सकता था। उसने राजा से कहा कि मेरे पास अकेले आना, और राजा ने आज्ञा दे दी कि उस मनुष्य को जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो वे सब तैयार कर दी जायँ।

वह मनुष्य कई दिन तक तेल को उबालता रहा यहाँ तक कि अन्त को वह गाढ़ा हो गया। तब उसने राजा को कहा:—इसमें छलाँग मारो और मैं क्रिया को समाप्त कर दूँगा। राजा उस दृश्य को देख कर बहुत डर गया था, इसलिए उसे छलाँग मारने का साहस न पड़ा। उस मनुष्य ने उसकी कायरता को देख कर उससे कहा:—यदि आप में यथेष्ट साहस नहीं, आप इसे अपने लिए करना नहीं चाहते तो क्या आप मुझे अपने लिए इसे करने को आज्ञा देते है? राजा ने उत्तर दिया, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अब उसने ओषधियों की अनेक पुड़ियाँ, निकालीं, और राजा को समझा दिया कि जब ऐसे ऐसे चिन्ह प्रकट हों तब अमुक-अमुक पुड़िया मुझ पर डाल देना। तब वह मनुष्य देग के पास जाकर उसमें कूद पड़ा, और क्षण भर में घुल कर उसकी लेवी सी बन गई। अब राजा वैसा ही करने लगा जैसा कि उस मनुष्य ने उसे समझाया था। परन्तु जब वह प्रायः सारी क्रिया समाप्त कर चुका, और उस क्वथा में डालने के लिए केवल एक ही पुड़िया बाकी रह गई, तब उसे चिन्ता उत्पन्न हुई और वह सोचने लगा कि यदि यह मनुष्य, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अमर, विजयी, अजेय बन कर जीवित हो गया तो मेरे राज्य की क्या दशा होगी। इसलिए उसने यही उचित समझा कि अन्तिम पुड़िया क्वाथ में न डाली जाय। इसका फल यह हुआ कि देग ठण्डी हो गई और घुला हुआ मनुष्य चाँदी के टुकड़े के रूप में जम गया।

राजवल्लभ और रंक नामक एक फल-विक्रेता की कथा

वल्लभी नगरी के राजावल्लभ ये विषय में, जिसके संवत का हमने किसी दूसरे परिच्छेद में वर्णन किया है, हिन्दू एक कथा सुनाते हैं।

एक सिद्ध पुरुष ने एक चरवाहे से पूछा कि क्या तुमने कभी कोई ऐसी थोहर (एक पौधा जिसको तोड़ने पर उसमें से दूध निकलता है) देखी है जिसमें से दूध के स्थान लहू निकलता हो। जब चरवाहे ने कहा कि हाँ मैंने देखी है तब उसने उसको हुक्का-तम्बाकू के लिये कुछ पैसे दिये और कहा कि मुझे वह थोहर दिखलाओ। चरवाहे ने उसे दिखला दिया। जब सिद्ध ने वह पौधा देखा तब उसने उसमें आग लगा दी और जलती ज्वाला में चरवाहे के कुत्ते को फेंक दिया। इस पर चरवाहे को क्रोध आया। उसने सिद्ध को पकड़ कर उसके साथ वही वर्ताव किया जो जो कि उसने कुत्ते के साथ किया था जब तक आग न बुझ गई वह वहाँ ठहरा रहा। आग के ठण्डे हो जाने पर उसने देखा कि कुत्ता और मनुष्य दोनों सोने के बने हुए हैं। वह कुत्ते को तो अपने साथ उठा लाया, परन्तु मनुष्य को वहीं पड़ा रहने दिया।

अब किसी किसान को वह मिल गया। वह उसकी एक उङ्गली काट कर एक फल बेचने वाले के पास ले गया जिसका नाम कि रङ्क अर्थात निर्धन था, क्योंकि वह बिलकुल कङ्गाल था और उसकी अवस्था प्राय: दिवाले निकलने तक पहुँची हुई थी। उसे जो कुछ खरीदने की जरूरत थी वह खरीदने लेने के तदन्तर किसान फिर सोने के मनुष्य के पास आया, और उसने देखा कि काटी हुई उङ्गली के स्थान में एक और नई उङ्गली उगी हुई है। उसने इसे दुबारा काट लिया और फिर उसी फल-विक्रेता से अपनी आवश्यक चीजें खरीद ले गया। परन्तु जब फल-विक्रेता ने उससे पूछा कि तुमने यह उङ्गली कहाँ से ली है तो उसने अपनी मूर्खता के कारण उसे बता दिया। तब रङ्क सिद्ध के शरीर के पास गया और उसे गाड़ी पर रख कर अपने घर ले आया। वह रहने को तो अपने पुराने ही घर में रहा, परन्तु उसने शनैः शनैः सारा नगर मोल ले लिया। राजा वल्लभ उसी नगर को लेना चाहता था। उससे कहा कि रुपये लेकर मुझे यह दे दो, परन्तु रङ्क ने इनकार कर दिया। इस पर वह राजा के प्रकोप के डर से अलमनसूरा के स्वमी के पास भाग गया। उसे उसने बहुत सा धन भेंट किया और अपनी सहायता के लिए उससे सागर-सेना माँगी। अलमनसूरा के स्वामी ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके उसे सहायत दी। इस प्रकार राजा वल्लभ पर उसने रात्रि-आक्रमण किया, और उसे और उसकी प्रजा को मार डाला और उसके नगर को नष्ट कर दिया। लोग कहते हैं कि अभी तक हमारे समय में भी उस देश में ऐसे निशान बाकी हैं जो कि उन स्थानों में मिलते हैं जो कि अचिन्तित रात्रि-आक्रमण द्वारा नष्ट कर कर दिये गये थे।

सोना बनाने के लिए मूर्ख हिन्दू राजाओं के लोभ को कोई सीमा नहीं। यदि उनमें से किसी एक को सोना बनाने की इच्छा हो, और लोग उसे यह परामर्श दें कि इसके लिए कुछ छोटे-छोटे सुन्दर बालकों का वध करना आवश्यक है तो वह राक्षस यह पाप करने से भी नहीं रुकेगा; वह उन्हें जलती आग में फेंक देगा। क्या ही अच्छा हो यदि इस बहुमूल्य रसायन-विद्या को पृथ्वी की सबसे अन्तिम सीमाओं में निर्वासित कर दिया जाय जहाँ कि इसे कोई प्राप्त न कर सके।

एक ईरानी ऐतिह्य

इरानी ऐतिह्य के अनुसार, कहते हैं कि इस्फन्दियाद ने मरते समय ये शब्द कहे थे :—जिस शक्ति और जिन अलौकिक वस्तुओं का उल्लेख धर्म्म-पुस्तक में है वे काऊस को दी गई थीं। अन्ततः वह जराजीर्ण अवस्था में क़ाफ़ पर्वत को गया। उस समय बुढ़ापे से उसकी पीठ कुबड़ी हो रही थी। परन्तु वहाँ से वह एक सुडौल और बलवान शरीरवाला युवक बन कर, परमेश्वर के आदेश से मेघों की गाड़ी में बैठ कर वापस आया।

गरुड़ पक्षी पर

मन्त्र-जन्त्र और जादू-टोने में हिन्दुओं का दृढ़ विश्वास है। और साधारणतः उनका झुकाव इनकी ओर बहुत है। जिस पुस्तक में ऐसी चीजों का वर्णन है वह गरुड़ की, जोकि नारायण की सवारी का पक्षी है, बनाई हुई समझी जाती है। कई लोग इसका वर्णन करते हुए इसे सिफरिद पक्षी और उसके कामों से मिला देते हैं। यह मछलियों का बहुत बड़ा शत्रु है; और उन्हें पकड़ लेता है। साधारणतः, पशु स्वभाव से ही अपने शत्रुओं से द्वेष रखते हैं; परन्तु यहाँ इस नियम का अपवाद है। जब यह पक्षी पानी के ऊपर फड़फड़ाता और तैरता है तब मछलियाँ पानी

की गहराई से ऊपर सतह पर आ जाती हैं, जिससे वह उन्हें आसानी से पकड़ ले, मानों उसने उन्हें अपने जादू से बाँध लिया हो। कई दूसरे लोग उसमें ऐसे लक्षण बताते है जिनसे वह सारस मालूम होता है। वायुपुराण उसका रंग पीला बताता है। सर्वतोभावेन गरुड़ सिफ़रिद की अपेक्षा सारस से अधिक मिलता है, क्योंकि सारस भी, गरुड़ की तरह, स्वभाव से ही सर्पनाशक है।

सांप के काटे पर मन्त्र-जन्त्र का असर

उनके बहुत से मन्त्र-जन्त्र साँप के डँसे लोगों के लिए हैं। इनमें उनके अत्यन्त विश्वास का पता उस बात से लगता है जो कि मैंने एक मनुष्य के मुह से सुनी थी। वह कहता था कि मैंने एक मृत व्यक्ति को देखा जो साँप के काटने से मर गया था। जब उस पर मन्त्र-जन्त्र का प्रयोग किया गया तब वह पुनः जी उठा, और दूसरे लोगों की तरह जीवित और चलता-फिरता रहा।

एक और मनुष्य से मैंने यह कहानी सुनी थी।—उसने एक मनुष्य को देखा था जो साँप के काटने से मरा था। उस पर एक मन्त्र का प्रयोग किया गया, जिसके असर से वह जी उठा, उसने बातचीत की, मृतपत्र (वसीयत) लिखा, अपना दबाया हुआ ख़ज़ाना दिखलाया, और उसके विषय में सारी आवश्यक जानकारी दी। परन्तु जब उसे भोजन की गन्ध आई तब वह मर कर पृथ्वी पर गिर पड़ा, जीवन उसके अन्दर से सर्वथा जाता रहा।

हिन्दुओं की यह रीति है कि जब किसी व्यक्ति को कोई विषधर साँप काट खाये और वहाँ पास में कोई जादूगर न हो, तब वे उस काटे हुए व्यक्ति को किलकों के एक गट्ठर के साथ बाँध कर उस पर एक पत्र रख देते हैं। पत्र पर उस व्यक्ति के लिए आशीर्वाद लिखा होता है जो उसके पास अकस्मात् आकर अपने जादू-टोने से उसके प्राणों की रक्षा करेगा।

मैं स्वयं इन चीजों के विषय में कुछ नहीं कह सकता क्योंकि मेरा इनमें विश्वास नहीं। एक दफ़े एक मनुष्य ने, जिसका यथार्थता में बहुत कम, और मदारियों की लीला में उससे भी कम विश्वास था, मुझे बताया कि मुझको विष दिया गया था और लोगों ने जादू-टोना करनेवाले हिन्दुओं को मेरे पास भेजा था। वे मेरे सामने अपने मन्त्र पढ़ते थे, जिससे मुझको शान्ति प्राप्त होती थी, और जल्दी ही मैं अनुभव करने लगा कि मैं चङ्गा होता जा रहा हूँ, हिन्दू इस बीच में अपने हाथों और छड़ियों के साथ वायु में लकीरें खींचते जाते थे।

शिकार के अभ्यास

मैंने स्वयं देखा है कि मृगों के शिकार में वे उन्हें हाथ से पकड़ लेते हैं। एक हिन्दू ने तो यहा तक कहा कि मैं मृग को पकड़े बिना ही उसे अपने आगे लाकर सीधा रसोई-घर में भेज सकता हूँ। परन्तु यह बात, जैसा कि मेरा विश्वास है और मैंने मालूम कर लिया है, पशुओं को शनैः-शनैः और अविरत रूप से एक ही स्वर-संयोग का अभ्यासी बनाने के उपायमात्र पर अवलम्बित है। हमारे लोग भी बारहसिंगे का शिकार करते समय, जो कि मृग से भी अधिक उच्छृङ्खल होता है, यही उपाय करते हैं। जब वे इन पशुओं को कहीं विश्राम करते पाते हैं तब वे एक घेरा बना कर उनके गर्द घूमने लगते हैं, और साथ-साथ एक ही स्वर में इतनी देर तक गाते रहते हैं कि वे जन्तु उस स्वर के अभ्यासी हो जाते हैं। तब वे अपने घेरे को सङ्कीर्ण और सङ्कीर्णतर करते जाते हैं यहाँ तक कि वे अन्त को पूर्ण विश्राम में लेटे हुए उन जन्तुओं के इतने निकट आ पहुँचते हैं कि वहाँ से उन पर गोली चलाई जा सकती है।

कृता नामक पक्षियों को मारनेवालों की यह रीति है कि वे सारी रात एक ही स्वर से तांबे के बर्तनों को बजाते रहते हैं, फिर वे उन पक्षियों को हाथ से पकड़ लेते है। परन्तु स्वर के बदल जाने पर वे सब इधर-उधर उड़ जाते हैं। ये सब बातें विशेष रीतियां हैं, इनका जादू से कोई सम्बन्ध नहीं। कई दफे हिन्दुओं को इसलिए भी ऐन्द्रजालिक समझा जाता है कि वे ऊँचे बांसों पर, या कसे हुए रस्सो पर चढ़ कर गोलियों से खेलते हैं, परन्तु इस प्रकार के खेल सभी जातियों में सामान्य हैं।

अठारहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं के देश, नदी-नालों, महासागर, प्रान्तों और सीमायें

रहने लायक जगत् और सागर

पाठक कल्पना करें कि बसने लायक जगत् पृथ्वी के उत्तरी अर्द्ध में है, और यदि अधिक यथार्थ रीति से कहा जाय तो वह इस अर्द्ध के भी आधे में—अर्थात् पृथ्वी के एक चौथाई भाग में स्थित है। यह चारों ओर से एक समुद्र से घिरा हुआ है, जिसको पूर्व और पश्चिम दोनों में व्यापक कहते हैं; यूनानी लोग अपने देश के निकटस्थ इसके पश्चिमीय भाग को ओकियानूस कहते हैं। यह समुद्र वासयोग्य जगत् को उन महाद्वीपों से जुदा करता है जो कि पूर्व और पश्चिम की ओर इसके परे होंगे; क्योंकि ये वायु के अन्धकार और जल की गाढ़ता के कारण, किसी और दूसरे रास्ते के न मालूम होने से, और जोखिम जियादा तथा लाभ शून्यमात्र होने के कारण जाहाज चलाने के योग्य नहीं। इसी लिए प्राचीन लोगों ने समुद्र तथा इसके किनारों पर निशान लगा दिये हैं जिससे कोई इसमें प्रवेश न करे।

शीत के कारण वासयोग्य जगत उत्तर तक नहीं पहुँचता। जिन कुछ एक स्थानों में यह उत्तर में घुसा भी है वहाँ इसका आकार जीभों और खाड़ियों का सा है। दक्षिण में यह सागर-तट तक पहुँच गया है। यह सागर पश्चिम और पूर्व में व्यापक सागर के साथ मिला हुआ है। यह दक्षिण सागर जहाज चलाने के लायक है। वासयोग्य जगत की यह दक्षिणी चरम सीमा नहीं! इसके विपरीत बसने लायक जगत छोटे और बड़े द्वीपों के रूप में, जिनसे सागर भरा हुआ है, और भी आगे दक्षिण की ओर निकल गया है। इस दक्षिण प्रदेश में जल और स्थल का अपनी स्थिति के लिए आपस में झगड़ा चल रहा है, जिससे कहीं तो स्थल जल के अन्दर और कहीं जल स्थल के अन्दर घुसता चला गया है।

पृथ्वी के पश्चिमी अर्धभाग में महाद्वीप समुद्र में दूर तक घुस गया है, और दक्षिण में इसके किनारे दूर तक फैल रहे हैं। इस महाद्वीप के मैदानों में पाश्चात्य हबसी लोग रहते हैं। यहाँ से ही गुलाम लाये जाते हैं। और चन्द्रमा के पर्वत है जिन पर नील नदी के स्रोत हैं। इसके किनारे पर और किनारे के सामने के द्वीपों पर जञ्ज की विविध जातियाँ रहती हैं। अनेक खाड़ियाँ हैं जो पृथ्वी के इस पश्चिमी अर्द्धांश में महाद्वीप के अन्दर घुसी हुई हैं—यथा बर्बरा की खाड़ी कलाईसमा

(लाल समुद्र) की खाड़ी और फारस की खाड़ी और इन खाड़ियों के बीच में पश्चिमी महाद्वीप थोड़ा बहुत महासागर में घुसा हुआ है।

पृथ्वी के पूर्वीय अर्धांश में समुद्र महाद्वीप के भीतर उतना ही गहरा घुस गया है जितना कि पश्चिमी अर्धांश में महाद्वीप दक्षिणी समुद्र में घुसा हुआ है, और अनेक स्थानों में इसने खाड़ियाँ और मुहाने बनाए हैं—खाड़ियाँ समुद्र के भाग होते हैं और मुहाने समुद्र की ओर नदियों के निर्गम। यह समुद्र प्रायः अपने किसी टापू या अपने इर्द-गिर्द के किनारे के नाम पर कहलाता है। परन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध समुद्र के केवल उसी भाग से है जिसके किनारे पर भारतवर्ष स्थित है, और इसी से इसका नाम भारतीय सागर है ‡।

एशिया और योरुप की शैल प्रणाली

वासयोग्य जगत के पर्वतों के आकार के विषय में आप कल्पना कीजिए कि देवदारु की रीढ़ के जोड़ों के सदृश एक अत्युच्च पर्वतमाला पृथ्वी के मध्यवर्ती अक्ष में से, और रेखांश में पूर्व से पश्चिमी तक चीन, तिब्बत, तुर्कों के देश, काबुल, वखशान, तोखारिस्तान, बामियान, अलगोर खुरासान, मीडिया, अजरबायजान, आर्मेनिया, रोमन साम्राज्य, फ्रांक लोगों के देश और जलालिका जाति (ग़लीशियन) के देश में होती हुई फैल रही है। इस सुदीर्घ गिरिमाला की चौड़ाई भी काफी है। इसके अतिरिक्त इसकी कई मोड़े भी हैं। जिनके अन्दर आबाद मैदान हैं। इन मैदानों को इन पर्वतों से उत्तर और दक्षिण दोनों ओर बहनेवाली नादियों का जल मिलता है। इन मैदानों में से एक भारतवर्ष है इसकी दक्षिण सीमा पर पूर्वोक्त भारतीय सागर है और शेष तीन ओर ऊँचे ऊँचे पर्वत हैं जिनका जल बह कर इसमें जाता है। परन्तु यदि आप भारत की भूमि को अपनी आंखों से देखें और उसके स्वरूप पर विचार करें—यदि आप उन गोल हुए पत्थरों पर ध्यान दें जो पृथ्वी के अन्दर उसको बहुत गहरा खोदने पर भी मिलते हैं, जो पर्वतों के समीप और वहाँ बहुत बड़े हैं जहाँ नदियों का प्रवाह बहुत प्रबल है; जो पर्वतों से अधिक दूरी पर और वहाँ छोटे हैं जहाँ नदियों की गति मन्द है, जो नदियों के मुहानों और समुद्र के समीप जहाँ नदियों का पानी स्थिर होने लगता है रेत के रूप में चूरा-चूरा हुए मालूम होते हैं—यदि आप इन सब बातों पर विचार करें तो आप इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि भारत किसी समय समुद्र था जो कि नदियों की लाई हुई मिट्टी से शनैः शनैः भर गया है।

मध्यदेश, कन्नौज, माहूर और थानेश्वर के विषय में प्रथम कल्पना

भारत का मध्य कनोज के इर्द-गिर्द का देश है जिसे कि वे मध्य देश अर्थात राज्य का मध्य भाग कहते हैं। भूगोल-विद्या की दृष्टि से यह मध्य या केन्द्र है क्योंकि यह पर्वतों और समुद्र के ठीक मध्य में, शीत और उष्ण प्रान्तों के बीच में, और भारत के पुर्वीय और पश्चिमीय सीमान्त प्रदेशों के मध्य में स्थित है। परन्तु यह राजनैतिक केन्द्र भी है क्योंकि पूर्व समयों में उनके बहुत प्रसिद्ध सूरवीर और राजागण यहाँ ही निवास करते थे।

सिन्ध देश कन्नौज के पश्चिम में है। स्वदेश से सिन्धु में जाने के लिये हम नीमरोज अर्थात सिजिस्तान के देश से चलते हैं, परन्तु हिन्द अर्थात विशेष भारत में जाने के लिए काबुल की ओर से

‡ भारतीय सागर के उत्तरी तट के आकार ने, ऐसा प्रतीत होता है कि अलबेरुनी का मन मोह लिया है। अगले परिच्छेदों में वह काफी विस्तार से फिर इसके बारे में लिखता है।

जाना पड़ता है। किन्तु एक यही सम्भव मार्ग नहीं। यदि यह मान लिया जाय कि आप रास्ते में पड़ने वाली बाधाओं को दूर कर सकते हैं तो फिर आप भारत में सब तरफों से प्रवेश कर सकते हैं। भारत के पश्चिमी सीमा प्रदेश में जो पर्वत हैं उनमें हिन्दुओं की, या उनसे निकट सम्बन्ध रखने वाले लोगों की जातियाँ द्रोही असभ्य जातियाँ—हैं जो कि हिन्दू जाति के दूरतक सीमा प्रदेशों तक फैली हुई हैं।

कन्नौज गंगा के पश्चिम में एक बहुत बड़ा शहर है, परन्तु राजधानी के यहाँ से उठ कर बारी नगर में चले जाने से, जो कि गंगा के पूर्व में है, अब इसका बहुत बड़ा भाग खंडहर पड़ा है। इन दो शहरों के बीच तीन या चार दिन का रास्ता है।

जिस प्रकार कन्नौज (कान्यकुब्ज) पाण्डु-पुत्रों से कारण प्रसिद्ध हो गया है उसी प्रकार माहूर (मथुरा) नगरी वासुदेव के कारण विख्यात है। यह जौन (यमुना) नदी के पूर्व में स्थित है। माहूर और कन्नौज के बीच २८ फर्सख का अन्तर है।

तानेशर [थानेश्वर] दो नदियों के बीच, कन्नौज और माहूर दोनों के उत्तर में, कन्नौज में कोई ८० फर्सख‡ और मथुरा से कोई ५० फर्सख के अन्तर पर स्थिति है।

गंगा नदी का स्रोत उन पर्वतों में हैं जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। इसका स्रोत गंग-द्वार कहलाता है। इस देश को अन्य बहुत सी नदियों के स्रोत भी उन्हीं पर्वतों में हैं जिनका उल्लेख हम उचित स्थल पर पहले कर आये हैं।

दूरियाँ मालूम करने की हिन्दू-विधि

भारतवर्ष के विविध स्थानों के बीच की दूरियों के विषय में, जिन लोगो ने उनको आप साक्षात नहो देखा उन्हें ऐतिह्य के भरोसे रहना जरूरी है। परन्तु दुर्भाग्य से ऐतिह्य का स्वरूप ऐसा है कि वतलोमूस पहले ही इसका प्रचार करने वालों और किस्सागोई की ओर उनकी प्रवृत्ति को अनवरत रूप से शिकायत करता है। सौभाग्य से मैंने उनकी झूठी बातों को रोकने के लिए एक निश्चित नियम पा लिया है। हिन्दू प्राय: गिनते हैं कि एक बैल २००० और ३००० मन बोझ उठा सकता है जो कि उस बोझ से अनन्त गुना अधिक है जिसको एक बैल एक दफे उठा सकता है। इसीलिए वे इस बात पर बाध्य हैं कि काफिले को आगे और पीछे अनेक दिन तक—वास्तव में, उतनी देर तक जब तक कि बैल उस बोझ को जो कि उसके लिए नियत किया गया है मार्ग के के एक सिरे से दूसरे सिरे तक न ले जाय, एक ही सफर करने देते है, और तब वे दो स्थानों के बीच के अन्तर को उतने दिनों का कूच गिनते है जितने कि काफिले ने आगे और पीछे जाने में सब मिला कर लगाये हैं। बड़े उद्यम और जागरूकता के साथ ही हम हिन्दुओं के बयानों को किसी हद तक शुद्ध कर सकते है। फिर भी; जो कुछ हम जानते हैं उसको दबाने का संकल्प नहीं कर सकते। जहाँ कहीं हमारी भूल हो उसके लिए हम पाठकों से क्षमा मांगते हुए अब आगे चलते हैं।

---

‡ अलबेरुनी दूरियों को गिनती फसखों में काम करता है परन्तु इसकी तुलना में उसने कोई माप का जिक्र नहीं किया है। परन्तु इसकी तुलना का आगे के वर्णन से पता लगता है कि १ फर्सख = ४ मील = १ कुरोह तथा १ फर्सख = १६००० गज है।

कन्नौज से प्रयाग के वृक्ष तक और पूर्वीय तीर तक

कन्नौज से चल कर जौन और गंगा नामक दो नदियों के बीचों बीच दक्षिण की ओर जाने वाला मनुष्य निम्नलिखित प्रसिद्ध प्रसिद्ध नगरों में से गुजरेगा:—जज्जमौ, जो कि कन्नौज से १२ फर्संख है, एक फर्संख चार मील या एक कुरोह के बराबर होता है; अभापुरी ८ फर्संख; कुरह ८ फर्संख; बर्हमशिल ८ फर्संख, प्रयाग का वृक्ष १२ फर्संख अर्थात वह स्थान जहाँ जौन और गंगा का संगम है, जहाँ कि हिन्दू उन विविध प्रकार की यातनाओं से अपने आपको व्यथित करते हैं जिनका वर्णन धार्मिक सम्प्रदायों की पुस्तकों में है। प्रयाग से उस स्थान का अन्तर जहाँ कि गंगा समुद्र में गिरती है १२ फर्संख है।

देश के दूसरे प्रान्त प्रयाग के वृक्ष से दक्षिणतः समुद्र तट की ओर फैले हुए हैं। अर्कु-तीर्थ प्रयाग से १२ फर्संख; ऊत्रर्यहार राज्य ४० फर्संख, समुद्र-तट पर ऊर्दवीशौ ५० फर्संख।

वहाँ से समुद्र-तट के साथ-साथ पूर्व की ओर वे देश हैं जो कि इस समय जौर † के अधीन हैं, पहले दरौर, उर्दवशौ से चालीस फर्संख, काञ्जी ३० फर्संख, मलय ४० फर्संख, कूंक ३० फर्संख, जो कि इस दिशा में जौर के अधीन अन्तिम स्थान है।

वारी से गंगा के मुहाने तक

वारी‡ गंगा के पूर्वीय किनारे के साथ साथ चलते हुए तुम्हें रास्ते में ये स्थान मिलेंगे :— अजोदहा [अयोध्या], वारी से २५ फर्संख, प्रसिद्ध बनारसी २५ फर्संख। फिर वहाँ से रुख बदल कर, और दक्षिण के स्थान पूर्व की ओर चलने से तुम्हें ये स्थान मिलेंगे :—शरवार, बनारसी से ३५ फर्संख, पाटलिपुत्र २० फर्संख, मुगंरी १५ फर्संख, जंपा ३० फर्संख, दुगुमपुर ५० फर्संख, गंगाशायर ३० फर्संख जहाँ कि गंगा समुद्र में गिरी है।

कनौज से नेपाल भोटेश्वर तक

कन्नौज से पूर्व की ओर चलते हुए तुम इन-इन स्थानों में आते हो :— वारी १० फर्संख, तूगून ४५ फर्संख, शिलहट राज्य १० फर्संख, बिहत नगर १३ फर्संख। आगे चल कर दाईं ओर का देश तिलवट, और वहाँ के लोग तरू कहलाते हैं। ये लोग बहुत काले और तुर्कों के सदृश चपटी नाक वाले होते हैं। वहाँ से तुम कामरू के पर्वतों पर जा पहुँचते हो जो कि समुद्र तक फैले हुए हैं।

तिलवत के सम्मुख दाईं ओर का देश नैपाल-राज्य है। एक मनुष्य, जो उन देशों में घूम चुका था, ने निम्नलिखित वृत्तान्त सुनाया था:—तन्वत में पहुँच कर, उसने पूर्वीय दिशा को छोड़ दिया और बाईं ओर को मुड़ पड़ा। उसने नेपाल को कूच किया जो कि ४० फर्संख मार्ग है, और जिसके बहुत से भाग में चढ़ाई है। नैपाल से वह तीस दिन में भोटेश्वर पहुँचा। यह कोई ८० फर्संख का रास्ता है। इसमें उतराई की अपेक्षा चढ़ाई अधिक है। फिर एक पानी आता है जिसको अनेक बार पुलों द्वारा पार करना पड़ता है। ये पुल तख्तों को रस्सों से दो लाठियों के साथ बाँध कर बनाये जाते जाते है। ये लाठियाँ एक चट्टान से दूसरी चट्टान तक गई हुई होती हैं और इनको दोनों ओर बनाये हुए मीनारों के साथ बाँधते हैं। लोग ऐसे पुल पर से

† जौर से अभिप्राय है—चोला राज्य।

‡ वारी का वर्णन आगरा जिला के उपभाग के रूप में भी मिलता है।

कन्धों पर बोझ रख कर पार लेजाते हैं, जब कि पुल के नीचे, १०० गज की गहराई पर, पानी हिम-सदृश श्वेत झाग उछालता हुआ चट्टानों को टुकड़े-टुकड़ कर डालने की धमकी देता रहता है। पुलों की दूसरी ओर जाकर बोझ को बकरियों की पीठ पर लाद दिया जाता है। मेरा संवाददाता सुनाता था कि मैंने वहाँ चार नेत्रोंवाले मृग देखे थे और यह कोई प्रकृति की आकस्मिक दुर्घटना न थी, किन्तु मृगों की सारी जाति ही इसी प्रकार की थी।

भोटेश्वर तिब्बत का पहला सीमान्त प्रदेश है। वहाँ लोगों की भाषा, वेश, और देहाकार बदल जाते हैं। वहाँ से उच्चतम गिरिशिखर की दूरी २० फर्संख है। इस पर्वत की चोटी से भारत कुहरे के नीचे एक काला विस्तार, चोटी के नीचे के पर्वत छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, और तिब्बत और चीन लाल मालूम होते हैं। तिब्बत और चीन की तरफ़ का उतार एक फर्संख से कम है।

कनौज से बनवास तक

कनौज से दक्षिण-पूर्व की ओर, गङ्गा के पश्चिमी किनारे के साथ-साथ चलते हुए, तुम जजाहूती राज्य में पहुँच जाते हो जो कि कनौज से ३० फर्संख है। इस नगर और कनौज के बीच भारत के दो परम प्रसिद्ध किले अर्थात ग्वालियर और कालञ्जर हैं। दहाल [—फर्संख], एक देश है जिस की राधानी तिऔरी, और जिसका वर्तमान राजा गंगेय है। कन्नकर-राज्य २० फर्संख है। अपसूर, बनवास, समुद्र-तट पर हैं। कनौज से दक्षिण-पच्छिम की ओर चलकर तुम इन स्थानों में पहुँचते हो:— आसी कनौज से १८ फर्संख; सहन्य १७ फर्संख; जन्दरा १८ फर्संख; राजौरी १५ फर्संख; गुजरात-राजधानी बजान २० फर्संख—इस नगर को हमारे लोग नारायण कहते हैं। इसके ह्रास के अनन्तर यहाँ के निवासी उजड़ कर जदूर (?) नामक एक दूसरे स्थान में जा बसे थे।

माहूर से धार तक

माहूर ‡ और कनौज के बीच उतना ही अन्तर है जितना कि कनौज और बजान के बीच है, अर्थात २८ फर्संख। यदि कोई मनुष्य माहूर से उजैन को जाय तो उसे रास्ते में ऐसे ग्राम मिलेंगे जिनका आपस में पाँच फर्संख और इससे कम अन्तर है। पैंतीस फर्संख चलने के बाद वह दूदही नामक एक बड़े गाँव में पहुँचेगा; वहाँ से बामहूर दूदही से १७ फर्संख, भैलसा ५ फर्संख, जो कि हिन्दुओं का एक परम प्रसिद्ध स्थान है। इस स्थान का नाम और वहाँ की देव-मूर्त्ति का नाम एक ही है। वहाँ से अर्दीन, ६ फर्संख है। जिस देव-मूर्त्ति का वहाँ पूजन होता है, उसका नाम महाकाल है। धार ७ फर्संख है।

बजान मन्दगिर

बजान से दक्षिण की ओर चल कर तुम मैवाड़ में आते हो, जो कि बजान से २५ फर्संख है। यह एक राज्य है जिसकी राजधानी जन्तरौर है। इस नगर से मालवे और उसकी राजधानी धार का अन्तर २० फर्संख है। उजैन नगर ७ फर्संख धार के पूर्व में है।

उजैन से भैलसां तक, जो कि मालवे में ही हैं, १० फर्संख का अन्तर है।

---

‡ माहूर से अलबेरूनी का मतलब वर्त्तमान मथुरा से है।

धार से दक्षिण की ओर चलने से ये स्थान आते है :—भूमिहर, धार से २० फर्संख; कण्ड फरख, नमावुर नर्मदा के तट पर १० फर्संख; अलीस २० फर्संख; मन्दगिर गोदावरी के तट पर ६० फर्संख।

धार से तान तक

फिर धार से दक्षिण दिशा में चलने पर तुम्हें ये स्थान मिलेंगे:—नमिय्य की घाटी, धार से ७ फर्संख; महरट्टा देश १८ फर्संख; कुङ्कन प्रान्त और समुद्र-तट पर इसकी राजधानी तान, २५ फर्संख है।

भारत के विविध जन्तु

लोग कहते हैं कि कुङ्कन के मैदानों में जो कि दानक कहलाता है, शरव (संस्कृत शरभ) नाम का एक जन्तु रहता है। इसके चार पैर होते हैं परन्तु इसकी पीठ पर भी चार पैरों के सदृश कोई चीज ऊपर की ओर उठी हुई रहती है। इसकी एक छोटी सी सूँड और दो वड़े सींग होते हैं जिनसे यह हाथी पर आक्रमण करता और उसको चीर कर दो कर देता है। इसका आकार भैंस का सा होता है पर यह गैंडे से वड़ा होता है। लोगों में प्रसिद्ध है कि कभी-कभी यह किसी एक जन्तु को अपने सींगों में फँसा कर उसे या उसके एक अंश को अपनी पीठ पर ऊपर की टाँगों के वल रख लेता है। वहाँ उसके सड़ने से कीड़े पड़ जाते हैं और वे इसकी पीठ में घुस जाते हैं। इसलिए यह वृक्षों के साथ अपने शरीर को लगातार रगड़ता रहता है, और अन्त को यह मर जाता है। इसी जन्तु के विषय में कहते हैं कि जब वादल गरजता है तो यह समझता है कि कोई जन्तु वोल रहा है। तव यह झट इस कल्पित शत्रु पर आक्रमण करने के लिए भागता है, उसके पीछे भागते हुए यह पर्वतों की चोटियों पर चढ जाता है और वहाँ से उसकी ओर छलाँग मारता है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि यह गहरे गढ़ों में गिर कर चकनाचूर हो जाता है।

भारत में, विशेषतः गंगा के आस पास, गैंडा एक वड़ी संख्या में पाया जाता है। इसकी वनावट भैंस की सी है, खाल काली छिलकेदार और ठोड़ी के नीचे लटकती हुई चद्दर होती है। इसके प्रत्येक पैर पर तीन पीले सुम होते हैं, इनमें से सबसे वड़ा आगे की ओर, और वाकी दो दोनों ओर होते हैं। पूँछ लम्बी नहीं होती, दूसरे जन्तुओं की अपेक्षा इसकी आँखें गालों के वहुत नीचे धँसी हुई होती हैं। नाक की चोटी पर एक सींग होता है जो कि ऊपर की ओर झुका रहता है। ब्राह्मणों को गैंडे का माँस खाने का विशेष अधिकार है। एक तरुण गैंडे को सामने आनेवाले हाथी पर आक्रमण करते मैंने स्वयं देखा है। गैंडे ने अपने सींग के द्वारा हाथी के एक अगले पाँव को आहत करके उसे मुँह के वल गिरा दिया।

मैं समझता था कि गैंडे को ही कर्कदन्न कहते हैं, परन्तु एक मनुष्य ने, जो हवशियों के देश के अन्तर्गत सुफाला नामक स्थान को देख आया था, मुझे वताया कि कर्कदन्न की अपेक्षा कर्क जिसको हवशी लोग इम्पीला कहते हैं और जिसके सींग के हमारे चाकुओं के दस्ते वनते हैं गैंडे से अधिक मिलता है। इसके अनेक रंग होते हैं। इसकी खोपड़ी पर गाजर की शकल का एक सींग होता है। यह जड़ पर चौड़ा होता है और वहुत ऊँचा नहीं होता। सींग का डण्डा (तीर) अन्दर से काला और वाकी सब जगह सफेद होता है। माथे पर इसी प्रकार का एक दूसरा और अधिक लम्बा सींग होता है ज्योंही यह जन्तु सींग से किसी को मारना चाहता है त्योंही यह सीधा

हो जाता है। यह इस सींग को चट्टानों से रगड़ कर काटने और चुभाने के लिए तेज कर लेता है। इसके सुम होते हैं और एक गधे की सी बालोंवाली पूँछ होती है।

नील नदी के सदृश भारत की नदियों में भी घड़ियाल होते हैं। इसी से अल्प-बुद्धि अलजाहिज ने नदियों के मार्गों और सागर के आकार को न जानने के कारण, यह समझ लिया था कि मुहरान की नदी (सिन्धु नदी) नील की एक शाखा है। इसके अतिरिक्त भारत की नदियों में मगर की जाति के कई दूसरे अद्भुत जीव होते हैं। ये विचित्र प्रकार की मछलियाँ होती हैं। और एक चर्म के थैले जैसा जन्तु होता है जो कि जहाज में से दिखाई देता है और तैर-तैर कर खेलता है। इसको बुलूं (सूसमार) कहते हैं। मैं समझता हूँ कि यह डोलफीन या डोलफिन की कोई जाति है। लोग कहते हैं कि इसके सर में डोलफिन की तरह साँस लेने के लिए एक छिद्र होता है।

दक्षिणीय भारत की नदियों में एक जन्तु रहता है जिसके ग्राह जलतन्तु और तन्दूआ आदि अनेक नाम हैं। यह पतला परन्तु बहुत लम्बा होता है। लोग कहते हैं कि यह छिप कर घात में में पड़ा रहता है, ज्योंही कोई मनुष्य या जन्तु जल में घुस कर खड़ा होता है यह एकदम उस पर आक्रमण कर देता है। पहले यह कुछ दूर से ही अपने शिकार के गिर्द चक्कर डालता रहता है यहाँ तक की इसकी लम्बाई समाप्त हो जाती है। तब यह अपने आप को इकट्ठा करता, और शिकार के पाँव के गिर्द गाँठ की तरह लिपट जाता है, जिससे वह गिर कर मर जाता है। एक मनुष्य ने, जिसने इस जन्तु को देखा था, मुझे बताया कि इसका सिर कुत्ते का होता है, और एक पूँछ होती है जिसके साथ अनेक लम्बी-लम्बी आकर्षणियाँ लगी रहती हैं। जिस अवस्था में शिकार काफी थका नहीं रहता यह अपनी इन आकर्षणियों से उसे जकड़ लेता है। इन तारों से यह शिकार को अपनी पूँछ के पास खींच लाता है। जब वह जन्तु एक बार पूँछ की दृढ़ लपेट में आ जाता है तब फिर वह बच नहीं सकता।

बजाना से सोमनाथ

इस अप्रस्तुत विषय को छोड़ कर अब हम प्रस्तुत विषय की ओर आते हैं।

बजाना से दक्षिण-पश्चिम की ओर कूच करने पर तुम अनहिलवाड़ा * में, जो बजाना से ६० फर्संख है, और समुद्र तट पर सोमनाथ में, जो कि ५० फर्संख है, पहुँच जाते हो।

अनहिलवाड़ा से दक्षिण दिशा में चलने पर ये स्थान मिलते हैं :—लारदेश, इस देश की बिहरोज और रिहञ्जूर नामक दो राजधानियाँ; हैं जो कि अनहिलवाड़ा से ४२ फर्संख हैं। ये दोनों तान से पूर्व की ओर सागर तट पर हैं।

बजाना से पश्चिम की ओर चलने से ये स्थान मिलते हैं :—मूलतान, बजाना से ५० फर्संख, भाती १५ फर्संख।

भाती से दक्षिण पश्चिम की ओर सफर करने से ये स्थान मिलते हैं :—अरोर; भाती से १५ फर्संख जो कि सिन्धु नदी की दो शाखाओं के बीच एक पोत सदृश नगर है, बमहना अलमनसूरा २० फर्संख, लोहरानी सिन्धु नदी के मुहाने पर, ३० फर्संख।

कनौज से काश्मीर

कन्नोज से उत्तर, उत्तर-पश्चिम दिशा में जाने पर ये स्थान रास्ते में आते है :—शिरशारह, कनौज से ५० फर्संख, पिन्जौर १८ फर्संख पर्वतों पर स्थित है, इसके सामने मैदान में तानेशर

---

* अनहिलवाड़ा—बड़ोदा के निकट आधुनिक पत्तन।

(थानेश्वर) नगर है, दहमाल जालन्धर की राजधानी, पर्वतों के तल में, १८ फर्सख; बल्लावर १० फर्सख, यहाँ से पश्चिम की ओर चलने पर लद्द १३ फर्सख, राजगिरि का किला ८ फर्सख, वहाँ से उत्तर की ओर कूच करने पर काश्मीर २५ फर्सख है ।

कनौज से गजनी

कनौज से पश्चिम की ओर सफर करने से ये स्थान मिलते हैं :—दियामौ, कनौज से १० फर्सख, कुती १० फर्सख, आनार १० फर्सख, मीरत १० फर्सख, पानीपत १० फर्सख। पिछले दो स्थानों के मध्य में जौन (यमूना) नदी वहती है। कवीतल १० फर्सख, सुन्नाम १० फर्सख।

वहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर चलने से ये स्थान आते हैं :—आदित्तहौर ६ फर्सख; जज्जनीर ६ फर्सख; मन्दहूकूर, जो कि इराव नदी के पूर्व लौहावुर की राजधानी है ८ फर्सख; चन्द्राह् नदी १२ फर्सख; जैलम नदी, जो कि वियत्त नदी के पश्चिम में है, ८ फर्सख; कन्धार की राजधानी वैहिन्द जो सिन्धु नदी के पश्चिम में है २० फर्सख, पुरशावर २४ फर्सख, दुनपूर १५ फर्सख, कावुल १२ फर्सख गजन (गजनी) १७ फर्सख।

काश्मीर का वृत्तान्त

काश्मीर एक ऐसी समस्थली पर स्थित है जिसको चारों ओर से अगम्य पर्वत घेरे हुए हैं। इस देश का दक्षिण और पूर्व भाग हिन्दुओं के पास है, पश्चिम बोलर शाह और शुगनान शाह आदि विविध राजाओं के पास और उससे भी परे के भाग वदखशान की सीमान्त-रेखा तक वखान शाह के पास हैं। इस देश का उत्तर और कुछ पूर्वीय भाग खुतन और तिब्बत के तुर्कों के पास है। भोटेशर-शिखर से काश्मीर तक की दूरी, तिब्बत के रास्ते, कोई ३०० फर्सख है।

काश्मीरी लोग पयादे हैं, उनके पास न कोई सवारी का जानवर है और न कोई हाथी है। उनमें से जो धनी हैं वे कत्त नामक पालकियों में चढ़ते हैं, जिनको मनुष्य कन्धों पर उठाते हैं। उन्हें अपने देश की प्राकृतिक शक्ति की विशेष चिन्ता रहती है, इसलिये वे अपने देश के प्रवेश-द्वारों और सड़कों पर सदा कड़ा पहरा रखते हैं, जिससे उनके साथ किसी प्रकार का व्यापार करना बड़ा ही कठिन है। प्राचीन समयों में वे एक-दो विदेशियों, विशेषतः यहूदियों को अपने देश में प्रवेश करने की आज्ञा दे दिया करते थे, परन्तु अब वे, विदेशियों का तो कहना ही क्या, उस हिन्दू को भी नहीं जाने देते जिसका उनसे व्यक्तिगत परिचय न हो।

काश्मीर में प्रवेश करने का सबसे प्रसिद्ध मार्ग वब्रहान नगर से है। यह नगर सिन्धु और झेलम नामक नदियों के ठीक मध्य में है। वहाँ से नदी पर के उस पुल को जाते हैं जहाँ कि कुसनारी के पानी में महवी का पानी आ कर मिला है। ये दोनों शमीलान के पर्वतों से निकल कर झेलम में मिलती हैं। यह दूरी ८ फ़र्सख़ है।

वहाँ से तुम पाँच दिन में उस कन्दरा में पहुँच जाते हो जहाँ से कि झेलम नदी निकलती है। इसी दर्रे के दूसरे सिरे पर, झेलम नदी के दोनों तरफ़ द्वार की चौकी है। वहाँ से कन्दरा को छोड़ कर, तुम मैदान में आते हो, और दो दिनों में, काश्मीर की राजधानी अद्दिष्टान में पहुँच जाते हो। रास्ते में ऊशकारा नामक गाँव आता है। यह वारामूला की तरह उपत्यका के दोनों ओर स्थित है।

काश्मीर का नगर ४ फ़र्सख भूमि में झेलम नदी के किनारों के साथ-साथ बना हुआ है। ये दोनों किनारे पुलों और नावों द्वारा आपस में मिले हुए हैं। जैलम का स्रोत हरमकोट पहाड़ों में है।

गङ्गा भी इन्हीं पर्वतों से निकलती है। ये अत्यन्त शीतल, अभेद्य प्रदेश हैं जहाँ वर्फ सदा जमी रहती है। इनके पीछे महाचीन है। पर्वतों को छोड़ने के बाद दो दिन के मार्ग पर झैलम अद्दिष्टान में पहुँच जाती है। चार फ़र्सख आगे जाकर यह एक वर्ग फ़र्सख दलदल में जा गिरती है। इस दलदल के किनारों पर और इसके ऐसे भागों पर जिनको वे दुरुस्त कर सके हैं लोगों ने आबादी बसाई है। इस दलदल को छोड़ कर झैलम ऊशकार नगरके पास से गुजरती है; और फिर उपर्युक्त दर्रो में जा घुसती है।

सिन्धु नदी की धारा

सिन्धु नदी तुर्कों के प्रदेश के अन्तर्गत युनङ्ग पर्वतों से निकलती है। वहाँ तुम इस रीति से पहुँच सकते होः—जिस दर्रे से तुमने काश्मीर में प्रवेश किया है उसे छोड़ने के बाद समस्थली में आइए। अब तुम्हारे बायें तरफ और दो दिन के रास्ते पर बोलोर और शमिलान नामक दो तुर्क जतियों के पहाड़ हैं। ये जातियाँ भत्तवयनि कहलाती हैं। इनके राजा की उपाधि भत्त शाह है। गिलगित, असविरा और शिलतास उनके नगर हैं और तुर्की उनकी बोली है। उनके आक्रमणों से काश्मीर को बहुत हनि होती है। नदी की बाई ओर के साथ-साथ चलने से तुम सदा बनी हुई भूमि में गुजर कर राजधानी में पहुँच जाते हो; दाईं ओर चलने से तुम ग्रामों में से गुजरते हो जो कि राजधानी के दक्षिण में एक-दूसरे के पास-पास हैं, और वहाँ से तुम कुलार्जक पर्वत पर पहुँच जाते हो जोकि दुम्बावन्द पर्वत की तरह एक गुम्बज के सदृश है। वहाँ हिम कभी नहीं पिघलता। ताकेशर और लौहावर के प्रदेश से यह सदा दिखाई देता है। इस शिखर और काश्मीर की समस्थली के बीच दो फर्सख के अन्तर है। राजगिरि का किला इसके दक्षिण में और लाहौर का किला इसके पश्चिम में है। मैंने ऐसी मजबूत जगहें कभी नहीं देखी। राजावाड़ी का शहर इस चोटी से तीन फर्सख है। यही दूरतम स्थान है जहाँ तक कि हमारे व्यापारी व्यापार करते हैं। इसके परे वे कभी नहीं जाते।

उत्तर में भारत का सीमान्त प्रदेश यही है।

भारत के पश्चिमी सीमान्त पर्वतों में अफगानों की विविध जातियाँ रहती हैं, और वे सिन्धु की उपत्यका के पड़ोस तक फैली हुई हैं।

भारत के पश्चिमीय और दक्षिणीय सीमान्त प्रदेश

भारत के दक्षिणीय सीमा पर समुद्र है। भारत का समुद्र-तट मकरान की राजधानी तीज से आरम्भ होता है, और वहाँ से दक्षिण पूर्व दिशा में, अलदैवल-प्रदेश की ओर ४० फर्सख से अधिकदूरी तक फैला हुआ है। इन दोनों स्थानों के बीच तूरान की खाड़ी है। खाड़ी पानी के एक कोने या टेढ़ी मेढ़ी रेखा के सदृश सागर से भूखंड में घुसी होती है, और विशेषतः ज्वारभाटे के कारण जहाजों के आने-जाने के लिए भयानक होती है। कोल या मुहाना भी कुछ-कुछ खाड़ी के ही सदृश होता है परन्तु यह सागर के भूखंड में घुसने से नहीं बनता। यह बहते पानी के फैलाव से बनता है, जो कि वहाँ जाकर उसी पानी में परिवर्तित और समुद्र के साथ संयुक्त हो जाता है। ये कोल भी जहाजों के लिए भयानक हैं क्योंकि उनका पानी मीठा होता है और भारी वस्तुओं को वैसी अच्छी तरह नहीं उठा सकता जैसी अच्छी तरह से खारी पानी उठाता है।

उपर्युक्त खाड़ी के बाद छोटा मुँह, बड़ा मुँह, फिर बवारिज अर्थात् कच्छ और सोमनाथ के समुद्री लुटेरे आते हैं। उनका यह नाम इसलिए है कि वे बीर नामक जहाजों में बैठ कर समुद्र में

लूट और डकैती करते हैं। सागर-तट पर ये स्थान हैं :—तवंल्लेशर, देवल से ५० फर्सख; लोहरानी १२ फर्सख; वग १२ फर्सख; कच्छ, जहां कि मुक्त वृक्ष होता है और वाराई ६ फर्सख; सोमनाथ १४ फर्सख; कम्बायत ३० फर्सख; असविल दो दिन; बिहरोज ३० फर्सख, सन्दान ५० फर्सख; सूवार ६ फर्सख; तान ५ फर्सख।

वहां से तीर रेखा लारान देश को ओर आती है जिसमें कि जोमूर शहर है और वहाँ से वल्लभ कांज्जो दर्वद को जाती है। इसके उपरान्त एक वड़ी खाड़ी है जिसमें कि सिङ्गलदीव अर्थात सरानदीव का टापू (लङ्का) है। खाड़ी के गिर्द पंजयावर नगर स्थित हैं। जव यह नगर उजड़ गया था तो जौर राजा ने इसके स्थान, पश्चिम की ओर सागर-तट पर पदनार नामक एक नवीन नगर वसाया था।

समुद्र-तट पर अगला स्थान उम्मलनार है, फिर रामेश्मर लङ्का के सामने, इन दोनों में समुद्र की दूरी १२ फर्सख है। पजयार से रामेश्वर का अन्तर ४० फर्सख और रामेश्वर और सेतुवंध का अन्तर २ फर्सख है। सेतुवंध का अर्थ समुद्र का पुल है। यह दशरथ के पुत्र राम का वनाया है जोकि उन्होंने भूखण्ड से लेकर लङ्का के किले तक वनाया था। इस समय इसमें अलग-अलग पहाड़ ही रह गये हैं जिनमें से समुद्र वहता है। सेतुवंध से सोलह फर्सख पूर्व की ओर वानरों के किहकिन्द नामक पर्वत हैं। वानरों का राजा प्रतिदिन अपनी सेना के साथ जङ्गल से निकलता है और वे उनके लिए वने हुए विशेष स्थानों पर वैठ जाते हैं। उस प्रदेश के लोग उनके लिए चावल पकाते और पत्तों पर रख कर उनके पास लाते हैं। चावल खाने के वाद वे फिर जङ्गल में लौट जाते हैं यदि उन्हें चावल न मिले तो सारे देश का सर्वनाश हो जाता है। क्योंकि वे न केवल संख्या में ही वहुत हैं वरन वे हिंस्र और अत्याचारी भी है। लोगों का विश्वास है कि वे मनुष्यों की ही एक जाति हैं जोकि वदल कर वन्दर वन गई है। राक्षसों के साथ युद्ध में राम की सहायता करने के कारण उन्होंने उनको ये ग्राम दान दिये हुए हैं। जव कोई मनुष्य उन्हें मिल जाता है तव वह उन्हें रामायण की कविता सुनाता और राम के मन्त्र वोलता है। वे उन्हें शन्तिपूर्वक सुनते हैं; वरन यदि वह रास्ते से भटक गया हो तो वे उसे सीधे मार्ग पर डाल देते हैं, और उसे खान-पान के द्रव्य देते हैं। ये वातें लोकविश्वास के अनुसार हैं। यदि इसमें सत्य का कुछ अंश है तो यह जरूर स्वरसंयोग का प्रभाव होगा, जैसा कि हम पहले मृगों के शिकार के सम्वन्ध में कह आये हैं।

भारतीय और चीनी समुद्रों के द्वीप

इस सागर के पूर्वीय द्वीप जो भारत की अपेक्षा चीन के अधिक निकट हैं वे जावज के टापू हैं जिनको हिन्दू सुवर्ण द्वीप अर्थात सोने के टापू कहते है। इस सागर के पश्चिम में जंज (हब्शियों) के टापू हैं, और मध्य में रम्भ और दीव द्वीप (मालेदीव और लक्कदीव) हैं जिनके साथ कि कुमैर द्वीप भी हैं। दीव नामक टापुओं का यह विशेष गुण है कि वे धीरे-धीरे समुद्र से वाहर निकलते हैं; पहले-पहल समुद्रतल के ऊपर एक रेतीला देश प्रकट होता है, यह अधिक और अधिकतर उठता जाता है और सव दिशाओं में फैलता है यहाँ तक कि यह एक कठिन भूमि वन जाता है। इसके साथ ही एक दूसरे द्वीप का ह्रास होने लगता है और वह गल कर समुद्र में विलीन हो जाता है। वहाँ के निवासियों को ज्यों ही इस ह्रास का पता लगता है त्योंहीं वे किसी दूसरे अधिक उपजाऊ द्वीप की तलाश करते हैं; अपने नारियल और खजूर के पेड़ों, अनाजों, और घर के सामान को उठा कर वहाँ ले जाते हैं। ये द्वीप अपनी उपज के अनुसार दो श्रेणियों में

विभक्त हैं। एक तो दीव-कूढ अर्थात कौड़ियों के द्वीप, क्योंकि वहाँ वे अपने समुद्र में बोये हुए नारियल के वृक्षों की शाखाओं से कौड़ियों को इकट्ठी करते हैं। दूसरे दीव कँवार, अर्थात नारियल की छाल के रस्सों के द्वीप। ये रस्से जहाजों के तख्तों के बांधने के काम आते हैं।

अलवाकवाक का टापू कुमैर द्वीपों में है। कुमैर जैसा कि साधारण लोग समझते हैं, किसी ऐसे पेड़ का नाम नहीं जिसमें फल के स्थान में मनुष्यों के चिल्लाते हुए सिर लगते हैं, वरन एक गोरे रंग की जाति का नाम है जिसके लोगों का कद छोटा और बनावट तुर्कों की सी होती है' वे हिन्दू-धर्म्मानुयायी हैं और उनमें कानों को छेदने की रीति है। वाकवाक द्वीप के कुछ अधिवासी काले रंग के हैं। हमारे देश में दासों के रूप में उनकी बड़ी माँग है। लोग वहाँ से आबनूस की काली लकड़ी लाते हैं; यह एक पेड़ का गूदा होता है जिसके दूसरे भाग फेंक दिये जाते हैं। मुलम्मा, शौहत, और पीला सन्दल नामक लकड़ियाँ जंज (हवशियों) के देश से लाई जाती हैं।

पहले समयों में सराँदीव (लंका) की खाड़ी में मोतियों के तट होते थे, परन्तु इस समय वे उजड़े हुए हैं। जब से सराँदीव के मोतियों का लोप हुआ तब से जंज देश के अन्तर्गत सुफाला में दूसरे मोती मिलने लगे हैं, इसलिए लोग कहते हैं कि सराँदीव के मोती यहाँ से उजड़ कर सुफाला में चले गये हैं।

भारत में जल-वृष्टि

भारत में बड़ी वर्षाएँ ग्रीष्म में जिसे कि वर्षाकाल कहते हैं, होती हैं। भारत का कोई प्रान्त जितना अधिक उत्तर को ओर होता है और जितना कम उसको गिरि-मालायें काटती हैं वहाँ ये मेंह उतने ही विपुल होते और उतनी ही अधिक देर तक रहते हैं। मुलतान के लोग मुझे बताया करते थे कि हमारे यहाँ वर्षाकाल नहीं होता, परन्तु पर्वतों के निकटतर अधिक उत्तरीय प्रान्तों में वर्षाकाल होता है। भातल और इन्द्रवेदी में इसका आरम्भ आषाढ़ मास में होता है, और चार मास तक लगातार इस प्रकार वर्षा होती है मानों पानी के डोल भर-भर कर गिराये जा रहे हों। और अधिक उत्तरीय प्रान्तों में, दुनपूर और |वर्शावर के बीच काश्मोर के पर्वतों के आसपास जूदरी की चोटी तक श्रावण मास से आरम्भ होकर ढाई मास पर्यन्त विपुल जल-वृष्टि होती है। परन्तु इस चोटी के दूसरी ओर मेंह बिलकुल नहीं बरसता, क्योंकि उत्तर में मेघ बहुत भारी होते हैं और उपरितल से बहुत अधिक ऊपर नहीं उठते। फिर जब वे पर्वतों के पास पहुँचते है तब उनके साथ टकरा कर अँगूर या जैतून की तरह दब जाते है। इसलिए काश्मीर में वर्षाकाल नहीं होता, परन्तु माघ मास से शुरू होकर ढाई महीनों तक बराबर तुषारपात होता है। फिर चैत्र के मध्य के शीघ्र ही पश्चात कुछ दिन तक निरन्तर जलवृष्टि होती है जिससे तुषार गल जाता है और पृथ्वी साफ हो जाती है। इस नियम का अपवाद बहुत कम होता है; परन्तु भारत के प्रत्येक प्रान्त में कुछ एक ऐसी असाधारण ऋतु-सम्बन्धी घटनायें पाई जाती हैं जो दूसरे प्रान्तों में नहीं होतीं।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

ग्रहों, राशि चक्र की राशियों और चंद्र स्थानों के नाम

सप्ताह के दिनों के नाम

हम पुस्तक के आरम्भ के निकट ही कह आये हैं कि हिन्दुओं की भाषा में मौलिक और व्युत्पन्न दोनों प्रकार के शब्दों का बहुत बड़ा भन्डार है, यहाँ तक कि एक दृष्टान्त में वे एक चीज़ को अनेक भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। मैंने उन्हें कहते सुना है कि हमारी भाषा में एक सूर्य के लिए एक सहस्र नाम हैं; और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक ग्रह के इतने के करीब ही नाम हैं, क्योंकि (छन्द-रचना के लिए) इनसे कम में उनका काम नहीं चल सकता।

जिस प्रकार फ़ारसी में शम्बिह शब्द सप्ताह-दिवस की संख्या (दूशम्बिह, सिहशम्बिह, इत्यादि) के पश्चात् आता है, उसी प्रकार सप्ताह के दिनों के नाम नक्षत्रों के परम प्रसिद्ध नामों के बाद वार शब्द जोड़ कर बनाये गये हैं। वे इस प्रकार कहते हैं—

आदित्य वार, अर्थात सूर्य का दिन या यकशम्बिह।

सोमवार, अर्थात चन्द्र का दिन या दूशम्बिह।

मंगल वार, अर्थात् मंगल का दिन या सिहशम्बिह।

बुध वार, अर्थात् बुध का दिन या चहारशम्बिह।

बृहस्पति वार, अर्थात् बृहस्पति का दिन या पञ्चशम्बिह।

शुक्र वार, अर्थात् शुक्र का दिन या जुमा।

शनैश्चर वार, अर्थात् शम्बिह।

और इस प्रकार वे नये सिर से फिर आदित्य वार, सोम वार, इत्यादि से आरम्भ करके गिनते जाते हैं।

दिनों के स्वामी

मुसलमान ज्योतिषी ग्रहों को दिनों के स्वामी कहते हैं, और दिन के घण्टों को गिनते समय वे दिन के स्वामी से आरम्भ करते हैं, फिर ग्रहों को ऊपर से नीचे की ओर क्रम से गिनते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य पहले दिन का स्वामी है, और साथ ही पहले घण्टे का भी स्वामी है। दूसरे घण्टे का शासक आकाश-मण्डल का वह नक्षत्र है जो सूर्य-मण्डल के नीचे दूसरे दर्जे पर है अर्थात् शुक्र। तीसरे घण्टे का स्वामी बृहस्पति और चौथे का चन्द्रमा है। इसके साथ सूर्य से ईश्वर अर्थात् पृथ्वी के वायुमण्डल तक उतरना समाप्त होता है, और गिनती में वे फिर शनैश्चर पर आ जाते हैं। इस प्रणाली के अनुसार पच्चीसवें घण्टे का स्वामी चन्द्रमा है, और यह सोमवार का पहला घन्टा है। इसलिए चन्द्रमा न केवल सोमवार के पहले घन्टे का ही स्वामी है वरन सारे दिन का भी स्वामी है।

इन सब में, हमारी पद्धति और हिन्दुओं की पद्धति में केवल एक भेद है, और वह यह कि कि हम वक्र होरा का प्रयोग करते हैं जिससे तेरहवाँ ग्रह, दिन के स्वामी से गिन कर, अगली रात का स्वामी होता है। यदि तुम इसे उलटी तरफ़ अर्थात् निचले ग्रह-मन्डलों से उच्चतर की ओर चढ़ते हुए गिनो तो यह तीसरा ग्रह है। इसके विपरीत हिन्दू दिन के स्वामी को सारे अहोरात्र का स्वामी बनाते हैं, जिससे दिन और रात अपना-अपना एक अलग स्वामी रखने के बिना ही एक-दूसरे के बाद आते रहते हैं। प्रायः सर्वसाधारण में इसी रीतिका प्रचार है।

अनेक वार उनकी कालनिर्णय की रीतियों को देख कर मुझे ख्याल आता है कि वक्र होरा * उनको सर्वथा ही अज्ञात न थे। वे घण्टे को होरा कहते हैं, और नीमवहर की गणना में राशि के आधे अंग को भी इसी नाम से पुकारते हैं। घण्टे के स्वामी की निम्नलिखित गणना उनकी एक ज्योतिष की पुस्तक से ली गई है :—

समान अंशों द्वारा मापी हुई लग्न की कला और सूर्य के बीच के अन्तर को १५ पर बांटो, और यदि कोई अपूर्णाङ्क हो तो उसे छोड़ कर; भागफल में एक जोड़ो। यह संख्या, ऊपर से नीचे तक ग्रहों के अनुवर्तन के अनुसार दिन के स्वामी से गिनी गई है। (अन्त में तुम जिस ग्रह पर पहुँचते हो वह प्रस्तुत घन्टे का स्वामी है।) इस गणना को देख कर हमें ख्याल होता है कि वक्र होरा का नहीं, प्रत्युत विपुवीय होरा (सायन) का प्रयोग किया गया है।

ग्रहो का क्रम और उनका निशान

हिन्दुओं की यह रीति है कि वे ग्रहों की गिनती सप्ताह के दिनों के क्रम से करते हैं। वे अपने ज्योतिष के गुटकों और दूसरी पुस्तकों में आग्रह पूर्वक इसी का प्रयोग करते हैं। कोई दूसरा क्रम इससे चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो वे उसका प्रयोग करने से इनकार करते हैं।

नीचे की तालिका में सात ग्रहों के बहुत ही प्रसिद्ध नाम दिये गये हैं :—

ग्रह	भारतीय भाषा में उनके नाम
सूर्य	आदित्य, सूर्य, भानु, अर्क, दिवाकर, रवि, विवता (?), हेलि।
चांद	सोम, चन्द्र, इन्दु, हिमगु, शीतरश्मि, हिमरश्मि, शीतांशु, शीतादीधिति, हिममयूख।
मंगल	मंगल, भौम्य, कुज, आर, वक्र, आवनेय, माहेय, क्रूराक्षि (?), रक्त।
वुध	वुध, सौम्य, चान्द्र, ज्ञ, बोधन, वित्त (?), हेम।
वृहस्पति	वृहस्पति, गुरु, जीव, देवेज्य, देवपुरोहित, देवमन्त्रिन्, अङ्गिरस, सूरि, देवपिता।
शुक्र	शुक्र, भृगु, सित, भार्गव, आवति (?), दानवगुरु, भृगुपुत्र, आस्फुजित (?)।
शनि	शनैश्चर, मन्द, असित, कोन, आदित्यपुत्र, सौर, आर्कि, सूर्यपुत्र।

* वक्र होरो—प्रत्येक दिन और रात का बारह बराबर भागों में विभाग, दिनों और रातों की लम्बाई चाहे कितनी ही क्यों न हो। वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओं में ये घन्टे भिन्न-भिन्न होते थे। इसके विपरीत विपुवीय होरा अहोरात्रि का चौबीसवां भाग है और सारे वर्ष में सदा बराबर रहता है। फलित-ज्योतिष में होरा राशि का आधा या पन्द्रहवां अंश है।

यूनानी लोग आसानी से समझ में आ जाने वाली रीति से अस्तरलाव† नक्षत्र यन्त्र पर ग्रहों की सीमायें स्थिर करने के लिए उनके निशान आकृतियों से लगाते हैं। ये आकार वर्णमाला के अक्षर नहीं होते। हिन्दू भी संक्षेप की एक इसी प्रकार की प्रणाली का प्रयोग करते हैं; परन्तु उनके आकार इस मतलब के लिए बनाई हुई मूर्त्तियाँ नहीं, वरन ग्रहों के नामों के प्रथम अक्षर हैं, जैसा कि आ = आदित्य, या सूर्य; च = चन्द्र या चाँद; ब = बुध।

बारह सूर्य

सूर्य के बहुत से नाम ‡ होने के कारण ही धर्म-पण्डितों ने अनेक सूर्य मान लिए हैं। उनके मतानुसार बारह सूर्य हैं; जिनमें से प्रत्येक एक विशेष मास में चढ़ता है। विष्णु-धर्म नामक पुस्तक कहती है—विष्णु अर्थात् नारायण ने, जो कि अनादि और अनन्त है, अपने आप को देवताओं के लिए बारह भागों में विभक्त किया, जो कि कश्यप के पुत्र बन गये। एक एक मास में चढ़नेवाले सूर्य यही हैं। परन्तु जो लोग यह नही मानते कि नामों की बहुतायत के कारण ही सूर्यों की बहुतायत की यह कल्पना हुई है, वे कहते हैं कि दूसरे ग्रहों के भी अनेक नाम हैं परन्तु प्रत्येक का शरीर केवल एक ही है, और इसके अतिरिक्त सूर्य के बारह ही नाम नहीं, प्रत्युत इससे बहुत ज्यादा हैं। ये नाम व्यापक अर्थों वाले शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं; यथा आदित्य अर्थात आदि क्योंकि सूर्य सबका आदि मूल है। सवितृ का अर्थ है सन्तति रखनेवाली चीज, क्योंकि संसार में सारी सन्तति सूर्य के साथ पैदा होती है इसलिए वह सवितृ कहलाता है। फिर सूर्य का नाम रवि इसलिए है कि वह गीली वस्तुओं को सुखा देता है। पेड़ों के अन्दर का द्रव रस कहलाता है, और जो इसको उनमें से निकालता है। वह रवि है।

चन्द्रमा के नाम

सूर्य के साथी चाँद के भी अनेक नाम हैं, यथा सोम, क्योंकि वह शुभ है। और प्रत्येक शुभ वस्तु सोमग्रह प्रत्येक अशुभ वस्तु पापग्रह कहलाती है। फिर इसके नाम निशेश, अर्थात् रात का स्वामी, नक्षत्र नाथ, अर्थात् नक्षत्रों का स्वामी; द्विजेश्वर; अर्थात ब्राह्मणों का स्वामी; शीतांशु अर्थात ठंडी किरणवाला है, क्योंकि चाँद का गोला जलीय है; जो कि पृथ्वी के लिए अनुग्रह है। जब सूर्य की किरण चाँद पर पड़ती हैं तो वह चाँद के सदृश ही ठंडी हो जाती है; तब वहाँ से प्रतिफलित होकर यह अंधकार को आलोकिक करती रात को ठंडा करता और सूर्य के उत्पन्न किये सब तरह के हानिकारक दाह को शान्त करती है। इसी प्रकार चाँद का नाम चन्द्र भी है जिसका अर्थ नारायण की बाईं आँख है; क्योंकि सूर्य उसकी दाईं आँख है।

महीनों के नाम

नीचे की तालिका महीनों के नामों को दिखलाती है। इन नामों की सूचियों में भिन्नताओं और संक्षोभों के कारणों का उल्लेख हम भिन्न भिन्न लोकों का वर्णन करते समय करेंगे।

---

† अस्तलाब—उस यंत्र का नाम है जिससे पहिले समयों में समुद्रतल पर सूर्य या तारों की ऊँचाई मालूम किया करते थे।

‡ सूर्य के ये नाम मिलते हैं—रवि; विष्णु; धाता; विधाता; अर्जुन, भृगु, सविता; पूष; त्वष्ट अर्कु; दिवाक, रश्मंशु।

मास	विष्णु-धर्म के अनुसार उनके सूर्य	विष्णु-धर्म के अनुसार इन नामों के अर्थ।	आदित्य-पुराण के अनुसार सूर्य	देसी नाम।
चैत्र	विष्णु	आकश में इधर उधर घूमनेवाला, अस्थिर।	अंशुमन्त	रवि।
वैशाख	अर्यमन	विद्रोहियों को दण्ड देने और पीटनेवाला। इसलिए वे डर से उसका विरोध नहीं करते।	सवितृ	विष्णु।
ज्येष्ठ	विवस्वन्त	वह सब पर प्रायः ध्यान देता है, विस्तार से नहीं।	भानु	धातृ।
आषाढ़	अंशु	किरणोंवाला।	विवस्वन्त	विधातृ।
श्रावण	पर्जन्य	वर्षा के सदृश सहायता करनेवाला।	विष्णु	अर्यमन।
भाद्रपद	वरुण	वह सबको तैयार करता है।	इन्द्र	भग।
आश्वयुज	इन्द्र	साथी और स्वामी।	धातृ	सवितृ।
कार्त्तिक	धातृ	वह मनुष्यों पर उपकार और शासन करता है।	भग	पूषन।
मार्गशीर्ष	मित्र	जगत का प्रिय।	पूषन	त्वष्टृ।
पौष	पूषन	पोषण, क्योंकि वह मनुष्य का पालन-पोषण करता है।	मित्र	अर्क।
माघ	भग	प्यारा, संसार का इच्छित।	वरुण	दिवाकर।
फाल्गुन	त्वष्टृ	वह सबका मंगलदाता है।	अर्यमन	अंशु।

नक्षत्र के नामों से निकाले हुये मासों के नाम

विष्णु-धर्म में दिये हुए सूर्यों के नामों के क्रम के विषय में लोगों का विचार है कि यह ठीक और सुव्यवस्थित है; क्योंकि प्रत्येक मास में वासुदेव का अलग अलग नाम होता है; और उसके उपासक महीनों को मार्गशीर्ष से आरम्भ करते हैं। इस मास में उसका नाम केशव

होता है यदि तुम उसके नामों को एक दूसरे के बाद गिनते जाओ तो तुम उसका वह नाम मालूम कर लोगे जोकि, विष्णु-धर्म के ऐतिह्य के अनुसार, चैत्र मास में होता है। यह नाम विष्णु है।

वासुदेव ने गीता में फिर कहा है कि वर्ष की छः ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।

महीनों के नामों का नक्षत्रों के नामों से सम्बन्ध है। क्योंकि प्रत्येक मास का दो या तीन नक्षत्रों से सम्बन्ध होता है इसलिए महीने का नाम उनमें से किसी एक से लिया जाता है। नीचे की तालिका में हमने ये विशेष नक्षत्र लाल स्याही के साथ (इस अनुवाद में < चिन्ह से) लिखे हैं जिससे महीनों के नामों के साथ उनका सम्बन्ध प्रकट हो जाय।

जब किसी नक्षत्र में बृहस्पति चमकता है तब जिस मास के साथ उस नक्षत्र का सम्बन्ध होता है वह मास वर्ष का अधिष्ठाता समझा जाता है, और सारा वर्ष उसी मास के नाम से पुकारा जाता है।

यदि इस तालिका में दिये मास के नामों में उन नामों से, जिनका इसके पहले व्यवहार होता रहा है किसी प्रकार का भेद हो तो पाठकों को जानना चाहिए कि जिन नामों का हम अब तक प्रयोग करते रहे हैं वे देशीय या ग्राम्य हैं; परन्तु इस तालिका में दिये नाम संस्कृत या श्रेष्ठ हैं।

मास		नक्षत्र	मास		नक्षत्र
कार्त्तिक	३	कृत्तिका। <	वैसाख	१६	विशाखा। <
	४	रोहिणी।		१७	अनुराधा।
	५	मृगशीर्ष। <	ज्येष्ठ	१८	ज्येष्ठा। <
मार्गशीर्ष	६	आर्द्रा।		१९	मूल।
	७	पुनर्वसु।	आषाढ़	२०	पूर्वषाढ़ा। <
पौष	८	पुष्य। <		२१	उत्तराषाढ़ा।
	९	आश्लेषा।	श्रावण	२२	श्रवण। <
	१०	मघा। <		२३	धनिष्ठा।
माघ	११	पूर्वफाल्गुनी। <		२४	शतभिषज।
	१२	उत्तरफाल्गुनी।	भाद्रपद	२५	पूर्वभाद्रपदा <
	१३	हस्त।		२६	उत्तरभाद्रपदा।
				२७	रेवती।
	१४	चित्रा। <	आश्वयुजी	१	अश्विनी।
चैत्र	१५	स्वाती।		२	भरणी।

राशियों के नाम

राशियों के नाम उन मूर्तियों के नामों के अनुरूप हैं जिनको वे दिखलाती हैं। ये मूर्तियाँ हिन्दुओं और अन्य जातियों में एक सी मिलती हैं। तीसरी राशि को मिथुन कहते हैं, जिसका अर्थ एक लड़के और एक लड़की का जोड़ा है; वास्तव में, यह इस राशि की परम प्रसिद्ध मूर्त्ति है।

जन्मपत्रिकाओं की वड़ी पुस्तक में वराहमिहिर कहता है कि इस शब्द का प्रयोग हाथ में गदा और वीणा लिये हुए मनुष्य के लिए होता है। इससे मेरा खयाल है कि उसने मिथुन को मृगशिरस् (अलजव्वर) के साथ मिला दिया है और प्रायः सर्वसाधारण की यह सम्मति यहां तक है कि इस नक्षत्र को (मिथुन के स्थान में) अलजौजा समझा जाता है, यद्यपि अलजौजा का सम्वन्ध इस राशि की मूर्त्ति के साथ नहीं है।

वही लेखक छठी राशि की मूर्त्ति एक जहाज़ और उसके हाथ में अनाज की एक वाल वताता है। मैं समझता हूं इस स्थान में हमारी हस्तलिखित प्रति में किसी शब्द को दीमक चाट गई है, क्योंकि जहाज का कोई हाथ नहीं होता। हिन्दू इस राशि को कन्या अर्थात कुंवारी लड़की कहते हैं; और शायद प्रस्तुत वाक्य वास्तव में इस प्रकार था:—"जहाज़ में एक कन्या हाथ में अनाज की बाल लिए हुए।" यह अलसिमाकुलअज़ल नामक चान्द्र स्थान है। जहाज़ शब्द से ऐसा खयाल होता है कि लेखक का तात्पर्य अलअव्वा (कन्याराशि) नामक चान्द्र स्थान से है, क्योंकि अलअव्वा के तारे एक पंक्ति वनाते हैं जिसका सिरा (जहाज़ के पेंदे को वीचवाली लकड़ी के सदृश) एक टेढ़ी लकीर है।

सातवीं राशि की मूर्त्ति वह आग बताता है। इसको तुला—तराजू कहते हैं। दसवीं राशि के विषय में वराहमिहिर कहता है कि इसका मुख वकरी का और शेष भाग मकर है। परन्तु इस राशि का मकर के साथ मुक़ावला करने के वाद, वह इसके साथ वकरी को मुँह लगाने की तकलीफ़ से वच गया होगा। केवल यूनानियों को ही पिछले वर्णन की आवश्यकता है क्योंकि वे इस राशि को दो जन्तुओं का वना समझते हैं; अर्थात् छाती से ऊपर का भाग वकरी का और उससे निचला भाग मछली का। परन्तु मकर नामक जल-जन्तु को, जैसा कि लोग इसे वताते हैं, दो जन्तुओं का वना हुआ कह कर वर्णन करने की आवश्यकता नहीं।

ग्यारहवीं राशि की मूर्त्ति वह डोल की वताता है और कुम्भ नाम इस वर्णन के अनुरूप है। परन्तु यदि वे कभी राशि की या इसके किसी अंश की मानव आकारों में गिनती करते हैं, तो इससे यह प्रमाणित होता है कि वे, यूनानियों के दृष्टान्त का अनुकरण करते हुए, इसमें कुम्भ राशि को देखते हैं।

राशियों के प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त, वराहमिहिर कुछ ऐसे भारतीय नामों का भी उल्लेख करता है जिनको लोग प्रायः जानते हैं। नीचे की तलिका में हमने दोनों को मिला दिया है:—

राशियां	उनके प्रसिद्ध नाम।	उनके अप्रचलित नाम।	राशियां	उनके प्रसिद्ध नाम।	उनके अप्रचलित नाम।
०	मेष।	क्रिय।	६	तुला।	जूग।
१	वृषन्।	ताम्बिरु।	७	वृश्चिक।	कौर्व।
२	मिथुन।	जितुम।	८	धनु।	तौक्षिक।
३	कर्कट।	कुलीर।	९	मकर।	अगोकीरु।
४	सिंह।	लियय।	१०	कुम्भ।	उद्रुवग।
५	कन्या।	पार्तीन।	११	मीन।	अन्त, साथ ही जीतु भी।

हिन्दुओं की यह रीति है कि वे राशियों को गिनते समय मेष के लिए ० और वृषभ के लिए १ के साथ आरम्भ न करके मेष के लिए १ और वृषभ के लिए २, इत्यादि के साथ शुरू करते हैं, जिससे मीनराशि के लिए १२ की संख्या आ जाती है।

बीसवाँ परिच्छेद

ब्रह्माण्ड पर विचार

ब्रह्मा का अण्डा और उसका जल से बाहर निकलना

ब्रह्माण्ड का अर्थ है ब्रह्मा का अण्डा। इसका प्रयोग सारे आकाश के लिए, उसकी गोलाई और उसकी विशेष प्रकार की गति के कारण, होता है। इस शब्द का प्रयोग सारे जगत् के लिए भी होता है, क्योंकि यह ऊपर के भाग और नीचे के भाग में बँटा हुआ है। जब वे आकाशों की गिनती करते हैं तो वे उनके जोड़फल को ब्रह्माण्ड कहते हैं। परन्तु हिन्दू लोग ज्योतिष की शिक्षा से शून्य हैं, और उनमें ज्योतिष-सम्बन्धी शुद्ध भावनायें बिलकुल नहीं। इसलिए उनका मत है कि पृथ्वी खड़ी है, विशेषत: जब वे, स्वर्ग के आनन्द को सांसारिक सुख के सदृश कोई चीज बताते हुए, पृथ्वी को नाना प्रकार के देवताओं, देवदूतों, इत्यादि का निवास-स्थान बनाते हैं। इन देवताओं में वे गमन-शक्ति का आरोप करते हैं और उनकी गति ऊपर के लोकों की ओर मानते हैं।

उनके पुराण के गूढ़ार्थ-वर्णनों के अनुसार, सब पदार्थों के पहले जल था और सारे संसार का शून्य इसी से भरा हुआ था। मैं उनका मतलब यह समझता हूँ कि यह बात आत्मा के दिन (पुरुषाहोरात्र) के आरम्भ में और संयोग और रचना के आदि में थी। फिर, वे कहते हैं कि पानी झाग उछालता और लहरें मार रहा था। तब पानी से कोई सफेद सी चीज निकली, जिससे स्रष्टा ने ब्रह्मा का अण्डा बना दिया। अब कई एक का मत है कि वह अण्डा टूट गया; उससे ब्रह्मा निकला। आधा भाग आकाश बन गया और दूसरा आधा पृथ्वी, और दोनों आधों के बीच के टूटे हुए टुकड़े मेंह बन गये। यदि वे मेंह के स्थान में पहाड़ कह देते तो बात अधिक सत्याभासी हो जाती। दूसरों के मतानुसार, परमेश्वर ने ब्रह्मा से कहा— "मैं एक अण्डा पैदा करता हूं जिसको मैं तेरा वास बनाता हूँ।" उसने इसको उपर्युक्त जल की झाग से बनाया था परन्तु जब जल नीचे उतर गया तब अण्डे के टूट कर दो आधे-आधे टुकड़े हो गये।

अस्क्लीपियस द्वारा यूनानी तुलना

वैद्यक के आविष्कारक अस्क्लीपियस के विषय में प्राचीन यूनानियों की भी ऐसी ही सम्मतियां थीं; क्योंकि, जालीनूस के अनुसार, वे उसको हाथ में एक अण्डा पकड़े हुए बयान करते हैं, जिससे उनका उद्देश यह दिखलाने का है कि पृथ्वी गोल है, अण्डा ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्त्ति है, और समग्र

जगत् को चिकित्साशास्त्र का प्रयोजन है। यूनानियों में अस्क्लकोपियस की पदवी हिन्दुओं में ब्रह्मा की पदवी से निम्नतर नहीं, क्योंकि वे कहते हैं कि वह एक दिव्य शक्ति है, और उसका नाम उसके कर्म से अर्थात् शुष्कता से बचाने से निकला है, जिसका अर्थ मृत्यु है; क्योंकि जब शुष्कता और शीत का प्रचार होता है तब मृत्यु हो जाती है। उसके जन्म के विषय में वे कहते है कि वह अपोलो का पुत्र, अपोलो फ्लेग्यास (?) का पुत्र, और फ्लेग्यास क्रोनोस अर्थात् शनि का पुत्र है। सख्यसम्बन्ध की इस रीति से उनका उद्देश उसमें एक तिगुने देवता की शक्ति ठहराना है।

सृष्टि का आदितत्व जल है

हिन्दुओं के इस सिद्धान्त का आधार कि सकल सृष्टि के पूर्व जल था इस बात पर है कि जल प्रत्येक वस्तु के परमाणुओं की संहति, प्रत्येक वस्तु की वृद्धि, और प्रत्येक सजीव वस्तु में जीवन की संस्थिति का कारण है। इस प्रकार जब स्रष्टा प्रकृति से किसी चीज की सृष्टि करना चाहता है तब यह जल उसके हाथ में एक साधन होता है। इसी प्रकार की एक कल्पना का प्रतिपादन कुरान, ११, ६, में किया गया है—"और उस (परमेश्वर) का सिंहासन जल पर था।" चाहे आप इसका वर्णन इस नाम से पुकारी जानेवाली एक व्यक्तिगत वस्तु के रूप में वाह्य रीति से करें, जिसकी पूजा की आज्ञा हमें परमेश्वर देता है, या चाहे आप इसका अर्थ राज्य अर्थात् ईश्वरीय राज्य निकालें या इसी प्रकार का कोई और अर्थ बतावें; पर प्रत्येक अवस्था में, इसका तात्पर्य यह है कि उस समय परमेश्वर के अतिरिक्त जल और उसके सिंहासन के सिवा और कुछ न था। यदि हमारी यह पुस्तक एक ही जाति की कल्पनाओं तक परिमित न होती तो हम प्राचीन काल में बेबल में और उसके इर्द-गिर्द निवास करनेवाली जातियों के विश्वास से ब्रह्मा के अण्डे के सदृश वरन उससे भी अधिक मूढ़ और निरर्थक कल्पनायें उपस्थित करते।

ब्रह्मा के अण्डे का टूटकर दो बन जाना

अण्डे के दो आधों में विभाग का सिद्धान्त यह प्रमाणित करता है कि इसका बनानेवाला वैज्ञानिक पुरुष न था, वह यह नहीं जानता था कि जिस प्रकार ब्रह्मा के अण्डे के अन्दर उसकी जर्दी भी शामिल है उसी प्रकार आकाश के अन्दर पृथ्वी भी आ जाती है। उसने पृथ्वी की कल्पना नीचे, और आकाश की, पृथ्वी से छः दिशाओं में से केवल एक में अर्थात् पृथ्वी के ऊपर की है। यदि उसे सत्य का ज्ञान होता तो वह अण्डे के टूटने का सिद्धान्त न गढ़ता। परन्तु वह इस सिद्धान्त से अण्डे के एक आधे को पृथ्वी के रूप में बिछा हुआ और दूसरे आधे को उस पर शिखर-मण्डल की तरह रक्खा हुआ बताना चाहता है इसमें वह गोले के सम-मण्डलाकार निरूपण में टोलमी से बढ़ने का निष्फल यत्न करता है।

प्लेटो के टिम्युस नामक ग्रन्थ के प्रमाण

इस प्रकार की भवनायें सदा ही प्रचलित रही हैं, जिनका अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म्म और तत्वज्ञान के अनुकूल निकालता है। प्लेटो अपनी टिम्युस नामक पुस्तक में ब्रह्माण्ड के सदृश ही कुछ कहता है—"सृष्टि के स्रष्टा ने एक सीधे तागे को दो आधों में काट दिया। इनमें से प्रत्येक के साथ उसने एक चक्र बनाया, जिससे दो चक्र दो स्थानों में मिले, और उनमें से एक को उसने सात भागों में बिभक्त किया।" इन शब्दों में, जैसा कि उसकी रीति है, वह जगत् की मौलिक दो गतियों

(दैनिक भ्रमण में पूर्व से पश्चिम को, और विषुवों के अयनचलन में पश्चिम से पूर्व को) और लोकों के गोलों की ओर संकेत करता है।

ब्रह्मगुप्त के प्रमाण

ब्रह्मसिद्धान्त के पहले अध्याय में, जहाँ ब्रह्मगुप्त आकाशों की गणना करता हुआ चांद को निकटतम आकाश में, दूसरे लोकों को उसके अगले आकाशों में, और शनि को सातवें आकाश में स्थान देता है, वहाँ वह कहता है "–स्थिर तारकायें आठवें आकाश में हैं, और यह गोल इसलिए बनाया गया है कि यह चिरस्थायी रहे, और इसमें धर्मात्माओं को पुरस्कार और पापात्माओं को दण्ड मिले, क्योंकि इसके पीछे और कुछ नहीं।" इस अध्याय में वह यह दिखलाता है कि आकाश और गोले दोनों एक ही चीज हैं; और जिस क्रम से वह उनको लिखता है वह क्रम उनके धर्म्म के पौराणिक साहित्य में वर्णित क्रम से भिन्न है; जैसा कि हम इसके बाद किसी उचित स्थान पर दिखलायेंगे। वह यह भी बताता है कि गोल चीजों पर बाहर से केवल धीरे-धीरे ही असर हो सकता है। वह गोल आकृति और चक्राकार गति के विषय में और इस विषय में कि गोलों के पीछे किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं; अरस्तू (अरिस्टोटल) के विचारों का ज्ञान प्रकट करता है।

यदि ब्रह्माण्ड का वर्णन इसी प्रकार का है तो यह प्रत्यक्ष है कि ब्रह्माण्ड मण्डलों की समष्टि अर्थात् ईथर (आकाश), वास्तव में, जगत् ही है, क्योंकि, हिन्दुओं के मतानुसार, दूसरे जन्म में प्रतिफल इसी के अन्दर मिलता है।

पौलिश सिद्धान्त से अवतरण

पुलिश अपने सिद्धान्त में कहता है:—"सकल संसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का ही समाहार है। आकाश अन्धकार के पीछे बनाया गया था। यह आँखों को नीला इसलिए दीखता है कि वहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं, और वह जलीय अनाग्नेय गोलों अर्थात् पृथ्वी और चन्द्र के पिण्डों के सदृश उनके द्वारा आलोकित नहीं होता। जब सूर्य की किरणें इन पर पड़ती है और पृथ्वी की छाया उन तक नहीं पहुँचती, तब उनका अन्धकार दूर हो जाता है और रात्रि के समय उनके आकार दिखाई देने लगते हैं। प्रकाश-दाता केवल सूर्य ही है, शेष सब उसी से प्रकाश पाते हैं।" इस अध्याय में पुलिश उस चरम सीमा का वर्णन करता है जहाँ तक पहुँचा जा सकता है, और इसको आकाश के नाम से पुकारता है। वह इसका स्थान अन्धकार में बताता है क्योंकि वह कहता है कि यह एक ऐसे स्थान में है जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच सकतीं। आँखों को आकाश के नीला-भूरा दिखाई देने का प्रश्न इतना विशाल है कि उसका यहाँ वर्णन नहीं हो सकता।

ब्रह्मगुप्त, बसिष्ठ, बलभद्र, और आर्यभट्ट के अवतरण

ब्रह्मगुप्त उपर्युक्त अध्याय में कहता है:—'चांद के चक्रों अर्थात् ५७,७५,३३,००,००० को उसके मण्डल के योजनों की संख्या अर्थात् ३२,४००० से गुणो तो इसका गुणनफल १८७१२०६९२ ००००००००० होगा अर्थात् इससे राशि-चक्र के मण्डल के योजनों की संख्या मालूम हो जायगी।" योजन का वर्णन दूरी के माप के रूप में हमने पहले ही परिमाण-विद्या वाले परिच्छेद में कर दिया है। ब्रह्मगुप्त की जिस गणना का उल्लेख अभी हुआ है उसे हमने अपने ऊपर कोई उत्तरदायित्व न लेते हुए, उसी के शब्दों में दे दिया है, क्योंकि उसने यह नहीं बताया कि इसका आधारभूत कारण क्या है। बसिष्ठ कहता है कि ब्रह्माण्ड के अन्दर नक्षत्र हैं, और ऊपर की संख्यायें ब्रह्माण्ड का माप हैं, क्योंकि राशि-मण्डल इसके साथ संयुक्त है। टीकाकार बलभद्र कहता है—

"हम इन संख्याओं को आकाश का मान नहीं मानते, क्योंकि हम उसकी विशालता को सीमाबद्ध नहीं कर सकते, परन्तु हम इनको वह दूरतम सीमा समझते हैं जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि पहुँच सकती है। इसके ऊपर मानव-उपलब्धि के जाने की कोई सम्भावना नहीं; परन्तु दूसरे लोक छुटाई और बड़ाई के कारण एक दूसरे से भिन्न हैं जिससे वे विविध अंशों में दिखाई देते हैं।"

आर्यभट्ट के अनुयायी कहते हैं—"हमारे लिए उस शून्य देश को ही जान लेना पर्याप्त है जिसमें सूर्य की किरणें जाती हैं। हमें उस शून्य देश की आवश्यकता नहीं जिसमें सूर्य की किरणें नहीं पहुंचतीं, चाहे उसका विस्तार बहुत बड़ा ही क्यों न हो। जहाँ रश्मियाँ नहीं वहाँ इन्द्रियों की उपलब्धि भी नहीं पहुंचती, और जहाँ उपलब्धि नहीं पहुंचती वह अज्ञेय है।"

नवम मण्डल का प्रश्न

आओ, अब हम इन लेखकों के शब्दों की परीक्षा करें। वसिष्ठ के शब्द यह प्रमाणित करते हैं कि ब्रह्माण्ड एक गोला है जिसके अन्तर्गत आठवाँ या इस नाम का राशि-मण्डल है, और स्थिर तारिकायें स्थापित की गई हैं। वे यह भी सिद्ध करते हैं कि दो मण्डल एक-दूसरे को स्पर्श करते हैं। अब जो हमारी बात पूछो तो हम पहले ही एक आठवाँ मण्डल ग्रहण करने पर बाध्य थे, परन्तु नवाँ मण्डल मानने के लिए हमारे पास कोई युक्ति नहीं।

इस विषय पर लोगों का मत-भेद है। कई लोग नवम् ग्रह के अस्तित्व को पूर्व से पश्चिम की ओर घूमने के कारण, जहाँ तक यह इस दिशा में चलता है और अपने अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु को उसी दिशा में चलने के लिए बाध्य करता है, एक आवश्यकता समझते हैं। कई दूसरे लोग नवें ग्रह को इसी गति के कारण मानते हैं, परन्तु वे इसे अपने आप में गतिहीन समझते हैं।

पहली कल्पना के प्रतिनिधियों की प्रवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट है। परन्तु अरस्तू ने यह प्रमाणित किया है कि प्रत्येक घूमनेवाली वस्तु को कोई दूसरी घूमनेवाली वस्तु, जो स्वयं उसके अन्दर नहीं है, गति देती है। इसलिए इस नवें गोले का भाव पहले इसके बाहर इसके संचालक के अस्तित्व की कल्पना कर लेता है। परन्तु इस संचालक को कौन सी चीज नवें मण्डल की मध्यवर्तिता के बिना आठ मण्डलों को गति देने से रोक सकती है?

अरस्तू, टोलमी, वैयाकर एजोह्नीज के मत

दूसरे मत के प्रतिनिधियों के विषय में ऐसा समझ पड़ता है कि उन्हें अरस्तू के उन शब्दों का ज्ञान था जिनको हमने उद्धृत किया है, और वे यह भी जानते थे कि पहला संचालक पश्चिम है; क्योंकि वे नवें मंडल को निश्चल और पूर्व से पश्चिम घूमने का आदि कारण प्रकट करते हैं। परन्तु अरस्तू ने भी यह बात प्रमाणित की है कि पहला संचालक कोई वस्तु नहीं, पर यदि वे उसे एक गोला, एक मण्डल, और अपने अन्दर किसी दूसरी चीज को शामिल रखनेवाला तथा निश्चल बताते हैं तो उसका एक वस्तु होना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार नवें मण्डल की कल्पना असम्भाव्य सिद्ध होती है। अपनी अलमजस्ट नामक पुस्तक की भूमिका में टोलमी के ये शब्द भी इसी आशय को लिए हुए हैं—विश्व की पहली गति का पहला कारण, यदि हम स्वयं गति पर ही विचार करें, हमारी सम्मति के अनुसार एक अदृश्य और निश्चल देवता है, और इस विषय के अध्ययन को हम एक दिव्य अध्ययन कहते हैं। हम उसकी क्रिया को जगत् की उच्चतम ऊँचाइयों में देखते हैं, पर वह क्रिया उन वस्तुओं की क्रिया से सर्वथा भिन्न है जिनकी उपलब्धि इन्द्रियों-द्वारा हो सकती है।

ये शब्द नवम् मण्डल के किसी लक्षण से रहित, आदि संचालक के विषय में टोलमी के कहे हुए हैं। परन्तु नवम मंडल का उल्लेख वैयाकरण जोहनीज़ ने अपने प्रोल्कस के खंडन में किया है। वह कहता है—अफलातू को नवें तारा रहित मंडल का ज्ञान न था। और, जोहनीज़ के अनुसार; टोलमी का अभिप्राय इसी से अर्थात् नवम मंडल के निषेध से ही था।

अन्ततः कई दूसरे लोग ऐसे भी हैं जिनका मत यह है कि गति की अन्तिम सीमा के पीछे एक अनन्त निश्चल वस्तु, या अनन्त शून्य, या कोई ऐसी चीज़ है जिसके विषय में वे कहते हैं कि वह न शून्य ही है और न परिपूर्ण ही। परन्तु हमारे विषय के साथ इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं।

बलभद्र की बातों से यह जान पड़ता है कि वह उन लोगों से सहमत है जो यह समझते हैं कि एक व्योम या अनेक व्योम एक दृढ़ वस्तु है जो कि सारे भारी पिन्डों को समता में रखती और और उन्हें उठा कर ले जाती है, और मंडलों से ऊपर है। बलभद्र के लिए ऐतिह्य को चक्षु-दृष्टि से अच्छा समझना उतना ही सुगम है जितना कि हमारे लिए सन्देह को स्पष्ट प्रमाण से अच्छा समझना कठिन है।

सचाई सर्वथा आर्यभट्ट के अनुयायियों के साथ है जो हमें वस्तुतः विज्ञान के बड़े पंडित जान पड़ते हैं। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि ब्रह्मान्ड का अर्थ आकाश (ईथर) और उसके अन्तर्गत सृष्टि की सारी उपज है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

धार्मिक विचारानुसार आकाश और पृथ्वी का वर्णन

सात पृथ्वियों पर

जिन लोगों का उल्लेख हमने पिछले परिच्छेद में किया है उनका मत है कि सात ढक्कनों की तरह एक दूसरे के ऊपर सात पृथ्वियाँ हैं। सबसे ऊपर की पृथ्वी को वे सात भागों में विभक्त करते हैं। इस बात में फारसी और हमारे ज्योतिषियों से उनका मतभेद है। क्योंकि फारस के ज्योतिषी उसको किशवर में और हमारे उसे देशों में विभक्त करते हैं। हम इसके अनन्तर उनके धार्मिक नियम के प्रधान प्रमाणों से निकली हुई कल्पनाओं का एक स्पष्ट विवरण उपस्थित करेंगे जिससे इस विषय की निर्व्याज आलोचना हो सके। यदि इसमें कोई बात हमें विचित्र मालूम हो कि जिसके लिए व्याख्या का प्रयोजन हो, या यदि हम दूसरों के साथ कोई अनुरूपता देखें, अथवा, यदि दोनो दल भी निशाने से चूक गये हों, तो हम केवल विषय को पाठक के सामने रख देंगे, हिन्दुओं पर आक्षेप करने या उनकी निन्दा करने के उद्देश से नहीं, वरन केवल उन लोगों के मनों को तीक्ष्ण करने के लिए जो कि इन वादों का अध्ययन करते हैं।

भाषा की विपुलता के कारण पृथ्वियों के अनुक्रम में भेद

पृथ्वीयों की संख्या तथा ऊपर की पृथ्वी के भागों की संख्या के विषय में उनका आपस में कोई मत-भेद नहीं, परन्तु उनके नामों और इन नामों के अनुक्रम के विषय में उनका मतभेद है। मैं समझता हूँ इस भेद का कारण उनकी भाषा का महावाग्प्रपञ्च है, क्योंकि वे एक ही वस्तु को बहुत से नामों से पुकारते हैं। उदाहरणार्थ, उनके अपने ही कथन के अनुसार, वे सूर्य को एक सहस्र भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, जिस प्रकार अरबियों में सिंह के लिए प्रायः उतने ही नाम हैं। इनमें से कुछ नाम तो मौलिक हैं, और कुछ उसके जीवन या उसके कामों और कार्यशक्तियों की बदलती रहनेवाली अवस्थाओं से लिये गये हैं। हिन्दू और उनके सदृश दूसरे लोग इस विपुलता पर गर्व करते हैं परन्तु वास्तव में भाषा का यह एक भारी दोष है। क्योंकि भाषा का यह काम है कि वह सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और उसके कार्यों का एक नाम रक्खे। यह नाम सर्वसम्मति से रक्खा जाना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति इसको दूसरे के मुख से सुन कर बोलनेवाले के आशय को समझ जाय। इसलिए यदि एक ही नाम या शब्द का अर्थ विविध प्रकार की वस्तुयें से हों तो इससे भाषा का दोष प्रकट होता है और सुननेवाले को मजबूर होकर बोलनेवाले से पूछना पड़ता है कि तुम्हारे शब्द का मतलब क्या है। और इस प्रकार प्रस्तुत शब्द को निकाल कर उसके स्थान में उसके सदृश किसी दूसरे पर्याप्त स्पष्ट अर्थवाले शब्द को, या वास्तविक अर्थों को बयान करनेवाले किसी विशेषण को रखने का प्रयोजन होता है। यदि एक ही चीज को अनेक नामों से पुकारा जाता हो, और इसका कारण यह न हो कि मनुष्यों की प्रत्येक जाति या श्रेणी अलग-अलग शब्द का व्यवहार करती है, और वास्तव में, एक ही शब्द पर्याप्त हो, तो इस शब्द को छोड़कर शेष सब शब्द केवल निरर्थक, लोगों को अन्धकार में रखने के साधन, और विषय को रहस्यमय बनाने की चेष्टा के सिवा और कुछ नहीं। चाहे कुछ हों, हर हालत में यह विपुलता उन लोगों के मार्ग में दुःखदायक कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं जो कि सारी भाषा को सीखना चाहते हैं, क्योंकि यह सर्वथा निष्प्रयोजन है, और इसका परिणाम केवल समय का नाश है।

मेरे मन में अनेक बार यह विचार उत्पन्न होता है कि ग्रन्थों के रचयिताओं और ऐतिह्य के सञ्चालकों को एक निश्चित परिपाटी में पृथ्वियों का उल्लेख करना पसन्द नहीं; वे उनके नामों का उल्लेख करके ही बस कर देते हैं या पुस्तकों की नकल करनेवालों ने हीं स्वेच्छया पाठ को बदल दिया है। क्योंकि जिन लोगों ने मेरे लिए पाठ का अनुवाद किया था और मुझे उसकी व्याख्या समझाई थी वे भाषा के पूर्ण ज्ञाता थे, और ऐसे व्यक्ति न थे जो स्वेच्छया कपट करने के लिए प्रसिद्ध हों।

आदित्य पुराण के अनुसार पृथ्वियाँ

नीचे की तालिका में पृथ्वियों के नाम, जहाँ तक वे मुझे मालूम हैं; दिये जाते हैं। हमारा बड़ा भारोसा उस सूची पर है जो कि आदित्यपुराण से ली गई है, क्योंकि यह प्रत्येक अलग पृथ्वी और आकाश को सूर्य के अवयवों के एक अलग अवयव के साथ मिलती हुई एक निश्चित नियम का अनुसरण करती है। आकाशों को खोपड़ी से लेकर गर्भाशय तक के अवयवों के साथ और पृथ्वियों को नाभि से लेकर पैर तक के भागों के साथ जोड़ा गया है। मिलान की यह रीति उनके अनुक्रम को प्रकाशित करती है, और इसे गड़बड़ी से बचाती है:—

पृथ्वियों की संख्या।		१	२	३	४	५	६	७
आदित्य-पुराण।	सूर्य के किन अंगो को वे दिखलाती हैं	नाभि	ऊरु	घुटने	घुटनों के नीचे	पिण्डलियां	टखने	पैर
	उनके नाम।	ताल	सुताल	पाताल	आशाल (?)	विशाल	मृताल	रसातल
विष्णु पुराण		अतल	वितल	नितल	गभस्तिमत्	महाख्य (?)	सुतल	पाताल
वायु-पुराण।	उनके नाम।	आभास्तल	इला (?)	नितल	गभस्तल	महाताल	सुतल	पाताल
	उनके विशेषण।	कृष्ण-भूमि अर्थात गहरे रंग की पृथ्वी	शुक्ल-भूमि अर्थात उज्वल पृथ्वी	रक्त-भूमि अर्थात लाल पृथ्वी	पीत-भूमि अर्थात पीली पृथ्वी	पाषाण-भूमि अर्थात पत्थरों की पृथ्वी	शिला-तल अर्थात ईंट की पृथ्वी	सुवर्ण-वर्ण, या सोने के रंग की पृथ्वी।
देशी नाम।		अंशु(?)	अम्बरताल	शर्कर (?) (शक्कर)	गभस्तिमत	महातल	सुताल	रसातल

वायु पुराण के अनुसार सात पृथ्वियों पर रहने वाले आध्यात्मिक प्राणी

दानवों में से—नमुचि, शंकुकर्ण; कबंध (?), निष्कुकाद (?) शूलदन्त, लोहित, कलिंग, श्वापद; और सर्पों का स्वामी—धनञ्जय, कालिया दैत्यों में से—सुरक्षस्, महाजम्भ, हयग्रीव, कृष्ण

जनर्त (?) शङ्खाखप, गोमुख; और राक्षसों में से—नील, मेघ, क्रथनक, महोष्णीष, कम्वल, अश्वतर, तक्षक।

दानवों में से—रद (?) अनुह्लाद, अग्निमुख, तारकाक्ष, त्रिशिरा, शिशुमार; और राक्षसों में से—च्यवन, नन्द; विशाल और इस लोक में अनेक नगर हैं।

दैत्यों में से—कालनेमि; गजकर्ण; उञ्जर (?); और राक्षसों में से—सुमालि, मुन्ज; वृकवक्त्र और गरुड़ नामक बड़े बड़े पक्षी। दैत्यों में से—विरोचन; जयन्त (?), अग्निजिह्व; हिरण्याक्ष; और राक्षसों में से—विद्युज्जिह्व; महामेघ; कर्मार साँप, स्वस्तिकजय।

दैत्यों में से—कसरि; और राक्षसों में से—ऊर्ध्वकुज (?); शतशीर्ष; अर्थात सौ सिरवाला जो कि इन्द्र का मित्र है; वासुकि साँप।

राजावलि और दैत्यों में से मुचुकुन्द। इस लोक में राक्षसों के लिए अनेक घर हैं; और विष्णु वहाँ रहता है और साँपों का स्वामी शेष।

सात आकाशों पर वैयाकरण जोहनीज, प्लेटो और अरिस्टाटल के प्रमाण

पृथ्वियों के बाद आकाश हैं। ये एक दूसरे के ऊपर सात मन्जिलों के सदृश स्थित हैं। इनको लोक कहते हैं जिसका अर्थ एकत्र होने का स्थान है। इसी प्रकार यूनानी लोग भी आकाशों को एकत्र होने के स्थान समझा करते थे। वैयाकरण जोहनीज प्रोक्लस के खन्डन में कहता है—कई तत्ववेत्ता यह समझते थे कि गलकसयास अर्थात दूध नामक व्योम, जिससे उनका तात्पर्य आकाश-गंगा से होता था सज्ञान आत्माओं का निवास-स्थान है। कवि होमर कहता है— तूने निर्मल आकाश को देवताओं का सनातन वास-स्थान बनाया है। हवायें उसे हिलाती नहीं मेह उसे भिगोते नहीं और वर्फ उसे नष्ट नहीं करती। क्योंकि उसमें ढकने वाले मेघ से रहित एक समुज्वल प्रकाश है।

अफलातूँ कहता है—परमेश्वर ने सात ग्रहों से कहा तुम देवों के देव हो और मैं कर्मों का जनक हूँ; मैं वह हूँ जिसने तुम्हें ऐसा बनाया कि कोई प्रलय सम्भव न ीं क्योंकि बांधी हुई वस्तु यद्यपि खुल सकती है पर जब तक इसकी व्यवस्था उत्तम बनी रहती है इसका नाश नहीं हो सकता है।

अरिस्टाटल (अरस्तू) सिकन्दर के नाम अपनी एक चिट्ठी में कहता है—जगत सारी सृष्टि की व्यवस्था है। जो जगत के ऊपर है और जो उसके पार्श्वों को घेरे हुए है वह देवताओं का वास स्थान है। आकाश देवताओं से परिपूर्ण है। इन देवताओं को हम तारागण कहते हैं। उसी पुस्तक के किसी दूसरे स्थल मे वह कहता है—पृथ्वी को जल; जल को वायु; वायु को अग्नि; और अग्नि को आकाश (ईथर) घेरे हुए है। इसलिए सबसे ऊँचा स्थान देवताओं का वास-स्थान है और सबसे नीचा जल जन्तुओं का घर है।

वायु-पुराण में भी इसी प्रकार का एक वाक्य है कि पृथ्वी को जल, जल को शुद्ध अग्नि; अग्नि को वायु, वायु को आकाश और आकाश को उसका स्वामी थामे हुए है।

पृथ्वियों के नामों के सदृश्य लोकों के नामों में मतभेद नहीं है। केवल उनके क्रम के विषय में ही मतभेद है। हम इन लोकों के नामों को पहली के सदृश एक तालिका में प्रकट करते हैं।

आकाशों की संख्या।	आदित्य-पुराण के अनुसार वे सूर्य के किन अंगो को दिखलाते हैं।	आदित्य, वायु और विष्णु-पुराण के अनुसार उनके नाम
१	आमाशय	भूर्लोक
२	छाती	भुवर्लोक
३	मुँह	स्वर्लोक
४	भौएँ	महर्लोक
५	माथा	जनलोक
६	माथे के ऊपर	तपोलोक
७	खोपड़ी	सत्यलोक

पतन्जलि के टीकाकार की आलोचना

एक पतन्जलि की पुस्तक के टीकाकार को छोड़ कर बाकी सब हिन्दुओं की पृथ्वियों के विषय में यही कल्पना है। उसने सुना था कि पितरों या बापों के एकत्र होने का स्थान चन्द्रमा के मंडल में है। यह ऐतिह्य ज्योतिषियों के सिद्धान्तों पर बना है। फलतः उसने चन्द्र मंडल को पहला आकाश बनाया जब कि उसे चाहिये था कि इसको भूर्लोक से अभिन्न समझता। क्योंकि इस रीति से एक ही आकाश बहुत ज्यादा हो जाते थे इसलिये उसने फल के स्थान स्वर्लोक को छोड़ दिया।

इसके अतिरिक्त यही लेखक एक और बात में भी मतभेद रखता है। उसने ब्रह्मलोक को सत्यलोक के ऊपर रखा है क्योंकि सातवें लोक अर्थात सत्यलोक को पुराणों में ब्रह्मलोक भी कहा गया है जब कि यह समझना बहुत अधिक युक्तिसंगत होता कि इस सम्बन्ध में एक ही चीज को दो भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। पितृलोक को भूर्लोक से अभिन्न दिखलाने के लिए उसे चाहिये था कि स्वर्लोक के स्थान में ब्रह्मलोक को छोड़ देता।

यह तो सात पृथ्वियों और सात आकाशों की बात हुई। अब हम सबसे ऊपर की पृथ्वी के विभाग और तत्सम्बन्धी विषयों का वर्णन करेंगे।

द्वीपों और समुद्रों के विषय में

दीप (द्वीप) टापू का भारतीय नाम है। सङ्गल दीप (सिंहल द्वीप) जिसको हम सरान्दीब कहते हैं, और दीवजात (मालदीव और लकादीप) इसी प्रकार के शब्द हैं। दीवजात बहुसंख्यक टापू हैं, ये जीर्ण हो जाते हैं, घुल जाते और चपटे हो जाते हैं, और अन्त को जल के नीचे अन्तर्धान हो जाते हैं, इसके साथ ही उसी प्रकार की दूसरी रचनायें रेत की धारी के सदृश पानी के ऊपर प्रकट होने लगती हैं। यह धारी निरन्तर बढ़ती, उठती, और फैलती रहती है। पहले टापू के अधिवासी अपने घरों को छोड़ कर नये टापू पर जा बसते और उसे आबाद कर देते हैं।

हिन्दूओं के धार्मिक ऐतिह्यों के अनुसार, जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह गोल और समुद्र से घिरी हुई है। इस समुद्र पर कालर के सदृश एक पृथ्वी स्थित है, और इस पृथ्वी पर फिर एक

गोल समुद्र कालर की तरह है। शुष्क कालरों की संख्या, जिनको द्वीप कहा जाता है, सात हैं, और इसी प्रकार समुद्रों की संख्या है। द्वीपों और समुद्रों का परिमाण ऐसी श्रेढी से बढ़ता है कि प्रत्येक द्वीप अपने पूर्ववर्ती द्वीप से दुगना, और प्रत्येक समुद्र अपने पूर्ववर्ती समुद्र से दुगना है अर्थात् दोनों की शक्तियों की श्रेढी में है। यदि मध्यवर्ती पृथिवी को एक गिना जाये तो सारी सात पृथ्वियों का परिमाण कालरों के तौर पर प्रकट करते हुए १२७ है। यदि मध्यवर्ती पृथ्वी को घेरनेवाले समुद्र को एक गिना जाय तो सारे सात समुद्र का परिमाण कालरों के रूप में प्रकट करते हुए १२७ है। पृथ्वियों और समुद्रों दोनों का सम्पूर्ण परिमाण २५४ है।

वायुपुराण और पतञ्जलि के टीकाकार के अनुसार द्वीपों और समुद्र का परिमाण

पतञ्जलि की पुस्तक के टीकाकार ने मध्यवर्ती पृथ्वी का परिमाण १००००० योजन लिया है। इसके अनुसार सारी पृथ्वियों का परिमाण १२७००००० योजन होगा। इसके अतिरिक्त वह मध्यवर्ती पृथ्वी को घेरनेवाले समुद्र का परिमाण २००००० योजन लेता है। तदनुसार सारे समुद्रों का परिमाण २५४००००० योजन और सारी पृथ्वियों और सारे समुद्रों का सम्पूर्ण परिमाण ३८१००००० योजन होगा। परन्तु खुद ग्रन्थकार ने ये सङ्कलन नहीं किये। इसलिए हम उसके अङ्कों का अपने अङ्कों के साथ मिलान नहीं कर सकते। परन्तु वायु-पुराण कहता है कि सम्पूर्ण पृथ्वियों और समुद्रों का व्यास ३७९००००० योजन है। यह संख्या उपर्युक्त ३८१००००० योजन के साथ नहीं मिलती। जब तक हम यह न मान लें कि पृथ्वियों की संख्या केवल छः है और श्रेढी २ के स्थान में ४ से आरम्भ होती है तब तक इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता। समुद्रों की ऐसी संख्या सम्भवतः इस प्रकार बताई जा सकती है कि सातवाँ समुद्र छोड़ दिया गया है, क्योंकि ग्रन्थकार केवल भूखण्डों के परिमाण को ही जानना चाहता था, इसीने उसके घेरनेवाले अन्तिम समुद्र को गिनती में से छोड़ देने के लिए प्रवृत्त किया। परन्तु यदि उसने एक बार भूखण्डों का उल्लेख किया है तो उसे उनको घेरने वाले सारे समुद्रों का भी जिक्र करना चाहिए था। उसने २ के स्थान में श्रेढी को ४ से क्यों आरम्भ किया है इसका कारण मैं परिगणना के प्रतिपादित नियमों से कुछ नही बता सकता।

प्रत्येक द्वीप और समुद्र का जुदा-जुदा नाम है। जहाँ तक हमें मालूम है हम उनको पाठकों के सन्मुख अगले पृष्ठ पर तालिका में रखते हैं, और आशा करते हैं कि पाठक हमें इसके लिए क्षमा करेंगे।

इस तालिका में जो भेद दिखाई देते हैं उनका कोई भी युक्ति-सगंत कारण नहीं बताया जा सकता। परिगणना के स्वच्छन्द, नैमित्तिक परिवर्तनों के सिवा इनकी उत्पत्ति और किसी दूसरे स्रोत से नहीं हो सकती। इन ऐतिह्यों में से सबसे अधिक योग्य मत्स्य-पुराण का ऐतिह्य है, क्योंकि यह द्वीपों और समुद्रों की गिनती एक-दूसरे के बाद एक नियत क्रम से करता है, अर्थात् द्वीप के इर्द-गिर्द द्वीप, और परिगणना केन्द्र से चलकर परिधि की ओर जाती है।

अब हम यहाँ कुछ सजाति विषयों का उल्लेख करेंगे, यद्यपि पुस्तक के किसी दूसरे स्थल में उनका वर्णन करना शायद अधिक दुरुस्त होता।

द्वीपों और समुद्रों की संख्या।	मत्स्य-पुराण।		पतञ्जलि का टीकाकार विष्णु-पुराण		देशी नाम	
	द्वीप	समुद्र	द्वीप	समुद्र	द्वीप	समुद्र
१	जम्बु-द्वीप।	लवण अर्थात नमक।	जम्बु, एक वृक्ष का नाम	क्षार अर्थात खारी।	जम्बुः	लवण समुद्र।
२	शाक-द्वीप।	क्षीरोदक अर्थात दूध।	पलाक्ष, एक वृक्ष का नाम।	इक्षु, अर्थात ईख।	शाकः	ईक्षु।
३	कुश-द्वीप।	घृतमण्ड अर्थात मक्खन।	शाल्मलि, एक वृक्ष का नाम	सुरा अर्थात शराब।	कुश॥	सुरा।
४	क्रौञ्च-द्वीप।	दहीमण्ड अर्थात दही।	कुश, एक पौधे का नाम।	सर्पिस्, अर्थात मक्खन।	क्रौंच	सार्पस्।
५	शालमलि-द्वीप।	सुरा अर्थात। चावल की शराब	क्रौंच, संघ।	दधि अर्थात दही।	शाल्कलि	दधिसागर।
६	गोमेद-द्वीप।	इक्षुरसोद अर्थात ईख का रस।	शाक, एक वृक्ष का नाम।	क्षीर अर्थात दूध।	गोमेद।	क्षीर।
७	पुष्कर-द्वीप	स्वादूदक अर्थात मीठा पानी।	पुष्कर, एक वृक्ष का नाम।	स्वादूदक अर्थात मीठा पानी।	पुष्कर।	पानीय।

पतंजलि के टीकाकार के प्रमाण

पतंजलि को पुस्तक का टीकाकार, जगत् के परिमाण को निश्चय करने की इच्छा से, (अपनी गणना) नीचे से आरम्भ करता है और कहता है—"अन्धकार का परिमाण एक कोटि और ८५ लक्ष योजन; अर्थात् १८५००००० योजन है।

इसके बाद नरक हैं जिनका परिमाण १३ कोटि और १२ लक्ष अर्थात् १३१२००००० योजन है।

इसके बाद एक लक्ष, अर्थात् १००००० योजन का अन्धकार है।

इसके ऊपर ३४००० योजन की वज्रभूमि है। इसका यह नाम इसकी कठिनता के कारण है। क्योंकि वज्र शब्द का अर्थ हीरा है।

इसके ऊपर ६०००० योजन की गर्भ नामक मध्यवर्ती पृथ्वी है।

इसके ऊपर ३०००० योजन की स्वर्ण-भूमि नामक पृथ्वी है।

इसके ऊपर सात पृथ्वियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक १०००० योजन की है, जिससे सम्पूर्ण संख्या ७०००० योजन बनती है। इनमें से ऊपर की पृथ्वी वह है जिसमें द्वीप और समुद्र हैं।

मीठे पानी के समुद्र के पीछे लोकालोक है जिसका अर्थ है न इकट्ठा होने का स्थान, अर्थात सभ्यता और अधिवासियों से शून्य जगह।

इसके बाद एक कोटि अर्थात १०००००००० की सोने की भूमि है; इसके ऊपर ६१२४००० योजन का पितृलोक है।

इन सात लोकों के साकल्य, जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं का परिणाम १५ कोटि अर्थात १५०००००००० योजन है। और इसके ऊपर सबसे नीचे के अन्धकार के सदृश १८५००००० योजन का तमस् अर्थात अन्धकार है।

हमें तो सातों समुद्र-सहित पृथ्वियों को गिनना पहले ही से कठिन मालूम होता था, और अब यह ग्रंथकार समझता है कि हमारी पहले ही की गिनाई हुई पृथ्वियों के नीचे कुछ और नई पृथ्वियाँ निकाल कर वह इस विषय को हमारे लिए अधिक सुगम और रुचिकर बना सकता है।

सदृश विषयों का वर्णन करते हुए विष्णु-पुराण कहता है—सबसे निचली सातवीं पृथ्वी के नीचे एक है। इसका नाम शेषाख्य है, जो आध्यात्मिक प्राणियों में पूज्य है। इसे अनन्त भी कहते हैं। इसके एक सहस्र सिर हैं और यह पृथ्वियों को उठाये हुए है, परन्तु उनके भारी वजन इसको व्यथित नहीं करते। ये पृथ्वियाँ जो एक दूसरे के ऊपर ढेर की तरह रखी हुई हैं, सुख और उत्तम पदार्थों से सम्पन्न, मणि मुक्ताओं से अलंकृत, और सूर्य तथा चन्द की रश्मियों से नहीं बल्कि अपनी ही रश्मियो से आलोकित हैं। ये सूर्य और चन्द्र उनमें नहीं उदय होते। इसलिए उनका ताप सदा समान रहता है, उनमें चिरस्थायी सुगन्धित फूल पेड़ों के कुसुम और फल हैं उनके अधिवासियों में समय की कोई कल्पना नहीं, क्योंकि गतियों के गिनने से उन्हें इनका ज्ञान नहीं होता। उनका परिमाण ७०००० योजन और उनमें से प्रत्येक का १०००० योजन है। नारद ऋषि इनको देखने और इनमें बसनेवाले दो प्रकार के प्राणियों, दैत्यों और दानवों से परिचय लाभ करने के लिए नीचे आया। जब उसने यहाँ आकार स्वर्ग के आनन्द को इन पृथ्वियों के आनन्द के सामने तुच्छ पाया तो उसने देवताओं के पास जाकर अपना वृत्तान्त सुनाया और अपने वर्णन से उनकी प्रसंसा को जागृत किया।

इसके आगे यह वाक्य है :—मीठे पानी के समुद्र के पीछे स्वर्ण भूमि है। यह सारे द्वीपों और समुद्रों से दुगनी है पर इसमें न मानव ही रहते हैं और न दानव ही। इसके पीछे लोकालोक नामक १०००० योजन ऊँचा और उतना ही चौड़ा पर्वत है। इसका सारा परिणाम ५० कोटि अर्थात ५०००००००० योजन है। इस समस्ति को हिन्दुओं की भाषा में कई दफे धातृ अर्थात सब वस्तुओं को धारण किये हुए और कई दफे विधातृ अर्थात सब वस्तुओं को छोड़े हुए कहा गया है। यह प्रत्येक सजीव प्राणी का निवास स्थान भी कहलाता है। इनके अतिरिक्त इसके और भी विविध

नाम हैं। ये नाम भी उसी तरह भिन्न हैं जैसे शून्य के विषय में लोगों की राय एक दूसरे से भिन्न है। जिन लोगों का शून्य में विश्वास है वे उनको वस्तुओं के इसकी ओर खिंच आने का कारण बताते हैं, और जो शून्य से इन्कार करते हैं वे कहते हैं कि यह आकर्षण का कारण नहीं है।

इसके बाद विष्णु-पुराण का रचयिता लोकों की ओर आता है और कहता है—प्रत्येक वस्तु, जिस पर पैर रक्खा जा सकता है और जिसमें जहाज तैर सकता है, भूर्लोक है। यह सबसे ऊपर की पृथ्वी के उपरितल का आकार मालूम होता है। वह वायु, जो कि सूर्य और पृथ्वी के बीच है, जिसमें सिद्ध, मुनि, और गाने वाले गन्धर्व इधर उधर विचरते हैं, भुवर्लोक है। ये सारी तीन भूमियाँ तीन पृथ्वियाँ कहलाती हैं। जो इनके ऊपर है वह व्यास-मण्डल अर्थात व्यास का राज्य है। पृथ्वी और सूर्य के बीच का अन्तर १००००० योजन है और सूर्य तथा चन्द्र के बीच की दूरी भी इतनी ही है। चन्द्र और बुध के बीच का अन्तर दो लक्ष अर्थात २००००० योजन है, और बुध और शुक्र के बीच भी इतना ही अन्तर है। शुक्र और मङ्गल के बीच, मङ्गल और बृहस्पति के बीच, बृहस्पति और शनैश्चर के बीच के अन्तर बराबर-बराबर हैं। इनमें से प्रत्येक २००००० योजन है। शनैश्चर और सप्तर्षि के बीच १००००० योजन का, और सप्तर्षि और ध्रुव के बीच दस हजार योजन का अन्तर है। इसके ऊपर २ करोड़ योजन की दूरी पर महर्लोक है; उसके ऊपर ८ करोड़ की दूरी पर जनःलोक है; उसके ऊपर ४८ करोड़ के अन्तर पर पितृलोक है; उसके ऊपर सत्यलोक है।

परन्तु यह संख्या पतंजलि की पुस्तक के टीकाकार के प्रमाण से बताई हुई हमारी पहली संख्या, अर्थात् १५ हजार योजन से तिगुनी से भी अधिक है। परन्तु प्रत्येक जाति के लिपिकारों और लेखकों की ऐसी ही रीति है, और मैं पुराणों के अध्येताओं को इस दोष से रहित नहीं कह सकता क्योंकि उनका पाण्डित्य शुद्ध नहीं।

बाइसवाँ परिच्छेद

ध्रुव-प्रदेश के विषय में विचार

दक्षिण ध्रुव की उत्पत्ति और सोमदत्त की कथा

हिन्दुओं की भाषा में कुत्व को ध्रुव और धुरी को शलाक कहते हैं। हिन्दुओं में, उनके ज्योतिषियों को छोड़ कर बाकी सभी लोग सदा एक ही ध्रुव कहते हैं। इसका कारण, जैसा कि हम पहले बता आये हैं, उनका आकाश के गुम्बज में विश्वास है। वायु-पुराण के अनुसार आकाश ध्रुव के गिर्द कुम्हार के चक्के की तरह घूमता है, और ध्रुव, अपने स्थान को बिना बदले, अपने इर्द-गिर्द घूमता है। यह परिभ्रमण ३० मुहूर्त्त अर्थात एक दिन-रात में समाप्त होता है।

दक्षिण ध्रुव के विषय में मैंने उनसे एक ही कथा या ऐतिह्य सुना है और वह यह है। एक समय सोमदत्त नामक उनका एक राजा था। अपने पुण्य-कर्मों के कारण वह स्वर्ग का अधिकारी बन गया था; परन्तु वह यह पसन्द नहीं करता था कि दूसरे लोक में जाते समय उसके शरीर को

उसकी आत्मा से चीर कर अलग कर दिया जाय। अब उसने वसिष्ठ ऋषि को बुलाकर कहा कि मुझे अपने शरीर से बहुत मोह है और मैं इससे अलग होना नहीं चाहता। परन्तु ऋषि ने उसे उत्तर दिया कि मनुष्य के लिए अपने भौतिक शरीर के साथ स्वर्ग में प्रविष्ट होना असम्भव है। इस पर उसने अपनी इच्छा को वसिष्ठ के पुत्रों के सामने प्रकट किया, परन्तु उन्होंने उसके मुँह पर थूक दिया, उसका तिरस्कार किया और उसे चाण्डाल के रूप में बदल दिया जिसके कानों में वालियाँ और तन पर कुर्तक (अर्थात एक छोटी कमीज जिसको स्त्रियाँ कन्धों के गिर्द पहनती हैं और जो शरीर के मध्य भाग तक आती है) था। जब इस दशा में वह विश्वामित्र ऋषि के पास आया तो ऋषि ने उसे एक घृणोत्पादक दृश्य पाया और पूछा कि इस रूप का कारण क्या है ? इस पर सोमदत्त ने उसे सारी कथा कह सुनाई। यह वृत्तान्त सुनकर विश्वामित्र को बड़ा क्रोध आया। उसने एक भारी यज्ञ करने के लिए ब्रह्मणों को अपने पास बुलाया। उनमें वसिष्ठ के पुत्र भी थे। वह उनसे बोला मैं इस धर्म्मात्मा राजा के लिए एक नया जगत, एक नया स्वर्ग बनाना चाहता हूँ, जिससे इसकी मनोकामना पूर्ण हो जाय।

इस पर उसने दक्षिण में ध्रुव और सप्तर्षि बनाना आरम्भ कर दिया, परन्तु राजा इन्द्र और देवता लोग उससे डरने लगे। वे उसके पास गये, और उससे विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आप इस काम को जाने दीजिए, हम सोमदत्त को उसके इसी शरीर में स्वर्ग में ले जाते हैं। वे उसे उसी तरह ही स्वर्ग में ले गये जिससे ऋषि ने दूसरा लोक बनाना छोड़ दिया, परन्तु जितना वह उस समय तक बना चुका था वह वैसा का वैसा बना रहा।

यह बात सब कोई जानता है कि हम उत्तर ध्रुव को सप्तर्षि और दक्षिण ध्रुव को सुहैल कहते हैं। परन्तु हमारे लोगों (मुसलिम) में से कुछ लोग जो अशिक्षित जनसमुदाय से ऊपर नहीं उठते यह समझते हैं कि आकाश के दक्षिण में भी उत्तरीय सप्तर्षि के आकार का एक सप्तर्षि है जो कि दक्षिणी ध्रुव के गिर्द घूमता है।

ऐसी बात असम्भव बल्कि विचित्र भी न होती यदि इसका संवाद कोई ऐसा विश्वस्त मनुष्य लाता जिसने कि लम्बी-लम्बी सागर यात्राएँ की होती। निश्चय ही दक्षिणी प्रदेशों में ऐसे ऐसे तारे देखे जाते हैं जिनको हम अपने अक्षों में नहीं देखते।

शूल तारेपर श्रीपाल की राय, ज्वर तारे-पर अलजैहानी की राय शिशुमार पर ब्रह्मगुप्त की राय

श्री पाल कहता है कि मुलतान के लोगों को ग्रीष्म ऋतु में सुहैल की ऊर्ध्वसीमा के कुछ नीचे एक लाल तारा दिखाई देता है। इसको वे शूल अर्थात् सूली का शहतीर कहते हैं और हिन्दू इसे अशुभ समझते हैं। इसलिए जब चन्द्रमा पूर्वभाद्र में होता है तो हिन्दू दक्षिण की ओर सफर नहीं करते क्योंकि यह तारा रास्ते में होता है।

अलजैहानी अपनी 'रास्तों की पुस्तक' में कहता है कि लङ्कबालूस टापू पर एक बड़ा तारा दिखाई देता है जिसको कि ज्वर तारा कहते हैं। यह शरद ऋतु में प्रातः उषा काल के करीब पूर्व दिशा में खजूर के पेड़ जैसा ऊँचा दिखाई देता है। इसका आकार छोटे रीछ की पूँछ और उसकी पीठ का, और वहाँ स्थित कई छोटे छोटे तारों का बना हुआ आयत होता है। यह चक्का का बसूला कहलाता है। ब्रह्मगुप्त मीन के सम्बन्ध में इसका उल्लेख करता है। हिन्दू लोग उस रूप का वर्णन करते समय जिसमें वे तारकाओं के इस चक्र को प्रकट करते हैं, असङ्गत कहानियाँ सुनाते

हैं। इस तारासमूह का रूप एक चतुष्पाद जल जन्तु के सदृश बताया जाता है, और वे इसे शक्वर और शिशुमार कहते हैं। मैं समझता हूँ यह जन्तु बड़ी छिपकली है, क्योंकि फारस देश में इसे सूसमार कहते है, जिसकी आवाज कि भारतीय शब्द शिशुमार के सदृश है। इस प्रकार के जन्तुओं की घड़ियाल और मगर के सदृश एक जलज जाति भी है। उन कहानियों में से एक यह है।

ध्रुव की कथा

जब ब्रह्मा को मानव जाति के उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो उसने अपने आप को दो अर्धभागों में विभक्त कर दिया। इनमें से दायां भाग विरज और बायाँ मनु कहलाया। मनु वह व्यक्ति है जिससे कालावधि विशेष का नाम मन्वन्तर कहलाता है। मनु के दो पुत्र थे, प्रियव्रत और उत्तानपाद, अर्थात धनुष के सदृश टाँगों वाला राजा। उत्तानपाद के ध्रुव नामक एक पुत्र था। वह अपनी सौतेली माता से अनाहत हुआ था। इस कारण उसे सब तारकाओं को अपनी इच्छा के अनुसार घुमाने की शक्ति मिली थी। वह सबसे पहले मन्वन्तर, स्वायम्भव के मन्वन्तर में प्रकट हुआ था; और सदा अपने ही स्थान में स्थित रहा है।

वायुपुराण और विष्णु धर्म के प्रमाण

वायु-पुराण कहता है :—वायु तारकाओं को ध्रुव के गिर्द दौड़ाती है। ये तारकाएँ ध्रुव के साथ मनुष्य को न दिखाई देनेवाले बन्धनों से बँधी हुई हैं। वे कोल्हू के लट्ठा के सदृश गिर्दागिर्द घूमती हैं, क्योंकि इस लट्ठे का पेंदा, एक प्रकार से, निश्चल खड़ा है पर इसका सिरा गिर्दागिर्द. घूमता रहता है।

विष्णु-धर्म कहता है :—नारायण के भाई बलभद्र के पुत्र वज्र ने मार्कण्डेय ऋषि से ध्रुव का हाल पूछा, तो उसने उत्तर में कहा :—जब परमेश्वर ने जगत को उत्पन्न किया तो वह तमोमय और निर्जल था। इस पर उसने सूर्य के गोले को प्रकाशमान और नक्षत्रों के गोलों को जलमय बनाया। ये नक्षत्र सूर्य के उस पार्श्व से प्रकाश लेते हैं जिसको कि वह उनकी ओर फेरता है। इन ताराओं से चौदह को उसने शिशुमार के रूप में ध्रुव के इर्द-गिर्द रख दिया। ये शिशुमार दूसरे नक्षत्रों को ध्रुव के गिर्दागिर्द घुमाते हैं। उनमें से एक ध्रुव के उत्तर में उच्चतम ठोड़ी पर उत्तान-पाद है; नीचतम ठोड़ी पर यज्ञ, सिर पर धर्म छाती पर नारायण, दोनों हाथों पर पूर्व की ओर दो तारे अर्थात अश्विनी वैद्य, दोनों पैरों पर वरुण और पश्चिम की ओर अर्यमन, लिङ्ग पर संवत्सर, पीठ पर मित्र, पूँछ पर अग्नि महेन्द्र, मरीचि और कश्यप हैं।

स्वयम ध्रुव स्वर्ग के अधिवासियों का राजा विष्णु है; इसके अतिरिक्त वह समय पर प्रकट होनेवाला बढ़नेवाला, बूढ़ा होने वाला और लोप हो जाने वाला है।

विष्णु-धर्म और कहता है :—यदि मनुष्य इसे पढ़े और यथार्थरूप में जान ले तो परमेश्वर उसके उस दिन के पाप क्षमा कर देता है और उसकी आयु में जिसकी लम्बाई पहले से नियत होती है चौदह वर्ष और बढ़ा दिये जाते हैं।

वे लोग कितने भोले हैं! हम लोगों में ऐसे विद्वान हैं जो १०२० और १०३० के अन्दर अन्दर तारों को जानते हैं। क्या वे लोग केवल अपने तारों के ज्ञान के कारण ही परमेश्वर से प्राण और जीवन पायेंगे?

सभी तारे घूमते हैं चाहे उनके सम्बन्ध में ध्रुव की स्थिति कुछ ही हो।

यदि मुझे कोई ऐसा हिन्दू मिल जाता जो उंगली के साथ मुझे इकहरे तारों को दिखला सकता तो मैं उन्हें यूनानियों और अरबियों में प्रसिद्ध नक्षत्र-आकारों के साथ या यदि वे उन आकारों में से न होते तो भी पड़ोस के तारों के साथ मिलाने में समर्थ हो जाता।

तेइसवाँ परिच्छेद

लोगों के विश्वासानुसार मेरु पर्वत का वर्णन

पृथ्वी और मेरु पर्वत पर ब्रह्मगुप्त की राय

हम इस पर्वत के वर्णन से आरम्भ करते हैं, क्योंकि यह द्वीपों और समुद्रों का, और, साथ ही जम्बू-द्वीप का केन्द्र है। ब्रह्मगुप्त कहता है—पृथ्वी और मेरु पर्वत के वर्णन के विषय में लोगों की, विशेषतः जो लोग पुराणों और धार्मिक साहित्य का अध्ययन करते हैं, अनेक सम्मतियां हैं। कई लोग इस पर्वत को पृथ्वी से बहुत ऊँचा उठा हुआ बताते हैं। यह ध्रुव के नीचे स्थित और तारे इसके पाँव के गिर्द घूमते हैं। जिससे उदय और अस्त होना मेरु पर अवलम्वि है। यह मेरु इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें यह करने की शक्ति है, और क्योंकि सूर्य और चन्द्र का दिखाई देना केवल इसकी चोटी के प्रभाव पर आश्रित है। मेरु पर निवास करने वाले देवताओं का दिन छः मासों का और रात छः मासों की होती है।

ब्रह्मगुप्त जिन अर्थात बुद्ध की पुस्तक से यह वाक्य उदधृत करता है—मेरु पर्वत चतुर्भुज है, गोल नहीं।

टीकाकार वलभद्र कहता है—कई लोग कहते हैं कि पृथ्वी चिपटी है, और मेरु पर्वत एक प्रकाशमान तथा आलोक देनेवाला पिण्ड है। परन्तु यदि ऐसी अवस्था होती तो ग्र[१] मेरु के अधिवासियों के दिङमण्डल के गिर्द न घूमते, और यदि यह प्रकाशमान होता तो यह अपनी ऊँचाई के कारण दिखाई देता, जिस प्रकार कि इसके ऊपर ध्रुव दिखाई देता है। कुछ लोग मेरु को सुवर्ण का और अन्य दूसरे इसे मणियों का बना बताते हैं। आर्यभट्ट समझता है कि इसकी कोई असीम ऊँचाई नहीं, प्रत्युत यह केवल एक योजन, ऊँचा है, यह चतुर्भुज नहीं वल्कि गोल है, यह देवताओं का देश है; प्रकाशमान होते हुए भी यह अदृश्य है क्योंकि यह आबादी से बहुत दूर, सर्वथा उत्तर के शीतल-मण्डल में, और नन्दन वन नामक जंगल में स्थित है। परन्तु यदि इसकी ऊँचाई बहुत होती, तो ६६वें अक्षांश पर सारे कर्कवृत्त का दिखाई देना, और कभी लुप्त हुए विना सदा दृष्टिगोचर होने के कारण सूर्य का उसके गिर्द घूमना कभी सम्भव ही न होता।

वलभद्र की आलोचना

वलभद्र का सरा लेख, विषय और शब्द दोनों में, निःसार है, और मुझे पता नहीं लगता कि जब उसके पास लिखने के लिए कोई उत्तम बात ही न थी तो उसे टीका लिखने का शौक ही क्यों हुआ।

यदि वह पृथ्वी के चिपटी होने की कल्पना का मेरु के दिङ्मण्डल के गिर्द नक्षत्र के घूमने से खण्डन करने का यत्न करता है तो उसकी यह युक्ति इस कल्पना के खण्डन करने के स्थान में उलटा इसी को प्रमाणित करती है। क्योंकि यदि पृथ्वी एक सम विस्तार हो और पृथ्वी पर की प्रत्येक ऊँची वस्तु मेरु की लम्बरूप उच्चता के समान हो तो दिङ्मण्डल में कोई परिवर्तन न होगा, और एक ही दिङ्मण्डल पृथ्वी पर के सभी स्थानों के लिए विषुव होगा।

आर्यभट्ट के बयानों की जाँच

बलभद्र द्वारा उद्धृत आर्यभट्ट के शब्दों पर हम निम्नलिखित टिप्पणी करते हैं। क ख को केन्द्र ह के गिर्द एक चक्र मान लीजिए। इसके अतिरिक्त क पृथ्वी पर ६६वें अक्षांश में एक स्थान है। हम इस चक्रमें से सब से बड़े झुकाव के बराबर क ख वृत्तांश काट लेते हैं। तब ख वह स्थान है जिसके ख मध्य में कि ध्रुव स्थित है।

फिर हम क बिन्दु पर गोले को स्पर्श करती हुई क ग रेखा खींचते हैं। यह रेखा जहाँ तक मनुष्य की आँख पृथ्वी के गिर्द पहुँचाती है, दिङ्मण्डल के समक्षेत्र में है।

हम क और ह बिन्दुओं को एक-दूसरे से मिलाते हैं, और ह ख ग रेखा खींचते हैं जिससे ग पर इसके साथ क ग रेखा आ मिलती है। फिर हम ह ग पर क ट लम्बक गिराते हैं। अब यह स्पष्ट है कि—

क ट सब से बड़े झुकाव की ज्या है;

ट ख सब से बड़े झुकाव की निचली ज्या है;

ट ह सब से बड़े झुकाव पूरक की ज्या है।

और क्योंकि हम यहाँ पर आर्यभट्ट से सहमत हैं, इसलिए हम, उसकी पद्धति के अनुसार, ज्याओं को कर्दजात में बदल देंगे। उसके अनुसार—

क ट = १३९७.
ट ह = ३१४०.
ख ट = २९८.

क्योंकि ह क ग समकोण है इसलिए समीकरण यह है—

ह ट : ट क = ट क : ट ग.

और क ट का वर्ग १९५१६०९ है। यदि हम इसे ट ह पर बाटें तो भागफल ६२२ निकलता है।

इस संख्या और ट ख में ३२४ का भेद है जो कि ख ग है। और ख ग का ख ह के साथ वही अनुपात है जैसा कि ख ग के योजनों की संख्या का ख ह के योजनों के साथ है।

ख ह पूरी ज्या होने से ३४३८ के बराबर है ख ह के योजनों की संख्या, आर्यभट्ट के अनुसार, ८०० है। यदि इसको ऊपर कहे ३२४ के भेद से गुणें तो गुणाकार २५९२०० होता है। अब यदि इस संख्या को पूर्ण ज्या पर बाँटें तो भागफल ७५ निकलता है, जोकि ख ग के योजनों की संख्या है। यह ६०० मील या २०० फर्सख के बराबर है।

यदि किसी पर्वत का लम्बक २०० फर्सख है तो उसकी चढ़ाई इससे कोई दुगनी होगी। चाहे मेरु पर्वत की ऐसी उँचाई हो चाहे न हो, ६६ वें अक्षांश से इसका कुछ भी दिखाई नहीं
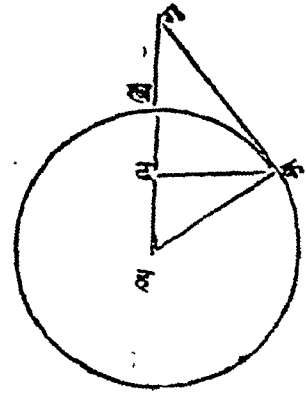
दे सकता, और कर्कवृत्त में इसका कोई भी अंश नहीं हो सकता (जिससे सूर्य के प्रकाश को इसके पास पहुँचने में रुकावट हो)। और यदि उन अक्षों (६६° और २३°) के लिए मेरु दिङ्मण्डल के नीचे है तो यह उनसे कम अक्ष के सभी स्थानों के लिए भी दिङ्मण्डल के नीचे है। यदि तुम मेरु को सूर्य जैसे प्रकाशमान पिण्ड से तुलना दो, तो तुम जानते हो सूर्य पृथ्वी के नीचे अस्त और अन्तर्धान हो जाता है। वास्तव में मेरु को पृथ्वी से तुलना दी जा सकती है। इसके हमें दिखाई न देने का कारण यह नहीं कि यह सुदूर शीतल प्रदेश में स्थित है बल्कि यह दिङ्मण्डल के नीचे है, और पृथ्वी एक गोला है, जिसके केन्द्र की ओर प्रत्येक गुरु पदार्थ खिंच जाता है।

इसके अतिरिक्त, आर्यभट्ट इस बात से कि कर्कवृत्त उन स्थानों में दिखाई देता है जिनका अक्ष कि सबसे बड़े झुकाव के पूरक के बराबर है, यह प्रमाणित करने का यत्न करता है कि मेरु पर्वत की ऊँचाई केवल मध्यम है। हमें यह कहना पड़ता है कि यह युक्ति सयुक्तिक नहीं, क्योंकि उन देशों में अक्ष और अन्य वृत्तों की अवस्थाओं को हम केवल वितर्कण द्वारा ही जानते हैं, प्रत्यक्ष दर्शन या ऐतिह्य द्वारा नहीं, क्योंकि वहाँ कोई रहता नहीं, और उनके मार्ग अगम्य हैं।

यदि उन देशों से कोई मनुष्य आर्यभट्ट के पास आया होता और उससे आकर कहता कि उस अक्ष में कर्क-रेखा दिखाई देती है, तो हम उसके मुक़ाबले में यह कह सकते थे कि हमारे पास भी उसी प्रदेश से एक मनुष्य आया है जो कहता है कि वहाँ उसका एक भाग दिखाई नहीं देता। कर्क-वृत्त को ढँकने वाली एक मात्र वस्तु यह मेरु पर्वत है। यदि मेरु न होता हो सारी अयन सीमा दिखाई देती। कौन ऐसा मनुष्य है जो यह बता सके कि इन दो समाचारों में से कौनसा सबसे अधिक विश्वास के योग्य है ?

कुसुमपुर के आर्यभट्ट की पुस्तक में लिखा है कि मेरु पर्वत हिमवन्त अर्थात् ठण्डे प्रदेश में है और एक योजन से अधिक ऊँचा नहीं। परन्तु अनुवाद में यह इस प्रकार बदल दिया गया है कि उसका मतलब यह निकलता है कि यह हिमवन्त से एक योजन से अधिक ऊँचा नहीं।

यह ग्रन्थकर्ता बड़े आर्यभट्ट से भिन्न है और उसके अनुयायियों में से एक है, क्योंकि वह उसके प्रमाण देता और उसके उदाहरण का अनुकरण करता है। मैं नहीं जानता कि इन दो समनाम-धारियों में से बलभद्र का तात्पर्य किससे है।

सामान्यतः; इस पर्वत के स्थान की अवस्थाओं के विषय में हम जो कुछ भी जानते हैं वह केवल वितर्क द्वारा ही जानते हैं। स्वयम् पर्वत के विषय में उनके यहाँ अनेक ऐतिह्य हैं। कई उसे एक योजन ऊँचा बताते हैं और कई इससे अधिक; कुछ लोग उसे चतुर्भुज समझते हैं और कुछ अष्टकोण। अब हम इस पर्वत के विषय में ऋषियों की शिक्षा पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

मेरु पर्वत तथा पृथ्वी के अन्य पर्वतों पर मत्स्यपुराण का कथन

मत्स्य-पुराण कहता है—यह सोने का है और उस आग की तरह चमक रहा है जो धुँवें से तेजोहीन नहीं। इसके चारों पार्श्वों पर इसके चार भिन्न-भिन्न रंग हैं। पूर्वी पार्श्व का रंग ब्राह्मणों के रंग के सदृश सफेद है, उत्तरी पार्श्व का क्षत्रियों के रंग के सदृश लाल है, दक्षिणी पार्श्व का वैश्यों के सदृश पीला है, और पश्चिमी पार्श्व का शूद्रों के सदृश काला है। यह ८६००० योजन ऊँचा है, और इन योजनों में से १६००० पृथ्वी के भीतर हैं। इसके चार पार्श्वों में से प्रत्येक ३४००० योजन है। इसमें मीठे पानी कि नदियाँ बहती हैं, और सोने के सुन्दर घर बने हुए हैं जिनमें देवगण, उनके गवैये गन्धर्व, और उनकी वारांगना अप्सराएँ प्रभृति आध्यात्मिक प्राणी असुर, दैत्य और राक्षस भी रहते हैं। इस पर्वत के गिर्द मानस-सरोवर है, और उसके चारों

और लोकपाल अर्थात जगत् और उसके अधिवासियों के रक्षक हैं। मेरु पर्वत की सात ग्रन्थियां अर्थात बड़े-बड़े पहाड़ हैं। उनके नाम ये हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिवाम् (?), ऋक्षवाम् (?), विध्य, पारियात्र। छोटे-छोटे पहाड़ प्रायः असंख्य हैं; ये वे पहाड़ हैं जिन पर मानव जाति निवास करती है।

मेरु के गिर्द बड़े पहाड़ ये हैं—हिमवन्त जो सदा हिम से ढँका रहता है, और जिस पर राक्षस, पिशाच, और यक्ष निवास करते हैं। हेमकूट, जो सोनहला है और जिस पर गन्धर्व और अप्सरायें रहती हैं। निषाध, जिस पर नाग अर्थात सांप रहते हैं। इन नागों के ये सात राजा हैं—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, कम्बल, और अश्वतर। नील, जो मोर के सदृश अनेक रङ्गों का है, जिस पर सिद्ध और ब्रह्मर्षि रहते हैं। श्वेत पर्वत, जिस पर दैत्य और दानव रहते हैं। शृङ्गवन्त पर्वत, जिस पर पितर अर्थात् देवों के पिता और पितामह निवास करते हैं। इस पर्वत के समीप ही उत्तर की ओर रत्नों और कल्प पर्यन्त रहनेवाले वृक्षों से भरी हुई पहाड़ी दरियाँ हैं। और इन पर्वतों के मध्य में सबसे ऊँचा इलावृत है। यह सारा पुरुषपर्वत कहलाता है। हिमवन्त और शृङ्गवन्त के बीच का प्रदेश कैलास कहलाता है, और यह राक्षसों और अप्सराओं का क्रीडा-स्थल है।'

विष्णु, वायु और आदित्य पुराण के अवतरण

विष्णु-पुराण कहता है—"मध्य पृथ्वी के बड़े-बड़े पहाड़ ये हैं—मलय पर्वत, माल्यवन्त, विन्ध्य, त्रिकूट, त्रिपुरान्तिक और कैलास। उनके अधिवासी नदियों का जल पीते हैं और नित्य आनन्द में रहते हैं।"

वायु-पुराण में भी मेरु की ऊँचाई और उसके चार पार्श्वों के विषय में ऐसे ही वर्णन हैं जैसे कि उन पुराणों में हैं जिनके अवतरण अभी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, यह पुराण कहता है कि इसके प्रत्येक पार्श्व पर एक चतुर्भुज पर्वत है, पूर्व में माल्यवन्त, उत्तर में आनील, पश्चिम में गन्धमादन, और दक्षिण में निषाध। आदित्य-पुराण इसके चार पार्श्वों में से प्रत्येक के विषय में वैसा ही वर्णन देता है जैसा कि हमने मत्स्य-पुराण से उद्धृत किया है, पर मैंने इसमें मेरु की ऊँचाई के विषय का कोई वर्णन नहीं देखा। इस पुराण के अनुसार इसका पूर्वीय पार्श्व सुवर्ण का, पश्चिमी चाँदी का, दक्षिणी पद्मराग का, और उत्तरी भिन्न भिन्न मणियों का है।

पतंजलि के टीकाकार का मत

मेरु के परिमाणों की अतिमात्र कल्पनायें असम्भव थीं, यदि पृथ्वी के विषय में भी उनकी वैसी ही अतिमात्र कल्पनायें न होतीं, और यदि अनुमान को सीमा के भीतर न रक्खा जाय तो यह अनुमान बिना किसी रोक के बढ़ कर झूठ का रूप धारण कर सकता है। उदाहरणार्थ पतञ्जलि की पुस्तक का टीकाकार मेरु को न केवल चतुर्भुज ही, प्रत्युत आयत भी बनाता है। वह एक पार्श्व की लम्बाई १५ कोटि अर्थात् १५०००००००० योजन स्थिर करता है, पर वह बाकी तीन पार्श्वों की लम्बाई केवल इसका तीसरा भाग अर्थात् ५ कोटि निश्चित करता है। मेरु की चार दिशाओं के विषय में वह कहता है कि पूर्व में मालव पर्वत और सागर है, और उनके बीच भद्राश्व नामक राज्य। उत्तर में नील, सीता, शृङ्गादरि, और समुद्र, और उनके बीच रम्यक, हिरण्यमय, और कुरु के राज्य हैं। पश्चिम में गन्धमादन पर्वत और सागर, और उनके बीच केतुमाल राज्य। दक्षिण में आवर्त (?), निषाध, हेमकूट, हिमगिरि, और सागर, और उनके बीच भारतवर्ष किम्पुरुष; और हरिवर्ष।

बौद्धों का मत

मेरु के विषय में मैं हिन्दुओं का केवल इतना ही ऐतिह्य पा सका हूँ। मुझे कभी कोई बौद्ध नहीं मिला, और न मुझे कोई ऐसा बौद्ध ही मालूम था जिससे मैं इस विषय पर उनकी कल्पनाओं को सीख लेता, इसलिए उनके विषय में जो कुछ मैं वर्णन करता हूँ वह केवल अलेरान शहरी के प्रमाण से ही कर सकता हूँ, यद्यपि मेरा हृदय कहता है कि उसके वृत्तान्त में वैज्ञानिक यथार्थता नहीं, और न वह एक ऐसे व्यक्ति ही का संवाद है कि जिसको इस विषय का शास्त्रीय ज्ञान हो। उसके अनुसार, बौद्ध मानते हैं कि मेरु चार प्रधान दिशाओं में चार लोकों के बीच स्थित हैं; यह जड़ पर वर्ग और चोटी पर गोल हैं; इसकी लम्बाई ८०००० योजन है, जिसमें से आधी आकाश में और आधी पृथ्वी के भीतर चली गई है। इसका जो पार्श्व हमारे लोक के साथ मिलता है वह नीले नीलकान्तों का बना है। इसी से आकाश हमें नीला दिखाई देता है। बाकी पार्श्व पद्मराग, पीली और सफेद मणियों के बने हैं। इस प्रकार मेरु पृथ्वी का केन्द्र है।

जिस पर्वत को हमारे सर्वसाधारण काफ़ कहते हैं हिन्दुओं में उसका नाम लोकालोक है। उनका मत है कि सूर्य लोकालोक से मेरु की ओर घूमता है और उसके केवल अभ्यतन्रीय उत्तरी पार्श्व को आलोकित करता है।

सौगदियाना के जरदुश्तियों का मत

सोगदियाना के जुर्दुश्तियों के भी ऐसे ही विचार हैं, अर्थात् वे समझते हैं कि अर्दिया जगत् के गिर्दागिर्द हैं; कि इस के बाहर खोम हैं, जो कि आँख की पुतली के सदृश है, जिसमें प्रत्येक चीज का कुछ न कुछ है, और इसके पीछे शून्य है। जगत् के मध्य में गिरनगर पर्वत है, हमारे देश (अक़ालीम) और छः दूसरे देशों के बीच, आकाश का सिंहासन है। प्रत्येक दो के बीच जलती हुई रेत है, जिस पर पैर नहीं ठहर सकता। (अक़ालीम) में आकाश (फलक) चक्कियों की तरह घूमते हैं, क्योंकि हमारा देश जिस पर मनुष्य बसते हैं, सबसे ऊपर है।

चौबीसवाँ परिच्छेद

सात द्वीपों में से प्रत्येक के विषय में पौराणिक विचार

मत्स्य और विष्णुपुराण के अनुसार द्वीपों का वर्णन

हमारा पाठकों से निवेदन हैं कि यदि उन्हें प्रस्तुत परिच्छेद के सभी शब्द और अर्थ उनके सदृश अरबी शब्दों और अर्थों से सर्वथा भिन्न देख पड़े तो वे बुरा न मानें। शब्दों की भिन्नता का कारण तो आसानी से प्रायः भाषाओं की भिन्नता बताया जा सकता है; बाकी रही अर्थों की भिन्नता, सो उसका उल्लेख हम केवल या तो एक ऐसी कल्पना की ओर ध्यान दिलाने के लिए करते हैं जो

कि एक मुसलिम को भी रुचिकर मालूम हो, या एक ऐसी वस्तु के युक्तिविरुद्ध स्वरूप के दिखलाने के लिए, जिसका कि अपने अन्दर कुछ भी आधार नहीं।

१—जम्बू-द्वीप

पर्वत के मध्य में उसके उपान्तों का वर्णन करते हुए हम पहले ही मध्यवर्ती द्वीप का जिक्र कर आये हैं। इसमें उगे हुए एक वृक्ष के कारण यह जम्बू-द्वीप कहलाता है। इस वृक्ष की शाखायें १०० योजन में फैली हुई हैं। किसी अगले परिच्छेद में जिसमें वासयोग्य जगत् और उसके विभाग का वर्णन है, हम जम्बू-द्वीप का वर्णन समाप्त करेंगे। परन्तु आगे हम इसके इर्द-गिर्द के दूसरे द्वीपों का वर्णन करेंगे, और उनके नामों के क्रम के विषय में, उपर्युक्त कारण से (देखो परिच्छेद २१), मत्स्य-पुराण के प्रमाण का अनुकरण करेंगे। परन्तु इस विषय में प्रवेश करने के पहले हम यहाँ मध्यवर्ती द्वीप (जम्बू-द्वीप) के विषय में वायु-पुराण का मत प्रगट करते हैं।

वायु-पुराण के अनुसार मध्यदेश के अधिवासी

इस पुराण के अनुसार, मध्यदेश में दो प्रकार के अधिवासी हैं। पहले किंपुरुष। उनके पुरुष सुनहले रंग के और स्त्रियाँ सुरेणु होती हैं। वे कभी बीमार नहीं होते और लम्बी आयु भोगते हैं। कभी पाप नहीं करते और ईर्ष्या को नहीं जानते हैं। उनका आहार एक रस है जो कि वे खजूरों से निकालते हैं। इसका नाम मद्य है। दूसरे लोग हरिपुरुष हैं। इनका रंग चाँदी का सा है। वे ११००० वर्ष जीते हैं, उनके दाढ़ी नहीं होती, और उनका आहार ईख है। चूँकि उनको चाँदी के रंग के और दाढ़ी-रहित बयान किया गया है इसलिए खयाल होता है कि वे कहीं तुर्क ही न हों; पर उनका खजूर और ईख खाना हमें उनको कोई और अधिक दक्षिणी जाति मानने को बाध्य करता है। पर सोने और चाँदी के रंग के लोग हैं कहाँ ? हम केवल जली हुई चाँदी के रंग को ही जानते हैं, जो कि, उदाहरणार्थ, जन्ज लोगों में पाया जाता है। ये लोग शोक और ईर्ष्या से रहित जीवन व्यतीत करते हैं, क्योंकि उनके पास इन मनोविकारों को पैदा करने वाली कोई चीज नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आयु हमसे लम्बी होती है, पर वह थोड़ी ही अधिक लम्बी होती है, और किसी प्रकार भी हमारी आयु से दुगनी नहीं होती। जन्ज लोग ऐसे असभ्य हैं कि उन्हें स्वाभाविक मृत्यु की कुछ भी कल्पना नहीं। यदि मनुष्य स्वाभाविक मृत्यु से मर जाय तो वे समझते हैं कि उसे विष दिया गया है। मनुष्य के शस्त्र से मारे जाने को छोड़ कर वे शेष प्रत्येक मृत्यु पर सन्देह करते हैं। इसी तरह वे मनुष्य के क्षय के रोगी के श्वास को स्पर्श करने पर भी सन्देह करते हैं।

२—शाक द्वीप

अब हम शाक-द्वीप का वर्णन करेंगे। मत्स्य-पुराण के अनुसार, इसमें सात बड़ी नदियाँ हैं; जिनमें से एक पवित्रता में गङ्गा के समान है। पहले समुद्र में मणियों से सुशोभित सात पर्वत हैं। उनमें से कुछ पर देव, और कुछ पर दानव रहते हैं। उनमें से एक सोने का ऊँचा पहाड़ है जहाँ से कि हमारे पास वर्षा लानेवाले मेघ उठते हैं। दूसरा औषधियों का भण्डार है। राजा इन्द्र इससे वर्षा लेता है। एक और का नाम सोम है। इसके सम्बन्ध में वे यह कथा सुनाते हैं :—

कद्रु और विनता की कथा

कश्यप के दो स्त्रियां थीं, एक साँपों की माँ कद्रु और दूसरी पक्षियों की माँ विनता। दोनों एक मैदान में रहती थीं जहाँ कि एक घूसर घोड़ा था। अब उन्होंने शर्त बांधी कि जिसकी बात झूठी निकले वह दूसरी की दासी बनकर रहे। परन्तु उन्होंने निर्णय अगले दिन पर छोड़ दिया। रात को साँपों की माता ने अपने काले बच्चों को घोड़े के पास भेजा ताकि वे उस पर लिपट कर उसके रंग को छिपा दें। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ काल के लिये पक्षियों की माँ उसकी दासी बन गई।

विनता के दो पुत्र थे। एक अनूरु, (अरुण ?) जो कि सूर्य के प्रासाश-शिखर का, जिसको कि घोड़े खींचते हैं, संरक्षक है और दूसरा गरुड़। गरुड़ ने माँ से कहा—अपनी छाती के दूध से पाले हुए पुत्रों से वह चीज माँग जो कि तुझे स्वतंत्र कर सके। उसने ऐसा ही किया। लोगों ने उसे यह भी बताया कि देवों के पास अमृत है। इस पर गरुड़ उड़कर देवों के पास गया और उनसे अमृत माँगा। उन्होंने उसकी इच्छा को पूर्ण कर दिया। क्योंकि अमृत एक ऐसी चीज है जो कि देवों के ही पास है और यदि यह किसी और मनुष्य को मिल जाय तो वह भी देवों के समान चिर-काल तक जीता रहता है। उसने अमृत की प्राप्ति के लिए उनसे विनती की ताकि वह उसके साथ अपनी माँ को मुक्त कर सके, साथ ही उसने बाद को उसे लौटाने का भी कथन दिया। उन्होंने उस पर दया की और उसे अमृत दे दिया। फिर गरुड़ सोम पर्वत पर गया जहाँ देवता रहते थे। गरुड़ ने देवों को अमृत दे दिया और अपनी माँ को छुड़ा लिया। तब वह उनसेबोला—जब तक तुम गङ्गा में स्नान न कर लो अमृत के निकट न आना। उन्होंने स्नान कर लिया, और अमृत को वहीं का वहीं पड़ा रहने दिया। इसी बीच में गरुड़ इसे देवों के पास वापस ले आया, जिससे उसकी पवित्रता की पदवी बहुत ऊँची हो गई, और वह सब पक्षियों का राजा और विष्णु का वाहन बन गया।

शाक-द्वीप के अधिवासी धर्मात्मा और चिरजीवी प्राणी हैं। वे राजाओं के नियम को छोड़ सकते हैं क्योंकि उनमें ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा का नाम निशान भी नहीं। उनका जीवन-काल अपरिवर्तनीय और त्रेतायुग के समान लम्बा है। उनमें चार वर्ण अर्थात भिन्न भिन्न जातियाँ हैं जो न आपस में मिलतीं हैं और न रोटी-बेटी का व्यवहार करती हैं। वे कभी शोकाकुल नहीं होते और सदा आनन्द में रहते हैं। विष्णु-पुराण के अनुसार उनकी जातियों के नाम आर्यक, कुरुर, विविंश (विवंश) और भाविन (?) हैं। वे वासुदेव का पूजन करते हैं।

३—कुश-द्वीप

तीसरा द्वीप कुश-द्वीप है। मत्स्य-पुराण के अनुसार इसमें रत्नों, फलों, फूलों, सुगन्धित पौधों, और अनाजों से परिपूर्ण सात पर्वत हैं। उनमें से एक में जिसका नाम द्रोण है, प्रसिद्ध औषधियाँ या जड़ी-बूटियाँ हैं, विशेषत: विशल्यकरण, जो कि प्रत्येक घाव को तत्काल ही चङ्गा कर देती है; और मृतसंजीवनी जो मृत को सजीव कर देती है। एक और पर्वत, जिसका नाम हरि है काले बादल के सदृश है। इस पर्वत पर महिष नामक एक अग्नि है जोकि जल से पैदा हुई है और प्रलय काल तक बनी रहेगी; यही वह अग्नि है जो सारे संसार को जला देगी। कुश-द्वीप में सात राज्य और संख्यातीत नदियाँ हैं जो कि समुद्र में गिरती हैं और जिनको वहाँ इन्द्र वर्षा के रूप में बदल डालता है। सब से बड़ी नदियों में से एक जौन (यमुना) है जो सब पापों को धो डालती

है। इस द्वीप के अधिवासियों के विषय में मत्स्य-पुराण कुछ भी जानकारी नहीं देता। विष्णु-पुराण के अनुसार, वहाँ के लोग धर्मशील और पाप रहित हैं और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति १०००० वर्ष जीता है। वे जनार्दन की पूजा करते हैं और उनके वर्णों के नाम दमिन, शूष्मिन, स्नेह, और मन्देह हैं।

४—क्रौंच द्वीप

मत्स्य-पुराण के अनुसार; चौथे या क्रौंच-द्वीप में रत्नों वाले पर्वत, नदियाँ, जो गङ्गा की शाखायें हैं; और ऐसे राज्य हैं जहाँ की प्रजा श्वेत-वर्ण, धार्मिक और पवित्र है। विष्णु-पुराण के अनुसार वहाँ के लोग; समाज के सदस्यों में किसी भेदभाव के विना, सब एक ही स्थान में रहते हैं, परन्तु पीछे से वही कहता है कि उनके वर्णों के नाम पुष्कर, पुष्कल, धन्य, और तिष्य (?) हैं। वे जनार्दन की पूजा करते हैं।

५—शाल्मल द्वीप

पांचवें या शाल्मल-द्वीप में, मत्स्य-पुराण के अनुसार, पर्वत और नदियाँ है यहाँ के अधिवासी पवित्र, चिरजीवी, सौम्य, और सदा प्रसन्न रहने वाले हैं। वे कभी अकाल या अभाव से कष्ट नहीं पाते, क्योंकि उनका आहार उनको, बिना परिश्रम करने के, केवल इच्छा करने पर ही प्राप्त हो जाता है। वे माता के गर्भ से पैदा नहीं होते वे कभी रोगी और शोकाकुल नहीं होते। उन्हें राजाओं के शासन का प्रयोजन नहीं, क्योंकि उनमें सम्पत्ति के लिए कामना का नामोनिशान नहीं। वे सन्तुष्ट और सुरक्षित रहते हैं; वे सदा भलाई को पसन्द और पुण्य से प्रेम करते हैं। इस द्वीप का जलावायु सरदी और गरमी में कभी नहीं बदलता, इसलिए उनको इनमें से किसी एक से भी अपनी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। वहां वर्षा नहीं होती परन्तु पृथ्वी में से उनके लिए पानी फूट-फूट कर बाहर निकलता और पर्वतों से नीचे गिरता है। यह बात इसके अगले द्वीपों में भी पाई जाती है। यहां के अधिवासियों में कोई वर्णभेद नहीं, वे सब एक ही प्रकार के हैं। उनमें से प्रत्येक ३००० वर्ष जीता है।

विष्णु-पुराण के अनुसार उनके मुख सुन्दर हैं और; वे भगवत की पूजा करते है। वे अग्नि में नैवेद्य डालते हैं और उनमें से प्रत्येक १०००० वर्ष जीता है। उनके वर्णों के नाम कपिल अरुण, पीत और कृष्ण हैं।

६—गोमेद-द्वीप

छठे या गोमेद-द्वीप में, मत्स्य-पुराण के अनुसार, दो बड़े पर्वत हैं; गाढ़े काले रंग का सुमनस्, जो कि द्वीप के सब से बड़े भाग को घेरे हुए है, और सुनहले रंग का और बहुत ऊँचा कुमुद। पिछले पर्वत में सब औषधियाँ हैं। द्वीप में दो राज्य हैं।

विष्णु-पुराण के अनुसार वहाँ के अधिवासी धर्मपरायण और पापशून्य हैं, और विष्णु का पूजन करते हैं। उनके वर्णों के नाम मृग, मागध, मानस, और मन्दग हैं। इस द्वीप का जलवायु ऐसा आरोग्यदायक और रम्य है कि स्वर्ग के रहने वाले भी यहाँ, इसके वायु की सुगन्ध के कारण, कभी-कभी आया करते हैं।

७—पुष्कर-द्वीप

सातवें, या पुष्कर-द्वीप के पूर्वी भाग में, मत्स्य-पुराण के अनुसार चित्रशाला (अर्थात् जिसकी चित्रविचित्र छत में रत्नों के सींग लगे हैं) नामक पर्वत है। इसकी उँचाई ३४००० योजन और इसकी परिधि २५००० योजन है। पश्चिम में पूर्ण चन्द्रमा के सदृश चमकता हुआ मानस पर्वत है, इसकी उँचाई ३५०००० योजन है। इस पर्वत का एक पुत्र है जो पिता की पश्चिम से रक्षा करता है। इस द्वीप के पूर्व में दो राज्य हैं जहाँ का प्रत्येक अधिवासी १०००० वर्ष जीता है। उनके लिए पृथ्वी में से उछल-उछल कर पानी निकलता है, और पर्वतों पर से नीचे गिरता है। उनके यहाँ न वर्षा होती है और न बहती हुई नदियाँ ही हैं; वे न कभी ग्रीष्म देखते हैं और न कभी हेमन्त। वर्णभेद से रहित वे सब एक ही प्रकार के हैं। उन्हें कभी दुर्भिक्ष से कष्ट नहीं उठाना पड़ता, और न वे कभी बूढ़े होते हैं। जिस वस्तु की वे कामना करते हैं वह उन्हें मिल जाती है, और पुण्य के सिवा और किसी दूसरी चीज को न जानते हुए वे सुख और शान्ति से रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों वे स्वर्ग के उपान्त में रहते हैं उनको पूर्णानन्द प्राप्त है; वे चिरकाल तक जीते और महत्वाकांक्षा से रहित हैं। इसलिए वहाँ न कोई सेवा है, न शासन है, न पाप है, न ईर्ष्या है, न विरोध है, न विवाद है, न कृषि का परिश्रम और व्यापार का उद्योग है।

विष्णु-पुराण के अनुसार, पुष्कर-द्वीप का यह नाम एक बड़े वृक्ष के कारण है जो कि न्यग्रोध भी कहलाता है। इस वृक्ष के नीचे ब्रह्म-रूप अर्थात् ब्रह्मा की मूर्ति है, जिसको देव और दानव पूजा करते हैं। यहाँ के अधिवासी आपस में बराबर हैं, कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं, चाहे वे मनुष्य हों या चाहे वे देवों से सम्बन्ध रखनेवाले कोई प्राणी हों। इस द्वीप में मानसोत्तम नाम पर एक ही पहाड़ है, जो कि गोल द्वीप पर गोलाकार खड़ा है। इसकी चोटी से दूसरे सभी द्वीप दिखाई देते हैं, क्योंकि इसकी उचाई ५०००० योजन है, और इसकी चौड़ाइ भी उतनी ही है।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

भारत की नदियाँ, उनके उद्गम-स्थान और मार्ग

वायु-पुराण के प्रमाण

वायु-पुराण, परम प्रसिद्ध बड़े बड़े पर्वतों में से, जिनका हमने मेरु पर्वत की ग्रंथियों के रूप में उल्लेख किया है, निकलने वाली नदियों की गिनती करता है। उनके अध्ययन को सुगम करने के लिये हम उनको नीचे की तालिका में दिखलाते हैं:—

मुड़कर महासागर तक पहुँच गये हैं। वहाँ इस पर्वत-शृङ्खला का कुछ अंश राम का बांध नामक स्थान पर समुद्र में घुस जाता है। निस्सन्देह इन पर्वतों में गरमी और सरदी में भारी भेद है।

हम इन नदियों के नामों को नीचे की तालिका में दिखाते हैं :—

सिन्ध या वेहन्द की नदी।	वियत्त या झेलम।	चन्द्रभाग या चन्द्राह।	बियाह, लाहौर के पश्चिम में।	इरावती, लाहौर के पूर्व में।	शतरुद्र या शतलदर।
सर्सत देश में से बहनेवाली सर्सत	जौन।	गंगा।	सरयू या सर्व।	देविका।	कुहू।
गोमती।	धुतपापा।	विशाला।	बाहुदास (!)	कौशिकी।	निश्चीरा।
गण्डकी।	लोहिता।	दिपवती।	ताम्र अरुणा।	पर्नाशा।	वेदस्मृति।
विदासनी।	चन्दना।	कवना।	परा।	चर्मण्वती।	विदिशा।
वेणुमती।	सिप्रा, जो परियात्रा से निकलती और उज्जैन से गुज़रती है।	करतोया।	ह्माहिन।		

वायु-पुरा[illegible]

में उल्लेख किया है, [illegible]विष अर्थात् काबुल राज्य की सीमा के पर्वतों से एक नदी निकलती है, जिसका नाम

के लिये हम उनको नीचे [illegible]ाओं के कारण ग़ोरवन्द है। इसमें कई उपनदियां मिलती हैं:—

[illegible] की नदी।

२. पर्वान नगर के नीचे, पञ्चोर घाटी की नदी।

३, ४. शर्वत नदी और साव नदी। साव नदी लंवगा अर्थात् लमग़ान नगर में से गुजरती है। ये दोनों द्रूत के क़िले पर ग़ोर्वन्द में जा मिलती है।

५, ६. नूर और क़ीरा नदी।

इन उपनदियो के जल से उमड़ी हुई ग़ोर्वन्द पुर्शावर नगर के सामने एक बड़ी नदी बन गई है। वहाँ इसके पूर्वी किनारों पर महनार नामक एक ग्राम है। महनार के समीप एक नाला है। इसी नाले के कारण यहाँ ग़ोर्वन्द को भी नाला ही कहते हैं। यह राजधानी अलक़न्दहार (गन्धार) अर्थात् वैहन्द के नीचे वितूर के क़िले के निकट सिन्धु नदी में जा मिली है।

बियत्त नदी, जो कि इसके पश्चिमी किनारों पर बसे हुए एक नगर के नाम पर जैलम कहलाती है, और चन्दराह नदी जहरावर के कोई पचास मील ऊपर एक-दूसरे से मिलती हैं और मुलतान के पश्चिम के साथ-साथ गुज़रती है।

बियाह नदी मुलतान के पूर्व में बहती है, और पीछे से विपक्ष और चन्दराह में मिल जाती है।

इराव नदी में कज नदी मिलती है जोकि भातुलके पहाड़ों में नगरकोट से निकलती है। इसके वाद पांचवी शतलदर (सतलज) नदी आती है।

ये पांच नदियाँ मुलतान के नीचे पञ्चनद स्थान (अर्थात् पांच नदियों के मिलने का स्थान) में मिलकर एक बृहत् जल-प्रवाह बन जाती हैं। बाढ़ के दिनों में यह नद कई बार कोई दस-दस फ़र्सख में फैल जाता है और मैदान के वृक्षों के ऊपर तक चढ़ जाता है जिससे बाद को बाढ़ों का कूड़ा-कर्कट पक्षियों के घोसलों के सदृश उनकी उच्चतम शाखाओं में मिलता है।

मुसलमान लोग इस नदी को, इसकी संयुक्त धारा के रूप में सिन्धी नगर अरोर से गुजर जाने के बाद, मिहरान की नदी कहते हैं। इस प्रकार यह सीधी बहती हुई, काफी चौड़ी होती हुई, अपने जल की पवित्रता को बढ़ाती हुई, अपने मार्ग में स्थानों को टापुओं की तरह घेरती हुई आगे बढ़ती है, और अन्त को यह अलमन्सूरा में पहुँचती है जो कि इसकी अनेक शाखाओं के बीच स्थित है, और दो स्थानों पर लोहरानी नगर के समीप, और अधिक पूर्व की ओर कच्छ प्रान्त में सिन्धु-सागर नामक स्थान पर, समुद्र में जा गिरती है।

ईरानवालों का मत

जिस प्रकार पांच नदियों के मिलाप का नाम संसार के इस भाग (पंजाब) में मिलता है, वैसे ही हम देखते हैं कि उपर्युक्त गिरि-मालाओं के उत्तर में भी इसी प्रकार का एक नाम उन नदियों के लिए व्यवहृत होता है जो वहाँ से निकल कर उत्तर की ओर बहती हैं। ये नदियाँ तिर्मिज के समीप मिलने और बल्ख की नदी बनाने के बाद सात नदियों का मिलाप कहलाती हैं। सोगदियाना के जर्दुश्तियों ने इन दो चीजों की गड़बड़ कर दी है; क्योंकि वे कहते हैं कि सारी सात नदियाँ सिन्धु हैं, और उसका ऊपर का पथ बरीदीश है। इस पर नीचे की ओर उतरता हुआ मनुष्य यदि अपना मुख पश्चिम की ओर मोड़े, तो वह सूर्य को अपनी दाईं ओर डूबता देखेगा जैसा कि हम यहाँ इसे अपने बाईं ओर डूबता देखते हैं।

भारत की विविध नदियाँ

सरंती (सरस्वती) नदी सोमनाथ के पूर्व में एक तीर की मार के अन्तर पर समुद्र में गिरती है।

जौन नदी कनौज के नीचे, जोकि इसके पश्चिम में है, गंगा से मिलती है। फिर यह सयुक्त धारा गंगा-सागर के समीप महासागर में जा गिरती है।

सरस्वती और गङ्गा के मुहानों के बीच नर्मदा नदी का मुहाना है। नदी पूर्वी पर्वतों से निकलकर दक्षिण-पश्चिमी दिशा में वहती है, और सोमनाथ के कोई साठ योजन पूर्व में, वहरोज नगर के समीप सागर में जा मिलती है

गंगा के पीछे रहव और कवीनी नदियाँ वहती हैं। ये वारी नगर के समीप सर्व नदी में जा मिलती है।

हिन्दुओं का विश्वास है कि प्राचीन काल में गंगा स्वर्ग में वहती थी, और हम आगे चलकर किसी अवसर पर बतायेंगे कि यह वहाँ से पृथ्वी पर कैसे आई।

मत्स्य-पुराण कहता है—गंगा के पृथ्वी पर आ जाने के वाद इसने अपने तईं सात शाखाओं में विभक्त कर लिया। इनमें से मध्यवर्ती ही मुख्य धारा है और इसी का नाम गंगा है। तीन शाखाएँ, नलिनी, ह्लादिनी, और पावनी पूर्व की ओर, और तीन, सीता, चक्षु, और सिन्धु पश्चिम की ओर वहने लगीं।

सीता नदी हिमवन्त से निकल कर इन देशों में से वहती है—सलिल, कर्स्तुबा, चीन, वर्बर, यवस (?), वह, पुष्कर, कुलत, माङ्गल, कवर और सांगवन्त (?); फिर यह पश्चिमी सागर में जा गरती है।

सीता के दक्षिण में चक्षुश नदी वहती है। यह इन देशों को अपने जल से सींचती है—चीन, मरु, कालिका (?), धूलिका (?), तुखार, वर्बर, काच (?) पल्हव, और बार्वञ्चत।

सिन्धु नदी इन देशों में से वहती है—सिन्धु, दरद, जिन्दुतुन्द (?), गान्धार, रूरस (?), क्रूर (?), शिवपौर, इन्द्रमरु, सबाती (?) सैन्धव, कुवत, वहीमर्वर, मर, मरून, और सुकुर्द।

गंगा नदी, जो कि मध्यवर्ती और मुख्य धारा है, इनमें से वहती है—गन्धर्व अर्थात गवैये, किन्नर, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, उर्ग अर्थात जो अपनी छातियों पर रेंगते हैं, यथा साँप, कलापग्रम, अर्थात अतीव पुण्यात्मओं का नगर, किम्पुरुष, खस (?), पर्वतनिवासी, किरात, पुलिन्दा मैदानों के शिकारी, लुटेरे, कुरु, भरत, पञ्चाल, कौपक (?), मात्स्य, मगध, ब्रह्मोत्तर, और ताम्रलिप्त। ये अच्छे और बुरे प्राणी हैं जिनके देशों में से कि गंगा वहती है। पीछे से यह विन्ध्य पर्वत की शाखाओं में घुस जाती है जहाँ कि हाथी रहते हैं, और फिर यह दक्षिणी समुद्र में जा गिरती है।

गंगा की पूर्वी शाखाओं में से ह्लादिनी इन देशों में से वहती है—निषव, ऊपकान, धीवर, प्रिषक, नीलमुख, कीकर, उष्ट्र-करण, अर्थात् वे लोग जिनके होंठ उनके कानों की तरह मुड़े हुए हैं, किरात, कलीदर, विवर्ण, अर्थात् वे-रङ्ग लोग, इनका यह नाम उनके अतीव काले होने के कारण है, कुषिकान, और स्वर्गभूमि अर्थात् स्वर्ग-सदृश देश। अन्त को यह पूर्वी सागर में जा गिरती है।

पावनी नदी कुपथ (?) को जो कि पाप-रहित हैं, इन्द्रद्युम्न-सरों अर्थात् राजा इन्द्रद्युम्न के कुण्डों को, खर-पथ, वीत्र, और सङ्कु-पथ को जल देती है। यह उद्यान-मरूर के मैदान में से, कुश-प्रावर्ण देश में से, और इन्द्रद्वीप में से वहती हुई अन्त को खारी समुद्र में जा गिरती है।

नलिनी नदी तामर, हंसमार्ग, समूहुक, और पूर्ण में से वहती है। ये सव धर्मपरायण जातियाँ हैं जो पाप से वचती हैं। तव यह पर्वतों के बीच से वहती हुई कर्ण-प्रावरण, अर्थात् वे लोग जिनके कान उनके कन्धों पर गिरते हैं, अश्व-मुख, अर्थात् घोड़े के मुख वाले लोग, पर्वतमरु अर्थात् पहाड़ी मैदान, और रूमी-मण्डल के पास से गुजराती है। अन्त को यह सागर में जा गिरती है।

विष्णु-पुराण कहता है कि मध्य पृथ्वी की बड़ी-बड़ी नदियाँ जो सागर में गिरती हैं ये हैं—अनुतपत, शिखि, दिपाप, त्रिदिवा, कर्म, अमृत और सुकृत।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

हिन्दू ज्योतिषियों के मतानुसार आकाश और पृथ्वी के आकार

इस और इसके सदृश अन्य विषयों का जो वर्णन और समाधान हिन्दुओं ने किया है वह हम मुसलमानों के समाधान और वर्णन से सर्वथा भिन्न है।

क़ुरान, सारी खोज का एक निश्चित और स्पष्ट आधार है

इन और दूसरे विषयों पर जिनका जानना मनुष्य के लिए आवश्यक है, क़ुरान के निर्णय ऐसे नहीं कि जिनको श्रोताओं के मन में सुनिश्चित निश्चय बनने के लिए किसी खेंच-तान की व्याख्या का प्रयोजन हो। मनुष्य के लिए जिन विषयों का जानना आवश्यक है उन पर क़ुरान के निर्णय दूसरी धर्म्म-स्मृतियों के पूर्ण अनुरूप हैं और साथ ही वे बिना किसी संदिग्धार्थता के पूर्णतया स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त क़ुरान में ऐसे प्रश्न नहीं जो सदा से विवाद का विषय बने रहे हों, न उसमें ऐसे प्रश्न ही हैं जिनको हल करने में सदा निराशा होती रही हो, यथा काल-निर्णय विद्या की विशेष पहेलियों के सदृश प्रश्न हैं।

इसलाम का खण्डन: १—दम्भी लोगों द्वारा

इसलाम अपने प्राथमिक समयों में पहले ही ऐसे लोगों के कपट प्रबन्धों में फँसा हुआ था जो हृदय में इसके विरोधी थे, जो साम्प्रदायिक प्रवृत्ति से इसलाम का प्रचार करते थे, जो भोले-भाले श्रोताओं को अपनी क़ुरान की प्रतियों में से वे वाक्य पढ़कर सुनाते थे जिनका एक भी शब्द ईश्वर का पैदा किया (अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान) न था। परन्तु जनता ने उनके दम्भ से धोखा खा कर उन पर विश्वास कर लिया और उनके प्रमाण से ये बातें नकल कर लीं, बल्कि उन्होंने पुस्तक के शुद्ध रूप का, जोकि उस समय तक उनके पास था, परित्याग कर दिया, क्योंकि अशिक्षितों की प्रवृत्ति सदा, प्रपंच की ओर रहती है। इस प्रकार इसलाम के विशुद्ध सिद्धान्त में इन दम्भियों ने गड़बड़ कर दी है।

२- द्वैत-वादियों-द्वारा

इसलाम को इब्नुल मुक़फ़्फ़ा, अब्दुल करीम इब्न अबीउल औजा प्रभृति मानी के अनुयायी जिन्दीकों के हाथों दूसरी विपद् का सामना करना पड़ा। ये लोग समालोचना के पिता थे। इन्होंने किसी बात को यथार्थ और किसी को उपादेय, इत्यादि, बताकर निर्बल मन वाले लोगों में एक और आदि अर्थात् अद्वितीय तथा सनातन परमेश्वर के विषय में सन्देह पैदा कर दिया और उनकी सहानुभूतियों को द्वैत-वाद की ओर फेर दिया था। साथ ही उन्होंने मानी का जीवन-चरित्र ऐसे सुचारु

रूप में जनता के सम्मुख उपस्थित किया कि वे सब उसके पक्ष में हो गये। अब इस मनुष्य ने अपने आपको अपनी साम्प्रदायिक धर्म्म-विद्या को घास-फूस तक ही परिमित नहीं रक्खा, प्रत्युत उसने जगत् के आकार के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये हैं, जैसा कि उसकी पुस्तकों से देखा जा सकता है। ये पुस्तकें जान-बूझ कर धोखा देने के लिए लिखी गई थीं। उसके विचार दूर-दूर तक फैल गये थे। उपर्युक्त दम्भी दल की कूट-रचनाओं को साथ मिला कर उन्होंने एक मत तैयार किया और उसका नाम विशेष इसलाम रक्खा, पर इस मत का परमेश्वर के साथ कोई सम्बन्ध न था। जो कोई इस मत का विरोध करता है और कुरान-प्रतिपादित आस्तिक धर्म्म को नहीं छोड़ता, उसे वे नास्तिक और धर्म-भ्रष्ट कहकर कलङ्कित करते और मृत्यु-दण्ड देते हैं, और उसे कुरान का पाठ सुनने की आज्ञा नहीं देते। उनके ये सारे कर्म फिरऔन के इन शब्दों से भी अधिक अधर्मयुक्त हैं, "मैं तुम्हारा सबसे बड़ा प्रभु हूँ (सूरा, ७९, २४,) और मैं तुम्हारे लिए सिवा अपने आपके और कोई आराध्य देव नहीं जानता" (सूर, २८, ३८)। यदि इस प्रकार के पक्षपात का भाव बना रहा और चिरकाल तक शासन करता रहा तो हम आसानी से ही कर्तव्य और प्रतिष्ठा के सीधे मार्ग से गिर पड़ेगें। परन्तु हम उस भगवान् की शरण लेते हैं जो उसको तलाश करने वाले और उसके विषय में सचाई की खोज करने वाले प्रत्येक मनुष्य के पाँव को दृढ़ करता है।

हिन्दुओं का अपने ज्योतिषियों के प्रति पूजा-भाव

हिन्दुओं की धर्म-पुस्तकों और उनके ऐतिह्यों की संहिताओं, अर्थात् पुराणों, में जगत् के आकार के विषय में ऐसे वचन मिलते हैं जो कि उनके ज्योतिषियों को ज्ञात वैज्ञानिक सत्य के सर्वथा-विपरीत हैं। इन पुस्तकों से लोगों को धार्मिक क्रियाओं के करने की विधि मालूम होती है, और इन्हीं के द्वारा फुसला कर जाति के लोक-समूह में ज्योतिष-सम्बन्धी गणनाओं और फलित-ज्योतिष-सम्बन्धी भविष्य-कथनों और चेतावनियों के लिए पूर्वानुराग पैदा किया जाता है। यह इसी का परिणाम है कि वे अपने ज्योतिषियों से बहुत प्रेम प्रकट करते हैं, और उन्हें उत्कृष्ट मनुष्य मानते हैं। उनसे मिलने को वे शुभ शकुन समझते हैं और दृढ़ विश्वास रखते हैं कि सबके सब ज्योतिषी स्वर्ग में जाते हैं, उनमें से एक भी नरक में नहीं जाता। इसके बदले में ज्योतिषी लोग अपने आपको उनकी लोकप्रिय कल्पनाओं के सदृश बनाकर उन कल्पनाओं को सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं, चाहे उनमें से बहुत सी सचाई से कितनी ही दूर क्यों न हो, और उन लोगो को ऐसी आध्यात्मिक सामग्री देते है जिसकी कि उनको आवश्यकता है। यही कारण है कि जिससे दो कल्पनायें, अशिष्ट और वैज्ञानिक, कालक्रम से एक-दूसरे में मिल गई हैं, जिससे ज्योतिषियों के सिद्धान्त—और उन्हीं की संख्या अधिक है—जो अपने अग्रगामियों की केवल नकल करते हैं, जो अपने विज्ञान का आधार ऐतिह्य को बनाते हैं और उस आधार को स्वतन्त्र वैज्ञानिक खोज का विषय नहीं बनाते, गड़बड़ और विशृङ्खलित हो गये हैं।

पृथ्वी की गोलाई, मेरु, और बडवामुख की व्यापक विवेचना

अब हम प्रस्तुत विषय पर अर्थात् आकाश और पृथ्वी के आकार पर हिन्दू-ज्योतिषियों का मत वर्णन करेंगे। उनके अनुसार, आकाश और सारी पृथ्वी गोल है, और पृथ्वी मण्डलाकार है। इसका उत्तरी अर्द्धभाग सूखी भूमि है और दक्षिणी अर्धांश जल से ढँका हुआ है। पृथ्वी का जो परिमाण आधुनिक विवेचन और यूनानी मानते हैं उससे उनके मतानुसार उसका परिमाण बड़ा है। इस परिमाण को मालूम करते हुए अपनी गणनाओं में उन्होंने अपने पौराणिक समुद्रों और द्वीपों,

और उनमें से प्रत्येक के साथ लगाई हुई योजनों की बड़ी-बड़ी संख्याओं का जिक्र तक नहीं किया। ज्योतिषी लोग प्रत्येक ऐसी बात में जो उनकी विद्या पर आक्रमण नहीं करती, धर्म-पण्डितों का अनुकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, वे उत्तर ध्रुव के नीचे मेरु पर्वत और दक्षिण ध्रुव के नीचे वडवामुख टापू के होने की कल्पना को स्वीकार करते हैं। अब मेरु का वहाँ होना वा न होना सर्वथा अप्रासङ्गिक है, क्योंकि इसका प्रयोजन केवल चक्की के सदृश एक विशेष भ्रमण की व्याख्या के लिए है। इसकी आवश्यकता इस बात से है कि पृथ्वी के क्षेत्र पर के प्रत्येक स्थान के सदृश उसके विन्दु के रूप में आकाश में एक स्थान है। दक्षिणी टापू वडवामुख की कहानी भी उनकी विद्या को कोई हानि नहीं पहुँचाती। यद्यपि यह संभव प्रत्युत संभाव्य है कि पृथ्वी के प्रदेशों का प्रत्येक जोड़ा एक सङ्गत और अव्यवच्छिन्न एकता बनाता है, एक तो भूखण्ड के रूप में और दूसरा सागर के रूप में (और वास्तव में दक्षिण ध्रुव के नीचे ऐसा कोई टापू नहीं)। पृथ्वी के ऐसे विधान का कारण गुरुत्वाकर्षण का नियम है, क्योंकि उनके अनुसार पृथ्वी ब्रह्माण्ड का मध्य है और प्रत्येक गुरु पदार्थ इसकी ओर आकृष्ट होता है। यह बात स्पष्ट है कि गुरुत्वाकर्षण के इस नियम के कारण ही वे आकाश को भी मण्डलाकार समझते हैं।

अब हम इस विषय पर हिन्दू-ज्योतिषियों के मत, हमारे किये हुए उनके ग्रंथों के अनुवादों के अनुसार, दिखलायेंगे। यदि हमारे अनुवाद में किसी शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थों में हुआ है जो कि हमारी विद्याओं में उसके प्रचलित अर्थों से भिन्न है तो पाठकों को चाहिये कि मौलिक अर्थ (पारिभाषिक अर्थों को नहीं) को समझें क्योंकि यहाँ वही अर्थ लिया गया है।

पुलिश के सिद्धान्त का अवतरण

पुलिश अपने सिद्धान्त में कहता है—"पौलिश यूनानी एक स्थान पर कहता है कि पृथ्वी वर्तुलाकार है, और दूसरी जगह वह कहता है कि इसका आकार ढक्कन (अर्थात चपटे समक्षेत्र) का सा है। और उसके दोनों वचन सत्य हैं क्योंकि पृथ्वी का उपरितल या समक्षेत्र गोल है, और इसका व्यास एक सीधी रेखा है। परन्तु वह पृथ्वी को केवल मण्डलाकार ही मानता था। यह बात उसके ग्रंथ के अनेक वाक्यों से प्रमाणित हो सकती है। इसके अतिरिक्त, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, देव, श्रीषेण, विष्णुचन्द्र, और ब्रह्मा प्रभृति सभी विद्वान इस विषय पर सहमत हैं। यदि पृथ्वी गोल न होती, तो यह पृथ्वी पर के भिन्न-भिन्न स्थानों के अक्षों के साथ लपेटी हुई न होती, ग्रीष्म और हेमन्त में दिन और रात भिन्न भिन्न न होते, और नक्षत्र तथा उनके परिभ्रमणों की अवस्थायें उनकी वर्तमान अवस्थाओं में सर्वथा भिन्न होतीं।

पृथ्वी की स्थिति मध्य में है। यह आधी गारा और आधी पानी है। मेरु पर्वत इसके सूखे अर्धभाग में है। यह देवों का घर है; और इसके ऊपर ध्रुव है। दूसरे अर्द्धभाग में, जो पानी से ढँका हुआ है, दक्षिण ध्रुव के नीचे टापू के सदृश वड़वामुख भूखण्ड है। वहाँ मेरु पर बसने वाले देवों के नातेदार नाग और दैत्य रहते हैं। इसलिए इसको दैत्यान्तर भी कहते हैं।

पृथ्वी के दो आधों; सूखे और एक-दूसरे से जुदा करनेवाली रेखा निरक्ष अर्थात अक्ष-रहित कहलाती है, क्योंकि यह हमारी विषुवत-रेखा से अभिन्न है। इस रेखा के सम्बन्ध से चार मुख्य दिशाओं में चार बड़े नगर हैं:—

यमकोटि, पूर्व में।
लंका, दक्षिण में।
रोमक, पश्चिम में।
सिद्धपुर, उत्तर में।

पृथ्वी दोनों ध्रुवों पर बँधी हुई है और मेरुदण्ड उसको थामे हुए है। जब सूर्य उस रेखा पर जाता है जो मेरु और लंका के बीच में से गुजरती है तो उस समय यमकोटि के लिए दोपहर यूनानियों के लिए आधी रात, और सिद्धपुर में साँझ होती।

इसी प्रकार आर्यभट्ट ने इन बातों का वर्णन किया है।

ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म सिद्धान्त का प्रमाण

भिल्लमाल-निवासी, ब्रह्मगुप्त अपने ब्रह्मसिद्धान्त में कहता है—पृथ्वी के आकार के विषय में लोग, विशेषत: पुराणों और धर्म पुस्तकों को पढ़ने वाले अनेक प्रकार की बातें कहते हैं। कई कहते हैं कि यह दर्पण के सदृश एक समान है, और कई कहते है कि यह प्याले की तरह खोखली है। कई दूसरे कहते हैं कि शीशे की तरह एक समान और समुद्र से घिरी हुई है। यह समुद्र एक पृथ्वी से, और यह पृथ्वी एक समुद्र से घिरी हुई है, इत्यादि। ये सब कालरों की तरह गोल हैं। प्रत्येक समुद्र या पृथ्वी जिसको वह घेरती है उससे दुगनी है। सब से बाहर की पृथ्वी मध्यवर्ती पृथ्वी से चौंसठ गुनी बड़ी है, और बाहर की पृथ्वी को घेरनेवाले समुद्र मध्यवर्ती पृथ्वी को घेरने वाले समुद्र से चौंसठ गुना बड़ा है। परन्तु अनेक ऐसे व्यापार हैं जिनसे हमें पृथ्वी और आकाश को मण्डलाकार मानना पड़ता है, उदाहरणार्थ तारों का भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न समय पर उदय और अस्त होना, जिससे, जैसा कि, यमकोटि में एक मनुष्य एक तारे को पश्चिमी दिग्मंडल के ऊपर उदय होते देखता है, और रूम में वही तारा उसी समय पूर्वी दिग्मंडल पर उदय होता दिखाई देता है। इसी के लिए एक और युक्ति यह है कि मेरु पर खड़ा हुआ मनुष्य एक अभिन्न तारे को राक्षसों के देश लंका के आकाश में दिग्मंडल के ऊपर देखता है, और लंका में खड़ा मनुष्य उसी समय उस को अपने सिर पर देखता है। इसके अतिरिक्त जब तक पृथ्वी और आकाश को मण्डलाकार न माना जाय सभी ज्योतिष सम्बन्धी गणनायें ठीक नहीं ठहरतीं। इसलिए हमें कहना पड़ता है कि आकाश एक मण्डल है। क्योंकि इसमें हमें मण्डल के सभी विशेष गुण दिखाई पड़ते है, और जगत के इन विशेष गुणों का निरीक्षण शुद्ध न होगा यदि वास्तव में ही यह परिमंडल न हो। अब यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि जगत के विषय में शेष सब कल्पनायें नि:सार है।

विविध ज्योतिषियों के प्रमाण

आर्यभट्ट जगत् के स्वरूप का अन्वेषण करते हुए कहता है कि यह पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु की बनी है और इनमें से प्रत्येक तत्त्व गोल है।

इसी प्रकार वसिष्ठ और लाट कहते है कि पाँच तत्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश गोल है।

वराहमिहिर‡ कहता है कि जिन वस्तुओं की उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा होती है वे सब पृथ्वी के मण्डलाकार होने के पक्ष में प्रमाण हैं, और इसके कोई दूसरा आकार रखने की सम्भावना का खण्डन करते हैं।

---

‡ आर्यभट्ट, वसिष्ठ, लाट आदि ज्योतिषियों को ग्रन्थकार, उनके मूल ग्रन्थों द्वारा नहीं बल्कि ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों में केवल उद्धरणों द्वारा ही जानता है। यहाँ दिये वराहमिहिर के शब्द भी ब्रह्मगुप्त के ही अवतरण प्रतीत होते हैं। सम्भवत: वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका से ये लिये गये हैं। पुलिश, इस नियम का अपवाद स्वरूप है क्योंकि अलबेरुनी उसी की पुस्तक का अनुवाद कर रहा था।

आर्यभट्ट, पुलिश, वसिष्ठ और लाट सब इस बात में सहमत हैं कि जब यमकोटि में मध्याह्न होता है तो रूम में आधी रात, लङ्का में दिन का आरम्भ, और सिद्धपुर में रात का आरम्भ होता है, और जब तक पृथ्वी गोल न हो ऐसा होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार ग्रहणों की नियतकालिकता भी पृथ्वी के गोल होने से ही सिद्ध हो सकती है।

लाट कहता है—पृथ्वी के प्रत्येक स्थान से केवल आधा ही आकाश-मण्डल दिखाई देता है। जितना अधिक हमारा उत्तरी अक्ष होता है उतना ही अधिक मेरु और ध्रुव दिग्मंडल के ऊपर चढ़ जाते हैं; क्योंकि जितना अधिक हमारा दक्षिणी अक्ष होता है उतना ही अधिक वे दिग्मण्डल के नीचे डूब जाते हैं। उत्तर और दक्षिण दोनों में स्थानों का अक्ष जितना अधिक होता है उतना ही अधिक उनके क्षितिजों से विषुवत् रेखा नीची हो जाती है। जो मनुष्य विषुत् रेखा के उत्तर में है वह केवल उत्तर ध्रुव को ही देखता है, दक्षिण ध्रुव उसे दिखाई नहीं देता, और यही बात दक्षिण ध्रुव वाले मनुष्य के लिये है।

पृथ्वी की गोलाई, उत्तरी और दक्षिणी अर्धों के बीच गुरुता के तुला रहने और गुरुत्वाकर्षण पर विचार

आकाश और पृथ्वी के वर्तुलाकर, और जो कुछ उनके बीच है उसके विषय में, और इस बात के विषय में कि पृथ्वी का परिमाण, जोकि परिमण्डल के मध्य में स्थित है आकाश के दृश्य भाग के सामने केवल छोटा सा है, हिन्दु-ज्योतिषियों के ये शब्द हैं। ये विचार टोलमी कृत अलमस्ट के प्रथम अध्याय और वैसी ही दूसरी पुस्तकों में वर्णित ज्योतिष का आदि ज्ञान हैं, यद्यपि ये उस वैज्ञानिक रूप में नहीं निकाले गये जिसमें कि हम उनको निकालने के आदी है।

० ० दीमक चाट गई ० ०

क्योंकि पृथ्वी पानी से अधिक भारी, और वायु पानी के सदृश तरल है। जब तक पृथ्वी, परमेश्वर की आज्ञा से, कोई दूसरा रूप धारण नहीं करती, इसके लिए मंडलाकार एक भौतिक आवश्यकता है। इसलिए, जब तक हम यह न मान लें कि पृथ्वी का सूखी भूमि वाला अर्धभाग खोखला है, पृथ्वी उत्तर की ओर चल नहीं सकती, वह पानी दक्षिण ही की ओर चल सकता है, जिससे एक सारा अर्द्ध भाग दृढ़ भूमि नहीं होता और न दूसरा ही आधा पानी। जहाँ तक, अनुमान के आधार पर स्थित, हमारा विवेचन जाता है, शुष्क भूमि का दो उत्तरी चतुर्थांशों में से एक में होना आवश्यक है, इसलिए हम अनुमान करते हैं कि साथ के भाग की भी यही दशा है। हम मानते हैं कि वड़वामुख द्वीप का होना असम्भव नहीं, पर हम इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इसके और मेरु के विषय में जो कुछ भी हम जानते हैं उसका एक मात्र आधार पुराण है।

पृथ्वी का जो भाग हमें ज्ञात है उसमें विषुवत रेखा कठिन भूमि और सागरके बीच की सीमा को नहीं दिखलाती। क्योंकि कई-कई स्थानों में महाद्वीप समुद्र में बहुत दूर तक घुसता चला गया है यहाँ तक कि वह विषुवत-रेखा को भी लांघ गया है, उदाहरणार्थ पश्चिम में हबशियों के मैदान, जो कि दक्षिण में दूर तक चन्द्रमा के पर्वतों और नील नदी के स्रोत से भी परे तक; वास्तव में ऐसे प्रदेशों में जिनको कि हम ठीक तौर पर नहीं जानते, आगे को बढ़ते चले गये हैं। क्योंकि वह महाद्वीप निर्जल और अगम्य हैं, और इसी प्रकार जन्ज के सुफाला के पीछे का समुद्र भी जहाजों के

चलने के योग्य नहीं हैं। जिस जहाज ने उसमें प्रवेश करने का प्रयास किया है वह कभी वहाँ देखी बातों को सुनाने के लिये लौट कर नहीं आया।

इसके अतिरिक्त सिन्ध-प्रान्त के ऊपर भारत का एक बड़ा भाग दक्षिण की ओर बहुत गहरा आगे को बढ़ा हुआ है, और विषुवत रेखा को भी लाँघता हुआ मालूम होता है।

दोनों के बीच अरब और यमन स्थित हैं परन्तु वे दक्षिण की ओर इतने नही बढ़े कि विषुवत रेखा को लाँघ जायें।

फिर जैसे सूखी मिट्टी दूर तक समुद्र में घुस गयी है उसी प्रकार समुद्र भी सूखी भूमि में घुसा हुआ है, और इसे कई स्थानों में से तोड़ कर खाड़ियाँ और उपसागर बना रहा है। उदाहरणार्थ, समुद्र अरब के पश्चिमी किनारे के साथ-साथ सिरिया तक जीभ की तरह बढ़ा हुआ है। कुलजम के समीप यह सब से अधिक तंग है, और इससे इसका नाम कुलजम-सागर भी पड़ गया है।

समुद्र की एक दूसरी और इससे भी बड़ी शाखा अरब के पूर्व में है। इसका नाम फारस का सागर है। भारत और चीन के बीच भी समुद्र उत्तर की ओर एक बड़ी टेढ़ाई बनाता है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि इन देशों के सागर-तट की रेखा विषुवत रेखा के अनुरूप नहीं और न यही उससे अपरिवर्तनीय अन्तर पर ही रहती है।

० ० (कृमिभुक्त) ० ०

और चार नगरों का वर्णन अपने उचित स्थान में किया जायेगा।

समयों की जिस भिन्नता का उल्लेख हुआ है वह पृथ्वी के गोल और परिमंडल के मध्यवर्ती होने का एक परिणाम है। और यदि वे पृथ्वी पर इसके गोल होते हुए भी, अधिवासी मानते हैं—क्योंकि अधिवासियों के बिना नगरों की कल्पना हो ही नहीं सकती—तो पृथ्वी पर मनुष्यों के अस्तित्व का कारण प्रत्येक भारी वस्तु का उसके केन्द्र अर्थात पृथ्वी के मध्य की ओर खिंच जाना ठहरता है।

वायु और मत्स्य पुराण के प्रमाण

वायु-पुराण की बहुत सी बातें भी इसी विषय की हैं; अर्थात जब अमरावती में मध्यान्ह होता है तो वैवस्वत में सूर्योदय, सुखा में मध्यरात्रि, और विभा में सूर्यास्त होता है।

मत्स्य-पुराण की बातें भी इसी प्रकार की हैं, क्योंकि यह पुस्तक बताती है कि मेरु के पूर्व में राजा इन्द्र और उसकी स्त्री का वास-स्थान अमरावतीपुर है; मेरु के दक्षिण में सूर्य के पुत्र-यम का निवास स्थान संयमनीपुर है जहाँ कि वह मनुष्य को दन्ड और फल देता है; मेरु के पश्चिम में वरुण अर्थात पानी का निवास स्थान सुखापुर है; और मेरु के उत्तर में चन्द्रमा की नगरी विभावरीपुर है। और जब संयमनीपुर में सूर्य की स्थिति मध्यान्ह की होती है, तो वह सुखापुर में उदय और अमरावतीपुर में अस्त होता है, और विभावरीपुर में उसकी स्थिति आधी रात की होती है।

मत्स्य-पुराण से एक वचन पर ग्रन्थकर्त्ता की टीका

यदि मत्स्य-पुराण का रचयिता कहता है कि सूर्य मेरु के गिर्द घूमता है तो उसका तात्पर्य मेरु-निवासियों के गिर्द चक्की के ऐसे परिभ्रमण के इस स्वरूप के कारण, न पूर्व का और न पश्चिम

ही का पता लगता है। मेरु के अधिवासियों के लिए सूर्य एक विशेष स्थान में ही नहीं, प्रत्युत विविध स्थानों में चढ़ता है। पूर्व शब्द से रचयिता का तात्पर्य एक नगर के क्षितिज से, और पश्चिम से उसका अभिप्राय दूसरे नगर के क्षितिज से है। सम्भवतः मत्स्यपुराण के वे चार नगर ज्योतिषियों के बताये नगरों से अभिन्न हैं परन्तु लेखक ने यह नहीं बताया कि वे मेरु से कितनी दूर हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ हमने हिन्दुओं की कल्पनाओं के तौर पर बयान किया है वह बिलकुल ठीक और वैज्ञानिक रीतियों के अनुसार है; परन्तु उनका यह स्वभाव है कि वे जब कभी ध्रुव का जिक्र करते हैं तो उसके साथ ही लगते दम मेरु पर्वत का भी जिक्र कर देते हैं।

गुरुत्वाकर्षण के नियम पर ब्रह्मगुप्त और वराहमिहिर

नीची चीज के लक्षण पर हिन्दू हमारे साथ सहमत हैं, अर्थात कि यह जगत का मध्य है, परन्तु इस विषय पर उनके वाक्य सूक्ष्म हैं, विशेषतः इसलिए कि यह उन महाप्रश्नों में से एक है जिन पर कि उनके केवल बहुत बड़े विद्वान ही विचार करते हैं।

ब्रह्मगुप्त कहता है—विद्वानों ने यह विघोषित किया है कि पृथ्वी-मंडल आकाश के मध्य में हैं, और देवों का घर मेरु पर्वत, और उनके विरोधियों का घर वडवामुख जिससे दैत्यों और दानवों का सम्बन्ध है, नीचे हैं। परन्तु उनके मतानुसार यह नीचे सापेक्ष है। इसका ख्याल न करके हम कहते हैं कि पृथ्वी अपने सभी पार्श्वों में एक सी है; पृथ्वी के सभी लोग सीधे खड़े होते हैं, और सभी भारी चीजें प्रकृति के एक नियम से उसका स्वभाव है, जिस प्रकार बहना जल का, जलना अग्नि का, और हिलना हवा का स्वभाव है। यदि कोई चीज पृथ्वी से भी ज्यादा नीचे गहरा जाना चाहती है तो इसे यत्न करके देख लेने दो। पृथ्वी ही एक मात्र नीची चीज है; बीजों को चाहे किसी ओर फेंको वे सदा इसके पास ही वापस आ जायँगे, और उससे ऊपर की ओर कभी न चढ़ेंगे।

वराहमिहिर कहता है—पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वृक्ष, नगर मनुष्य और देवगण सब पृथ्वी मंडल के इर्द-गिर्द हैं। यदि यमकोटि और रूम एक दूसरे के अभिमुख है तो यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से एक दूसरे की अपेक्षा नीचा है, क्योंकि नीचा का अभाव है। मनुष्य पृथ्वी के एक स्थान के विषय में किस तरह कह सकता है कि यह नीचा है, क्योंकि यह प्रत्येक बात में पृथ्वी के प्रत्येक दूसरे स्थान से अभिन्न है और एक स्थान उतना ही थोड़ा गिर सकता है जितना कि दूसरा। प्रत्येक मनुष्य अपनी ही अपेक्षा से अपने आपको कहता है, मै ऊपर हूं और दूसरे नीचे, परन्तु वे सब लोग पृथ्वी-मंडल के गिर्द कदम्ब-वृक्ष की शाखाओं पर उगनेवाले पुष्पों के सदृश हैं। वे इसको सब ओर से घेरे हुए हैं, परन्तु प्रत्येक पुष्प की स्थिति के ही सदृश है, न एक नीचे को लटक रहा है और न दूसरा सीधा ऊपर को खड़ा है। कारण यह है कि पृथ्वी अपने ऊपर की प्रत्येक वस्तु को आकर्षित करती है, क्योंकि यह सब तरफों से नीचे, और आकाश सब ओर ऊपर है।

बलभद्र के अवतरण पर ग्रन्थकार की आलोचना

पाठक देखेंगे कि हिन्दुओं के ये सिद्धान्त प्राकृतिक नियमों के यथार्थ ज्ञान पर अवलम्बित हैं परन्तु साथ ही वे अपने धर्मपंडितों और ऐतिह्य-वादियों के साथ थोड़ा सा छल भी करते हैं। इसी लिए टीकाकार बलभद्र कहता है—लोगों की सम्मतियाँ अनेक और भिन्न-भिन्न हैं और उनमें से सब से अधिक यथार्थ सम्मति यह है कि पृथ्वी, मेरु और ज्योतिश्चक्र गोल हैं। इसके अतिरिक्त आप्त

पुराणकार† अर्थात पुराण के दृढ़ अनुयायी कहते हैं—पृथ्वी कछुवे की पीठ के सदृश है। यह नीचे से गोल नहीं। उनका यह कथन सर्वथा सत्य है क्योंकि पृथ्वी जल के बीच है और जो कुछ जल के ऊपर दिखाई देती है उसका आकार कछुवे की पीठ के सदृश है; और उसके गिर्द का समुद्र जहाजों के चलने के लायक नहीं। उसका गोल होना दृष्टि से प्रमाणित होता है।

देखिए यहाँ बलभद्र पीठ की गुलाई के विषय में धर्म पंडितों की कल्पना को किस प्रकार सत्य प्रकट करता है। वह अपने आपको इस प्रकार प्रकट करता है मानों उसे यह मालूम नहीं कि वे इस बात से इन्कार करते हैं कि गर्भाशय, अर्थात पृथ्वी मंडल का दूसरा आधा गोल है, और वह अपने आपको पौराणिक तत्व (उसके कछुवे की पीठ के सदृश होने) में ही निमग्न रखता है, जिसका कि वास्तव में विषय से कोई सम्बन्ध नहीं।

बलभद्र फिर और कहता है—मानव दृष्टि पृथ्वी और इसकी गुलाई से दूर एक बिन्दु पर ५००० योजन का ९६ वाँ भाग अर्थात ५२ योजन (ठीक ५२$\frac{१}{१२}$) पहुँचती है। अतएव मनुष्य उसकी गोलाई को नहीं देखता और इसी से इस विषय पर सम्मतियों की असंगति है।

वे धर्मपरायण मनुष्य (आप्त (?) पुराणकार) पथ्वी की पीठ की गोलाई से इन्कार नहीं करते; बल्कि वे उसकी कछुवे की पीठ से तुलना देकर गुलाई को मानते हैं। केवल बलभद्र ही (पथ्वी नीचे से गोल नहीं, इन शब्दों से) उनसे इन्कार करता है क्योंकि उसने उनके शब्दों का अर्थ यह समझा है कि वह पानी से घिरी हुई है। जो पानी से ऊपर निकली हुई है वह या तो मंडलाकार है या उलटे हुए ढोल के सदृश अर्थात गोल चौकोने खम्भे के वृत्तांश के सदृश पानी से बाहर निकला हुआ मैदान है।

इसके अतिरिक्त बलभद्र का यह कहना कि मनुष्य, कद छोटा होने के कारण, उसकी की गोलाई को नहीं देख सकता, सत्य नहीं; क्योंकि यदि मनुष्य का कद उच्चतम पर्वत के लम्ब-सूत्र के बराबर भी लम्बा होता; और यदि वह दूसरे स्थानों में जाने और भिन्न-भिन्न स्थानों में किये हुए अवलोकनों के विषय मे बुद्धि दौड़ाने के बिना केवल एक ही बिन्दु से अवलोकन करता तो भी इतनी ऊँचाई उसके किसी भी काम न आती और वह पृथ्वी की गोलाई और इसके स्वरूप का अनुभव करने में असमर्थ होता।

परन्तु इस टिप्पणी का सर्वप्रिय-कल्पना के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि उसने सादृश्य से यह परिणाम निकला था कि पृथिवी का वह पार्श्व जो गोल पार्श्व के—मेरा तात्पर्य निचले आधे से है—सामने है वह भी गोल है, और फिर यदि उसने मानव-दृष्टि की शक्ति के विस्तार के विषय में अपना सिद्धान्त इन्द्रियों की उपलब्धि के फल के तौर पर नहीं, बल्कि चिन्तन के फल के रूप में उपस्थित किया था, तो उसके सिद्धान्त में कुछ सार अवश्य मालूम होगा।

पृथ्वी पर मानवदृष्टि के विस्तार की गणना

बलभद्र ने जो मानव-चक्षु के पहुंच सकने की सीमा का लक्षण दिया है उसके विषय में हम यह गणना पेश करते हैं :—

---

† आप्त-पुराणकार—अरबी अक्षरों में इस प्रकार लिखा है कि इसका वास्तविक अभिप्राय ठीक समझ में नहीं आता। परन्तु इसका यह अन्दाज—वे सच्चे लोग जो पुराण के कथन पर चलते हैं; लगाया जा सकता है।

ह केन्द्र के गिर्द क ख पृथ्वी-मंडल है। ख देखनेवाले के खड़े होने का स्थान है; उसका कद ख ग है। इसके अतिरिक्त, हम पृथ्वी को स्पर्श करती हुई ग क रेखा खींचते हैं।

अब यह बात स्पष्ट है कि दृष्टि का क्षेत्र ख क है; जिसको हमने वृत्त का $\frac{1}{96}$ वाँ अंश, अर्थात, यदि हम वृत्त को ३६०° अंशों में विभक्त करें तो; ३$\frac{3}{4}$ अंश माना है।

मेरु-पर्वत की गणना में जिस रीति का उपयोग किया गया था उसके अनुसार हम ट क के वर्ग अर्थात् ५०६२५ को ह ट अर्थात ३४३१' पर बांटते हैं। इस तरह भागफल ट ग = ०° १४' ४५" और; देखने वाले का कद, ख ग, ०° ७' ४५" है।

हमारी गणना का आधार यह है कि पूर्ण ज्या, ह ख, ३४६८' है। परन्तु पृथ्वी की त्रिज्या, हमारे पूर्वोक्त मंडल के अनुसार, ७९५° २७' १६" (योजन) है। यदि हम ख ग को इसी माप से मापें तो यह योजन, ६ क्रोश, १०३५ गज (=५७,०३५ गज) के बराबर है। यदि हम ख ग को चार गज के बराबर मान लें, तो ज्या के नाप के अनुसार, इसका सम्बन्ध क ट से वैसा ही है जैसा कि ५७०३५ का, अर्थात उन गजों का जो कि हमने कद के नाप के तौर पर पाये हैं, ज्या के नाप के अनुसार क ट से अर्थात २२५ से है। अब यदि हम ज्या को गिनें तो हम इसे ०° ०' १" ३"' पायेंगे और इसके वृत्तांश का नाप भी इतना ही है। परन्तु पृथ्वी की गुलाई का प्रत्येक अंश १३ योजन ७ क्रोश और ३३३$\frac{1}{3}$ गज को दिखलाता है। इसलिएपृथ्वी पर दृष्टि-क्षेत्र २९१$\frac{2}{3}$ अ गज है। (एतावत)
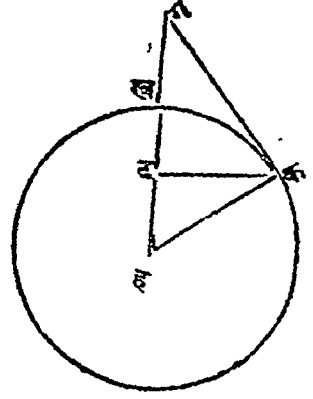
(इस गिनती की व्याख्या के लिए टीा देखिए।)

वलभद्र की इस गणना का साधन पुलिश-सिद्धान्त है, जोकि वृत्त के चौथाई खण्ड-मण्डल को २४ कर्दजात में बांटता है। वह कहता है—"यदि कोई इसके लिए उपाय पूछे तो उसे जानना चाहिए कि इनमें से हर एक कर्दजात वृत्त का $\frac{1}{96}$ भाग = २२५ मिनट (= ३$\frac{3}{4}$ अंश) है और यदि हम उसकी ज्या को गिने तो हम इसे भी २२५ मिनटों के बराबर पाते हैं।" इससे मालूम होता है कि जो भाग इस कर्दज से छोटे हैं उनमें ज्यायें अपने वृत्तांशों के बराबर हैं। और, क्योंकि आर्यभट्ट और पुलिश के अनुसार, पूर्ण ज्या का ३६० अंशों के वृत्त के साथ व्यास का सम्बन्ध है, इसलिए इस गणित-सम्बन्धिनी समानता से वलभद्र ने यह समझा कि वृत्तांश लम्ब रूप है; और कोई भी विस्तार जिसमें कोई बहिर्वर्तुलता आगे को बढ़कर दृष्टि को लांघने से नहीं रोकती और जो इतना छोटा नहीं कि दिखाई ही न दे सके, वह दिखाई देता है।

परन्तु यह बड़ी भूल है; क्योंकि वृत्तांश कभी लम्ब रूप नहीं होता और न वह ज्या ही, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो कभी वृत्तांश के बराबर होती है। यह केवल ऐसे ही अंशों के लिए स्वीकार करने योग्य है जोकि गिनती के सुभीते के लिए मान लिये गये हैं, परन्तु यह पृथ्वी के अंशों के लिए कभी और कहीं भी सत्य नहीं।

पुलिस के अनुसार पृथ्वी का मेरु-दन्ड

यदि पुलिश कहता है कि पृथ्वी एक मेरुदण्ड के सहारे है तो उसका यह मतलव नहीं कि सचमुच ही ऐसा कोई मेरुदण्ड विद्यमान है, और कि उसके विना पृथ्वी गिर पड़ेगी। वह ऐसा कैसे कह सकता था, क्योंकि उसकी सम्मति है कि पृथ्वी के आसपास चार आवाद शहर हैं, जिसकी व्याख्या इस वात से की गई है कि प्रत्येक भारी वस्तु सभी ओर से पृथ्वी की ओर नीचे गिरती है ? परन्तु पुलिश का यह मत है कि वीच के भागों के निश्चल होने का कारण परिधि-सम्वन्धी भागों की गति है, और मण्डल की गति तब ही हो सकती है जब पहले इसके दो ध्रुव और उनको मिलानेवाली एक रेखा मान ली जाय। यह रेखा कल्पना में मेरु-दण्ड है। ऐसा मालूम होता है मानों उसके कहने का आशय यह है कि आकाश की गति पृथ्वी को अपने स्थान में रखती है, और पृथ्वी के लिए इसको स्वाभाविक स्थान वनाती है, कि जिसके वाहर यह कभी हो ही नहीं सकती थी। और यह स्थान गति के मेरुदण्ड के वीच में स्थित है। मण्डल के दूसरे व्यासों की भी मेरुदण्डों के रूप में कल्पना की जा सकती है, क्योंकि उन सब में मेरुदण्ड वनने की शक्ति है, और यदि पृथ्वी एक मेरु-दण्ड के वीचों वाच से में न होती तो ऐसे मेरुदण्ड भी हो सकते थे जो पृथ्वी के वीच से न जाते। इसलिए रूपक के आधार पर कहा जा सकता है कि यह मेरु-दण्डों के सहारे है।

पृथ्वी चलती है या खड़ी है।

इसके खड़ा होने का विषय, जो कि ज्योतिष का एक प्रारम्भिक प्रश्न है, और जो अनेक वड़ी वड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित करता है, हिन्दू-ज्योतिषियों के लिए यह भी एक सिद्धान्त है। ब्रह्मगुप्त ब्रह्मसिद्धान्त में कहता है:—"कुछ लोगों की राय है कि पहली गति (पूर्व से पश्चिम को) याम्योत्तरवृत्त में नहीं है, परन्तु पृथ्वी से सम्बन्ध रखती है। किन्तु वराहमिहिर यह कह कर उनका खण्डन करता है कि यदि ऐसी अवस्था होती तो पक्षी अपने घोंसले से निकल कर पश्चिम की ओर उड़ जाने के वाद कभी भी वहाँ लौटकर न आ सकता। और वास्तव में, यथार्थ वात है भी ऐसी ही जैसी वराहमिहिर करता है।"

ब्रह्मगुप्त उसी पुस्तक में किसी दूसरे स्थान पर कहता है—आर्यभट्ट के अनुयायियों की राय है कि पृथ्वी चलती है और आकाश खड़ा है। लोगों ने उनका यह कह कर खण्डन करने का प्रयत्न किया है कि यदि ऐसी वात होती तो पत्थर और पेड़ उस पर से गिर पड़ते।"

परन्तु ब्रह्मगुप्त उनके साथ सहमत नहीं। वह कहता है कि उनके सिद्धान्त से यह परिणाम नहीं निकलता, क्योंकि वह समझता था कि सब भारी चीजें पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकर्षित हो जाती हैं। वह कहता है—"इसके अलावा यदि यह अवस्था होती, तो पृथ्वी आकाश के पलों, अर्थात् समयों के प्राणों के साथ वरावर चलने की स्पर्धा न करती।"

इस अध्याय में, शायद अनुवादक के दोष के कारण, कुछ गड़बड़ मालूम होती है। क्योंकि आकाश के पल २१६०० हैं, और प्राण अर्थात् श्वास कहलाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार याम्योत्तर वृत्त का प्रत्येक पल या मिनट साधारण मानव-श्वास के समय में घूमता है।

यदि इसको सच मान लिया जाय, और यह भी लिया जाय कि पृथ्वी पूर्व की ओर का

अपना पूर्ण भ्रमण उतने प्राणों में करती है जितने में उस (ब्रह्मगुप्त) के मतानुसार आकाश करता हैं, तो हम कोई कारण नहीं देखते कि पृथ्वी को आकाश के साथ बराबर चलने से कौनसी चीज रोक सकती है।

इसके अलावा पृथवी का घूमना किसी प्रकार भी ज्योतिष के मूल्य को कम नहीं करता, क्योंकि ज्योतिष-सम्बन्धी सभी बातों का समाधान इस कल्पना के अनुसार बिलकुल वैसी ही अच्छी तरह से हो सकता है जैसा दूसरी के अनुसार। परन्तु, कई दूसरे कारण ऐसे हैं जो इसको असम्भव बनाते हैं। इस समस्या का समाधान सबसे कठिन है। क्या प्राचीन और क्या आधुनिक दोनों ज्योतिषियों ने पृथ्वी के घूमने के प्रश्न पर गहरा विचार किया है, और इसका खण्डन करने का यत्न किया है। हमने भी मिफ्ताह इल्मुल हैअ्रा (ज्योतिष की चाभी) नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें हमारा विचार है कि हम अपने अग्रगामियों से, शब्दों में नहीं तो, मज़्मून में तो हर सूरत में बढ़ गये हैं।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

पृथ्वी की गति पर विचार ज्योतिषियों तथा पुराणों के मत

गति पर पुलिश के विचार

इस विषय पर हिन्दू ज्योतिषियों से प्रायः वही विचार हैं जो कि हमारे हैं। हम उनके प्रमाण देते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि जो कुछ हम देने में समर्थ हैं वास्तव में वह बहुत अपर्याप्त है।

पुलिश कहता है—वायु स्थिर तारिकाओं के मण्डल को घुमाता है; दोनों ध्रुव इसको अपने स्थान में रखते है, और इसकी चाल मेरु पर्वत पर रहने वालों को बाईं ओर से दायीं ओर और से दायीं ओर बायीं ओर से बड़वामुख-निवासियों को मालूम होती है।

एक दूसरे स्थान पर वह कहता है—यदि कोई मनुष्य उन तारों की चाल की दिशा के बारे में पूछे जिनको हम पूर्व में उदय होते और पश्चिम की ओर घूम कर छिपते देखते हैं, तो उसे जानना चाहिये कि जिस गति को हम पश्चिमाभिमुख गति के रूप में देखते है वह देखने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न मालूम होती है। मेरु पर्वत के निवासियों को यह गति बायें से दायें को और बडवामुख के अधिवासियों को, इसके विपरीत दायें से बायें को दिखाई देती है। विषुवत रेखा के निवासियों को यह केवल पश्चिमाभिमुख, और पृथ्वी के उन खण्डों के अधिवासियों को जो, विषुवत रेखा और ध्रुवों के बीच में स्थित हैं, उनके स्थानों के न्यून या अधिक उत्तरी या दक्षिणी अक्ष के अनुसार न्यून या अधिक दबी हुई देख पड़ती है। इस सारी गति का कारण वायु है, जो मण्डलों

को घुमाना, और नक्षत्रों तथा दूसरे तारों को पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त होने के लिए बाध्य करता है। परन्तु यह केवल एक निमित्त है। तत्वतः नक्षत्रों की गतियों की चाल पूर्व की ओर है, अर्थात अलशरतान से अलबुतैन की ओर है, जिनमें से पिछला स्थान पहले के पूर्व में है। परन्तु यदि जिज्ञासु चान्द्र स्थानों को नहीं जानता, और उनकी सहायता से अपने लिए इस पूर्वाभिमुख गति की कल्पना प्राप्त करने में असमर्थ हैं तो उसे स्वयं चन्द्रमा को देखना चाहिये कि यह सूर्य से किस तरह से एक बार और दूसरी बार परे जाता है; फिर यह कैसे उसके निकट आकर अन्त को उसके साथ मिल जाता है। इससे दूसरी गति उसकी समझ में आ जायगी।

गति के विषय में बलभद्र और ब्रह्मगुप्त के मत

ब्रह्मगुप्त कहता है—पृथ्वी मंडल सम्भवतः बड़ी से बड़ी शीघ्रता के साथ बिना कभी मन्द होने के दो ध्रुवों के आस पास घूमता हुआ उत्पन्न किया गया है, और तारे वहाँ पैदा किये गये हैं जहाँ न वल्न-हूत है और न शरतान अर्थात उनके बीच के सीमान्त पर, जो कि महाविषुव हैं।

टीकाकार बलभद्र कहता है—सारा जगत ही ध्रुवों पर लटका हुआ वर्तुलाकार घूम रहा है। उसकी यह गति कल्प से आरम्भ होती है और कल्प के साथ समाप्त हो जाती हैं। परन्तु लोगों को इससे यह न कहना चाहिये कि पृथ्वी, अपनी शतत गति के कारण, अनादि और अनन्त है।

ब्रह्मगुप्त कहता है निरक्ष स्थान साठ घटिकाओं में बाँटे जाने पर, मेरु के निवासियों के लिए दिङ्मण्डल है। उनका पूर्व पश्चिम है, और उस स्थान के पीछे (विषुवत रेखा के परे) दक्षिण की ओर बडवामुख और इसको घेरने वाला सागर है। जब मंडल और तारे घूमते हैं, तो याम्योत्तरवृत (उत्तर में) देवों और (दक्षिण में) दैत्यों का सम्मिलित [?] दिङ्मंगल बन जाता है, जिसको वे इकट्ठा देखते हैं। परन्तु गति की दिशा उनको भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। जिस गति को देवता दायीं ओर की गति के रूप में देखते हैं। दैत्यों को वही बायीं ओर गति दिखाई देती है, और व्युत्क्रमेण, ठीक उसी तरह जैसे दाँयी ओर कोई चीज रखने वाले मनुष्य को, जल में, वह चीज अपने बाईं ओर दिखाई देती है। इस एकरूप-गति का कारण, जो न कभी बढ़ती है, वायु है, परन्तु यह वह साधारण वायु नहीं जिसे हम सुनते और स्पर्श करते हैं; क्योंकि साधारण वायु, तो मन्द और तेज हो जाता और बदल जाता है, परन्तु वह वायु कभी मन्द नहीं होता।

एक दूसरे स्थल पर ब्रह्मगुप्त कहता है—'वायु सारे स्थिर तारों और नक्षत्रों को पश्चिम की ओर एक ही परिभ्रमण में घुमा देता है; परन्तु तारे भी मन्द गति के साथ पूर्व की ओर इस प्रकार चलते हैं, जैसे कुम्हार के चक्कर पर धूलि-कण चक्कर के घूमने की दिशा से विपरीत दिशा में घूमता है। इस कण की जो गति दिखाई देती है वह उस गति से अभिन्न है जोकि सारे चक्कर को घुमा रही है, परन्तु इसकी व्यक्तिगत गति का अनुभव नहीं होता। इस विषय में लाट, आर्यभट्ट, और वसिष्ठ सहमत हैं, परन्तु कई लोग समझते हैं कि पृथ्वी घूम रही है और सूर्य खड़ा है। जिस गति की कल्पना मनुष्य पूर्व से पश्चिम की ओर की गति के रूप में करते हैं, देव उसकी कल्पना बायें से दायें की ओर, दैत्य दायें से बायें की ओर की गति के रूप में करते हैं।'

इस विषय पर मैंने भारतीय पुस्तकों में केवल इतना ही पढ़ा है।

वायु पृथ्वी-मण्डल का संचालक है।

मैं समझता हूँ, उन्होंने इस विषय को लोगों को समझाने और इसके अध्ययन को सुगम करने के उद्देश से ही वायु को सञ्चालक कहा है; क्योकि लोग स्वयं अपनी आंख से देखते हैं कि जब वायु पंखों वाले यन्त्रों और इस प्रकार के खिलौनों को लगता है तो उनमें गति पैदा कर देता है। परन्तु ज्योंही वे आदि संचालक (परमेश्वर) का वर्णन करने लगते हैं, तो वे एक दम नैसर्गिक वायु से, जिसका निश्चय कि इसके सारे रूपों में विशेष कारणों-द्वारा होता है, सामना करना छोड़ देते हैं। क्योंकि यद्यपि यह वस्तुओं को गति देता है, पर चलना इसका तत्त्व नहीं; और इसके अतिरिक्त, किसी दूसरी चीज के साथ संसर्ग के बिना यह चल नहीं सकता, क्योंकि वायु एक पिण्ड है, और इस पर बाह्य प्रभाव या साधन क्रिया करते हैं जिससे इसकी गति उनकी शक्ति के समान होती है।

उनके इस कथन का कि वायु नहीं ठहरता केवल यही मतलब है कि संचालक-शक्ति सदैव कार्य करती रहती है। इससे वैसा चलना या ठहरना नहीं पाया जाता जैसा कि पिण्डों के लिए उचित है। फिर, उनके इस कथन का कि यह कभी मन्द नहीं होता यह तात्पर्य है कि यह सब प्रकार की दुर्घटनाओं से रहित है; क्योंकि मन्द होना और दुर्बल होना केवल ऐसे ही पिण्डों या भूतों में पाया जाता है जो विपरीत गुणों वाले तत्वों के बने हुए हों।

इस कथन का मतलब है कि दो ध्रुव स्थिर तारों के मण्डल को रखते हैं, यह नहीं कि वे उसे गिरने से बचाये रखते हैं, बल्कि यह है कि उसकी गति को स्वाभाविक अवस्था में बनाये रखते या कायम रखते हैं। एक प्राचीन यूनानी के विषय में एक कथा है कि वह समझता था कि आकाश-गंगा किसी समय सूर्य की सड़क थी, और पीछे से उसने इसको छोड़ दिया। ऐसी बात का यह मतलब होगा कि गतियाँ नियमित न रहीं, और इससे कुछ मिलते-जुलते इस कथन का कि ध्रुवों के स्थिर तारों के मण्डल को बनाये रखने (अर्थात् उसकी रक्षा करने) की ओर लक्ष्य किया जा सकता है।

समय का सापेक्ष स्वरूप

गति की चालू स्थिति का समाप्ति के विषय में कि यह कल्प के साथ समाप्त होती है, इत्यादि बलभद्र के वाक्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है और जिसका गणित की रीति से निश्चय हो सकता है, निस्सन्देह दो कारणों से सान्त हैं—प्रथम· क्योंकि इसका आदि है और प्रत्येक संख्या एक और उसके दूनों की बनी है। खुद एक का अस्तित्व उन सब के पहले; और दूसरे क्योंकि इसके एक अंश का समय के वर्तमान निमेष में भाव है, कारण यह कि यदि भाव के सातत्य के द्वारा दिनों और रातों की संख्या बढ़ जाती है तो उनका प्रारम्भ रखना जहाँ से कि वे शुरू हुए थे आवश्यक है। यदि किसी मनुष्य का यह मत हो कि मण्डल में (उसके स्थिर गुणों के तौर पर) समय का भाव नहीं और यदि वह यह समझता हो कि दिन और रात का केवल सापेक्ष अस्तित्व है, वे केवल पृथ्वी और उसके अधिवासियों की अपेक्षा से ही विद्यमान हैं कि यदि, उदाहरणार्थ जगत् में से पृथ्वी को निकाल लिया जाय तो दिन और रात का और दिनों के बने हुए तत्व-समुच्चय को मापने की सम्भावना का भी अभाव हो जायगा।

इससे वह बलभद्र पर अप्रस्तुतानुसन्धान की आवश्यकता डालता है और उसको पहली गति का नहीं प्रत्युत दूसरी गति का कारण सिद्ध करने के लिए बाध्य करता है। दूसरी गति का कारण नक्षत्रों के चक्र हैं जिनका केवल मण्डल (आकाश) से सम्बन्ध है, पृथ्वी से नहीं। इन चक्रों को बल-भद्र कल्प शब्द से प्रकट करता है, क्योंकि इसमें वे सब शामिल हैं और इसके प्रारम्भ के साथ ही उन सब का प्रारम्भ होता है।

याम्योत्तरवृत्त साठ घटिका में विभक्त है

यदि ब्रह्मगुप्त याम्योत्तरवृत्त के विषय में कहता है कि यह साठ भागों में विभक्त है तो यह ऐसा ही है जैसे हममें से कोई कहे कि याम्योत्तरवृत्त चौबीस भागों में विभक्त है; क्योंकि समय को गिनने और मापने के लिये याम्योत्तरवृत्त एक माध्यम है। इसका परिभ्रमण चौबीस घंटे या हिन्दुओं के शब्दों में साठ घटिका (या घड़ी) रहता है। यही कारण है जो उन्होंने राशियों के उदय होने को याम्योत्तर वृत्त के समय (३६०अंशों) में नहीं, प्रत्युत घटिकाओं में गिना है।

स्थिर तारों पर विचार

यहाँ फिर ब्रह्मगुप्त कहता है कि वायु स्थिर तारों और नक्षत्रों को घुमाता है, इसके अतिरिक्त यदि वह विशेष रूप से नक्षत्रों में पूर्वाभिमुख मन्दगति ठहराता है, तो वह पाठक को यह समझाता है कि स्थिर तारों में ऐसी कोई गति नहीं होती|अन्यथा वह कहता कि उनमें भी नक्षत्रों के समान वैसी ही मन्द पूर्वाभिमुख गति होती है, इन नक्षत्रों का उनसे आकार और उस परिवर्तन के सिवा जोकि ये प्रतीत गति में दिखलाते हैं, कोई भेद नहीं। कई लोग कहते हैं कि प्राचीन लोग पहले उनकी (स्थिर तारों की) गतियों को नहीं जानते थे, बाद को चिरकाल पश्चात् उन्हें उनका पता लगा। इस सम्मति की इस बात से पुष्टि होती है कि ब्रह्मगुप्त की पुस्तक, विविध चक्रों में, स्थिर तारों के चक्रों का उल्लेख नहीं करती, और वह उनके दिखाई देने को सूर्य के अपरिवर्तनीय अंशों पर अवलम्बित करता है।

यदि ब्रह्मगुप्त यह कहता है कि विषुवत्-रेखा के अधिवासियों के लिए निम्नलिखित याद रखना चाहिए। दो ध्रुवों में से किसी एक के नीचे रहने वाला मनुष्य जिस ओर भी मुड़ता है चलते हुए आकाशस्थ पिन्ड सदा उसके समाने रहते हैं, और क्योंकि वे एक दिशा में चलते हैं, इसलिए आवश्यक तौर पर पहले वे उसके एक हाथ के सम्मुख ठहरते हैं और फिर, आगे चलते हुये एक दूसरे हाथ के सामने आ ठहरते हैं दो ध्रुवों के अधिवासियों को इस गति की दिशा, जल या दर्पण में किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब के सदृश, जहाँ कि उसकी दिशायें बदली हुई दिखाई देती हैं इसके सर्वथा विपरीत दिखाई देती है। यदि मनुष्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण में पड़े तो वह दर्शक सम्मुख खड़े मनुष्य से भिन्न दिखाई देगा। उसका दायां पार्श्व दर्शक के सामने और उसका बायां पार्श्व दर्शक के दायें पार्श्व के सामने होगा।

इसी प्रकार उत्तरी अक्ष के स्थानों के अधिवासियों के लिए घूमते हुए आकाशस्थ पिंड दक्षिण की ओर उनके सम्मुख हैं, और दक्षिणी अक्ष के स्थानों के अधिवासियों के सम्मुख वे उत्तर की ओर हैं। उनकी गति वैसी ही मालूम होती है जैसी कि वह मेरु और बडवामुख के अधिवासियों

को मालूम होती है। परन्तु विषुवत्-रेखा पर रहने वालों के लिए आकाशस्थ पिंड प्रायः उनके सिर के ऊपर घूमते हैं, जिससे वे उनको किसी दिशा में भी अपने सम्मुख नहीं कर सकते। किन्तु, वास्तव में, वे विषुत्-रेखा से थोड़ा सा विचलित होते हैं, जिससे वहाँ के लोगों के सामने दो पार्श्वों पर एकरूप गति होती है, अर्थात् दाँयें से वायें को उत्तरीय आकाशस्थ पिंडों की गति, और वायें से दाँयें दक्षिणी नक्षत्रों की गति। इसलिए उनके शरीरों में दोनों ध्रुवों के अधिवासियों की (अर्थात्-तारों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमते हुए देखने की) शक्ति संयुक्त है, और तारों को दाँयें से वाँयें या इसके विपरीत घूमते देखना सर्वथा उनकी अपनी इच्छा पर अवलम्बित है।

जब ब्रह्मगुप्त कहता है कि रेखा साठ भागों में विभक्त है तो उसका अभिप्राय विषुव्-रेखा पर खडे मनुष्य के क्षितिज में से गुज़रनेवाली रेखा से है। पुराणों के कर्त्ता आकाश को पृथ्वी पर खड़े और ठहरे हुए गुम्बज या शिखरतोरण के रूप में, और तारों को पूर्व से पश्चिम को पृथक्-पृथक् घूमते हुए भूतों के रूप में प्रकट करते हैं। इन मनुष्यों को दूसरी गति की कोई धारणा कैसे हो सकती है? और यदि उनमें ऐसी कोई धारणा होती है तो उसी श्रेणी के मनुष्यों का एक प्रतियोगी एक ही चीज़ के पृथक्-पृथक् तौर पर दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलने की सम्भावना को कैसे मान सकता है?

उनकी कल्पनाओं के विषय में जो वातें हम जानते हैं वह यहाँ वर्णन करते हैं, यद्यपि हमें मालूम है कि पाठकों को इनसे कुछ लाभ न होगा क्योंकि वे सर्वथा निरर्थक हैं।

मत्स्यपुराण से अवतरण

मत्स्यपुराण कहता है-- सूर्य और तारे दक्षिण की ओर उसी शीघ्रता से गुज़रते हैं जिससे कि एक तीर मेरु-पर्वत के गिर्द घूमता है। सूर्य कुछ उस शहतीर की तरह घूमता है जिसका सिरा कि वहुत शीघ्रता से घूमते समय जल रहा हो। सूर्य वास्तव में (रात्रि समय) छिप नही जाता, वह उस समय केवल कुछ लोगों के लिए, मेरु के चारों पार्श्वों पर चार नगरों के अधिवासियों के लिए अदृश्य हो जाता है। लोकालोक पर्वत के उत्तरी पार्श्वों से शुरु करके वह मेरु पर्वत के उत्तरी इर्द-गिर्द घूमता है; वह लोकालोक के आगे नहीं जाता, और न उसके दक्षिणी पार्श्व को ही रोशन करता है। वह रात को दिखाई नहीं देता क्योंकि वह वहुत दूर है। मनुष्य उसको १००० योजन की दूरी से देख सकता है, परन्तु जब वह इतने वड़े अन्तर पर होता है तो आँख के पर्याप्त निकट को एक छोटी सी वस्तु भी उसको देखने वाले के लिए अदृश्य वना सकती है।

जब सूर्य पुष्कर द्वीप के आकाश में होता है तो वह पृथ्वी के एक-तीसवें भाग की दूरी घण्टे के तीन-पाँचवें भाग में चलता है। इतने समय में वह २१ लक्ष और ५०००० हजार योजन अर्थात २१५०००० योजन चलता है। तब वह उत्तर की ओर मुड़ता है, उसके तय करने का अन्तर तिगुना हो जाता है। फलतः दिन लम्बे हो जाते हैं। जो सफर सूर्य एक दक्षिणी दिन में तय करता है वह ६ कोटि और १००४५ योजन है। फिर जब वह उत्तर को वापस आता और क्षीर अर्थात आकाश गङ्गा के गिर्द घूमता है तो वह एक दिन में १ कोटि और २१ लक्ष योजन चलता है।

मत्स्यपुराण की कल्पना पर समालोचना

अब पाठकों से हमारा निवेदन है कि वह देखें कि ये वातें कैसी उलझी-पुलझी हैं। यदि

मत्स्यपुराण का कर्त्ता कहता है कि तारे तीर के समान शीघ्रता से गुजरते हैं इत्यादि, तो हम समझते हैं कि यह अशिक्षित जनों के लिए एक अतिशयोक्ति है; परन्तु हमारे लिए यह कहना आवश्यक है कि तारों की सी गति केवल दक्षिण में ही नहीं, प्रत्युत उत्तर में भी है। उत्तर और दक्षिण में ऐसी सीमायें हैं जहाँ से कि सूर्य वापस मुड़ता है, और दक्षिणी सीमा से उत्तरी सीमा तक सूर्य के जाने का समय उसके उत्तरी सीमा से दक्षिणी सीमा तक जाने के समय के बराबर है। इसलिए उसकी उत्तराभिमुख गति तीर के समान शीघ्र कहलाने की वैसी ही अधिकारी है। परन्तु यहाँ उत्तरी ध्रुव के विषय में ग्रंथकार के धर्म सम्बन्धी मत का भाव मिलता है क्योंकि वह समझता है कि उत्तर ऊपर और दक्षिण नीचे है। इसलिए तारे सी-सा नामक खेल के तख्ते पर बैठे हुए बच्चों की भाँति दक्षिण की ओर नीचे जाते हैं; परन्तु, यदि ग्रंथकर्ता का अभिप्राय यहां दूसरी गति से है, जब कि वास्तव में यह पहली है, तो हमें कहना पड़ताहै कि दूसरी गति में तारे मेरु के गिर्द नहीं घूमते, और इस गति का क्षेत्र मेरु की आकाश-कक्षा की ओर चक्र का एक-बाहरवाँ झुका हुआ है।

इसके अतिरिक्त, यह उपमा जिसमें वह सूर्य की गति को जलते हुए ,शहतीर के साथ मिलाता है कितनी दूर की है ? यदि हमारा यह मत होता कि सूर्य एक अविरत गोल कालर के सदृश चलता है, तो उसकी यह उपमा इस मत का खण्डन करने के लिए उपयोगी होती। परन्तु चूँकि हम सूर्य को, एक प्रकार से, आकाश में खड़ा एक पिण्ड समझते हैं, इसलिए उसकी उपमा निरर्थक है। और यदि उसका अभिप्राय केवल इतना ही कहने का है कि सूर्य एक चक्र खींचता है तो उसका सूर्य को जलते हुए शहतीर से मिलाना प्रयोजनाधिक हैं, क्योंकि एक रस्सी के सिरे से बाँधा हुआ पत्थर भी सिर के गिर्द घुमाने से वैसा ही चक्र खींचता है (उसको जलता हुआ वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं)।

उसका यह कथन, जि सूर्य को कुछ लोगों पर चढ़ता और दूसरों पर डूबता है, सच है, परन्तु यहाँ भी वह अपने धर्म विज्ञान सम्बन्धी मतों से मुक्त नहीं। यह बात उसके लोकालोक पर्वत के उल्लेख से, और उसकी इस टिप्पणी से प्रकट होती है कि सूर्य की किरणें इसके वन्य या दक्षिणी पार्श्व पर नहीं, बल्कि मानुष या उत्तरी पार्श्व पर पड़ती हैं।

फिर रात के समय सूर्य अपने बड़े अन्तर के कारण नहीं छिप जाता, प्रत्युत इसलिए कि वह किसी चीज से—हमारे मतानुसार पृथ्वी से, और मत्स्यपुराण के कर्ता के अनुसार मेरू पर्वत से ढक जाता है। वह यह कल्पना करता है कि सूर्य मेरू के गिर्द घूमता है, और हम उसके एक पार्श्व पर हैं। फलतः सूर्य के मार्ग से हमारा अन्तर बदलता रहता है। यह मूलतः उसका अपना विचार है। इसका समर्थन पीछे के इन वचनों से होता है। सूर्य के रात्रि-समय अदृश्य होने का उसके अन्तर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

जिन संख्याओं का मत्स्यपुराण का कर्ता उल्लेख करता है, मैं समझता हूँ वे भ्रष्ट हैं, क्योंकि कोई भी गिनती इनका समर्थन नहीं करती। वह सूर्य के उत्तर के रास्ते को उसके दक्षिण के रास्ते से तिगुना बताता है, और इसी दिन की लम्बाई के भेद का कारण ठहराता है। वास्तव में दिन और रात का समाहार सदा अभिन्न होता है, और उत्तर में दिन और रात का एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध है इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उसके वचन एक ऐसे अक्ष के बतलाएं जहाँ कि गरमी का दिन ४५ घटिका, और सरदी का दिन १५ घटिका लम्बा होता है।

इसके अतिरिक्त, उसका यह कहना कि सूर्य उत्तर में शीघ्रता करता है (वहां दक्षिण की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से चलता है), प्रमाण-हीन है। उत्तरी अक्ष के स्थानों के याम्योत्तरवृत्त एक-दूसरे से बहुत जियादा अन्तर पर नहीं, क्योंकि वे ध्रुव के समीप हैं, परन्तु याम्योत्तरवृत्त ज्यों ज्यों विषुवत-रेखा के निकट होते जाते हैं त्यों-त्यों उनका एक-दूसरे से अन्तर बढ़ता जाता है। अब यदि सूर्य छोटी दूरी को तय करने के लिए जल्दी चलता है तो उसको बड़ी दूरी तय करने के लिए जितना समय लगता है उसकी अपेक्षा कम समय का प्रयोजन होगा, विशेषतः यदि इस लम्बे मार्ग पर उसका कूच मन्द हो। वास्तव में अवस्था इसके विपरीत है।

जब सूर्य पुष्कर द्वीप के ऊपर घूमता है उसके इस वाक्य का तात्पर्य मकर-संक्रान्ति की रेखा से है। इसके मतानुसार, इस रेखा पर, चाहे यह मकर संक्रान्ति हो या दूसरी, प्रत्येक दूसरे स्थान की अपेक्षा दिन लम्बा होना चाहिये। ये सब बातें अस्पष्ट हैं।

वायुपुराण का अवतरण

इसी प्रकार की भावनाएं वायुपुराण में भी पाई जाती हैं; उदाहरणार्थ, कि दक्षिण में दिन बारह मुहूर्त और उत्तर में अट्ठारह मुहूर्त है, और दक्षिण और उत्तर के बीच सूर्य का झुकाव १८३ दिन में १७२२१ योजन है अर्थात प्रत्येक दिन के लिए ९४ (१९/१८३) योजन है।

एक मुहूर्त एक घण्टे के चार पांचवें (= ४८ मिनट) के बराबर होता है। वायु पुराण का वाक्य उस अक्ष पर लागू है जहां कि सब से बड़ा दिन (१४३/५) घण्टे का होता है।

वायुपुराण के बताए योजनों की संख्याओं के विषय में यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का तात्पर्य मण्डल के दुगने झुकाव के अंश से है। उसके अनुसार चौबीस अंश हैं, इसलिए सारे मण्डल के योजन १२९१५ १/५ होंगे। और जिन दिनों में सूर्य दुगना झुकाव तय करता है, वे दिनों के अक्षांशों का कुछ ख्याल न करके जो कि प्रायः एक दिन के पांच-आठवें हैं सौर वर्ष का आधा है।

फिर, वायुपुराण कहता है कि उत्तर में सूर्य दिन के समय हौले-हौले और रात के समय तेजी से चलता है और दक्षिण में इसके विपरीत। इसलिए उत्तर में अठारह मुहूर्त भर दिन लम्बा है। ये केवल एक ऐसे व्यक्ति के शब्द हैं जिसको सूर्य की पूर्वी गति का कुछ भी ज्ञान नहीं, जो यन्त्रों से दिन के वृत्तांश को माप नहीं सकता।

विष्णुधर्म्म का अवतरण

विष्णु-धर्म कहता है—सप्तर्षि की कक्षा ध्रुव के नीचे स्थित है; उसके नीचे शनि की कक्षा; फिर बृहस्पति की; फिर मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र की। वे पूर्व की ओर चक्की की तरह एक प्रकार की एकरूप गति में जोकि प्रत्येक तारे का विशेष गुण है घूमते हैं। उनमें से कुछ तो शीघ्रता से घूमते हैं और कुछ धीरे-धीरे। अनन्त काल से मृत्यु और जीवन उन पर सहस्रों बार आते हैं।

यदि आप इस वचन की वैज्ञानिक नियमों के अनुसार परीक्षा करेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि यह सर्वथा क्रम-हीन है। सप्तर्षि को ध्रुव के नीचे और ध्रुव का स्थान आबाधित

उच्चता मानने से सप्तर्षि मेरु के निवासियों के आकाश के नीचे ठहरता है। उसका यह कथन तो सत्य है परन्तु नक्षत्रों के विषय में उसकी भूल है। क्योंकि उसके अनुसार नीचे शब्द का अर्थ पृथ्वी से बड़ी या छोटी दूरी समझा जाना चाहिए; और जब तक हम यह न मान लें कि सब नक्षत्रों में से शनि का विषुवत्-रेखा से सबके अधिक झुकाव है, उसके बाद सबसे बड़ा झुकाव बृहस्पति का है फिर मंगल, सूर्य, शुक्र,इत्यदि का और साथ ही उनके झुकाव का यह परिमाण एकरूप है, तब तक इस प्रकार अर्थ समझने से, उसका (पृथ्वी से नक्षत्रों की दूरियों के विषय में) कथन ठीक नहीं है। परन्तु यह बात सत्यता के अनुरूप नहीं।

यदि हम विष्णु-धर्म के सारे कथन का सारांश लें तो ग्रन्थकर्त्ता की इतनी बात तो ठीक है कि स्थिर तारे नक्षत्रों से उच्चतर हैं परन्तु उसका ध्रुव को स्थिर तारों से उच्चतर न मानना भूल है।

नक्षत्रों का चक्की-सदृश परिभ्रमण पश्चिम की ओर पहिली गति है न कि ग्रन्थकर्त्ता की बताई हुई दूसरी गति। उसके मतानुसार नक्षत्र उन व्यक्तियों की आत्मायें हैं जिन्होंने अपने गुणों से अभ्युदय को प्राप्त किया है और जो मानव-रूप में अपने जीवन की समाप्ति के बाद इसमें वापस आगये हैं। मेरी राय में ग्रन्थकर्त्ता सहस्त्रों बाद शब्दों में संख्या का प्रयोग इसलिए करता है कि या तो वह यह बताना चाहता था कि उनका अस्तित्व इस परिभाषा के हमारे अर्थों में अस्तित्व है, यह शक्ति से क्रिया में विकास (इसलिए परिमित और माप-द्वारा गिने जाने तथा निश्चय किये जाने के योग्य कोई वस्तु) है, या उसका उद्देश यह प्रकट करता है कि उनमें से कुछ आत्मायें मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं, और बाकी प्राप्त नहीं करतीं। इसलिए उनकी संख्या में अधिकता या न्यूनता हो सकती है, और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु परिमित रूप रखती है।

अठाइसवाँ परिच्छेद

दश दिशाओं के लक्षण

दिशाओं पर विचार

शून्य में पिण्ड। का विस्तार तीन दिशाओं में होता है— लम्बाई, चौड़ाई, और गहराई या उँचाई। किसी वास्तविक दिशा का, कल्पित का नहीं, पथ परिमित है; इसलिए इन तीन पथों को दिखलानेवाली रेखायें परिमित हैं, और इनके छः सिरों के बिन्दु या सीमायें दिशायें हैं। यदि तुम उन रेखाओं के मध्य में, अर्थात जहाँ वे एक-दूसरे को काटती हैं, एक जन्तु की कल्पना करो, जो उनमें से एक की ओर मुंह करता है, तो उस जन्तु के सम्बन्ध से ये दिशायें हैं, सामने, पीछे, दायें बायें, ऊपर, और नीचे।

यदि इन दिशाओं का जगत के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाय तो उन्हें नये नामों का प्रयोजन होता है। क्योंकि नक्षत्रों का उदय और अस्त होना दिङ्मण्डल पर अवलम्बित है और पहिली गति दिङ्मण्डल द्वारा अभिव्यक्त होती है, इसलिए दिङ्मण्डल से दिशाओं का निश्चय करना सब से जियादा आसान है। (सामने, पीछे, बाँयें और दायें के अनुरूप) चार दिशायें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तो प्रायः मालूम हैं, परन्तु जो दिशायें इनमें से प्रत्येक दो के बीच स्थित हैं वे कम मालूम हैं। ये आठ दिशायें बनती हैं और ऊपर और नीचे को मिला कर जिनकी अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं, दस दिशायें हैं।

यूनानी लोग दिशाओं का निश्चय राशियों के चढ़ने और डूबने के स्थानों से करते थे, उनको हवाओं के नाते में लाकर सोलह दिशायें प्राप्त करते थे।

अरबी लोग भी हवाओं के चलने के विन्दुओं से दिशाओं का निश्चय करते थे। दो प्रधान हवाओं के बीच चलनेवाली किसी भी हवा को वे प्रायः नकवा कहते थे। बहुत थोड़ी अवस्थाओं में वे अपने विशेष नामों से पुकारी जाती थीं।

दिशाओं के नाम रखने में हिन्दुओं ने हवा के चलने का कोई खयाल नहीं रक्खा। वे केवल चार मुख्य दिशाओं तथा उनके बीच की उपदिशाओं को पृथक्-पृथक् नामों से पुकारते हैं। इसलिए, जैसा कि नीचे के चित्र में दरसाया गया है; दिगन्तसम क्षेत्र में उनकी आठ दिशायें हैं—

दक्षिण-पश्चिम।		दक्खिन	दक्षिण-पूर्व।	
	नैऋत	दक्षिण	आग्नेय	
पश्चिम	पश्चिम	मध्य-देश	पूर्व	पूर्व
	वाव्यय	उत्तर	ऐशान	
उत्तर-पश्चिम।		उत्तर	उत्तर-पूर्व	

इनके अतिरिक्त दिगन्तसम क्षेत्र के दो ध्रुवों के लिए दो और दिशायें हैं, अर्थात ऊपर और नीचे। इनमें से पहली को उपरि और दूसरी को अधस और तल कहते हैं।

इन और अन्य जातियों में प्रचलित दिशाओं का आधार जनअनुमति है। क्योंकि दिङ्मण्डल असंख्य चक्रों-द्वारा विभक्त है, इसलिए इसके केन्द्र से पैदा होनेवाली दिशायें भी असंख्य हैं। प्रत्येक

सम्भव व्यास के दो सिरों को सामने और पीछे समझा जा सकता है, इसलिए पहले को समकोण पर काटनेवाले (और उसी क्षेत्र में स्थित) व्यास के दो सिरे दायां और बायां है।

हिन्दू कभी किसी चीज का, चाहे वह चीज बुद्धि का विषय हो और चाहे कल्पना का, उसमें मनुष्य-धर्म का आरोप किये बिना या उसे व्यक्ति के रूप में प्रकट किये बिना वर्णन नहीं कर सकते। वे एकदम उसका विवाह करते, उसकी शादी रचाते, उसकी पत्नी को गर्भवती बनाते और उसकी कोख से कुछ पैदा करा देते हैं। यही बात इस अवस्था में भी है। विष्णु-धर्म कहता है कि अत्रि तारे ने जोकि सप्तर्षि नामक तारों पर शासन करता है एक स्त्री के रूप में प्रकट की गई दिशाओं से; यद्यपि उनकी संख्या आठ है, विवाह किया, और उसकी कोख से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।

एक दूसरा ग्रन्थकर्ता कहता है—दक्ष अर्थात प्रजापति ने धर्म अर्थात पुरस्कार के साथ अपनी दस पुत्रियों अर्थात दस दिशाओं का विवाह कर दिया। उनमें से एक के अनेक बच्चे उत्पन्न हुए। वह स्त्री वसु और उसके बच्चे वासु कहलाते थे। उनमें से एक चन्द्रमा था।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे मुसलमान लोग चन्द्रमा के ऐसे जन्म पर हँसेंगे। परन्तु मैं उनको इसी प्रकार की कुछ और भी सामग्री देता हूँ। इस प्रकार उदाहरणार्थ वे बयान करते हैं—कश्यप और उसकी भार्या अदिति का पुत्र सूर्य छठे मन्वन्तर में विशाखा नक्षत्र पर उत्पन्न हुआ था; धर्म का पुत्र चन्द्रमा कृत्तिका नक्षत्र पर पैदा हुआ था; प्रजापति का पुत्र मङ्गल पूर्वाषाढा पर; चन्द्र का पुत्र बुध धनिष्ठा पर; अङ्गिरस का पुत्र बृहस्पति पूर्वफाल्गुनी पर; भृगु का पुत्र शुक्र पुष्य :पर; शनि रेवती पर; मृत्यु के देवता यम का पुत्र केतु आश्लेषा पर, और राहु रेवती पर पैदा हुआ था।

अपनी रीति के अनुसार, हिन्दू लोग दिगन्तसम क्षेत्र में आठ दिशाओं के लिए विशेष अधिष्ठाता ठराते हैं। उनको नीचे की तालिका में दिखलाया जाता है—

उनके अधिष्ठाता।	दिशायें	उनके अधिष्ठाता	दिशायें
इन्द्र।	पूर्व।	वरुण।	पश्चिम।
अग्नि।	दक्षिण-पूर्व	वायु।	उत्तर-पश्चिम।
यम।	दक्षिण।	कुरु।	उत्तर।
पृथु।	दक्षिण-पश्चिम।	महादेव।	उत्तर-पूर्व।

हिन्दू लोग इन आठ दिशाओं का एक चित्र बनाते हैं। इसको वे राहु-चक्र कहते हैं। इसके द्वारा वे जूआ खेलने के लिए शकुन या भविष्यद्वाणी लेने का यत्न करते हैं।

वह चित्र इस प्रकार है।
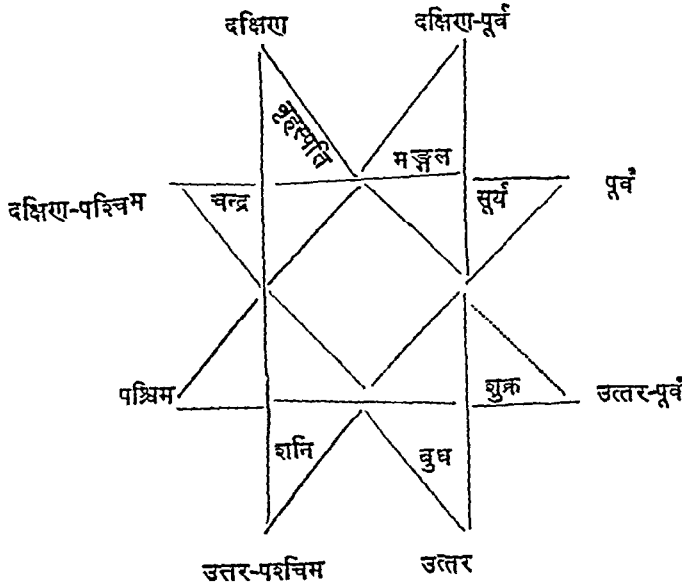
इस चित्र का उपयोग इस प्रकार होता है—पहले तुम्हें प्रस्तुत दिन का अधिष्ठाता और इस चित्रमें उसका स्थान मालूम होना चाहिए। फिर तुम्हें दिन के आठ भागों में से उस भाग को जानना चाहिए जिसमें तुम दैवयोग से उपस्थित हो। ये आठ; दिन के अधिष्ठाता से आरम्भ करके अविरत परम्परा में पूर्व से दक्षिण और पश्चिम की रेखाओं पर गिने जाते हैं। इस प्रकार तुम प्रस्तुत आठवें अधिष्ठाता को मालूम कर लेते हो। उदाहरणार्थ यदि तुम वृहस्पतिवार का पांचवां आठवां जानना चाहते हो जब कि दक्षिण में दिन का अधिष्ठाता वृहस्पति है और दक्षिण से आनेवाली रेखा उत्तर-पश्चिम में समाप्त होती है। तो हमें मालूम हो जाता है कि पहले आठवें का अधिष्ठाता वृहस्पति, दूसरे का शनि, तीसरे का सूर्य, चौथे का चन्द्र, और पांचवें का उत्तर में बुध है। इस प्रकार तुम दिन और रात से अहोरात्र के अन्त तक आठवें गिन जाते हो इस प्रकार जब दिन के उस आठवें की दिशा मालूम हो गई जिसमें कि तुम हो तो इसको वे राहु समझते हैं; और जब तुम खेलने लगो तो इस प्रकार बैठो कि यह दिशा तुम्हारी पीठ के पीछे रहे। तब तुम उनके विश्वासानुसार जीत जाओगे। पाठकों का यह काम नहीं कि वे उस मनुष्य से घृणा

करें जो ऐसे शकुन के कारण नाना खेलों में पाँसे की एक फेंक पर अपने सारे भाग्य की बाजी लगा देता है। उसके पाँसे खेलने का दायित्व उस पर छोड़ना ही पर्याप्त है।

उन्तीसवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं के मतानुसार पृथ्वी का विस्तार

वास-योग्य जगत पर ऋषि भुवन कोश की राय

भुवनकोश ऋषि की पुस्तक में लिखा है कि वासयोग्य जगत हिमवन्त से दक्षिण की ओर फैलता है और भरत नामक एक मनुष्य के कारण, जो उनका शासन और रक्षा करता था, भारतवर्ष कहलाता है। केवलवास-इस स्थान के अधिवासियों के लिए ही दूसरे जन्म में पुरस्कार और दंड नियुक्त हैं। यह नौ विभक्त भागों में है। उनको नव-खंड प्रथम कहते हैं। प्रत्येक दो खंडों के बीच एक समुद्र है जिसको वे एक खंड से दूसरे खंड में जाने के लिए पार करते हैं। वासयोग्य जगत की चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक १००० योजन है।

हिमवन्त से ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय उत्तरी पर्वतों से है, जहाँ शीत के कारण, जगत वासयोग्य नहीं रहता। इसलिए सारी सभ्यता का इन पर्वतों के दक्षिण में होना आवश्यक है।

उसके ये शब्द कि अधिवासियों को पुरस्कार और दंड मिलता है, यह प्रकट करते हैं कि कई दूसरे लोग ऐसे भी हैं जिनको पुरस्कार और दण्ड नहीं मिलता। इन प्राणियों को उसे या तो मनुष्य-पदवी से उठाकर देव-पदवी पर ले जाना चाहिए, जो कि उन तत्वों की सरलता के कारण जिनके कि वे बने हुए हैं और अपनी प्रकृति की पवित्रता के कारण ईश्वरीय आज्ञा कभी उलंघन नहीं करते और सदा भक्ति में लगे रहते हैं; या उसे उनको गिराकर निर्विवेक पशु बना देना चाहिए। इसलिए उसके अनुसार वास-स्थान (अर्थात भारतवर्ष) के बाहर मनुष्य नहीं।

केवल हिन्द ही भारतवर्ष नहीं है, जैसा हिन्दू समझते हैं, उनके अनुसार उनका देश ही जगत है और उनकी जाति ही केवल मानव-जाति है; क्योंकि हिन्द में कोई ऐसा सागर नहीं है जो उसके एक खंड को दूसरे खंड से अलग किये हुए उसके आर-पार स्थित हो। इसके अतिरिक्त, वे इन खंडों को द्वीपों से अभिन्न नहीं मानते क्योंकि ग्रन्थकार कहता है कि उन समुद्रों पर लोग एक तट से दूसरे तट पर जाते हैं। फिर, उसकी बातों से यह परिणाम निकलता है कि पृथ्वी के सारे अधिवासी और हिन्दू पुरस्कार और दन्ड के अधीन हैं, और वे एक बड़ा धर्म-समाज हैं।

नौ भाग प्रथम अर्थात् प्राथमिक भाग कहलाते हैं, क्योंकि वे अकेले हिन्द को भी नौ भागों में विभक्त करते हैं। इसलिए वास-स्थान की बाँट प्राथमिक परन्तु भारतवर्ष की बाँट गौण है। इसके अतिरिक्त, नौ भागों में एक तीसरी बाँट भी है, क्योंकि उनके फलित-ज्योतिष-वेत्ता किसी देश के शुभाशुभ स्थानों को मालूम करने का यत्न करते समय प्रत्येक देश को नौ भागों में बाँटते हैं।

वायु-पुराण का अवतरण

वायु-पुराण में भी हमें इसी प्रकार का एक ऐतिह्य मिलता है। वह यह है कि "जम्बु-द्वीप का मध्य भारतवर्ष कहलाता है, जिसका अर्थ है वे लोग जो कोई वस्तु प्राप्त करते और अपना पोषण अपने आप करते हैं। वे चार युग मानते हैं। वे पुरस्कार और दण्ड के अधीन हैं; और हिमवन्त देश के उत्तर में स्थित हैं। यह नौ भागों में विभक्त है, उनके बीच जहाजों के तैरने लायक समुद्र हैं। इसकी लम्बाई ६००० योजन, इसकी चौड़ाई १००० है; और क्योंकि यह देश सम्नार (?) भी कहलाता है, इसलिए इस पर शासन करनेवाले प्रत्येक शासक को सम्नार (?) कहते हैं। इसके नौ भागों की आकृति निम्नलिखित प्रकार की है।"

तब ग्रन्थकार पूर्व और उत्तर के बीच के खण्ड के पर्वतों, और वहाँ से निकलनेवाली नदियों का वर्णन करने लगता है, परन्तु वह इस वर्णन के आगे नहीं जाता। इससे हमें वह यह समझाता है कि उसके मतानुसार एक खण्ड वास-स्थान है। परन्तु एक दूसरे स्थल पर वह अपना खण्डन करता है, जहाँ कि वह कहता है कि जम्बू-द्वीप नव-खण्ड-प्रथम में मध्य है, और दूसरे आठ दिशाओं की ओर स्थित हैं। उन पर देवता, मनुष्य, पशु और पेड़ हैं। इन शब्दों से उसका मतलब द्वीप प्रतीत होता है।

यदि वास-स्थान की चौड़ाई १००० योजन है, तो इसकी लम्बाई अवश्य २८०० के लगभग होनी चाहिए।

फिर, वायु-पुराण प्रत्येक दिशा में स्थित नगरों और देशों का उल्लेख करता है। हम उनको तालिकाओं में दिखलायेंगे और साथ ही दूसरे स्त्रोतों से प्राप्त वैसी ही जानकारी भी देंगे, क्योंकि इस रीति से विषय का अध्ययन दूसरी रीतियों की अपेक्षा सुगमतर हो जाता है। नीचे का नकशा भारतवर्ष के सात खण्डों में बाँट को दिखाता है।

नाग द्वीप।	दक्षिण। गभस्तिमत	ताम्रवर्ण।
पश्चिम। सौम्य।	इन्द्र-द्वीप या मध्य-देश।	कशेरुमत। पूर्व।
गान्धर्व।	उत्तर।	नगर सम्वृत्त।

कूर्म-चक्र के आकार पर

हम पहले कह चुके हैं कि पृथ्वी का वह भाग जिसमें वास-स्थान स्थित है, कछुवे के सदृश है; क्योंकि इसके किनारे गोल हैं। यह पानी से ऊपर उठा हुआ और चारों ओर से पानी से घिरा हुआ है, और इसके उपरितल पर मण्डलाकार वहिर्वर्तुलत्व है। परन्तु सम्भव है कि इस नाम की उत्पत्ति यह

हो कि उनके गणित तथा फलित-ज्योतिषी दिशाओं को नक्षत्रों के अनुसार बांटते हैं। इसलिए वह देश भी नक्षत्रों के अनुसार ही बँटा हुआ है, और इस बांट को दिखलाने वाला आकार कछुवे के सदृश है। इसीलिए यह कूर्म्म-चक्र अर्थात् कछुवे का चक्र या कछुवे का आकार कहलाता है। नीचे का आकार बराहमिहिर की संहिता से लिया गया है।
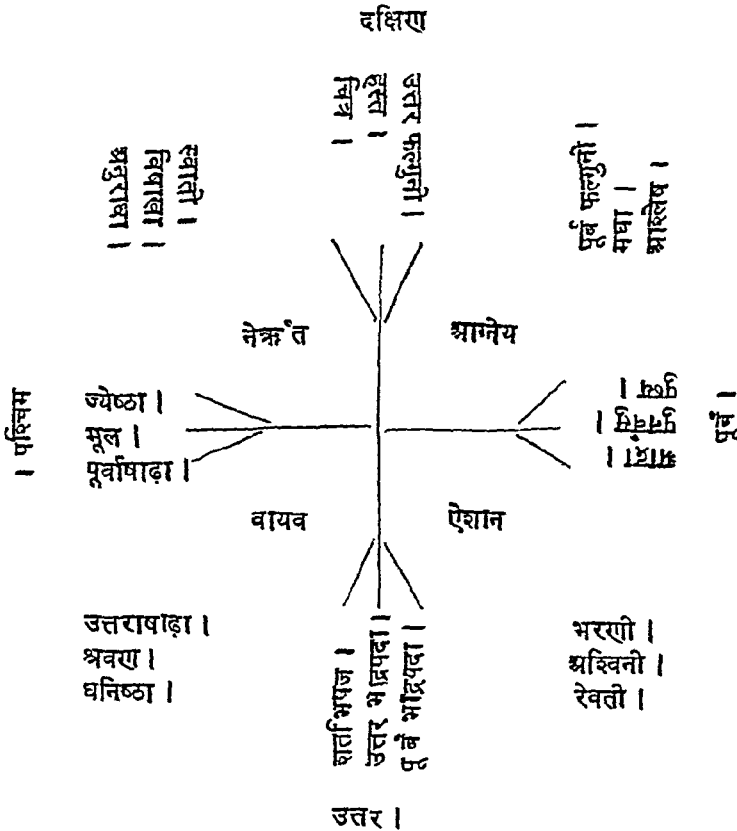
बराहमिहिर के अनुसार भारतवर्ष की बाँट

बराहमिहिर नव-खण्ड में से प्रत्येक को वर्ग कहता है। वह कहता है—"उन (वर्गों) के द्वारा भारतवर्ष, अर्थत जगत् का आधा, मध्यवर्ती; पूर्वी इत्यादि नौ भागों में बँटा हुआ है।" तब वह दक्षिण को जाता है, और इस प्रकार सारे दिङ्मण्डल के गिर्द घूमता है। वह भारतवर्ष का मतलब केवल हिन्द को ही समझता है। यह बात उसके इस कथन से प्रकट होती है कि प्रत्येक वर्ग का एक प्रदेश है, जिस पर जब कोई अनिष्टपात होता है तो उसका राजा मार डाला जाता है। इस प्रकार वर्ग और उनके प्रदेश ये हैं:— पहले वर्ग का प्रदेश पाञ्चाल है।

दूसरे वर्ग का मगध है। तीसरे वर्ग का कालिंग है।
चौथे वर्ग का अवन्ति अर्थात उज्जैन है। पाँचवे वर्ग का अनन्त है।
छठे वर्ग का सिन्धु और सौवीर है। सातवें वर्ग का हारहौर है।
आठवें वर्ग का मदुरा है। नवें वर्ग का कुलिन्द है।
ये सब प्रदेश हिन्द विशेष के हैं।

भौगोलिक नामों का परिवर्तन

इस प्रबन्ध में देशों के जो नाम दिये गये है उनमें बहुत ऐसे हैं जिनको अत्र लोग प्रायः नहीं जानते। इस विषय में काश्मीर-निवासी उत्पलसंहिता नामक पुस्तक की टीका में कहता है—"देशों के नाम , विशेषतः युगो में, बदल जाते है । इस प्रकार मुलतान पहले काश्यपपुर कहलाता था, फिर हंसपुर फिर बगपुर, फिर साम्भपुर, और फिर मूलस्थान अर्थात् असली जगह कहलाने लगा, क्योंकि मूल का अर्थ जड़ आरम्भ और स्थान का अर्थ जगह है, ।

युग समय की एक लम्बी अवधि है, परन्तु नाम जल्दी-जल्दी बदल जाते है, जब, उदाहरणार्थ, कोई भिन्न भाषा वाली विदेशी जाति देश पर अधिकार कर लेती है। तो उनकी जिह्वायें प्रायः शब्दों को चीरती-फाड़ती हैं और इस प्रकार उनको अपनी भाषा में बदल देती है, जैसा कि, उदाहरणार्थ, यूनानियों की रीति है या तो वे नामों के मूल अर्थों को बनाये रखते है, और उसके एक प्रकार के अनुवाद का यत्न करते हैं, परन्तु फिर उनमें विशेष परिवर्तन हो जाते है। इस प्रकार शाश नगर, जिसका नाम तुर्की भाषा से निकला है, जहाँ कि वह ताशकन्द अर्थात् पत्थरों का शहर कहलाता है, जाओगराफिया (भूगोल) नामक पुस्तक में पत्थरों का बुर्ज कहलाता है। इस प्रकार पुराने नामों के अनुवादों के रुप में नये नाम पैदा हो जाते हैं। या दूसरे बर्बर लोग स्थानीय नामों को लेते और बनाये रखते हैं, परन्तु ऐसी आवाजों के साथ और ऐसे रूपों में जोकि उनकी जिह्वाओं के लिए उपयुक्त है, जैसा कि अरबी लोग विदेशी नामों को अरबी बनाने में करते हैं। ये नाम उनके मुंह में कुरुप हो जाते हैं—उदाहरणार्थ, बूशङ्ग को वे अपनी पस्तकों में फूसन्ज, और और सकिलकन्द को वे अपनी राजस्व-पुस्तकों में फार्फजा (शब्दशः उद्घृत) कहते है । परन्तु इससे भी अधिक कुतूहल-जनक और विचित्र बात यह है कि अनेक बार वही भाषा उसको बोलनेवाले उन्हीं लोगों के मुंह में बदल जाती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि विलक्षण और अपरुप शब्दाकार उत्पन्न हो जाते हैं, जोकि सिवा उस व्यक्ति के जोकि व्याकरण के किसी भी नियम का पालन नहीं करता और किसी की समझ में नहीं आते। और ऐसे परिवर्तन, बिना किसी कठिन कारण या प्रयोजन के, कुछ ही वर्षों में पैदा कर दिये जाते हैं। निस्सन्देह हिन्दू यह सारा काम एक विशेष कामना की प्रेरणा से करते है। वे चाहते हैं, और वे उन पर अपनी व्युत्पत्ति के नियमों और कलाओं का उपयोग करना चाहते हैं। वे ऐसे साधनों-द्वारा प्राप्त की हुई अपनी भाषा की अति विपुलता पर अभिमान करते हैं।

देशों के नीचे दिये नाम, जो कि हमने वायु-पुराण से लिये हैं, चार दिशाओं के अनुसार क्रम में रक्खे गये हैं, परन्तु संहिता से लिये हुये नामों की व्यवस्था आठ दिशाओ के अनुसार की गई है। ये सब नाम उस प्रकार के हैं जिसका कि हमने यहाँ वर्णन किया है (अर्थात वे आजकल के प्रचलित नाम नहीं) । हम उनको इन तालिकाओं में दिखलाते हैं—

वायु-पुराण के अनुसार मध्य राज्य के जुदा-जुदा देश ।

कुरु, पांचाल, साल्व, जंगल, शूरसेन; भद्रकार (!), बोध पथेश्वर, वत्स, किसद्य, कुल्य; कुन्तल, काशी, कोशल; अर्यपाव (?), पुलिंग (!), मषक (!); वृक ।

पूर्व की जातियाँ—

अन्ध्र, वाक, मुद्रकरक, [?], प्रात्रगिर [?], बहिर्गिर, प्रथङ्ग [?] वङ्गेय, मालवर्तिक,

प्राग्ज्योतिष, मुण्ड, आविक [?] ताम्रलितिक, माल; मगध, गोविन्द [गोनन्द ?]।

दक्षिण की जातियाँ--

पाण्ड्य, केरल, चौल्य, कुल्य; सेतुक मूषिक, रुमन [?], वनवासिक; महाराष्ट्र; माहिष, कलिंग, अमीर, ईषोक, आटव्य, शवर [?], पुलिन्द्र, विन्ध्यमूलि, वैदर्भ, डंडक, मूलिक [!], अस्मक नैतिक [!] । भोगवर्धन, कुन्तल, अन्ध्र , उद्भिर, नलक, अलिक, दक्षिणात्य, वैदेश, शूर्पाकारक, कोलवन, दुर्ग, तिल्लीत; [?], पुलेय, क्राल [!] , रूपक, तामस, तरुपन [?], करस्कर, नासिक्य, उत्तरनर्मद, भानुकच्छ ?, महेय, सारस्वत [?], कच्छाय, सुराष्ट्र अनर्त्त; हुद्वुद [?] ।

पश्चिम की जातियाँ---

मलद [?], करुप, मेकल, उत्कल, उत्तमर्ण, वशार्ण [?], भोज, किष्किन्द, कोसल, तरैपुर, वैदिक, थरपुर [?], तुम्बुर, पत्तुमान [?], पध, कर्णप्रावरण [!] हून, दर्व, हूहक [!], त्रिगर्त्त, मालव, किरात, तामर ।

उत्तर की जातियाँ---

वाह्लीक [!], वाढ, वान [?], आमीर, कलतोयक, अपरान्त [?], पह्लव, चर्मखंडिक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, अर्थात मुलतान और जहरावार, मद्र, [?], शक, द्रिहाल [?], लित्त (कुलिन्द) मल्ल [?], कोदर [?], आत्रेय, भरद्व, जांगल दसेरुक [!], लम्पाक, तालकून [?], सूलिक, जागर।

कूर्म्म-चक्र के देशों के नाम, वराहमिहिर की संहिता के अनुसार ।

१. राज्य के मध्यवर्ती देशों के नाम---

भद्र, अरि, मेद, मांडव्य, साल्वनी, पोजिजहान, मरु, वत्स, घोप, यमुना की उपत्यका, सारस्वत, मत्स्य, माथुर, कोप, ज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, वजान, के समीप, उद्देहिक पांडु, गुड=थानेशर, अश्वत्थ, पंचाल, साकेत, कंक कुरु=तानेशर, कालकोटि, कुकुर, परियात्र, औदुम्बर, कपिष्ठल, गज ।

२. पूर्व के देशों के नाम---

अंजन, वृषवध्वज, पद्म-तुल्य (शब्दशः उद्धृत], व्याघ्रमुख अर्थात व्याघ्र के मुँह वाले लोग, सुह्य, कर्वट, चन्द्रपुर, शूर्पकर्ण अर्थात छलनी सदृश कानों वाले लोग, खप, मगध, शिबिर, पर्वत मिथिला, समतट, ओड्र, अश्ववदन, अर्थात घोड़े के मुँह वाले लोग, दन्तुर अर्थात लम्बे दाँतों वाले लोग, प्राग्ज्योतिष, लोहित्य, क्षीर समुद्र [अक्षरशः उद्धृत] अर्थात दूध का समुद्र, पुरुषाद, उदयगिरि अर्थात सूर्य के चढ़ने का पर्वत, भद्र, गौरक, पौण्ड्र, उत्कल, काशी, मेकल, अम्बष्ठा, एकपद, अर्थात एक पैर वाले लोग, ताम्रलिप्तिका, कौसलक, वर्धमान ।

३. दक्षिण-पूर्व [आग्नेय] के देशों के नाम---

कोसल, कलिङ्ग, वङ्ग, उपवङ्ग, जठर, अङ्ग, सौलिक, विदर्भ, वत्स, अन्ध्र, चोलिक (?), ऊर्ध्वकर्ण, अर्थात् वे लोग जिनके कान ऊपर की ओर को हैं, वृप, नालिकेर, चर्मद्वीप, विन्ध्य पर्वत, त्रिपुरी, श्मश्रुधर, हेमकूट्य, व्यालग्रीव, अर्थात् वे लोग जिनकी छातियां सांप हैं, महाग्रीव अर्थात जिनकी छातियाँ चौड़ी हैं, किपकिन्ध, वन्दरों का देश, कण्डकस्थल, निपाद, राष्ट्र, दाशार्ण, पुरिक, नग्नपर्णा, शवर ।

४. दक्षिण के देशों के नाम—

लङ्का, अर्थात पृथ्वी का गुम्बज, कालाजिन, सैरीकीर्ण (?), तालिकट, गिर्नगर, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, मालिन्द्य, भरुकच्छ, कङ्कट, तङ्कण, वनवासि, समुद्र तट पर, शिबिक, फणिकार समुद्र के समीप कोङ्कन, आभीर, आकर, वेणा नदी, अवन्ति, अर्थात उज्जैन नगरी, दशपुर, गोनर्द, केरलक, कर्णाट, महाटवि, चित्रकूट, नासिक्य, कोल्लगिरि, चोल, क्रौञ्चद्वीप, जटाधर, कौवेर्य, ऋष्यमूक, वैडूर्य, शङ्ख, मुक्त, अत्रि, वारिचर, जर्मपट्टन, द्वीप, गणराज्य, कृष्ण वैडूर्य, शिबिक, सूर्याद्रि, कुसुमनग, तुम्बवन, कार्मणेयक, याम्योदधि, तापसाश्रम, ऋषिक, काञ्ची, मरुचीपट्टन, दीवार्श (!), सिहल, ऋषभ, बलदेव पट्टन, डण्डकावण, तिमिङ्गिलाशन (?), भद्र, कच्छ, कुञ्जरदरी, ताम्रपर्ण।

५. दक्षिण-पश्चिम (नैऋत) के देशों के नाम—

काम्बोज, सिन्धु, सौवीर अर्थात मुलतान और जहरावार, वडवामुख, आरवाम्बष्ठ, कपिल, पारशव अर्थात फारस के लोग, शूद्र, वर्बर, किरात, खण्ड, क्रव्य, आभीर, चञ्चूक, हेमगिरि, सिन्धु, कालक, रैवतक, सुराष्ट्र, बादर, द्रमिड, महार्णव, नारीमुख अर्थात स्त्रियों के मुंह वाले लोग अर्थात तुर्क, आनर्त, फेणगिरि, यवन अर्थात यूनानी, मारक, कर्णप्रावरण।

६. पश्चिम के देशों के नाम—

मणिमान्, मेघवान् वनौघ, अस्तगिरि अर्थात सूर्य के छिपने का देश, अपरान्तक, शान्तिक, हैहय, प्रशस्ताद्रि, वोक्काण, पंचनद, अर्थात पाँच नदियों का संगम, मठर, पारत, तारकुति (?), जूङ्ग, वैश्य, कनक, शक, म्लेच्छ अर्थात अरबी लोग।

७. उत्तर-पश्चिम (वायव) के देशों के नाम—

माण्डव्य, तुखार, तालहल, मद्र, अश्मक, कुलूतलहड, स्त्री-राज्य अर्थात वे राज्य जिनमें आधे वर्ष से अधिक कोई पुरुष नहीं रहता, नृसिहवन अर्थात सिह के मुख वाले लोग, खस्थ अर्थात पेड़ों से पैदा हुए लोग, जो नाभि-नाल से उनके साथ लटक रहे हैं, वेनुमती (?) अर्थात तिर्मिंध, फल्गुलु, गुरुहा, मरुकुच्च, चर्मरङ्ग अर्थात रङ्गीन चमड़ों वाले लोग, एक विलोचन अर्थात एक आँख वाले लोग, सूलिक, दीर्घग्रीव अर्थात लम्बी छातियों वाले लोग जिसका अर्थ लम्बी गर्दनों वाले लोग है, दीर्घमुख अर्थात लम्बे मुखवाले लोग, दीर्घकेश अर्थात लम्बे बालों वाले लोग।

८. उत्तर के देशों के नाम—

कैलास, हिमवन्त, वसुमन्त, गिरि, धनुपमन् (!) अर्थात धनुष वाले लोग, क्रौञ्च, मेरु, कुरव, उत्तरकुरव, क्षुद्रमीन, कैकय, वसाति, यामुन अर्थात एक प्रकार के यूनानी, भोगप्रस्थ आर्जुनायन, अग्रनीत्य, आदर्श, अन्तर्द्वीप, त्रिगर्त, तुरगानन अर्थात घोड़े के मुख वाले लोग, श्वानमुख अर्थात कुत्ते के मुख वाले लोग, केशधर, चपिट-नासिक अर्थात चपटी नाक वाले, दासेर, कवाटधान, शरधान, तक्षशिला, अर्थात मारीकल, पुष्कला-वती अर्थात पूकल, कैलावत, कण्ठधान, अम्बर, मद्रक, मालव, पौरव, कच्छार, दण्ड, पिङ्गलक, मानहल, हूण, कोहल, शातक, माण्डव्य, भूतपुर, गान्धार, यशोवति, हेमताल, राजन्य, खजर, यौधेय, दासमेय, श्यामाक, क्षेमधूर्त (?)।

९. उत्तर-पूर्व (ऐशान) के देशों के नाम—

मेरु, कनष्ठ राज्य, पशुपाल, कीर, कश्मीर, अभि, शारद, ताङ्गण, कुलूत, सैरिन्ध; राष्ट्र, ब्रह्मपुर, दार्व, दामर, वन राज्य, किरात, चीन, कौणिन्द, भल्ल, पलोल, जटासुर, कुनठ, खष, घोष, कुचिक, एकचरण अर्थात एक पैर वाले लोग, अनुविश्व, सुवर्णभूमि अर्थात सोने की भूमि, अर्वसुधन (अक्षरशः उद्धृत) नन्दविष्ठ, पौरव, चिरनिवासन, त्रिनेत्र, अर्थात तीन आँखों वाले लोग, पुञ्जाद्रि, गन्धर्व।

रोमक, यमकोटि और सिद्धपुर

हिन्दू-ज्योतिषी वास-योग्य जगत् की द्राघिमा का निश्चय लङ्का से करते हैं जो कि ठीक मध्य में विषुव-रेखा पर स्थित है, और यमकोटि इसके पूर्व में, रोमक इसके पश्चिम में, और सिद्ध पुर विषुव-रेखा के उस भाग पर स्थित है जोकि लङ्का के अत्यन्त सम्मुख है। तारों के चढ़ने और छिपने के विषय में उनके मन्तव्यों से प्रकट होता है कि यम-कोटि और रूम का एक-दूसरे से आधे चक्र का अन्तर है। ऐसा जान पड़ता है कि वे पश्चिम (अर्थात् उत्तर अफरीका) के देशों को रूम या रोमन-राज्य के ठहराते हैं, क्योंकि रूम या वाईज़ण्टाईन यूनानी उसी समुद्र (भूमध्य-सागर) के विपरीत तटों पर रहते हैं; क्योंकि रोमन-राज्य का उत्तरी अक्ष बहुत अधिक है और यह उत्तर में ऊँचा घुस गया है। इसका कोई भी भाग दक्षिण की ओर दूर तक नहीं फैलता, और निस्सन्देह, यह कहीं भी विषुव-रेखा तक नहीं पहुँचता, जैसा कि हिन्दू रोमक के विषय में कहते हैं।

हम यहाँ लंका के विषय में और अधिक न कहेंगे [क्योंकि हम इसका वर्णन एक अलग परिच्छेद में करनेवाले हैं]। याकूब और अलफजारी के अनुसार, यम-कोटि वह देश है जहाँ समुद्र में तार नगर है। मैंने भारतीय साहित्य में इस नाम का कुछ भी पता नहीं पाया। क्योंकि कोटि का अर्थ किला और यम मृत्यु का देवता हैं, इसलिए इस शब्द को देखकर मुझे कंगदिज याद आता है, जो कि फारस वालों के कथनानुसार, समुद्र के पीछे, बहुत ही सुदूर पूर्व में कैकाऊस या जम-द्वारा निर्मित हुआ था। कैखुसरौ अफरासियाब तुर्क को ढूँढ़ते हुए समुद्र को पार करके कंगदिज में गया था, और वह अपने संन्यास और देश-निकाले के जीवन में वहाँ गया था। दिज का अर्थ फारसी भाषा में भारतीय भाषा के कोटि शब्द की तरह किला है। बल्ख के अबू मअसर ने कंगदिज को द्राघिमा का ०° या पहला याम्योत्तर वृत्त मान कर उसपर अपने भूगोल शास्त्र की नींव रक्खी है।

हिन्दुओं ने सिद्धपुर के अस्तित्व की कल्पना कैसे कर ली यह मैं नहीं जानता, क्योंकि हमारी तरह उनका विश्वास हैं कि बसे हुए आधे चक्र के पीछे ऐसे समुद्रों के सिवा और कुछ नहीं है जोकि जहाजों के चलने के लिए अयोग्य हैं।

हिन्दू लोग किसी स्थान का अक्ष किस प्रकार मालूम करते हैं इसका हमें पता नहीं लगा। वास-योग्य जगत की द्राघिमा आधा चक्र है यह सिद्धान्त उनके ज्योतिषियों में बहुत फैला हुआ है। उनका [पाश्चात्य ज्योतिषियों से] केवल उस बात पर भेद है जो कि इसका आरम्भ है। जहाँ तक हम हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को समझे हैं यदि हम उसको व्याख्या करें तो उनके रेखांश का आरम्भ उज्जैन है, जिसको वे [वास-योग्य जगत के] एक चतुर्थांश की पूर्वी सीमा समझते हैं। और दूसरे चतुर्थांश की सीमा, जैसा कि हम बाद को दो स्थानों के रेखांशों के भेद पर लिखे हुए परिच्छेदमें बयान करेंगे, सभ्य संसार के अन्त से कुछ दूरी पर पश्चिम में है।

इस विषय पर पश्चिमी ज्योतिषियों का सिद्धान्त दोहरा है। कई तो रेखांश का आरम्भ [अटलान्टिक] सागर के तट को मानते हैं और पहले चतुर्थांश का विस्तार वहाँ से वल्ख के उपान्त तक करते हैं। अब इस कल्पना के अनुसार ऐसी चीजों को मिला दिया गया है जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार शपूर्कान और उज्जैन को एक ही याम्योत्तर वृत्त पर रक्खा गया है। यह सिद्धान्त, जो सचाई के इतना कम अनुरूप है, सर्वथा मूल्य-हीन है। कई और लोग सुखियों के द्वीपों को रेखांश का आरम्भ मानते और वास-योग्य जगत के चतुर्थांश का विस्तार वहाँ से जुर्जान और निशापूर के पड़ोस तक करते हैं। ये दोनों कल्पनायें हिन्दुओं की कल्पना से सर्वथा विपरीत हैं। परन्तु इस विषय का निरूपण अधिक यथार्थ रीति से किसी अगले परिच्छेद में किया जायगा।

यदि मैं, ईश्वर की कृपा से काफी दिनों तक जीता रहा तो मैं निशापूर के रेखांश पर एक विशेष प्रबन्ध लिखूँगा, जहाँ इस विषय का पूर्ण रूप से अन्वेषण किया जायगा।

तीसवाँ परिच्छेद

लंका अर्थात पृथ्वी का गुम्बज

पृथ्वी के गुम्बज की परिभाषा

विषुव-रेखा पर पूर्व से पश्चिम तक वास-योग्य जगत् के अन्वायतन विस्तार के मध्य को (मुसलमानों के) ज्योतिषी पृथ्वी का गुम्बज कहते हैं और वह बड़ा चक्र जो ध्रुव और विषुव-रेखा के इस बिन्दु में से गुजरता है गुम्बज का याम्योत्तरवृत्त कहलाता है। परन्तु हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि पृथ्वी का स्वाभाविक आकार चाहे कैसा ही क्यों न हो इस पर कोई भी ऐसा स्थान नहीं जो अकेला दूसरे स्थानों से अलग गुम्बज नाम का अधिकारी हो; यह एक ऐसे बिन्दु को दिखलाने के लिए केवल एक उपमात्मक परिभाषा है, जिससे पूर्व और पश्चिम में वास-योग्य जगत के दोनों सिरे तुल्य अन्तर पर हैं, यह बिन्दु गुम्बज या खेमे की चोटी के सदृश है क्योंकि इस चोटी से नीचे लटकने वाली सभी चीजें (खेमे के रस्से या दीवालें) एक ही लम्बाई रखती हैं और वहाँ से उनके निचले सिरों के एक जैसे ही अन्तर होते हैं। परन्तु हिन्दू इस बिन्दु को कभी ऐसी परिभाषा से नहीं पुकारते जिसका अर्थ हमारी भाषा में गुम्बज निकले। वे केवल यह कहते हैं कि लंका वास-योग्य जगत के दो सिरों के बीच है और निरक्ष है। वहाँ रावण राक्षस ने दशरथ के पुत्र राम की स्त्री को उठा कर ले जाने के उपरान्त अपनी किला बन्दी की थी। उसका पेच घुमाव-वाला दुर्ग कहलाता है और हमारे [मुसलिम] देशों में यह यावन-कोटि कहलाता है जिसको प्रायः रोम बताया जाता है।

इस पेच-घुमाव वाले दुर्ग की कल्पना अगले पृष्ठ पर दी गई है:—
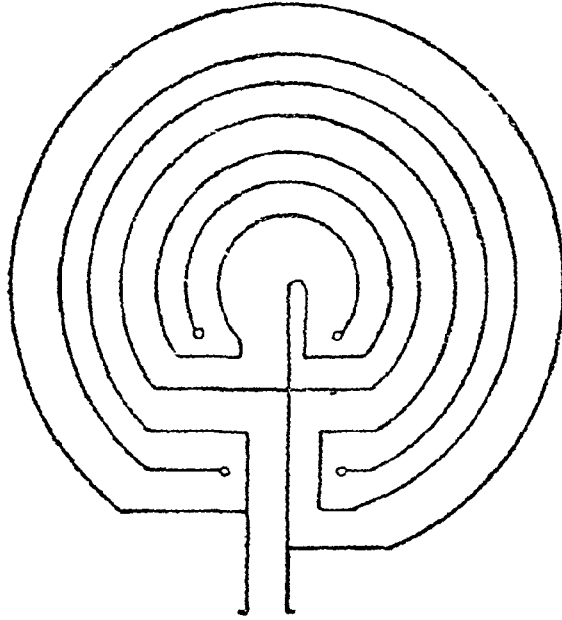
दुर्ग में जाने वाले मार्ग का द्वार

राम ने १०० योजन लम्बे बाँध पर से सागर को पार करके रावण पर आक्रमण किया था। यह बाँध उसने एक पर्वत से सेतुबन्ध अर्थात समुद्र का पुल नामक स्थान से लंका के पूर्व में बनाया था। रामने उसके साथ लड़ाई की और उसको मार डाला और राम के भाई ने रावण के भाई को मार डाला जैसा कि राम और रामायण की कथा में वर्णित है। तब उसने तीर मार कर बाँध को दस भिन्न भिन्न स्थानों से तोड़ डाला।

लंका द्वीप

हिन्दुओं के मतानुसार लङ्का राक्षसों का गढ़ है। यह पृथ्वी के ऊपर ३० योजन अर्थात् ८० फर्सख है। इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक १०० योजन है इसकी चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक उतनी ही हैं जितनी कि ऊँचाई [अर्थात् तीस]।

लङ्का और वड़वामुख द्वीप के कारण ही हिन्दू दक्षिण को अनिष्ट का अपकुशन समझते हैं। पुण्यशीलता के किसी भी काम में वे दक्षिण की ओर नहीं चलते। दक्षिण केवल दुष्ट कर्मों के सम्बन्ध में आता है।

पहला याम्योत्तर वृत

जिस रेखा पर ज्योतिष-सम्बन्धी गणनाओं का आधार [रेखांश के० °के तौर पर] जो है, लङ्का से मेरु तक एक सीधी रेखा में गुजरती है वह इन स्थानों को लाँघती है:—

[१] मालव [मालवा] में उजैन [उज्जयिनी] नगर में से।

[२] मुलतान प्रान्त में किला रोहितक के पास से जो कि अब उजाड़ है

[३] उनके देश के मध्य में कुरुक्षेत्र अर्थात् तानेश्वर [स्थानेश्वर] के मैदान में से।

[४] यमुना नदी में से जिस पर मथुरा नगरी स्थिति है।

[५] हिमवन्त के पहाड़ों में से जो सदा बर्फ से ढंके रहते हैं और जहां से उनकी नदियां निकलती हैं। उनके पीछे मेरु पर्वत है।

उज्जैन की स्थिति

उजैन नगर जिसको स्थानों के रेखाँशों की तालिकाओं में उजैन लिखा गया है और समुद्र पर स्थित बताया गया है वास्तव में समुद्र से १०० योजन के अन्तर पर है। किसी अविवेकी मुसलमान ज्योतिषी ने यह सम्मति प्रकट है कि उजैन अलजूजज़ान में अलशबूर्कान के याम्योत्तरवृत पर स्थित है परन्तु यह बात नहीं क्योकि यह अलशबूर्कान की अपेक्षा पूर्व की ओर विषुव रेखा के अनेक अंश अधिक है। उजैन के रेखांश के विषय में, विशेषतः ऐसे (मुसलिम) ज्योतिषियों में जो पूर्व और पश्चिम दोनों में, द्राधिमा के प्रथम अंश-विषयक भिन्न-भिन्न सम्मतियों को एक दूसरे के साथ मिला देते हैं, और उनको यथार्थ रीति से पहचानने में असमर्थ हैं, कुछ गड़बड़ है।

लंका और लङ्कवालूस

कोई भी माझी ऐसा नहीं जो समुद्र में उस स्थान के आस-पास फिरा हो जो लङ्का का ठहराया जाता है, जिसने उस दिशा में सफर किया हो, और फिर जिसने आकर वहां का ऐसा वर्णन सुनाया हो जो कि हिन्दुओं के सिद्धान्त के अनुसार ठीक हो या उनसे मिलता हो। वास्तव में कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं जिससे कोई चीज हमें (उससे जितनी वह हिन्दुओं के संवादों के अनुसार है) अधिक सम्भव दिखाई देने लगे। परन्तु लङ्का नाम से मेरे मन में एक सर्वथा विपरीत विचार पैदा होता है, अर्थात लौंग को लवंग इसलिये कहते हैं कि यह लंग नाम के एक देश से आता है। सारे माझियों के एकरूप वृत्तान्त के अनुसार, जो जहाज इस देश को भेजे जाते हैं वे अपनी खेप, अर्थात प्राचीन पश्चिमी दीनार और विविध प्रकार का माल, भारत के डोरिये के कपड़े, नमक, और व्यापार की अन्य सामान्य वस्तुयें नौकाओं में रखते हैं। ये माल चमड़े की चादरों पर रख कर समुद्र-तट पर रख दिये जाते हैं। प्रत्येक चादर पर उसके स्वामी के नाम का निशान रहता है। तब सौदागर अपने जहाजों पर वापस आ जाते हैं। दूसरे दिन जाकर वे मूल्य के रूप में चादरों को लौङ्गों से, थोड़ा या बहुत, जैसा कि वहाँ के अधिवासियों के पास हो, ढंका हुआ पाते हैं।

जिन लोगों के साथ यह व्यापार किया जाता है उनको कई लोग तो राक्षस कहते हैं और कई वन्य मनुष्य।

शीतला का कारण एक विशेष वायु

हिन्दू जो उन [लङ्का के] प्रान्तों के पड़ोसी हैं यह विश्वास रखते हैं कि शीतला एक वायु है जो आत्माओं को उठा कर ले जाने के लिए लङ्का द्वीप से महाद्वीप की ओर बहती है। एक वृत्तान्त के अनुसार, कई मनुष्य लोगों को इस वायु के चलने की चेतावनी पहले ही दे देते हैं, और वे ठीक तौर पर बता सकते हैं कि यह हवा देश के भिन्न भिन्न भागों में किस-किस समय

पहुंचेगी। शीतला के निकल आने के बाद वे विशेष चिन्हों में पहचान लेते हैं कि यह तीक्ष्ण है कि नहीं। उग्र शीतला को दूर करने के लिए वे एक प्रकार की चिकित्सा करते हैं जिसमें वे शरीर का एक अङ्ग नष्ट कर देते हैं, परन्तु मार नहीं डालते। औषधि के रूप में वे लौङ्गों को सुवर्ण-रेणु के साथ रोगी को पिलाते हैं; इसके अतिरिक्त, पुरुष लौङ्गों को जो कि खजूर के मगज के सदृश होते हैं, अपनी गर्दनों से बांधते हैं। यदि ये पूर्वोपाय किये जायं तो दस में से नौ मनुष्य इस रोग से बचे रहेंगे।

इनसे मैं यह समझता हूँ कि जिस लङ्का का उल्लेख हिन्दू करते हैं वह लौङ्गों के देश लंग से अभिन्न है यद्यपि उनके वर्णन पूरे नहीं उतरते। परन्तु लंग के साथ कोई व्यवहार नहीं रखा जाता, क्योंकि लोग कहते हैं कि जब दैवयोग से कोई व्यापारी इस द्वीप में पीछे रह जाय तो फिर उसका कोई चिन्ह नहीं मिलता। मेरी इस अनुमति की पुष्टि इस बात से होती है कि, राम और रामायण की पुस्तक के अनुसार सिन्ध के प्रसिद्ध देश के पीछे नर-मांसाहारी राक्षस हैं। और दूसरी ओर, यह बात सभी नाविक जानते हैं कि लंगबालूस-द्वीप * के अधिवासियों की क्रूरता और पशुतुल्यता का कारण मनुष्य-मांस-भोजन है।

इकतीसवाँ परिच्छेद

विविध स्थानों के रेखांश भेद

रेखांश मालूम करने की हिन्दू-विधि

जो मनुष्य इस विषय में विशुद्धता प्राप्त किया चाहता है, उसे दो प्रस्तुत स्थानों के याम्योत्तरवृत्तों के मण्डलों के बीच के अन्तर का निश्चय करने का यत्न करना चाहिए। मुसलिम ज्योतिषी दो याम्योत्तर वृत्तों के बीच के अन्तर के अनुरूप निरक्ष समयों द्वारा गिनते, और दो स्थानों में से एक (पश्चिमी स्थान) से गिनना आरम्भ करते हैं। निरक्ष मिनटों (प्राणों) का जो समाहार वे मालूम करते हैं वह दो द्राघिमाओं के बीच का प्रभेद कहलाता है; क्योंकि वे विषुव-रेखा के ध्रुव (जोकि वास-योग्य जगत् की सीमा माना गया है) में से गुजरनेवाले बड़े चक्र से किसी स्थान के याम्योत्तरवृत्त के अन्तर को उस स्थान का रेखांश मानते हैं, और इस पहले याम्योत्तरवृत्त के लिए उन्होंने वास-योग्य जगत् की (पूर्वी नहीं) पश्चिम सीमा चुनी है। इन निरक्ष समयों को, प्रत्येक याम्योत्तावृत्त के लिए इनकी संख्या चाहे कुछ ही क्यों न हो, चाहे चक्र के ३६० वें भाग, या, दिवा क्षणपादों के बराबर करने के लिए, इसके ६० वें भाग या फ़र्सख़; या योजन के रूप में गिना जाय, बात एक ही है।

*—लंकबालूस पुराने इतिहासकारों ने वर्तमान नीकोबार को लंगबालूस द्वीप माना है।

हिन्दू इस विषय में ऐसी विधियों का प्रयोग करते हैं जिनका आधार वही नियम नहीं जो कि हमारा है। वे सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; और चाहे वे कैसे ही भिन्न-भिन्न हों, पर यह पूर्णरूप से स्पष्ट है कि उनमें से कोई भी यथार्थ लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। जिस प्रकार हम (मुसलमान) प्रत्येक स्थान के लिए उसकी द्राघिमा लिखते हैं उसी तरह हिन्दू उज्जैन के याम्योत्तरवृत्त से उसके अन्तर के योजनों की संख्या लिखते हैं। किसी स्थान की स्थिति जितनी अधिक पश्चिम की ओर होती है उतनी ही योजनों की संख्या अधिक होती है; जितना अधिक यह स्थान पूर्व की ओर होगा उतनी ही यह संख्या कम होती है। इसको वे देशान्तर अर्थात स्थानों के बीच का भेद कहते हैं। फिर, वे देशान्तर को ग्रह (सूर्य) की औसत दैनिक गति से गुणते हैं और गुणन-फल को ४८०० पर बाँटते हैं। तब भाग फल ग्रह की गति के उस परिमाण को दिखलाता है जो प्रस्तुत योजन की संख्या के अनुरूप है, अर्थात् वह जिसे सूर्य के मध्यम स्थान में जोड़ना चाहिए।

पृथ्वी की परिधि

जिस संख्या को वे विभाजक (४८००) बनाते हैं, वह पृथ्वी की परिधि के योजनों की संख्या है, क्योंकि स्थानों के याम्योत्तरवृत्तों के गोलों के बीच के भेद का सारी पृथ्वी की परिधि के साथ वही नाता है जैसा कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक ग्रह (सूर्य) की मध्यम गति का उसके पृथ्वी के गिर्द सारे दैनिक परिभ्रमण के साथ है।

यदि पृथ्वी की परिधि ४८०० योजन है तो व्यास लगभग १५२७ होता है; परन्तु पुलिश इसको १६०० योजन, और ब्रह्मगुप्त १५८१ योजन गिनता है, एक योजन आठ मील के बराबर होता है। अलअर्कन्द * नामक ज्योतिष के गुटके में यही मूल्य १०५० दिया गया है। परन्तु, इब्न तारिक † के अनुसार, यह संख्या त्रिज्या है, और व्यास २१०० योजन है। प्रत्येक योजन चार मील के बराबर गिना गया है, और परिधि ६५९६$\frac{6}{25}$ योजन बताई गई है।

खण्ड-खाद्यक और करण तिलक के अवतरण

ब्रह्मगुप्त ने अपने खण्ड-खाद्यक नामक प्रबन्ध में पृथ्वी की परिधि के योजनायों की संख्या ४८०० मानी है, परन्तु संशोधित संस्करण में वह, इसके स्थान में, पुलिश से सम्मत, संशोधित

---

* अर्ल-अर्कन्द को अलबेरुनी ने ब्रह्मगुप्त का खण्ड-खाद्यक समझ लिया है। परन्तु अरबी शब्द की ध्वनि से यह समझ में आता है कि अर्कन्द का संस्कृत-मूल आर्यखण्ड ऐसा कोई शब्द है। अल-बेरुनी ने अरबी में स्वयं एक संशोधित संस्करण में अर्कन्द का अनुवाद किया है। क्योंकि वह अर्ल-अर्कन्द के अरबी अनुवाद के अशुद्ध होने की शिकायत करता है। अरबी में यह पुस्तक अभी तक यूरोप के पुस्तकालयों में प्राप्त नहीं है।

† इब्न तारिक—इसका पूरा नाम याकूब इब्न तारिक है। यह भारतीय ज्योतिष, काल-गणना और गणित भूगोल के क्षेत्र में अलबेरूनी का अत्यन्त प्रमुख विद्वान था। अलबेरूनी ने इसके काफी अवतरण दिये हैं।

परिधि का प्रयोग करता है। जिस संशोधन का वह प्रस्ताव करता है वह यह कि वह पृथ्वी की परिधि के योजनों के स्थान अक्ष के पूरक की ज्याओं से गुणता है, और गुणन-फल को पूर्ण ज्या पर बांटता है; तब भाग-फल पृथ्वी की संशोधित परिधि, या प्रस्तुत स्थान के समान्तर चक्र के योजनों की संख्या है। कई बार यह संख्या याम्योत्तरवृत्त का कालर कहलाती है। इससे लोग प्रायः भूल कर ४८०० योजनों को उज्जैन नगर के लिए संशोधित परिधि समझने लगते हैं। यदि हम (ब्रह्मगुप्त के संशोधन के अनुसार) गिनें तो हम उज्जैन का अक्ष १६$\frac{1}{4}$ अंश पाते हैं, पर वास्तव में यह २४ अंश है।

व्यस्त त्रैराशिक समीकरण

करणतिलक नामक पुस्तक का कर्ता यह संशोधन इस प्रकार करता है। वह पृथ्वी के व्यास को १२ से गुणता और गुणन-फल को स्थान की विषुवीय छाया पर बांटता है। शंकु का इस छाया से वही सम्बन्ध होता है जो स्थान के समान्तर चक्र की ज्या का, पूर्ण ज्या से नहीं, बल्कि स्थान के अक्ष की त्रिज्या के साथ है। यह प्रत्यक्ष है कि इस विधि का कर्ता यह समझता है कि हमारे सामने यहाँ उसी प्रकार का समीकरण है जिसको हिन्दू व्यस्त त्रैराशिक* अर्थात् उलटी गतिवाले स्थान कहते हैं। इसका एक उदाहरण यह है।

यदि एक १५ वर्ष की वेश्या का मूल्य १० दीनार हो तो ४० वर्ष की आयु में उसका क्या मूल्य होगा?

विधि यह है कि तुम पहली संख्या को दूसरी से गुणते हो (१५ गुणे १० = १५०), और गुणन-फल को तीसरी संख्या पर बांटते हो (१५० भागे ४० = ३$\frac{3}{4}$)। तब भागफल या चौथी संख्या अर्थात् ३$\frac{3}{4}$ दीनार, वृद्धावस्था में उसका मूल्य होगा।

अब करणतिलक का कर्ता, यह मालूम कर लेने के बाद कि अक्ष के साथ सीधी छाया बढ़ती है पर चक्र का व्यास घटता है, पूर्वोक्त गणना के सादृश्य के अनुसार, यह समझता था कि इस बढ़ने और घटने के बीच एक निश्चित अनुपात है। इसीलिए वह यह मानता है कि चक्र का व्यास घटता है, अर्थात् जिस परिमाण से सीधी छाया बढ़ती है उसी से वह पृथ्वी के व्यास की अपेक्षा क्रमशः छोटा होता जाता है। इससे वह संशोधित व्यास से संशोधित परिधि को आँकता है।

इस प्रकार दो स्थानों के बीच आयत-भेद मालूम करने के बाद, वह एक चान्द्रग्रहण को देखता है, और दो स्थानों में इसके दिखाई देने के समय के बीच का भेद दिवा-क्षणपादों में स्थिर करता है। पुलिश इन दिवा-क्षणपादों को पृथ्वी की परिधि से गुणता है, और गुणन-फल को ६० पर, अर्थात् दैनिक परिभ्रमण के मिनटों (या ६० वें भागों) पर बांटता है। तब भागफल दो स्थानों के बीच के अन्तर के योजनों की संख्या है।

यह गिनती ठीक है। इसका फल उस बड़े चक्र को बताता है जिस पर कि लङ्का स्थित है।

ब्रह्मगुप्त के गिनने की रीति भी, सिवा इस बात के कि वह ४८०० से गुणता है यही है। अन्य विस्तारों का पहले उल्लेख हो चुका है।

---

* व्यस्त त्रैराशिक—बीजगणित सम्बन्धी एक विशेष गणना के लिये एक वैज्ञानिक परिभाषा है। उल्टी गति वाले स्थान तथा समीकरण से इसका क्या अभिप्राय है इसे अलवेरूनी ने कहीं स्पष्ट नहीं किया है।

अलफजारी के अनुसार देशान्तर की गणना

हिन्दू-ज्योतिषियों की विधि चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, इस बात को मनुष्य साफ पहचानता है कि हिन्दू ज्योतिषियों का लक्ष क्या है। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों के अक्षों से उनकी देशान्तर की गणना ‡ के विषय में हम यही बात नहीं कह सकते। अलफजारी * ज्योतिष पर अपने प्रवन्ध में गणना का वृत्तान्त इस प्रकार दिया है—

"दो स्थानों के अक्षों की त्रिज्याओं के वर्गों को जोड़ो और उस जोड़ का वर्गमूल लो। यह मूल विभाग है।

"फिर, इन दो त्रिज्याओं के भेद को वर्ग करो और इसमें विभाग को मिलाओ। समाहार को ८ से गुणों और गुणन फल को ३७७ पर बाँटों। तब, भाग-फल स्थूल गणना के अनुसार दो स्थानों के बीच का अन्तर है।

"फिर दो अक्षों के बीच के भेद को पृथ्वी की परिधि के योजनों से गुणा करो और गुणन-फल को ३६० पर बाँटो।"

यह बात स्पष्ट है कि पिछली गणना दो अक्षरों के भेद को अंशो (डिग्रियों) और मिनटों के माप से योजनों के नाप में बदल देने के सिवा और कुछ हैं नहीं। तब वह आगे कहता है—

"अब भाग-फल का वर्ग मोटे तौर पर गिने हुए-व अन्तर के वर्ग में से निकाला जाता है, और अवशेष का तुम वर्गमूल ले लेते हो, जो सीधे योजनो को दिखाता है।"

यह प्रत्यक्ष है कि पिछली संख्या अक्ष के चक्र पर दो स्थानों के याम्योत्तरवृतों के मण्डलों के बीच के अन्तर को दिखलाती है, पर मोटे तौर पर गिनी हुई संख्या द्राघिमा में दो स्थानों के बीच का अन्तर है।

गणना की यह विधि, एक बात के सिवा, अलफजारी के वर्णन के अनुसार ही हिन्दुओं की ज्योतिष की पुस्तकों में मिलती है। जिस विभाग का उल्लेख हुआ है वह दो अक्षों की त्रिज्याओं के वर्गों के भेद का मूल है। दो अक्षों की ज्याओं के वर्गों का जोड़ नहीं। परन्तु यह विधि चाहे कुछ ही हो यह ठीक निशाने तक नहीं पहुँचती। हमने इस विषय पर विशेष रूप से लिखी हुई अपनी अनेक पुस्तकों में इसका सविस्तर वर्णन किया है, और वहाँ हमने दिखलाया है कि दो स्थानों के बीच के अन्तर और उनके बीच के द्राघिमाके भेद को केवल उनके अक्षों के द्वारा ही मालूम कर लेना असम्भव है, और केवल उसी अवस्था में ही जब इन दो चीजों में से एक चीज (दो स्थानों के बीच का अन्तर या उनकी द्राघिमाओं के बीच का भेद) मालूम हो; तब ही, इससे और दो अक्षों के द्वारा, तीसरा मूल्य मालूम हो सकता है।

देशान्तर की एक और गणना

इसी नियम पर आश्रित निम्नलिखित गणना पाई गई है, पर इस बात का कोई चिन्ह नहीं मिलता कि इसका आविष्कार किसने किया था—

---

‡ देशान्तंर की गणना—भिन्न-भिन्न स्थानों के अक्षों से उनकी देशान्तर की गणना, हमारे यहाँ के सूर्यसिद्धान्त में बड़े विस्तार पूर्वक बताया गया है। परन्तु यहाँ पर अलबेरूनी ने जो गणना दी है वह सर्वथा भ्रान्त है। क्योकि दाघिमा का अन्तर हिसाब में नहीं गिना गया है।

* अलफजारी ने ब्रह्मगुप्त लिखित ब्रह्मसिद्धान्त का अनुवाद किया है।

"दो स्थानों के अन्तर के योजनों को ६ से गुणों और गुणन-फल को ++ (क्रमि-भुक्त)* पर बाटों, इसके वर्ग और दो अक्षों के भेद का मूल निकालो। इस संख्या को ६ पर बांटों। तब इसका भागफल दो द्राघिमाओं के भेद के दिवा-क्षणपादों की संख्या है।"

यह साफ है कि इस गणना का कर्त्ता पहले (दो स्थानों के बीच का अन्तर) लेता है, तब वह उसको चक्र की परिधि के नाप में लाता है। परन्तु यदि हम इस गणना को उलटायें बड़े चक्र के भागों (या अंशो) को उसके अनुसार योजनों में बदलें तो हमें ३२०० की संख्या प्राप्त होती है, अर्थात् जो संख्या हमने अल-अर्कन्द के प्रमाण से दी है उससे १०० योजन कम है। इसका दुगना, ६४०० इब्न तारिक की बताई संख्या (अर्थात् ६५९६$\frac{९}{२५}$ के पास-पास पहुँचता है, और इससे केवल २०० योजन कम है।

अब हम कुछ स्थानों के वे अक्ष देंगे जिनको कि हम ठीक समझते हैं।

उज्जैन के याम्योत्तर वृत्त पर आर्य भट्ट की अलोचना

हिन्दुओं के सभी ग्रन्थ इस बात पर सहमत हैं कि जो रेखा लङ्का को मेरु से मिलती है वह धास-स्थान को लम्बाई के रुख पर दो आधों में बाँटती है, और वह उज्जैन नगर, किला रोहितक, यमुना नदी, तानेशर के मैदान, और ठन्डे पर्वतों में से गुजरती है। स्थानों की द्राघिमायें इस रेखा से उनके अन्तर के द्वारा मापी जाती हैं। इस विषय पर मुझे कुसुमपुर के आर्यभट्ट की पुस्तक के नीचे दिये वाक्य के सिवा उनमें और कोई भेद मालूम नहीं—

"लोग कहते हैं कि कुरुक्षेत्र अर्थात तानेशर का मैदान उस रेखा पर स्थित है जो लङ्का को मेरु से मिलाती और उज्जैन में से गुजरती है। वे यह बात पुलिश के प्रमाण से कहते हैं। परन्तु वह इतना बुद्धिमान न था कि इस विषय को अधिक उत्तम रीति से जानता। ग्रहणों के समय उस बयान को सत्यतर प्रमाणित करते हैं, और पृथुस्वामिन, कुरुक्षेत्र और उज्जैन की द्राघिमाओं के बीच के भेद को १२० मानता है।"

ये अर्यभट्ट के शब्द हैं।

---

* क्रमिभुक्त भाग में लिखी हुई संख्या अवश्य ८० होगी, क्योंकि अलबेरूनी थोड़ा आगे चलकर कहता है कि यदि हम इस गणना को उलटायें और बड़े चक्र के भागों को उसकी विधि के अनुसार योजनों में बदलें तो हमें ३२०० संख्या प्राप्त होती है। परन्तु ३२०० प्राप्त करने के लिए हमारे लिए आवश्यक है कि को ८० से गुणा करें। "दो स्थानों के बीच के अन्तर के योजनों को ६ से गुणो और गुणन-फल को ८० पर बाँटो" यह नियम योजनों में दिये हुए इस अन्तर को अंशों (डिग्रियों) में बदलने का काम देता है। तब यह अन्तर एक समकोन त्रिभुज का का कर्ण समझा जाता है। इस त्रिभुज की एक भुजा अक्षों का प्रभेद है दूसरी द्राघिमाओं का अज्ञात प्रभेद यह पिछला प्रभेद कर्ण और ज्ञात भुजा के वर्गों के भेद का वर्गमूल लेने से मालूम हो जाता है। द्राघिमा का यह भेद तब अंशो (डिग्रियों) में प्रकट किया जाता है, दिन-मिनटों में इसे प्रकट करने के लिए हमें इसे ६ पर बांटना पड़ेगा, क्योंकि वे एक चक्र ३६०° होते हैं, परन्तु एक दिन में केवल ६० दिन-मिनट होते है।

उज्जैन के अक्ष पर

याकूब इब्न तारिक अपनी "मन्डलों की रचना" नामक पुस्तक में कहता है कि उज्जैन का अक्ष ४$\frac{3}{5}$ अंश है; परन्तु वह यह नहीं बताता कि यह उत्तर में स्थित है या दक्षिण में। इसके अतिरिक्त वह, अल-अर्कन्द नामक पुस्तक के प्रमाण से, इसे ४$\frac{3}{5}$ अंश बयान करता है। परन्तु हमने उसी पुस्तक में उज्जैन और अलमन्सूरा (जिसको ग्रन्थकर्त्ता ब्रह्मणवाट अर्थात बम्हन्वा कहता है) के बीच के अन्तर से सम्बन्ध रखनेवाली एक गणना में उज्जैन का सर्वथा भिन्न अक्ष पाया है, अर्थात उज्जैन का अक्ष २२°२९', और अलमन्सूरा का अक्ष २४°१ देखा है।

उसी पुस्तक के अनुसार लोहनिय्ये अर्थात लोहरानी में सीधी छाया ५$\frac{3}{5}$ कला है।

परन्तु दूसरी ओर, हिन्दुओं के सभी ग्रन्थ इस बात में सहमत हैं कि उज्जैन का अक्ष २४ अंश है और सूर्य इसके ऊपर कर्क-संक्रान्ती के समय पराकाष्ठा पर पहुंचता है।

टीकाकार बलभद्र कनौज का अक्ष २६°३५ और तानेशर का ३०°१२' देता है।

कतलगतगीन † के विद्वान पुत्र अबू अहमद ने कर्ली (?) नगरी का अक्ष गिना था। उसने इसको २८°० और तानेशर के अक्ष को २७ पाया था। उसने मालूम किया था कि इन दोनों का एक-दूसरे से तीन दिन के कूच का अन्तर है। इस भेद का कारण क्या है यह मैं नहीं जानता।

करणसार नामक पुस्तक के अनुसार, काश्मीर का अक्ष ३४°९' है, और वहां सीधी छाया ७$\frac{ष}{६०}$ कला है।

मैंने ख़ुद लौहुर ‡ किले का अक्ष ३४°१० मालूम किया है। लौहूर से काश्मीर की राजधानी का अन्तर ५६ मील है। यह रास्ता आधा करख़्त और आधा मैदान है। जो और अक्ष मैं ख़ुद मालूम कर सका हूं वे मैं यहां देता हूँ—

ग़ज़न	३३°	३५'
काबुल	३३°	४७'
राजा को गार्द-चौकी, कन्दी ...	३३°	५५'
दुनपूर †	३४°	२०'
लमग़ान	३४°	४३'
पुरशावर	३४°	४४'

† कतलगतगीन:—इस तुर्की नाम की व्युत्पत्ति का ठीक पता नहीं है इससे इसके उच्चारण का अनुमान भी ठीक नहीं लगाया जा सकता। इसके अलावा अलबेरुनी ने भी इस पर कोई टीका नहीं दी है।

‡ लौहूर किला—इस लौहूर को लहूर भी लिखा गया है—इसे लौहावर या लाहोर नहीं समझलेना चाहिए। इसका स्थान अज्ञात है। अलबेरुनी ने इसका अक्ष ३३°४०' और दाघिमा ९८°२०' दिया है।

† दुनपुर—ऐसा अनुमान है कि दुनपुर जलालाबाद या इसके समीपवर्ती कोई स्थान है जिसका अब पता नहीं है।

वैहन्द	३४°	३०'
जैलम	३३°	२०'
नन्दन का किला	३२°	०'

शेषोक्त स्थान और मुलतान के बीच कोई २०० मील का अन्तर है।

सालकोट	३२°	५८'
मन्दक्ककोर‡	३१°	५०'
मुलतान	२९°	४०'

यदि स्थानों के अक्ष मालूम हों, और उनके बीच के अन्तर माप लिये जायँ, तो जिन पुस्तकों का हमने पाठकों के सामने उल्लेख किया है उनमें बतलाई विधियों के अनुसार उन स्थानों की द्राघिमाओं का अन्तर भी मालूम हो सकता है।

हम स्वयं भी उनके देश में उन स्थानों से आगे नहीं गये जिनका हमने उल्लेख किया है, और न हम उनके साहित्य से ही (भारत के स्थानों के) अधिक अक्ष और रेखांश जान सके हैं। केवल जगदीश ही हमें अपने उद्देशों तक पहुँचने में सहायता देते हैं!

बत्तीसवाँ परिच्छेद

काल और संस्थिति तथा संसार की उतपत्ति और विनाश

समय की कल्पना पर तत्ववेत्ताओं के विचार

मुहम्मद इब्न जकरिया अलराजी* के कथनानुसार यूनानियों के अति प्राचीन तत्ववेत्ता इन पाँच पदार्थों को नित्य समझते थे—स्रष्टा, विश्वात्मा, आदि अव्यक्त केवल आकाश, और केवल काल। इन्हीं पदार्थों पर अलराजी ने उस कल्पना की नींव रखी थी जो कि इस सारे तत्व ज्ञान का आधार है। फिर काल और संस्थिति में वह यह भेद करता है कि काल के लिये संख्या का प्रयोग होता है, संस्थिति के लिए नहीं; क्योंकि जिस चीज की संख्या है वह शान्त है, पर संस्थिति अनन्त है। इसी प्रकार, तत्ववेत्ताओं ने काल को आदि और अन्तवाली संस्थिति और नित्यत्व को आदि और अन्त से रहित संस्थिति बताया है।

अलराजी के अनुसार, वे पाँच पदार्थ साक्षात् विद्यमान जगत के आवश्यक गृहीतपद हैं। क्योंकि जगत में जिसकी इन्द्रियों-द्वारा उपलब्धि होती है वह अव्यक्त है जिसने कि संयोग के द्वारा

---

* मुहम्मद इब्न जकरिया अलराजी—यह मध्यकाल का प्रसिद्ध राजस है इसका देहान्त ९३२ में हुआ। अलबेरुनी ने इसके ग्रन्थों की एक सूची लिखी है जो लीडन में विद्यमान है।

‡ मन्दक्ककोर—यह नाम भिन्न प्रकार से लिखा गया है। कानून मसऊदी नामक अलबेरुनी की पुस्तक में इसे लाहोर का किला लिखा है।

आकार धारण कर लिया है। इसके अलावा, अव्यक्त कुछ आकाश (स्थान) को घेरता है, इसलिए हमें आकाश का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है। इन्द्रिय जगत में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे हमें काल के अस्तित्व को मानने पर वाध्य करते हैं, क्योंकि उनमें से कुछ तो जल्दी होते हैं और कुछ देर से, और पहले और पीछे, और जल्दी और देर से, और समकालीन की उपलब्धि केवल काल की कल्पना के द्वारा ही हो सकती है, जो विद्यमान जगत का एक आवश्यक गृहीतपद है।

फिर, विद्यमान जगत में सजीव प्राणी हैं। अतः हमारे लिए आत्मा का अस्तित्व मानना आवश्यक है। इन सजीव प्राणियों में बुद्धिमान लोग भी हैं जो कलाओं को उच्चतम उत्कर्ष तक पहुँचा सकते हैं; इससे हमें एक ऐसे स्रष्टा का अस्तित्व मानना पड़ता है जो विज्ञ और चतुर हैं, जो सम्भवतः सर्वोत्तम रीति से प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था करता है और लोगों के अन्दर मोक्ष के उद्देश्य से ज्ञान-शक्ति फूंकता है।

इसके विपरीत अनेक तार्किक नित्यत्व और काल को एक ही चीज समझते हैं और केवल गति को ही, जो काल को मापने का काम देती है, शान्त समझते हैं।

एक दूसरा तार्किक नित्यत्व को मण्डलाकार गति वयान करता है। निस्संदेह इस गति का उस भूत के साथ अटूट सम्वन्ध है जो इसके द्वारा चलता है; और जिसका स्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि यह नित्य बना रहता है। इसलिए वह अपने वितर्कण में चलने वाले भूत को छोड़ कर इसके चलाने वाले के पास चलाने वाले चालक से आदि चालक के पास, जो निश्चय है आता है।

इस प्रकार की खोज वड़ी ही सूक्ष्म और दुर्बोध है। यदि यह न हो तो कुछ लोगों का आपस में इतना मतभेद कभी न हो कि कुछ लोग तो यह कहें कि काल विलकुल कोई चीज ही नहीं और दूसरे यह कहें कि काल एक स्वतंत्र वस्तु है। अफ्रोडिसियस के सिकन्दर के अनुसार अरस्तू [अरिस्टाटल] अपनी पुस्तक किताबुल समाए तबीई में यह वितर्कण देता है—प्रत्येक चलती हुई चीज किसी चालक द्वारा चलाई जाती है। और जालीनूस इसी विषय पर कहता है कि मैं काल को प्रमाणित करना तो दूर रहा उसकी कल्पना को भी नहीं समझ सकता।

काल पर हिन्दू दार्शनिकों के मत

इस विषय पर हिन्दुओं की कल्पना विचार में निर्वल और वहुत कम विकसित है। वराहमिहिर अपनी संहिता के आरम्भ में उसका वर्णन करते हुए जो कि सनातन काल से विद्यमान है कहता है—प्राचीन पुस्तकों में कहा गया है कि प्राक्तन पदार्थ अन्धकार था जो कि काले रंग से अभिन्न नहीं; प्रत्युत एक सोये हुए व्यक्ति की अवस्था के सदृश एक प्रकार का अभाव है। तब परमेश्वर ने इस जगत को ब्रह्मा के लिये एक गुम्बज के रूप किया। उसने इसके दो भाग कर दिये एक ऊपर का और दूसरा नीचे का और इसमें सूर्य और चन्द्र की स्थापना की। कपिल कहता है—परमेश्वर का अस्तित्व सदा से है, और उसके साथ यह जगत और इसके सारे पदार्थ और पिण्ड भी अनादि काल से हैं। परन्तु वह जगत का कारण है, और अपने स्वरूप की सूक्ष्मता के कारण जगत के स्थूल स्वरूप से उच्च है। कुम्भक कहता है—सनातन वस्तु महाभूत अर्थात पाँच तत्वों का मिश्रण है। कई लोग काल को और कई प्रकृति को सनातन पदार्थ वताते हैं, और कई लोग ऐसे भी हैं जो कर्म को अधिष्ठाता मानते हैं।

विष्णु-धर्म नामक पुस्तक में वज्र मार्कण्डेय से कहता है—मुझे कालों की व्याख्या समझाइये। इस पर मार्कण्डेय उत्तर देता है—संस्थिति आत्मपुरुष है अर्थात एक श्वास और पुरुष है, जिसका अर्थ विश्वपति है। फिर उसने उसको समय के विभागों और उनके अधिष्ठाताओं की व्याख्या सुनाई, जिस प्रकार हमने उचित परिच्छेदों में इन बातों का सविस्तार वर्णन किया है।

हिन्दुओं ने संस्थिति को दो अवधियों में बाँटा है, एक तो गति की अवधि, जो काल के रूप में स्थिर की गई है, और दूसरी निश्चलता की अवधि, जिसका निश्चय केवल काल्पनिक रीति से, जिस चीज का निश्चय पहले किया जा चुका है, उसकी अर्थात गति की अवधि की, उपमिति के अनुसार हो सकता है। हिन्दू श्रष्टा के नित्यत्व को परिमेय नहीं, निर्णेय मानते हैं, क्योंकि वह निरवधि है। परन्तु हम यह कहने से रुक नहीं सकते कि ऐसी चीज की कल्पना करना जो निर्णेय हो पर परिमेय न हो, बड़ा कठिन है, और यह सारी कल्पना बहुत ही क्लिष्ट है। हम इस विषय पर हिन्दुओं के मत के विषय में जितना कुछ जानते हैं उसमें से यहाँ उतना ही लिखेंगे जितना पाठकों के लिए पर्याप्त होगा।

ब्रह्मा का रात और दिन

सृष्टि के विषय में हिन्दुओं की साधारण धारणा लौकिक है, क्योंकि जैसा कि हमने अभी कहा, वे प्रकृति को अनादि मानते हैं। इसलिए वे सृष्टि शब्द से अभाव से किसी वस्तु का भाव नहीं समझते। वे सृष्टि का अर्थ केवल चिकनी मिट्टी को तोड़-मरोड़ कर उसके नाना आकार तथा संयोग, और ऐसी व्यवस्थायें बनाना समझते हैं जो उन विशेष प्रयोजनों और लक्षों को पूरा करेंगी जो सम्भाव्य रूप से उनमें हैं। इस कारण वे सृष्टि का अभिसम्बन्ध देवताओं, और राक्षसों, प्रत्युत मनुष्यों के साथ भी ठहराते हैं जो इस कारण सृष्टि उत्पन्न करते हैं कि या तो वे किसी शास्त्र-विहित कर्तव्यता को पूरा करते हैं जो, कि बाद को सृष्टि के लिए उपकारी प्रमाणित होती है, या वे यशस्काम और ईर्ष्यालु हो जाने के बाद अपने मनोविकारों को शमन करना चाहते हैं। इसी प्रकार उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि विश्वामित्र ऋषि ने भैंसे इस उद्देश से उत्पन्न की थीं कि जो उपयोगी और उत्तम पदार्थ, वे देती हैं उन सब का मनुष्य-जाति उपभोग करे। इन सारी बातों को देख कर टिमिउस नामक पुस्तक में प्लेटो के ये शब्द याद आते हैं—उपास्यों अर्थात जिन देवताओं ने अपने पिता की एक आज्ञा के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि की थी उन्होंने एक अमर आत्मा को लेकर आरम्भ किया था इससे उन्होंने उस पर खरादी की तरह एक नश्वर शरीर गढ़ा था।

जगत के वर्ष

यहाँ इस सम्बन्ध में हमें काल की एक संस्थिति मिलती है, जिसको कि मुसलमान लेखक हिन्दुओं के दृष्टान्त का अनुसरण करते हुए जगत के वर्ष कहते हैं। लोग समझते हैं कि उनके आरम्भों और अन्तों पर सृष्टि और विनाश नवीन प्रकार की रचनाओं के तौर पर होते हैं। परन्तु, *यह सर्वसाधारण का विश्वास नहीं। उनके अनुसार; यह संस्थिति ब्रह्मा का दिन और* ब्रह्मा की एक क्रमागत रात है। क्योंकि उत्पत्ति का काम ब्रह्मा के सुपुर्द है। फिर उत्पन्न होना उस चीज में एक गति है जो अपने से किसी भिन्न पदार्थ से पैदा होती है और इस गति के सबसे बड़े स्पष्ट कारण उल्कोत्पन्न संचालक अर्थात तारे हैं। परन्तु जब तक ये प्रत्येक

दिशा में न चलें और अपने रूपों (= अपनी दशाओं) को न बदलें, ये अपने नीचे के जगत पर नियमित प्रभाव कभी नहीं डाल सकते। इसलिए, पैदा होना ब्रह्मा के दिन तक ही परिमित है, क्योंकि, जैसा हिन्दुओं का विश्वास है, केवल इसमें ही, अपने पूर्व-प्रतिष्ठित क्रम के अनुसार तारे चलते और उनके गोले घूमते हैं, और फलतः पृथ्वीतल पर उत्पन्न होने की क्रिया बिना किसी रोक-टोक के विकास पाती है।

इसके विपरीत, ब्रह्मा की रात में मण्डल अपनी गतियों को बन्द कर देते हैं, और सारे तारे, अपने तोरणों* और ग्रन्थियों-सहित, एक विशेष स्थान में निश्चल ठहर जाते हैं।

फलतः पृथ्वी के सभी व्यापार उसी एक स्थिर दशा में हैं, और उत्पन्न होना बन्द हो गया है, क्योंकि जो वस्तुओं को उत्पन्न करता है वह निश्चल है। इस प्रकार क्रिया करने और अपने पर क्रिया कराने के दोनों काम रुक गये हैं; तत्त्व नवीन रूपान्तरों और संयोगों में प्रविष्ट होने से ठहरे हुए हैं, जैसा वे अब + + (कृमिभुक्त शायद रात) में निश्चल हैं, और वे उन नवीन भूतों से सम्बन्ध के लिए तैयारी कर रहे हैं जो आनेवाले ब्रह्मा के दिन पैदा होंगे।

इस प्रकार ब्रह्मा के जीवन में अस्तित्व चक्कर काटता है। इस विषय का प्रतिपादन हम इसके उचित स्थान पर करेंगे।

गुण-दोष-विवेचक टिप्पणी

हिन्दुओं की इन कल्पनाओं के अनुसार, सृष्टि और विनाश केवल पृथ्वी-तल के लिए ही हैं। ऐसी सृष्टि से मिट्टी का एक भी ऐसा टुकड़ा पैदा नहीं होता जो पहले मौजूद न था और ऐसे विनाश से मिट्टी के एक भी ऐसे टुकड़े का अभाव नहीं होता जो अब मौजूद है। जब तक हिन्दुओं का यह विश्वास है कि प्रकृति अनादि है तब तक उनके लिए सृष्टि की भावना रखना सर्वथा असम्भव है।

ब्रह्मा का जागना और सोना

हिन्दू अपने सर्वसाधारण के सामने उपर्युक्त दो संस्थितियों को अर्थात् ब्रह्मा के दिन और ब्रह्मा की रात को उसके जागने और उसके सोने के रूप में प्रकट करते हैं; और हम इन परिभाषाओं को बुरा नहीं कहते, क्योंकि वे किसी ऐसी वस्तु को दरसाती हैं जिसका आदि और अन्त है। फिर, ब्रह्मा का सारा जीवन, जो ऐसी अवधि के बीच जगत् में गति और निश्चलता के अनुवर्तन का बना है; केवल भाव पर ही, अभाव पर नहीं, लागू समझा जाता है, क्योंकि इसके बीच मिट्टी के टुकड़े का और साथ ही उसके आकार का भाव है। ब्रह्मा से उच्चतर सत्ता, अर्थात पुरुष के सामने ब्रह्मा का जीवन केवल एक दिन है (परिच्छेद ३५)। जब वह मर जाता है तो उसकी रात में सारे मिश्रण वियुक्त हो जाते हैं और मिश्रणों के विनाश के फल से वह भी स्थगित हो जाता है जो उस (ब्रह्मा)

---

* तोरण और ग्रंथियाँ—ज्योतिष में तोरण उन दो स्थानों का नाम है जहाँ पृथ्वी अपने भ्रमण-पथ पर सूर्य से दूर और निकट से निकट होती है। तथा ग्रंथियाँ उन स्थानों का नाम है। जहाँ चन्द्र पृथ्वी के गिर्द भ्रमण करता हुआ पृथ्वी कक्षा को काटता हुआ मालूम होता है। संस्कृत में इनके लिये 'उच्च स्थान' और पात शब्द हैं।

को प्रकृति के नियमों के अन्दर रखता था। तब यह पुरुष का और उसके अधीनस्थ सभी वस्तुओं (मूलार्थतः, और उसके वाहनों) का विश्राम है।

ब्रह्मा की निद्रा पर अशिष्ट और वैज्ञानिक कल्पनायें

जब साधारण लोग इन बातों का वर्णन करने लगते हैं तो वे ब्रह्मा की रात को पुरुष की रात के पीछे ले आते हैं; और क्योंकि पुरुष मनुष्य का नाम है, इसलिए वे उनमें सोने और जागने का अध्यारोप करते हैं। वे उसके खुर्राटे मारने से विनाश निकालते हैं, जिसके परिणाम से सब संयुक्त पदार्थ जुदा-जुदा हो जाते हैं, और प्रत्येक खड़ी चीज उसके माथे के स्वेद में डूब जाती है। और वे इसी प्रकार की और भी बातें गढ़ते हैं जिनको मानने से मन और सुनने से कान इन्कार करते हैं।

इसलिए सुशिक्षित हिन्दू (ब्रह्मा के जागने और सोने के विषय में) इन मतों में भाग नहीं लेते, क्योंकि वे सोने के वास्तविक स्वरूप को जानते हैं। वे जानते हैं कि शरीर, जो कि विरोधी रसों का मिश्रण है, आराम लेने के लिए निद्रा की आवश्यकता रखता है, और उसे निद्रा का इसलिए भी प्रयोजन है कि वे सब चीजें जिनकी प्रकृति को आवश्यकता है, नष्ट होजाने के बाद, भली भाँति पुनः स्थापित हो जाँय। इसलिए, निरन्तर ह्रास के कारण शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है ताकि घुलते रहने से जो चीज नष्ट होगई है उसकी पुनः स्थापना हो जाय। फिर, अपनी जाति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए शरीर द्वारा इसे मैथुन की आवश्यकता है, क्योंकि मैथुन के बिना जाति नष्ट हो जायगी। इनके अतिरिक्त, शरीर को अन्य पदार्थों की, कुत्सित परन्तु प्रयोजनीय चीजों की आवश्यकता है, परन्तु अमिश्र द्रव्यों को उनकी आवश्यकता नहीं, जिस प्रकार उस (परमेश्वर) को आवश्यकता नहीं जो कि उनसे भी ऊपर हैं, और जिसके सदृश और कोई वस्तु नहीं।

जगत के अन्त के विषय में कल्पनायें

फिर, हिन्दुओं का मत है कि बारह सूर्यों के संयोग के परिणाम से जगत् नष्ट हो जायगा। ये सूर्य भिन्न-भिन्न मासों में एक-दूसरे के बाद प्रकट होते हैं, और पृथ्वी को जला कर, भस्म करके और उसके सभी गीले पदार्थों को सुखा कर और कुम्हला कर ध्वंस कर देते हैं। फिर, जगत् चार वर्षाओं के संयोग के करण नष्ट होता है। ये वर्षायें अब वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओं में आती हैं, जो चीज भस्म हो चुकी है वह जल को आकृष्ट करती है और उसमें घुल जाती है। अन्ततः, पृथ्वी प्रकाश के अवसान से और अन्धकार तथा अभाव की प्रधानता से नष्ट होती है। इस सारे से जगत् वियुक्तहोकर परमाणु बन जायगा और बिखर जायगा।

मत्स्य-पुराण कहता है जो आग जगत् को जलाती है वह जल से उत्पन्न हुई है, और उस समय तक यह कुश-द्वीप अन्तर्गत महिष पर्वत पर रहती थी, और इस पर्वत के नाम से ही पुकारी जाती थी।

विष्णु-पुराण कहता है कि "महर्लोक ध्रुव के ऊपर स्थित है, और वहाँ ठहरने की संस्थिति एक कल्प है। जब तीन लोक जलते हैं तो आग और धुआं अधिवासियों को पीड़ित करते हैं। तब वे उठ कर जनलोक में जा बसते हैं। यह लोक ब्रह्मा के पुत्रों का निवास-स्थान है। यह

ब्रह्मा सृष्टि के पूर्व था और उसके पुत्र ये हैं अर्थात् सनक, सनद, सनन्दनाद ?), असुर, कपिल, वोढु, और पञ्चशिख।"

अबू मअशर की भारतीय कल्पना

इन वाक्यों का अभिप्राय इस बात को स्पष्ट कर देता है कि जगत का यह विनाश कल्प के अन्त में होता है, और इसी से अबू मअशर की यह कल्पना निकाली गई है कि ग्रहयुति पर जल-प्रलय होता है, क्योंकि वास्तव में, प्रत्येक चतुर्युग की समाप्ति पर और प्रत्येक कलियुग के आरम्भ में ग्रहों का संयोग होता है। यदि यह संयोग पूर्ण संयोग न हो, तो जलप्रलय की विनाशक शक्ति भी तीव्र रुप धारण नहीं करती। इन विषयों का हम जितना अधिक अन्वेषण करेंगे उतना ही अधिक इस प्रकार की कल्पनाओं पर प्रकाश पड़ेगा, और उतनी ही अधिक उत्तम रीति से पाठक इस प्रवन्ध में आनेवाली परिभाषाओं को समझेंगे।

अलेरान शहरी द्वारा बौद्ध कल्पनायें

अलेरान शहरी बौद्धों के विश्वास को दरसानेवाले एक ऐतिह्य का उल्लेख करता है। मेरू पर्वत के पार्श्वों पर चार लोक हैं जो बारी-बारी से आवाद या निर्जल हैं। जब किसी लोक पर सात सूर्यों के, एक दूसरे के बाद, उदय होने के कारण अग्नि का प्राधान्य हो जाता है, जब निर्झरों का जल सूख जाता है और ज्वलन्त अग्नि प्रचण्ड होकर उस लोक के भीतर घुस जाती है तो वह लोक निर्जल हो जाता है। जब अग्नि उस लोक को छोड़ कर किसी दूसरे लोक में चली जाती है तो वह आवाद हो जाता है, उसके चले जाने के बाद वहाँ प्रबल वायु उठकर मेघों को ढकेलता और उनको बरसाता है जिससे वह लोक सागर के सदृश बन जाता है। इसकी झाग से सीप और घोंघे बन जाते हैं। इनके साथ आत्माओं का सम्बन्ध है, और जब पानी पृथ्वी के नीचे चला जाता है तो इनमें से मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। कोई बौद्ध यह समझते हैं कि मरते हुए लोक से बढ़ते हुए लोक में एक मनुष्य अकस्मात आ जाता है। क्योंकि वह अकेला होने के कारण दुःख अनुभव करता है इसलिए उसके विचार से एक भार्या पैदा होती है, और इस जोड़े से उत्पत्ति का आरम्भ होता है।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

भिन्न-भिन्न प्रकार के दिन या अहोरात्र

दिन और रात का लक्षण

मुसलमानों, हिन्दुओं, और दूसरों के साधारण व्यवहार के अनुसार, एक दिन या अहोरात्र का अर्थ ब्रह्माण्ड के चक्रावर्त में सूर्य के एक परिभ्रमण की संस्थिति है, जिसमें कि वह बड़े चक्र के

आधे से चल कर फिर वहाँ ही वापस आ जाता है। साक्षात् यह दो आधों में बँटा हुआ है—दिन (अर्थात् पृथ्वी के विशेष स्थान के अधिवासियों को सूर्य के दिखाई देने का समय), और रात (अर्थात उसके उनको दिखाई न देने का समय)। उसका दिखाई देना या न दिखाई देना दो सापेक्ष बातें हैं, जिनमें आकाश-कक्षाओं के अनुसार भेद होता है। यह अच्छी तरह से जाना हुआ है कि विषुव-रेखा का दिङ्मण्डल, जिसको हिन्दू निरक्ष देश कहते हैं, चक्रों को याम्योत्तरवृत्त के बराबर दो आधों में काटता है। फलतः वहाँ दिन और रात सदा बराबर होते हैं। परन्तु जो आकाश-कक्षायें समान्तर चक्रों को उनके ध्रुव में से गुजरने के बिना काटती हैं वे उनको दो असमान आधों में बाँटती हैं। जितने छोटे ये समान्तर चक्र होंगे उतनी ही अधिक यह बात होगी। फलतः उनके दिन और रात असमान हैं। सिवा दो विषुवों के समयों के, जब मेरु और वडवामुख को छोड़ कर, बाकी पृथ्वी पर सब कहीं दिन और रात समान होते हैं। तब इस रेखा के उत्तर और दक्षिण सभी स्थान रेखा की इस विशेषता के भागी होते हैं, परन्तु केवल इसी समय होते हैं, किसी दूसरे समय नहीं।

मानव अहोरात्र

दिन का आरम्भ सूर्य के दिङ्मण्डल के ऊपर चढ़ने से और रात का आरम्भ उसका इसके नीचे छिप जाने से होता है। हिन्दू दिन को अहोरात्र का प्रथम भाग और रात को द्वितीय भाग समझते हैं। यही करण है कि वे पहले को सावन अर्थात सूर्य के उदय पर अवलम्बित दिन कहते हैं। इसके अतिरिक्त, वे इसको मनुष्याहोरात्र भी कहते हैं क्योंकि, वास्तव में, अनेक हिन्दू जन इसके सिवा और किसी प्रकार के दिन को जानते ही नहीं। अब हम इस बात को मान लेते हैं कि पाठक सावन को जानते हैं इस प्रसङ्ग में, इसके द्वारा बाकी सब प्रकार के दिनों का निश्चय करने के लिए, इसीको पैमाने के रूप में काम में लायेंगे।

पितरों का अहोरात्र

मनुष्याहोरात्र के उपरान्त पितरों का अहोरात्र है, जिनके विषय में हिन्दुओं को विश्वास है कि वे चन्द्र-लोक में निवास करते हैं। इसके दिन और रात किसी विशेष आकाश-कक्षा के नाते से चढ़ने और छिपने पर नहीं, बल्कि प्रकाश और अन्धकार पर आधारित हैं। जब चन्द्रमा उनकी सापेक्षता में मण्डल के उच्चतम भागों में होता है तब उनके लिए दिन होता है; और जब यह निम्न-भागों में होता है तो उनके लिए रात होती है। यह स्पष्ट है कि उनका दुपहर संयोग का समय या पूर्णिमा है, और उनकी आधी रात विरोध या अमावस्या है। इसलिए पितरों का अहोरात्र एक पूर्ण चन्द्र मास का होता है; उनका दिन अर्द्धचन्द्र के समय शुरू होता है, जब कि चन्द्रमा के शरीर पर प्रकाश बढ़ने लगता है, और रात भी अर्द्धचन्द्र के समय से शुरू होती है जब कि उसका प्रकाश घटने लगता है। यदि पितरों के अहोरात्र के विषय में मध्याह्न और अर्धरात्रि के पूर्वोक्त निर्णय को मान लिया जाय तो हम निश्चित् रूप से इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त, एक तुलना से यह बात पाठकों की समझ में आ जायगी, चन्द्रमा के पिण्ड पर प्रकाश के उज्ज्वल अर्द्ध को सूर्य के आधे गोले के आकाश-कक्षा पर उदय होने से, और दूसरे अर्ध को आकाश-कक्षा के नीचे छिपने से उपमा दी जा सकती है। इस अहोरात्र का दिन किसी मास की शुक्लाष्टमी से शुरू होकर अगले मास की कृष्णाष्टमी तक रहता है; और इसी प्रकार रात एक मास की कृष्णाष्टमी से लेकर उस के शुक्लाष्टमी तक रहती है। इन दो आधों का जोड़ पितरों का अहोरात्र है।

इस प्रकार विष्णु-धर्म नामक ग्रन्थ के रचयिता ने इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, परन्तु पीछे से वह इसका वर्णन बहुत थोड़ी स्पष्टता के साथ दुवारा करता है, और पितरों के दिन को विरोध से संयोग तक मास के कृष्ण पक्ष के साथ और उनकी रात को इसके शुक्ल पक्ष के साथ मिला देता है, पर यथार्थ बात वही है जो हम उपर कह चुके हैं। इस मत का समर्थन इस बात से भी होता है कि वे अमावस्या के दिन पितरों को भोजन का दान देते हैं, क्योंकि हिन्दुओं के खाना खाने का समय मध्याह्न ही है। इसी कारण वे पितरों को उस समय भोजन चढ़ाते हैं जिस समय वे आप खाते हैं।

देवों का दिन

इसके बाद दिव्याहोरात्र अर्थात देवों के दिन-रात की पारी आती है। यह मालूम है कि सब से बड़े अक्ष का दिङ्मण्डल, अर्थात् ९० अंश, जहाँ ध्रुव ख-मध्य में ठहरता है, ठीक-ठीक तौर पर नहीं प्रत्युत करीब-करीब विषुव-रेखा है, क्योंकि यह पृथ्वी के उस स्थान के दृश्य दिङ्मण्डल के थोड़ा सा नीचे है—जिसे मेरु पर्वत घेरे हुए है; इसकी चोटी और ढलानों के लिए प्रस्तुत दिङ्मण्डल और विषुव-रेखा सर्वथा अभिन्न हो सकती हैं, यद्यपि दृश्य दिङ्मण्डल इसके कुछ नीचे अर्थात् दूर दक्षिण की ओर स्थित है। फिर, यह स्पष्ट है कि राशि-चक्र दो आधों में बँटा हुआ है क्योंकि विषुव रेखा इसे बीचो बीच काटती है। एक आधा तो विषुव-रेखा के ऊपर (अर्थात इसके उत्तर में) है, और दूसरा आधा इसके नीचे। जब सूर्य उत्तरायण की राशियों में रहता है तो सूर्य की गति चक्की के घूमने के सदृश होती है क्योंकि दिन के जो वृत्तांश उसके द्वारा बनते हैं वे छाया यन्त्रों के सदृश दिङ्मण्डल के समान्तर होते हैं। जो लोग उत्तरी ध्रुव के नीचे रहते हैं उनको सूर्य दिङ्मण्डल के ऊपर दिखाई देता है, इसलिए उनके यहाँ दिन होता है, पर जो दक्षिणी ध्रुव के नीचे रहते हैं उनके लिए सूर्य दिङ्मण्डल के नीचे छिपा होता है अतः दिखायी नहीं देता, इसलिए उनके यहाँ रात होती है। जब सूर्य दक्षिणायन की राशियों में जाता है तो वह दिङ्मण्डल के नीचे के चक्की के सदृश घूमता है; इसलिए उत्तर ध्रुव के नीचे रहनेवालों के लिए रात होती है और दक्षिण ध्रुव के नीचे रहने वालों के लिए दिन होता है।

देवकों अर्थात आध्यात्मिक प्राणियों के निवास-स्थान दो ध्रुवों के नीचे हैं, इसलिए इस प्रकार का दिन उनके नाम पर देवों का अहोरात्र कहलाता है।

कुसुमपुर के विद्वान आर्यभट्ट का कहना है कि सौर वर्ष का एक आधा देवों द्वारा तथा उसका दूसरा आधा दानवों द्वारा दृश्यमान है, पितर चान्द्र मास का एक आधा और मनुष्य उसका दूसरा आधा देखते हैं। इस प्रकार राशिचक्र में सूर्य जब एक बार घूम जाता है तो देव और दानव दोनों के दिन और रात हो जाते हैं और उनका जोड़ ही अहोरात्र है।

फलतः, हमारा वर्ष देवों के अहोरात्र के समान ही है, परन्तु इसमें दिन और रात बराबर नहीं होते, क्योंकि सूर्य उत्तरायण में अपने भूम्युच्च * के चतुर्दिक, धीरे-धीरे चलता है, जिससे दिन कुछ अधिक लम्बा हो जाता है। परन्तु यह भेद दृश्यमान दिङ्मण्डल के बीच के भेद के बराबर नहीं,

---

भूम्युच्च * ग्रह की कक्षा में पृथ्वी में दूरतम विन्दु को ज्योतिप में उस ग्रह का 'भम्यच' कहते हैं।

क्योंकि यह सूर्य के गोले पर देखा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं का मत है कि उन स्थानों के अधिवासी, चूंकि मेरु पर्वत पर रहते हैं अतः वे पृथ्वीतल के ऊपर उठे हुए है। जिस किसी का भी ऐसा मत है उसका मेरु पर्वत की उँचाई के विषय में बैसा ही मत है, जैसा कि हमने उचित स्थान पर वर्णन किया है। मेरु की इस उँचाई का परिणाम यह होता है कि उसकी आकाश-कक्षा थोड़ा नीचे (अर्थात विषुव-रेखा की अपेक्षा अधिक दक्षिणतः) चली जाती है, और इसके परिणाम से रात की अपेक्षा दिन के लम्बा होने का परिमाण घट जाता है (क्योंकि तब सूर्य अपने उत्तर 'भूम्युच्च' तक सर्वथा नहीं पहुँचता, जिससे उत्तरी भाग में सबसे बड़ा दिन होता है)। यदि यह एक ऐसी चीज होने के अतिरिक्त, जिसके विषय में हिन्दुओं का आपस में ही मत-भेद है, उनके केवल एक धार्म्मिक ऐतिह्य के सिवा कोई और चीज होता, तो हम, ज्योतिष-सम्बन्धी गणना के द्वारा, विषुव-रेखा के नीचे मेरु पर्वत के दिङमण्डल के इस दबाव का परिमाण मालूम करने का यत्न करते। परन्तु चूंकि (मेरु पर्वत के कल्पित होने के कारण) इस विषय में कोई फायदा नहीं, इसलिए हम इसे छोड़ते हैं।

किसी अशिक्षित हिन्दू ने लोगों को ऐसे अहोरात्र के उत्तर में दिन, और दक्षिण में उसकी रात के विषय में बातें करते सुना होगा। इन तत्वों के सम्बन्ध में उसने वर्ष के दो आधों को राशि चक्र के दो आधों के द्वारा स्थिर किया, एक तो वह जो मकर संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है, जिसे उत्तरायण कहते है, और दूसरा जो कर्क संक्रान्ति से शुरू होता है, जिसे दक्षिणायन कहते हैं। तब उसने इस अहोरात्र के दिन को चढ़ते हुए आधे से, और इसकी रात को उतरते हुए आधे से अभिन्न मान लिया होगा बस अपने इसी भ्रम को सत्य मानकर उसने अपनी पुस्तकों में अमर कर दिया।

विष्णु-धर्म में दिया गया मत भी इससे अधिक युक्तियुक्त नहीं है। उसके अनुसार "मकर से शुरू होनेवाला आधा असुरों अर्थात दानवों का दिन है और उनकी रात कर्क से आरम्भ होती है।" इसके पहले उसका विचार था कि —"मेष के साथ आरम्भ होनेवाला आधा देवों का दिन हैं।" इस लेखक ने इस विषय को समझे बिना ही यह सब लिखा है, क्योंकि वह दो ध्रुवों को एक दूसरे के साथ गड़बड़ कर देता है (क्योंकि इस कल्पना के अनुसार, सूर्य के परिभ्रमण का आधा, जो मकर संक्रान्ति से आरम्भ होता है, उत्तर ध्रुव के नीचे के लोगों या देवों का दिन होगा न कि दक्षिण ध्रुव के नीचे के लोगों का या असुरों का दिन होगा, और कर्क संक्रान्ति से आरम्भ होनेवाले सूर्य का परिभ्रमण असुरों का दिन होगा, न कि उसकी रात)। यदि इस ग्रन्थकर्त्ता ने वाक्य को वस्तुतः समझा होता और उसे ज्योतिष का ज्ञान होता, तो उसके निष्कर्ष सर्वथा भिन्न होते।

ब्रह्मा का दिन

इसके बाद ब्रह्माहोरात्र अर्थात ब्रह्मा का अहोरात्र है। इसका निरूपण न तो प्रकाश या अन्धकार से होता है और न किसी नक्षत्र के दृश्य या अदृश्य होने से। यह निरूपण होता है सृष्टिगत पदार्थों के भौतिक स्वरूप से जिसके परिमाण स्वरुप वे दिन में चल रहते हैं तथा रात में अचल। ब्रह्मा के अहोरात्र की लम्बाई उतनी है जितनी हमारे आठ अरब ६४ करोड़ वर्षों की इसके आधे में, अर्थात् दिन में, आकाश अपने अन्दर की सभी चीजों के साथ घूमता रहता है, पृथ्वी विविध वस्तुएँ उत्पन्न करती रहती है, और उत्पति तथा विनाश की लीला उस पृथ्वीतल पर निरन्तर होती रहती है। दूसरे आधे अर्थात् रात में उसके सर्वथा विपरीत होता है अर्थात पृथ्वी में परिवर्तन नहीं

होता क्योंकि जो चीजे परिवर्तन उत्पन्न करती हैं वे विश्रामा रह वस्था में होती हैं और सभी गतियाँ वन्द रहती हैं, मानो प्रकृति रात और शीत-काल में आराम करती है, और दिन तथा ग्रीष्म में नवीन जीवन के लिए तैयारी करती हुई अपने-आपको इकट्ठा करती है।

ब्रह्मा का एक दिन हमारा एक कल्प और एक रात हमारे एक कल्प के समान होती है और कल्प समय की वह अवधि है जिसको मुसलिम लेखक सिन्दिन्द का वर्ष कहते हैं।

पुरुष का दिन

सब के अन्त में और सबसे बड़ा पुरुषाहोरात्र अर्थात सर्वात्मा का अहोरात्र है। इसको महाकल्प कहते हैं। हिन्दू समय की कल्पना के सदृश किसी चीज के द्वारा सामान्य रुप से केवल संस्थिति का निश्चय करने के उद्देश से इसका प्रयोग करते हैं परन्तु इसका दिन और रात के रुप में निर्देश नहीं करते। मैं समझता हूँ कि इस अहोरात्र के दिन का अर्थ आत्मा के अव्यक्त के साथ सम्बन्ध की संस्थिति, और रात का अर्थ उनके एक-दूसरे से वियोग की और (अव्यक्त के साथ मिले रहने की थकावट से) आत्माओं के विश्राम की संस्थिति है, और वह अवस्था जो आत्मा के अव्यक्त के साथ संयोग या इसके अव्यक्त से वियोग की आवश्यकता पैदा करती है वह इस अहोरात्र के अन्त पर अपने सामयिक अन्त को पहुँच जाती है। विष्णु-धर्म्म के अनुसार "ब्रह्मा की आयु अर्थात ब्रह्मा का १०० वर्ष पुरुष का दिन है, और पुरुष की रात भी उतनी ही लम्बी होती हैं।"

ब्रह्मा की आयु

हिन्दू इस बात में सहमत हैं कि ब्रह्मा की आयु ब्रह्माके वर्षों में सौ वर्ष की होती है। ब्रह्मा के एक वर्ष की अवधि ज्ञात करने के लिए हमें आठ अरब चौसठ करोड़ (ब्रह्मा) का अहोरात्र में ३६० का गुणा करना होगा। इस प्रकार ब्रह्मा का एक वर्ष हमारे ३१ खरब १० अरब तथा ४० करोड़ वर्षों (अर्थात ३६०×८६४०००००००) के बराबर होता है। इसी प्रकार के सौ वर्ष, हमारे वर्षों की गिनती में, उसी संख्या में दो शून्य बढ़ा कर दिखाये जाते हैं, जिससे वर्षों की संख्या ३१ नील दस खरब तथा ४० करोड़ वर्षो कि हो जाती है। इतना लम्बा समय है पुरुष का एक दिन हैं इसलिये उसका अहोरात्र इसका दुगना बासठ नील बीस खरब अस्सी अरब मानवीय वर्षों के बराबर होता है।

परार्धकल्प

पुलिश-सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा की आयु पुरुष का एक दिन है। परन्तु यह भी कहा गया है कि पुरुष का एक दिन परार्ध कल्प होता है। दूसरे हिन्दू विद्वानों का मत है कि परार्ध-कल्प ख अर्थात् बिन्दु का एक दिन है। ख का अर्थ वे आदि कारण समझते हैं जिस पर सारा अस्तित्व निर्भर करता है। संख्याओं के दर्जों के सोपान में कल्प अठारहवें स्थान पर आता है। यह परार्ध कहलाता है जिसका अर्थ आकाश का आधा है। अब इसका दुगुना सारा आकाश और सारा अहोरात्र होगा। इसलिए ख को मानवीय वर्षों में प्रकट करने के लिये हमें ८६४ के आगे चौबीस शून्य रखने पड़ेंगे।

इन परिभाषाओं को विविध प्रकार की संख्याओं के बने हुए मूल्यों की अपेक्षा समय की सामान्य कल्पना को प्रकट करने का एक दार्शनिक साधन समझना चाहिए; क्योंकि वे संयोग और वियोग की, उत्पत्ति और विनाश की क्रियाओं से निकाली गई हैं।

चौतीसवाँ परिच्छेद

अहोरात्र के छोटे विभाग

घटी का वर्णन

हिन्दू लोग समय के अत्यन्त सूक्ष्म विभागों की कल्पना करने में व्यर्थ ही परिश्रम कर रहे हैं, परन्तु उनके प्रयत्नों से कोई सर्वसम्मत और सर्वमान्य पद्धति नहीं बनी। इसके विपरीत शायद ही कोई दो पुस्तकें या दो मनुष्य ऐसे मिलें जो इस विषय को समान रूप से प्रकट करते हों। पहली बात तो यह है कि अहोरात्र साठ घटियों में विभक्त है। काश्मीर निवासी एक विद्वान उत्पल की स्रूधव नामक पुस्तक के अनुसार—यदि तुम एक लकड़ी के टुकड़े में बारह अंगुल व्यास और छः अंगुल ऊँचाई का एक गोलाकार सूराख करो तो इसमें तीन मना पानी आवेगा। यदि तुम इस सूराख के पेंदे में एक तरुणी स्त्री के, (वृद्धा या बालिका के नहीं) छः गूँथे हुए बालों के बराबर एक दूसरा सूराख करोगे तो इस सूराख में से वह तीन मना पानी एक घटी में बाहर बह जायेगा।

चषक या विघटिका और प्राण

प्रत्येक मिनट साठ सिकेण्डों में बँटा हुआ है जिनको चषक या चखक, या विघटिका भी कहते हैं।

प्रत्येक विघटिका छः भागों व श्वासों में विभक्त है, जिसे प्राण कहते हैं—

पूर्वोक्त स्रूधव नाम की पुस्तक में प्राण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि—यह एक ऐसे सोये हुए व्यक्ति का श्वास है जो स्वाभाविक निद्रा में सो रहा है। वह रोगी नहीं है और न उसे मूत्रावरोध का रोग ही है, वह जो भूखा है; या न उसने बहुत अधिक खा लिया है, उसका मन किसी शोक या पीड़ा में डूबा हुआ नहीं है क्योंकि सोये हुए व्यक्ति का श्वास उसके शरीर की अवस्थाओं के अनुसार बदलता रहता है। शारीरिक अवस्थाएं, उसके आमाशय के भरा होने या खाली होने पर निर्भर हैं, और उस रस को कुपित करने वाली विविध दुर्घटनाओं के अनुसार, जो परम वाञ्छनीय समझा जाता है, कामना या भय से उत्पन्न होती हैं।

प्राण का निश्चय इस नियम से भी हो सकता है कि एक अहोरात्र को हम २१६०० से भाग दे दें, या हम प्रत्येक घटी को ३६० से भाग दे दें (६० गुणे ३६० = २१६००); या मण्डल के प्रत्येक अंश को साठ भागों में विभक्त करें (३६० गुणे ६० = २१६००) सब तरह बात एक ही रहती है।

विनाड़ी और नाड़ी

यद्यपि वे भिन्न-भिन्न परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं फिर भी यह मत सर्वसम्मत है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मगुप्त चषक या सेकण्डों को विनाडी कहते हैं और यही विचार कुसुमपुर के आर्यभट्ट का भी है। इसके अतिरिक्त आर्यभट्ट मिनटों को नाडी कहते हैं परन्तु इन दोनों ने प्राण से छोटे समय के कणों का प्रयोग नहीं किया है जो मण्डल के मिनटों के समान (३६० गुणे ३६०) हैं। पुलिश का कथन है कि मण्डल के मिनट जो(२१६००) हैं, विषुओं के समय, और जब मनुष्य का स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो मनुष्य के स्वाभाविक श्वांसों से मिलते हैं। मनुष्य के एक श्वास में मंडल एक मिनट घूम जाता है।

क्षण, निमेष, लव और त्रुटि

कई अन्य लोग मिनट और सेकेन्ड के बीच एक तीसरे मान, क्षण की कल्पना करते हैं, जो कि एक मिनट का चतुर्थांश (या पन्द्रह सेकन्ड) होता है। प्रत्येक क्षण पन्द्रह कलाओं में बँट गया हैं, जिनमें से प्रत्येक कला मिनट के साठवें भाग के बराबर होती है, और इसी का दूसरा नाम चषक है।

समय के इन छोटे विभागों के निम्न क्रमों में तीन नाम मिलते हैं जिनका सदैव एक ही अर्थ में उल्लेख होता है। इनमें सबसे बड़ा निमेष अर्थात वह समय है जो स्वाभाविक अवस्था में, दो बार पलक झपकाने के बीच का समय होता है। लव समय का मध्यम और त्रुटि उसका सबसे छोटा अंश है। त्रुटि शब्द का अर्थ प्रदेशिनी अंगुली का अँगूठे के अन्दर की ओर चटकाना है। यह उनके आश्चर्य या प्रशंसा की सूचक एक चेष्टा है। इन तीन मापों के बीच क्या सम्बन्ध है इस पर विभिन्न विचार पाये जाते हैं। कई हिन्दुओं के मतानुसारः—

२ त्रुटि = १ लव   २ लव = १ निमेष

फिर, निमेष और समय के भग्नांशों के अगले उच्चतर क्रम के बीच के विषय में उनका मतभेद है, क्योंकि कुछ विद्वानों के अनुसार काष्ठा में पन्द्रह निमेष होते हैं और कुछ विद्वान तीस निमेष मानते हैं। फिर कई लोग इन मानों में से प्रत्येक को आठों में बांटते है, जिससे—

८ त्रुटि = १ लव   ८ लव = १ निमेष

८ निमेष = १ काष्ठा (?)

पिछली पद्धति का प्रयोग स्रूधव नाम की पुस्तक में हुआ है, और शा म य नामक एक विद्वान ज्योतिषी ने भी इसे इसी प्रकार ग्रहण किया है। उसने त्रुटि से छोटा अणु नाम के एक और मान की कल्पना कर के इस विभाग को और भी अधिक सूक्ष्म बना दिया हैं। इन आठ अणुओं की एक त्रुटि होती है।

काष्ठा और कला

अगले उच्चतर क्रम, निमेष से बड़े समय के भाग, काष्ठा और कल हैं। हम ऊपप कह चुके हैं कई हिन्दू कला को चषक का ही उपनाम मानते हैं, और कला को तीस काष्ठा के बराबर मानते हैं। फिर—

१ काष्ठा = १५ निमेष　　　　१ निमेष = २ लव।

१ लव = २ त्रुटि

कुछ अन्य लोगों के अनुसार यह पैमाना इस प्रकार है:—

१ कला = अहोरात्र का १/१६ वाँ मिनट = ३० काष्ठा।

१ काष्ठा = ३० निमेष।

और अगले भग्नांश वैसे ही हैं जैसे कि ऊपर बताए गये हैं। अन्ततः अनेक लोगों का मत इस प्रकार का है:—　　　१ चषक = ६ निमेष।　　　१ निमेष = ३ लव।

यहाँ उत्पल का ऐतिह्य समाप्त हो जाता है।

वायु-पुराण का मत है कि:—　　　१ मुहूर्त = ३० कला

१ कला = ३० काष्ठा।　　　१ काष्ठा = १५ निमेष।

वायु-पुराण ने निमेष से छोटे अंगों का विवरण नहीं दिया है।

हमारे पास यह जान पाने का कोई साधन नहीं है कि इन शैलियों में से कौन सी सबसे अधिक प्रामाणिक है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए सबसे अच्छी बात यही है कि हम उत्पल और शामय * की कल्पना को न छोड़ें। वह कल्पना समय के सभी मानों को प्राण की सापेक्षता में अधिकतर आठ पर बाँटती है:—

१ प्राण = ८ निमेष　　　　१ निमेष = ८ लव

१ लव = ८ त्रुटि।　　　　१ त्रुटि = ८ अणु

सारी प्रणाली इस तालिका में दिखलायी जाती है—

समय विभाग	पैमाना	अहोरात्र में
घटी, नाडी	६०	६०
क्षण	४	२४०
चषक, विनाडी, कला	१५	३६००
प्राण	६	२१६००
निमेष	८	१७२८००
लव	८	१३८२४००
त्रुटि	८...	११०५९२००
अणु	८...	८८४७३६००

* शामय — यह नाम अलबेरूनी की पुस्तक में इसी प्रकार लिखा हुआ है अरबी अक्षर शम्मी व शम्मिय्यु भी समझे जा सकते हैं।

प्रहर

हिन्दुओं ने अहोरात्र को आठ प्रहरों में बाँटा है, और उनके देश के कई भागों में घटी के अनुसार जल घड़ियों का प्रबन्ध किया गया है, जिससे आठ प्रहरों के समयों का निश्चय किया जाता है। एक प्रहर के बीत जाने पर, जो साढ़े सात घड़ी का होता है, वे नक्कारा और शङ्ख बजाते हैं। इसे फारसी में सफेद मुहरा कहते है, पुर्शूर * नगर में मैंने यह देखा है। धर्मपरायण लोगों ने इन जल-घड़ियों के लिए दान-पत्रों द्वारा अपनी सम्पत्ति दान की है, और उनके कार्य-निर्वाह के लिए उत्तरदान और स्थिर आय नियत की जाती रही है।

मुहूर्त

दिन को तीस मुहूर्तों में बाँटा गया है, परन्तु यह विभाजन विशेष स्पष्ट नहीं है क्योंकि कभी-कभी यह समझा जा सकता है कि मुहूर्तों की लम्बाई सदा तुल्य होती है, इस कारण वे उनकी गणना घटी से करते हैं और कहते हैं कि एक मुहूर्त में दो घटी होती है, या वे उनका घड़ियों के साथ मुकाबला करके कहते हैं कि एक घड़ी पौने चार मुहूर्त के बराबर होती है। यहाँ मुहूर्तों का इस प्रकार प्रयोग किया गया है मानों वे विषुवीय होरा (अर्थात् अहोरात्र के इतने-इतने समान भाग हैं)। परन्तु एक दिन के या एक रात के ऐसे घन्टों की संख्या अक्ष के प्रत्येक अंश पर भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इससे हमारा विचार होता है कि दिन के समय मुहूर्त की लम्बाई रात के समय के मुहूर्त से भिन्न होती है (क्योंकि यदि चार घड़ियाँ या पन्द्रह मुहूर्त एक दिन या एक रात के बराबर होते हैं, तो, विषुवों के समयों के सिवा, मुहूर्त, दिन और रात में एक समान लम्बे नहीं हो सकते)।

दूसरी ओर, जिस प्रकार हिन्दू मुहूर्तों के अधिष्ठाताओं की गिनती करते हैं उससे यह प्रतीत होता है मानों विपरीत मत ही शुद्ध हो अर्थात् मुहूर्तों की लम्बाई, वास्तव में, भिन्न-भिन्न है, क्योंकि दिन और रात के सम्बन्ध में वे इनमें से प्रत्येक के लिए केवल पन्द्रह-पन्द्रह अधिष्ठाता मानते हैं। यहाँ मुहूर्तों के साथ वक्र होरा (अर्थात् बारह समान भाग दिन के और बारह समान भाग रात के, जिनमें दिन और रात के भेद के अनुसार भेद होता है) के सदृश व्यवहार किया गया है।

इस पिछले मत की पुष्टि हिन्दुओं की एक ऐसी गणना-द्वारा होती है जिससे वे दिन के बीते हुए मुहूर्तों की संख्या मानव की तत्कालीन छाया को माप कर बता सकते हैं। पिछली संख्या में से

मध्याह्न के पूर्व बीते हुए मुहूर्त	१	२	३	४	५	६	७
प्रस्तुत छाया मध्याह्न छाया से कितनी कला बड़ी हैं।	९६	६०	१२	६	५	३	२
मध्याह्न के पश्चात् बीते हुए मुहूर्त।	१४	१३	१२	११	१०	९	८

* पुर्शूर — पुर्शूर नगर सम्भवतः पुरुशावर, अर्थात पेशावर मालूम होता है।

यदि मध्याह्नकाल में मनुष्य की छाया के अंकों को निकाल दिया जाय और अवशिष्ट संख्या को ऊपर के ब्योरे के मध्यवर्ती स्तंभ में खोजा जाय तो इस क्रिया का पता चल जायगा। यह ब्योरा हमने उनके कुछ पद्यात्मक निवन्धों से लिया है। ऊपर के या निचले स्तंभों का अनुरूप क्षेत्र मुहूर्तों की उस संख्या को प्रदर्शित करता है जिसको मालूम करना है।

मुहूर्त की लम्बाई की अस्थिरता व स्थिरता

सिद्धान्त का टीकाकार, पुलिश, इस अन्तिम मत पर टिप्पणी करता हुआ उन लोगों की आलोचना करता है जिनके विचार से सामान्यतः मुहूर्त्त दो घटी के बराबर माना जाता है उसका मत है कि वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में अहोरात्र की घटियों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है, पर इसके मुहूर्त्तों की संख्या ज्यों की त्यों रहती है। परन्तु एक दूसरे स्थल पर मुहूर्त्त के मान के विषय में तर्क करते हुए वह अपने मत का ही खण्डन कर डालता है। वह एक मुहूर्त को ७२० प्राण या श्वास के बराबर ठहराता है। एक प्राण दो चीजों का बना है, अपान या साँस का भीतर ले जाना, प्राण साँस का बाहर निकालना। इसी अर्थ की बोधक निःश्वास और अवश्वास नामक दो और परिभाषाएँ हैं। परन्तु जब एक वस्तु का वर्णन किया जाता है तो दूसरी वस्तु उसमें चुपचाप ही समाविष्ट हो जाती है और स्वीकृत भी होती है; उदाहरणार्थ, जब हम दिनों का जिक्र करते हैं तब उनमें रातों का भी समावेश होता है, जिसका तात्पर्य दिनों और रातों दोनों को प्रकट करना है। इसलिए एक मुहूर्त ३६० अपान और ३६० प्राण के बराबर है।

इसी प्रकार, घटी के मान की चर्चा करते हुए वह केवल एक ही प्रकार के श्वास का, उल्लेख करता है जिसमें साँस का दूसरा प्रकार भी सम्मिलित है क्योंकि सामान्यतः वह इसे (१०८ अपान और १०८ प्राण के स्थान में) ३६० साँसों के बराबर बयान करता है।

अब यदि मुहूर्त को साँसों से मापा जाय तो यह घटी और विषुवीय होरा पर उनके इसकी माप के मानयन्त्र होने के कारण अवलम्बित है। परन्तु यह पुलिश के आशय के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वह अपने उन विपक्षियों के विरुद्ध युक्ति देता है जो यह मानते हैं कि, यदि मुहूर्तों को गिननेवाला विषुव-रेखा पर या अन्यत्र रहता है तो, विषुवों के समय को छोड़ कर, दिन में केवल पन्द्रह मुहूर्त होते हैं। पुलिश के अनुसार अभिजित मध्यान और दिन के दूसरे आधे के आरम्भ से मिलता है; इसलिए, उसकी युक्ति यह है कि यदि दिन के मुहूर्तों की संख्या बदलती है तो मध्यान को दिखलानेवाले अभिजित नामक मुहूर्तों की संख्या भी बदलेगी (अर्थात् यह सदा दिन का आठवाँ मुहूर्त न कहलायगी)।

व्यास के अनुसार युधिष्ठिर का जन्म शुक्ल पक्ष में, मध्यान कालके आठवें मुहूर्त पर हुआ था। यदि कोई विपरीत मत वाले व्यक्ति इससे यह परिणाम निकालें कि यह विषुव का दिन था तो उसके खण्डन में मार्कण्डेय के कथन का प्रमाण दिया जा सकता है जिसके अनुसार युधिष्ठिर का जन्म ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को हुआ था, और वर्ष का यह समय विषुव से बहुत दूर है।

आगे चलकर, व्यास का कथन है कि युधिष्ठिर का जन्म अभिजित पर हुआ था जब कि रात की जवानी बीत चुकी थी, यह भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष के आठवें मुहूर्त में आधी रात को हुआ था। यह समय भी विषुव से अत्यधिक अन्तर पर है।

शिशुपाल की कथा

वसिष्ठ का कथन है कि वासुदेव ने कंस की बहन के पुत्र, शिशुपाल, को अभिजित में मारा। हिन्दुओं में शिशुपाल की यह कहानी प्रचलित है। जन्म के समय उसके चार हाथ थे और एक दिन उसकी माता ने यह आकाश-वाणी सुनी कि "जिस व्यक्ति के स्पर्श से इसके अतिरिक्त हाथ गिर पड़ेंगे उसी के हाथ इसकी मृत्यु होगी। इस पर उन्होंने बालक को उपस्थित जनों में से प्रत्येक की छाती के साथ लगाया। जब वासुदेव ने उसे स्पर्श किया तो आकाश-वाणी के अनुसार, दो हाथ गिर पड़े। तब मौसी बोली, "निश्चय ही एक दिन तुम मेरे पुत्र को मारोगे।" वासुदेव (कृष्ण) भी अभी बालक ही थे। उन्होंसे उत्तर दिया कि "मैं तब तक इसे नहीं मारूंगा जब तक किसी जानबूझ कर किये गये अपराध के कारण वह उसके लिए योग्य न ठहरेगा, और न मैं उससे तब तक कोई स्पष्टीकरण ही मांगूगा जब तक इसके दुष्कर्म सौ से अधिक न हो जायँगे।"

इसके कुछ काल उपरान्त युधिष्ठिर ने परम प्रसिद्ध श्रेष्ठ जनों की उपस्थिति में राजसूय यज्ञ का आयोजन किया। उन्होंने व्यास से पूछा कि उपस्थित अतिथियों का किस क्रम से सत्कार किया जाय और ऐसी सभा का प्रधान पुरुष मान कर किसकी पूजा सर्वप्रथम की जाय। व्यास ने उसे वासुदेव को अध्यक्ष बनाने की सम्मति दी। इसी सभा में कृष्ण का मौसेरा भाई शिशुपाल, भी उपस्थित था। उसे कृष्ण की यह पूजा बहुत अखरी क्योंकि उसका विश्वास था कि स्वयम वही उस पूजा का अधिकारी था। अतएव वह आत्म-प्रशंसा बघारने लगा, और यहां तक कि उसने वासुदेव के माता-पिता को भी इसी क्रममें अनेक गालियां दीं। वासुदेव ने उपस्थित जनों से कहा कि आप सभी इसके अशिष्टाचरण के साक्षी रहें, और जो कुछ यह करता है इसे करने दें। धीरे-धीरे बात बहुत लम्बी हो गई, और गालियां सौ की संख्या से बढ़ गईं तब वासुदेव ने चक्र उठा कर उस पर प्रहार किया, और उसका सिर काट डाला। यह शिशुपाल की कथा है।

पुलिश का दोष प्रख्यापन

जो मनुष्य यह प्रमाणित करना चाहता है कि अहोरात्र में तीस समान अवधि के मुहूर्त होते हैं वे तब तक सफल-मनोरथ नहीं हो सकते जब तक वह यह प्रमाणित न करेगा कि अभिजित मध्याह्न के साथ और आठवें मुहूर्त के मध्य के साथ इकट्ठा आता है (जिससे दिन में एक समान साढ़े सात मुहूर्तों के दुगने मुहूर्त्त होते हैं और रात में भी उतने ही)। जब तक यह प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक दिनों और रातो की तरह मुहूर्तों की लम्बाई में भेद मानना ही होगा। यद्यपि भारत में यह भेद केवल बहुत थोड़ा है, और सम्भव है कि विषुवों से दूर समयों में मध्यान या तो आठवें मुहूर्त्त के आरम्भ में या उसके अन्त में, या इसके अन्दर आता हो।

पुलिश का कथन कितना त्रुटिपूर्ण है, यह इस बात से स्पष्ट है कि वह अपनी युक्तियों में गर्व से इस विषय का एक ऐतिह्य पेश करता है कि विषुव के अभिजित पर कोई छाया नहीं होती; क्योंकि; पहले तो यह बात विषुवों के दो दिनों को छोड़ कर, ठीक नहीं है; और, दूसरे, यदि यह ठीक भी होती तो इसका उस विषय के साथ जिसको कि वह प्रमाणित करने का यत्न करता है, कोई सम्बन्ध न होता (क्योंकि दिन और रात की भिन्न-भिन्न लम्बाई और उनके विभागों का प्रश्न विषुव-रेखा से सम्बन्धित नहीं है तथा वहां तो दिन और रात सदा एक-दूसरे के बराबर होते हैं, प्रत्युत इसका सम्बन्ध पृथ्वी के केवल दक्षिणी या उत्तरी गोलार्धों से है)।

मुहूर्तों के अधिष्ठाता

इकहरे मुहूर्तों के अधिष्ठाताओं को नीचे की सूची में दिखलाया गया है:—

मुहूर्तों की संख्या	दिन में मुहूर्तों के अधिपति।	रात में मुहूर्तों के अधिपति।
१	शिव अर्थात महादेव।	रुद्र अर्थात महादेव।
२	भुजंग, अर्थात साँप।	अज, अर्थात सारे खुरीदार जन्तुओं का स्वामी।
३	मित्र।	अहिर्बुध्न्य, उत्तरभाद्रपदा का स्वामी।
४	पितृ।	पूषन, रेवती का स्वामी।
५	वसु।	दस्त्र, अश्विनी का स्वामी।
६	आपस, अर्थात जल।	अन्तक, अर्थात मृत्यु का देवता।
७	विश्व।	अग्नि, अर्थात आग।
८	विरिञ्च्य अर्थात ब्रह्मा।	धातृ, अर्थात रक्षक ब्रह्मा।
९	केश्वर (?), अर्थात महादेव।	मृगशीर्ष का स्वामी, सोम।
१०	इन्द्राग्नी।	गुरु अर्थात बृहस्पति।
११	राजा इन्द्र।	हरि, अर्थात नारायण।
१२	निशाकर अर्थात चन्द्र।	रवि अर्थात सूर्य।
१३	वरुण अर्थात मेघों का राजा।	मृत्यु का देवता यम।
१४	अर्यमन।	चित्रा का स्वामी त्वष्ट।
१५	भागेय (?)।	अनिल अर्थात हवा।

हिन्दू फलित-ज्योतिष

भारतवर्ष में फलित-ज्योतिषियों के सिवा और कोई होरा का प्रयोग नहीं करता, क्योंकि वे होरा-अधिपतियों का, और फलतः, अहोरात्रों के अधिपतियों का भी जिक्र करते हैं। अहोरात्र का अधिपति साथ ही रात का अधिपति भी होता है, क्योंकि वे दिन का अधिपति अलग नहीं मानते, और, इस सम्बन्ध में, रात का कभी उल्लेख नहीं होता। वे ऐहिक होराओं के अनुसार अधिपतियों के क्रम की व्यवस्था करते हैं।

वे घंटे को होरा कहते हैं, और उसी से यह प्रतीत होता है कि वास्तव में वे वक्र होराओं का प्रयोग करते हैं; क्योंकि हिन्दू ज्योतिषी राशियों के केन्द्रों को होरा कहते हैं, जिनको हम मुसलमान नीम वहर कहते हैं। कारण यह है कि प्रत्येक दिन में तथा प्रत्येक रात में छः राशियों दिङ्मण्डल के ऊपर चढ़ती हैं। इसलिए यदि घंटे का नाम राशि के केन्द्र के नाम से हो तो प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात में बारह घंटे होते हैं, और फलतः घंटों के अधिपतियों की कल्पना में जिन घंटों का प्रयोग किया गया है वे वक्र होरा हैं, जिस प्रकार उनका हमारे देश में प्रयोग होता है, और वे इन अधिपतियों के कारण अस्तरलाबों पर खुदे हुए हैं।

हिन्दुओं ने वक्र होराओं को विशेष नाम दिये हैं। हमने इनको नीचे की सूची में इकट्ठा कर दिया है। मेरा विचार है कि ये स्रूधव नामक ग्रन्थ से लिये गये हैं।

होराओं की संख्या।	दिन के होराओं के नाम।	शुभ या अशुभ।	रात में उनके नाम।	शुभ या अशुभ।
१	रौद्र।	अशुभ।	कालारात्रि।	अशुभ।
२	सौम्य।	शुभ।	रोविनी।।	शुभ।
३	कराल।	अशुभ।	वैरह्म (?)।	शुभ।
४	सत्र।	शुभ।	त्रासनीय।	अशुभ।
५	वेग।	शुभ।	गूहनीय [!]	शुभ।
६	विशाल।	शुभ।	माया।	अशुभ।
७	मृत्युसार।	अशुभ।	दमरीय (?)	शुभ।
८	शुभ।	शुभ।	जीवहरणी।।	अशुभ।
९	क्रोड।	शुभ।	शोषिणी।	अशुभ।
१०	चण्डाल।	शुभ।	वृष्णी।	शुभ।
११	कृत्तिका।	शुभ।	दाहरीय (?)।	सबसे अधिक अशुभ।
१२	अमृत।	शुभ।	चान्तिम [!]।	शुभ।

इस मत को पुष्टि होती है करण-तिलक अर्थात् फलित-ज्योतिष की प्रधान पुस्तक में विजय-नन्दिन् के इस वाक्य से। इस नियम की व्याख्या करने के बाद कि वर्ष का और मास का अधिपति कैसे मालूम करना चाहिये, उसका कथन है कि "होराधिपति मालूम करने के लिए प्रातःकाल से भुक्त राशियों का जन्म-पत्रिका के अंश में योग करो, यह सारी गणना मिनटों में की जाय, और योग-फल को ६०० से भाग दो। भाग-फल को अहोरात्र के अधिपति में से, नक्षत्रों की गिनती ऊपर से नीचे की ओर करते हुए, गिन डालो। दिन का जो अधिपति तुम इस प्रकार मालूम करते हो वह साथ ही घंटे (होरा) का भी अधिपति है।" उसे इस प्रकार कहना चाहिए था, "जो भाग-फल तुम्हें मिले उसमें एक जोड़ो और योग-फल को अहोरात्र के अधिपति में से निकाल डालो।" यदि वह यह कहता कि, "उन विषुवीय अंशों को, जोकि चढ़े हैं, गिनो" इत्यादि, तो गणना का फल विषुवीय होरा होता।

कुलिक सर्प का प्रभाव

विष्णु-धर्म ग्रंथ में नागों या सापों में से कुलिक नाग का वर्णन है। नक्षत्रों के होराओं के विशेष भाग उससे प्रभावित होते हैं। वे अशुभ हैं, और उनमें खाई हुई चीज दुःख का कारण होती है और उससे कुछ लाभ नहीं होता। रोगी लोग जो विषैली औषधियों से अपना उपचार करते हैं, स्वस्थ नहीं होते प्रत्युत मर जाते हैं। उन समयों में सांप यदि काटे तो कोई भी मन्त्र-यन्त्र असर नहीं करता, क्योंकि मन्त्र में प्रायः गरुड़ के नाम का उल्लेख होता है, और उन अशुभ समयों में गरुड़ के उल्लेख से तो लाभ होगा ही नहीं, स्वयं खुद गरुड़ भी किसी प्रकार सहायता नहीं कर सकता।

होराधिपति	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	बृहस्पति	शुक्र	शनि
कुलिक के समय के आरम्भ के पहले होरा के १५० भागों की संख्या।	६७	७१	०	०	१७	१४४	८६
उन भागों की संख्या जिनमें कुलिक का प्रभाव बना रहता है।	१६	८	३७	२	२ १ २	६	६४

ये समय नीचे की सूची में दिखलाए गये हैं जहां कि नक्षत्र सम्बन्धी घन्टा १५० भागों का बना हुआ गिना गया है।

———

पेंतीसवाँ परिच्छेद

विभिन्न मास और वर्ष

चन्द्रमास का लक्षण

सूर्य के साथ चन्द्रमा के एक संयोग से लेकर दूसरे संयोग की अवधि को एक मास कहते हैं। इसको भौतिक मास कहते हैं क्योंकि इसका विकास चद्रानुसार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सारे प्राकृतिक दृश्य चमत्कारों का, जो अभाव-सदृश एक विशेष आरम्भ से पैदा होते हैं, क्रम से फैलते हैं, बढ़ते और पराकाष्ठा पर पहुँच कर बिल्कुल रुक जाते हैं, तब उतरते हैं, कम होकर घटते हैं, यहाँ तक कि अन्त को जिस अभाव से वे पैदा हुए थे उसी में वापिस चले जाते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा के पिण्ड पर प्रकाश का विकाश होता है, क्योंकि वह चन्द्र-हीन रातों के उपरान्त अर्धचन्द्र, फिर (तीसरी रात के बाद) तरुण चन्द्र, और पूर्ण चन्द्र के रूप में दिखाई देता है; और उसके पश्चात् उन्हीं अवस्थाओं में से अन्तिम रात्रि को लौट आता है, जो मानवीय इन्द्रियों की अपेक्षा से हर सूरत में अभाव के सदृश है। चन्द्र-हीन रातों में चन्द्र क्यों कुछ काल तक बना रहता है यह सब किसी को भली भाँति ज्ञात है, पर वह कुछ समय पूर्ण-चन्द्र के रूप में क्यों बना रहता है यह शिक्षित लोगों को भी उतनी अच्छी तरह मालूम नहीं। उनको जानना चाहिये कि चन्द्रमा का पिण्ड सूर्य के मुकाबले में कितना छोटा है, जिसके फल से आलोकित भाग अन्धकारावृत भाग से कई गुना बड़ा होता है, और यह एक कारण है जिससे चन्द्रमा के लिए कुछ समय तक पूर्णचन्द्र के रूप में दिखाई देना आवश्यक है।

चन्द्रमा का प्रभाव

चन्द्रमा का गीले पदार्थों पर विशेष परिणाम होता है, वे साक्षात उसके प्रभाव के अधीन हैं, उदाहरणार्थ, सागर में ज्वार भाटे का घटना और बढ़ना नियत कालिक और चन्द्र-कला के साथ साथ-होता है, ये सब बातें सागर-तट-वासियों और नौका-जीवियों को भली भाँति ज्ञात हैं। इसी प्रकार वैद्य लोग भी यह खूब जानते हैं कि इसका रोगियों के रसों पर प्रभाव पड़ता है, और ज्वर के दिन चन्द्रमा की गति के साथ बराबर-बराबर घूमते है। पदार्थ विद्या के ज्ञाता जानते हैं कि पशुओं और पौधों का जीवन चन्द्रमा पर निर्भर है, और कर्त्ताओं को मालूम है कि इसका मतिष्क और मज्जा पर; प्यालों और पीपों में पड़ी हुई मदिरा के तलछटों और अण्डों पर होता है; यह पूर्ण चन्द्रिका में सोनेवाले लोगों के मन को उत्तेजित करता, और जोत्स्यना में पड़े हुए सन के कपड़ों पर असर डालता है, किसान लोग जानते हैं कि खीरों, खरबूजों; कपास इत्यादि के खेतों पर चन्द्रमा कैसे असर करता है; और बल्कि वे नाना प्रकार के बीजों के बोने, पौधों के गाड़ने, पैवन्द लगाने और पशुओं को ढँकने के समयों को चन्द्रमा की गति के ही अधीन रखते हैं। ज्योतिषी लोग जानते हैं कि ऋतु-सम्बन्धी घटनायें चन्द्रमा के उन विविध रूपों पर आश्रित हैं जिनमें से कि वह अपने परिभ्रमणों में गुजरता है।

यह मास है और ऐसे बारह मास वैज्ञानिक भाषा में एक चान्द्रवर्ष कहलाते हैं।

सौर मास

स्वाभाविक वर्ष सूर्य के क्रान्ति-मंडल में घूमने की अवधि है। हम इसको स्वाभाविक इस लिए कहते हैं क्योंकि इसमें उत्पत्तिक्रम की सब अवस्थायें सन्निविष्ट हैं जो कि वर्ष की चार ऋतुओं में से घूमती हैं। इसी बीच में एक कांच के टुकड़े में से गुजरती हुई सूर्य की रश्मियां और छायायंत्र की छायाएं वही आकार वही स्थिति, और वही दिशा पुनः ग्रहण करती हैं जिसमें या जिससे वे आरम्भ हुई थीं। यह वर्ष है, और चान्द्रवर्ष के मुकाबले में सौर वर्ष कहलाता है। जिस प्रकार चान्द्र मास वर्ष का बारहवां भाग है उसी प्रकार कल्पना में सौर वर्ष का बारहवां भाग एक सौर मास है। इस गणना का आधार सूर्य का माध्यम भ्रमण है। परन्तु यदि उसके परिवर्तनशील भ्रमण के आधार पर गणना की जाय तो एक सौर मास उसके एक राशि में ठहरने का समय है।

ये दो प्रकार के परम प्रसिद्ध मास और वर्ष हैं।

चान्द्र-सौर गणना

हिन्दू लोग ग्रहसंयोग को अमावस्या, उसके उलटे को पूर्णिमा और दो चतुर्थांशों को अ त व ह (?) कहते हैं। उनमें से कई तो चान्द्र मासों तथा दिनों के साथ चान्द्र वर्षों का प्रयोग करते हैं, और कई दूसरे चान्द्र वर्ष परन्तु, प्रत्येक राशि के ० अंश से आरम्भ करके, सौर मासों का व्यवहार करते हैं। सूर्य का किसी राशि में प्रवेश करना संक्राति कहलाता है। परन्तु यह चान्द्र सौर गणना केवल करीब-करीब है। यदि वे इसका निरन्तर उपयोग करें तो वे शीघ्र ही खुद सौर वर्ष और मासों को ग्रहण करने पर प्रवृत्त होंगे। इस मिश्रित प्रणालो का उपयोग करने से उन्हें केवल इतना ही लाभ है कि उन्हें बीच में (कोई दिन) डालने की जरूरत नहीं रहती।

चान्द्रमास का आरम्भ

जो लोग चान्द्रमासों का उपयोग करते हैं वे मास का आरम्भ ग्रहयुति |या अमावस्या से करते हैं और यह वैधिक रीति है। दूसरे लोग इसका आरम्भ उसके उलटा या पूर्णिमा से करते हैं। मैंने लोगों को कहते सुना है कि वराहमिहिर शेषोक्त बात करता है परन्तु अभी तक मैं इसे उसकी पुस्तकों से नहीं मालूम कर सका। पिछली विधि निषिद्ध है। फिर भी यह पुरानी जान पड़ती है क्योंकि वेद कहता है—लोग कहते हैं कि चन्द्रमा पूर्ण हो गया हैं, और उसके पूर्ण होने से मास भी पूरा हो गया है। उनके ऐसा कहने का कारण यह है कि वे न मुझे ही और न मेरे विवरण ही को जानते हैं, क्योंकि जगत के स्रष्टा ने सृष्टि का आरम्भ शुक्ल पक्ष से किया था न कि कृष्ण पक्ष से। परन्तु सम्भवतः ये शब्द केवल मनुष्यों के कहे हुए हैं (न कि वस्तुतः वेद से लिया हुआ वाक्य है।)

मास की दो पक्षों में गिनती

मास के दिनों की गिनती अमावस्या से आरम्भ होती है और पहला दिन चान्द्र दिन व र बा कहलाता है, और फिर पूर्णिमा के साथ गिनती आरम्भ होती है, (अर्थात वे अमावस्या

और पूर्णिमा के साथ आरम्भ करके पन्द्रह दिनों को दुबारा गिनते हैं)। प्रत्येक दो दिन जो अमावस्या या पूर्णिमा से समानान्तर पर हैं एक ही नाम (या संख्या) रखते हैं। उनमें, चन्द्रमा के पिण्ड पर प्रकाश और अन्धकार बढ़ने और घटने की अनुरूप कलाओं में होते हैं, और एक दिन में चन्द्र के चढ़ने के घंटे दूसरे में उसके डूबने के घंटों के अनुरूप होते हैं। इन समयों को मालूम करने के लिए वे नीचे की गणना का उपयोग करते हैं—

मास के बीते हुए चान्द्र दिनों को, यदि वे १५ से कम हों, या, यदि, जियादा हों तो उनके और १५ के बीच के भेद को, प्रस्तुत रात की घटियों से गुणों। गुणन-फल में २ जमा करके योग को १५ पर बाँटों। तब भाग-फल पहली रात में और प्रस्तुत रात में, जो शुक्ल पक्ष की एक रात है चन्द्र के डूबने के बीच की या रात में जो कृष्ण पक्ष की एक रात है चन्द्र के चढ़ने के बीच की घटियों और समय के गौण भग्नांशों की संख्या को प्रकट करता है।

इस गणना का आधार इस बात पर है कि पहली रात और उसी चन्द्रपरिवर्तन-काल की किसी अगली रात में चन्द्रमा के चढने या डूबने के बीच के समय की अवधि में दो मिनटों (घटियों) का फर्क पड़ जाता है और रातें बदलती रहती हैं, वे या तो तीस घटी से कुछ अधिक या कम लम्बी होती है। इसलिए यदि तुम प्रत्येक अहोरात्र की तीस-तीस घटियाँ गिनो और उनके योग को घटियों की आधी संख्या पर बाँटों, तो अहोरात्र के लिए दो घटी निकलेगी। परन्तु, उन्होंने अहोरात्रों की संख्या को रात के मान से अर्थात उसकी घटियों की संख्या से गुणा था, क्योंकि ये दो घटियाँ (मिनट) रातों के भेद से मिलती है, किन्तु प्रस्तुत रात की और चन्द्र परिवर्तन काल की पहली रात की घटियों के योग के आधे से गुणना अधिक यथार्थ होता। दो घटियों का जमा करना व्यर्थ है; क्योंकि वे उस क्षण को दिखलाती हैं जब कि अर्धचन्द्र पहले-पहल दिखाई देता है; किन्तु यदि इस क्षण का मास को आरम्भ मान लिया जाय, तो वे दो घटियाँ ग्रहयुति में चली जायँगी।

विविध प्रकार के मास

क्योंकि मास दिनों के बने हुए हैं, जितने प्रकार के दिन हैं उतने ही प्रकार के मास हैं। प्रत्येक मास में तीस दिन होते हैं। हम यहाँ नागरिक दिन (सावन परिच्छेद ३१) मान के रूप में उपयोग करेंगे।

एक कल्प में सूर्य और चन्द्र के परिभ्रमणों की हिन्दू-गणना के अनुसार, एक चान्द्रमास =

$२९\frac{१८६००५}{३५६२२२}$ अहोरात्र। यह संख्या कल्प के दिनों की संख्या को इसके चान्द्रमासों की संख्या पर बाँटने से प्राप्त होती है। कल्प के चान्द्रमासों की संख्या कल्प में सूर्य और चांद के परिभ्रमणों के बीच के अन्तर अर्थात् ५३४३३३००००० को प्रकट करती है।

एक मास के तीस चान्द्र दिन होते हैं क्योंकि यह संख्या वैधिक है जैसे वर्ष के दिनों की संख्या के लिए ३६० की संख्या वैधिक है।

सौरमास के तीस सौर दिन और $३०\frac{१३६२९८७}{३११०४००}$ नागरिक दिन होते हैं।

पितरों का मास हमारे ३० मासों के बराबर होता है, और इसमें ८८५ $\frac{१६३४१०}{१७८१११}$ नागरिक दिन होते हैं।

देवताओं का मास ३० वर्षों के बराबर होता है और इसमें १०९५७ $\frac{२४१}{३२०}$ नागरिक दिन होते हैं।

ब्रह्मा का मास ६० कल्प के बराबर होता है और इसमें ९४९७४९८७००००००० नागरिक दिन होते हैं।

पुरुष का मास २१६०००० कल्प के बराबर होता है और इसमें ३४०८२९९५३२०००००००००० नागरिक दिन होते हैं।

ख के मास में ९४९७४९८७००००००००००००००००००००००००० नागरिक दिन होते हैं।

इन मासों में से प्रत्येक को बारह से गुणा करने से हमें अनुरूप वर्ष के दिनों की संख्या मिल जाती है।

विविध प्रकार के वर्ष

चान्द्रवर्ष में ३५४ $\frac{६५३६४}{१७८१११}$ नागिरक दिन होते हैं।

सौर वर्ष के ३६५ $\frac{८२७}{३२००}$ नागरिक दिन होते हैं।

पितरों का वर्ष ३६० चान्द्र मासों, या १०६३१ $\frac{१६९९}{१७८१११}$ नागरिक दिनों का होता है।

देवताओं का वर्ष हमारे ३६० वर्षों, या १३१४९३ $\frac{३}{८०}$ नागरिक दिनों का होता है।

ब्रह्मा के वर्ष में ७२० कल्प या ११३६०९९८४००००००० नागरिक दिन होते हैं।

पुरुष के वर्ष में २५९२०००० कल्प या ४०८९९५९४३८४००००००००० नागरिक दिन होते हैं।

ख के वर्ष में ११३६०९९८४००००००००००००००००००००००.०० नागरिक दिन होते हैं।

पुरुष का दिन

इस पिछली संख्या का हिन्दुओं ने उल्लेख किया है, यद्यपि उनकी पुस्तकों में लिखा है कि पुरुष के दिन के आगे संख्याओं की कोई संहति नहीं, क्योंकि यह प्रथम और अन्तिम है; अतीत में इसका कोई आरम्भ और भविष्य में इसका कोई अन्त नहीं। अन्य प्रकार के दिन, जिनके (पितरों; देवों, और ब्रह्मा के) मास और वर्ष बने हुए हैं, उन सत्ताओं से सम्बन्ध रखते हैं जो भूतों के क्रम में पुरुष के नीचे हैं, और जिनकी संस्थिति का निश्चय समय की विशेष सीमाओं के द्वारा किया जाता है पुरुष का दिन उस चीज को प्रकट करने के लिए जो आत्मन् से ऊपर है हिन्दू मन का एक विभेदमात्र है, क्योंकि वे पुरुष और आत्मा में, सिवा उस क्रम या अन्वय के जिसमें वे उनको गिनते हैं कोई भेद नहीं समझते। वे पुरुष का वर्णन सूफियों की सी परिभाषाओं में करते हैं, अर्थात वह पहला नहीं, और न कोई और चीज ही है। संस्थिति की भावना का, विद्यमान वर्तमान काल से

दोनों ओर अर्थात् अतीत की ओर जो अब नहीं रहा, और भविष्यत् की ओर जो सम्भवतः आएगा, कल्पना में विस्तार करना, और संस्थिति को मापना सर्वथा सम्भव है, और यदि इसके किसी भाग का दिनों द्वारा निश्चय हो सकता हैं तो कल्पना में भी मासों और वर्षों के रुप में इसका परिवर्तन हो सकता है। इस सारे में हिन्दुओं का संकल्प यह है कि हमें उनके गढ़े हुए वर्षों का सम्बन्ध जीवन की विशेष अवधियों के साथ, आरम्भ का उत्पन्न होने के साथ और अन्त का विनाश और मृत्यु के साथ करना चाहिए। परन्तु स्रष्टा परमेश्वर इन दोनों के परे है, और साथ ही अमिश्र पदार्थ (पवन, अग्नि पृथ्वी, और जल नियत कालिक प्रत्यागमनों में) न उत्पन्न ही और न विनष्ट ही होते हैं। इसलिए हम पुरुष के दिन पर ही ठहर जाते हैं, और समय की इससे भी बड़ी अवधियों के उपयोग की आवश्यकता नहीं समझते।

सप्तर्षि और ध्रुव के वर्ष

जो बातें सहज आवश्यकता पर आश्रित नहीं होतीं, वे मतभेद और बिलकुल स्वच्छंद व्यवस्था के लिए खुला क्षेत्र हैं, जिससे बहुसंख्यक कल्पनायें सुगमता से पैदा हो जाती हैं। उनमें से कुछ एक का विकास तो किसी विशेष नियम और काम के अनुसार होता है और कुछ बिना किसी ऐसे नियम के ही बन जाती हैं। पिछली श्रेणी में मैं निम्नलिखित ऐतिह्य की गिनती करता हूं, परन्तु दुर्भाग्य वश मुझे यह याद नहीं रहा कि किस स्रोत से यह मुझ तक पहुंचा है—"मनुष्यों के ३३००० वर्ष सप्तर्षि का एक वर्ष होता है, मनुष्यों के ३६००० वर्ष ब्रह्मा का एक वर्ष, और मनुष्यों के ६६००० वर्ष ध्रुव का एक वर्ष होते हैं।" परन्तु ब्रह्मा के वर्ष के विषय में, हमें याद है कि वासुदेव रणक्षेत्र में खड़ी दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन से कहता है—"ब्रह्मा का दिन दो कल्प है," और ब्रह्म-सिद्धान्त में पराशर के पुत्र व्यास से और स्मृति नाम की पुस्तक से एक दृष्टान्त है कि कल्प देवक अर्थात ब्रह्माका दिन और साथ ही उसकी रात भी है। फलतः जिस कल्पना का वहाँ उल्लेख हुआ है वह (ब्रह्मा का एक वर्ष ३६००० हजार वर्षों से अनन्त गुना लम्बा होने से) स्पष्टतया अशुद्ध है। फिर ३६००० वर्ष क्रांति-मण्डल मे स्थिर तारों के एक परिभ्रमण की अवधि हैं, क्योंकि वे १०० वर्ष में एक अंश चलते हैं, सप्तर्षि उन्हीं में से हैं। परन्तु हिन्दू लोग अपने पौराणिक साहित्य में सप्तर्षि को स्थिर तारों से जुदा बताते हैं और पृथ्वी से उसका इतना अन्तर मानते हैं जो वास्तविक अन्तर से भिन्न है, और इसीलिए वे उसमें ऐसे गुण और अवस्थायें बयान करते हैं जो वास्तव में उसमें नहीं हैं। यदि सप्तर्षि के एक वर्ष से उस कल्पना के कर्त्ता का मतलब उसके एक परिभ्रमण से है तो हम नहीं समझते कि यह दूसरे स्थिर तारों की अपेक्षा क्यों इतनी अधिक शीघ्रता से घूमता है (क्योंकि, उस अवस्था में, उसके पथ का व्यास दूसरों के व्यास से बहुत बड़ा होगा), और यह प्रकृति के नियमों (जिनके अनुसार सारे स्थिर तारे पृथ्वी से एक ही अन्तर पर और एक ही समय में घूमते हैं) का क्यों अपवाद स्वरुप है; और ध्रुव का कोई परिभ्रमण ऐसा नहीं जिसे इसका वर्ष समझा जा सके। इस सारे से मैं परिणाम पर पहुँचता हूँ कि इस कल्पना का कर्त्ता वैज्ञानिक शिक्षा से सर्वथा शून्य था, और उन मूर्खों का सरदार था जिन्होंने केवल सप्तर्षि और ध्रुव की पूजा करनेवाले लोगों के लाभार्थ उन वर्षों की कल्पना की थी। उसे वर्षों की एक बहुत बड़ी संख्या की कल्पना इसलिए करनी पड़ी थी क्योंकि जितनी दुर्दान्त यह संख्या होगी उतना ही इसका अधिक असर होगा।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

काल के चार परिमाण

मान और प्रमान

मान और प्रमान का अर्थ माप है। याक़ूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक 'गगनमण्डल की रचना' में चार प्रकार के मानों का उल्लेख किया है; परन्तु वह उनको पूरे तौर से नहीं जानता था, और; इसके अतिरिक्त, यदि यह नकल करनेवाले का दोष नहीं तो, नामों का वर्णविन्यास भी अशुद्ध है।

वे यह हैं :—

सौर-मान, अर्थात् सूर्य-सम्बन्धी माप ।

सावन-मान, अर्थात वह माप जो चढ़ने पर आश्रित है (नागरिक माप)।

चान्द्र-मान, अर्थात् चांद-सम्बन्धी माप।

नक्षत्र-मान, अर्थात नक्षत्र-सम्बन्ध माप।

चारों प्रकार के मान के दिन हैं अर्थात, अलग-अलग प्रकार के दिन हैं, जिनका जब दूसरे दिनों के साथ मुकाबला किया जाय तो मान का एक विशेष प्रभेद दिखाई देता है। परन्तु, ३६० की संख्या उन सबमें सामान्य है (प्रत्येक श्रेणी के ३६० दिनों का एक वर्ष होता है) दूसरे दिनों का निश्चय करने के लिए नागरिक दिनों का परिमाण के तौर पर उपयोग किया जाता है।

चार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्षों और दिनों का नाप

सौर-मान के विषय में यह सभी जानते हैं कि सौर वर्ष में $३६५\frac{८२७}{३२००}$ नागरिक दिन होते हैं। इस संख्या को ३६० पर बांटने, या इसे १० सेकेण्डों ($=\frac{१}{३६०}$ दिन) से गुणने से सौर दिन का मान $१\frac{५६०६}{३८४०००}$ नागरिक दिन निकलता है।

विष्णु धर्म के अनुसार यह सूर्य के अपनी मुक्ति से गुजरने का समय है।

सावन-मान पर आश्रित, नागरिक दिन का यहाँ, उनके द्वारा अन्य प्रकार दिनों को मापने के लिये दिन मान के रूप में उपयोग किया गया है।

चन्द्र-मान पर आश्रित चान्द्र दिन तिथि कहलाता है। चान्द्र वर्ष को ३६० पर, या चान्द्र मास को ३० पर बांटने से चान्द्र दिन का मान $\frac{५०१६०५१}{३१५५८३२६}$ नागरिक दिन (अशुद्ध है :— $\frac{१०५१६४४३}{१०६८६६६०}$ नागरिक दिन पढ़ो) निकलते है।

विष्णु-धर्म के अनुसार, यह वह समय है जिसमें चन्द्र, सूर्य से बहुत दूर होने की अवस्था में; दिखाई देता रहता है।

नक्षत्र-मान चन्द्रमा के अपने सत्ताईस नक्षत्रों में से गुजरने की अवधि, अर्थात $२७\frac{११२५०}{३५००२}$

दिन है। यह संख्या वह भागफल है जो कल्प के दिनों को एक कल्प में चन्द्रमा के परिभ्रमणों की संख्या पर बाँटने से प्राप्त होती है। इसको सत्ताईस पर बाँटने से $१\frac{४१७}{३५००२}$ नागरिक दिन अथवा चन्द्रमा का एक नक्षत्र में से गुजरने का समय निकल आता है। उसी संख्या को १२ से गुणने से, जैसा हमने चान्द्र मास के साथ किया है, $३२७\frac{१५०५१}{१७५०१}$ नागरिक दिन चन्द्र के अपने सभी नक्षत्रों में से बारह दफे गुजरने के समय के रुप में निकल आते हैं। पहली संख्या को ३० पर बाँटने से हमें नाक्षत्रिक दिन के मान के रुप में $\frac{३१८७७१}{३५००२०}$ नागरिक दिन मिलते हैं।

विष्णु-धर्म्म के अनुसार नाक्षत्रिक मास केवल सत्ताईस दिन का होता है, परन्तु दूसरे मानों के मासों में तीस दिन होते हैं, और यदि वर्ष इन दिनों का बना हुआ हो तो इसमें $३२७\frac{१५०५१}{१७५०१}$ दिन होते हैं। यह स्पष्ट है कि विष्णु-धर्म्म के पाठ में कोई दोष है, क्योंकि मास बहुत छोटा गिना गया है।

सौर-मान, चन्द्र-मान तथा सावन-मान

सौर-मान चतुर्युगी के चार युगों और कल्प के वर्षों की, जन्म-पत्रिकाओं के वर्षों की, विषुवों और अयनान्त विन्दुओं की, ऋतुओं या वर्ष के छठे भागों की, अहोरात्र में दिन और रात के बीच के भेद की गिनती में काम आता है इन सबकी गिनती सौर वर्षों, मासों, और दिनों में होती है।

चन्द्र-मान ग्यारह करणों की गिनती में, अधिमास के निर्णय में, ऊनरात्र के दिनों की संख्या के परिसंख्या में, और चान्द्र और सौर ग्रहणों के लिए अमावस्या और पूर्णिमा के गिनने में काम आता है। इन सब में हिन्दू चान्द्र वर्षों, मासों, और दिनों का, जिन्हें तिथि कहते हैं, प्रयोग करते हैं।

सावन-मान वार; अर्थात् सप्ताह के दिनों; और अहर्गण, अर्थात् शाक के दिनों के समाहार की गिनती में, विवाह और उपवास के दिनों के निश्चय में, सूतक, अर्थात् प्रसवावस्था के दिनों, मृतक के घर और वर्तनों की अपवित्रता के दिनों, चिकित्सा (अर्थात वे विशेष मास और वर्ष जिनमें हिन्दू आयुर्वेद विशेष ओषधियों के सेवन की आज्ञा देता है), और प्रायश्चित (अर्थात् निष्कृति के दिन जिनको ब्राह्मण उन लोगों के लिए अपरिहार्य ठहराते हैं जिन्होंने कोई पाप किया है, और जिनमें उन लोगों को उपवास करना और शरीर पर गोवर और घृत मलना पड़ता है) का निर्णय करने में काम आता है। सब चीजों का निश्चय सावन-मान के अनुसार किया जाता है।

इसके विपरीत, वे नक्षत्र-मान से किसी चीज का निश्चय नहीं करते, क्योंकि यह चन्द्र-मान के ही अन्दर है।

समय का कोई भी नाप जिसको लोगों की कोई श्रेणी सर्वसम्मति से दिन कहने लगी, मान समझा जा सकता है। ऐसे कुछ दिनों का किसी पूर्व परिच्छेद (देखो परि० ३३) में उल्लेख हो चुका है। परन्तु चार सर्वोत्तम मान वे हैं जिनकी व्याख्या हमने वर्तमान परिच्छेद में की है।

सेंतीसवाँ परिच्छेद

मास और वर्ष के विभाग

उत्तरायण और दक्षिणायन

चूंकि वर्ष क्रान्तिमण्डल में सूर्य का एक परिभ्रमण है इसलिए यह क्रान्तिमण्डल के सदृश ही बँटा हुआ है। क्रान्तिमण्डल दो अयनान्त बिन्दुओं के आधार पर दो अर्धों में विभक्त है। इसी के अनुरूप वर्ष भी दो अर्धों में विभक्त है जिनको कि अयन कहते हैं।

मकर-संक्रान्ति को छोड़ने पर सूर्य उत्तर ध्रुव की ओर चलने लगता है। इसलिए वर्ष के इस भाग को, जो कि आधे के लगभग है, उत्तर से सम्बद्ध किया जाता है, और यह उत्तरायण, अर्थात् मकर से शुरू करके छः राशियों में से सूर्य के कूच करने की अवधि, कहलाता है। फलतः क्रान्तिमण्डल के इस अर्ध को मकरादि अर्थात् मकर से शुरू होनेवाला कहते हैं।

कर्क-संक्रान्ति के बिन्दु को छोड़ने पर सूर्य दक्षिण ध्रुव की ओर चलना आरम्भ करते है इसलिये इस दूसरे आधे को दक्षिण से सम्बद्ध किया जाता है, और यह दक्षिणायन, अर्थात् कर्क से शुरू करके छः राशियों में से सूर्य के कूच करने की अवधि, कहलाता है। फलतः क्रान्ति के इस अर्ध को कर्कादि, अर्थात कर्क से शुरू होने वाला कहते हैं।

अशिक्षित लोग केवल इन विभागों या वर्षार्धों का ही प्रयोग करते हैं, क्योंकि दो अयनान्त बिन्दुओं की बात उनको अपनी इन्द्रियों के निरीक्षण से साफ समझ में आ जाती है।

उत्तर कूल और दक्ष कूल

फिर, क्रान्तिमण्डल, भूमध्य-रेखा से अपने झुकाव के अनुसार, दो अर्धों में विभक्त है। यह बांट अधिक वैज्ञानिक है और पहली बांट की अपेक्षा सर्वसाधारण को कम ज्ञात है, क्योंकि यह गणना और विचार पर आश्रित है। प्रत्येक अर्ध, कूल कहलाता है। जिसका उत्तरी झुकाव है वह उत्तर कूल या मेषादि, अर्थात जो मेष से शुरू होता है, कहलाता है; और जिसका दक्षिणी झुकाव है उसे दक्ष कूल या तुलादि, अर्थात तुला से शुरू होनेवाला, कहते हैं।

ऋतुयें

फिर, क्रान्तिमण्डल इन दोनों बांटों द्वारा चार भागों में विभक्त है, और वे काल-परिमाण जिनमें सूर्य इनमें से पार जाता है वर्ष की ऋतुयें—वसन्त, ग्रीष्म, शरद, और हेमन्त—कहलाती हैं। इसी के अनुसार राशियां मौसमों में बँटी हुई हैं। परन्तु, हिन्दू वर्ष को चार में नहीं, प्रत्युत छः भागों को ऋतु कहते हैं। प्रत्येक ऋतु दो मास, अर्थात दो क्रमागत राशियों में से सूर्य के गुजरने के काल की बनती है। उनके नाम और अधिपति, अत्यन्त प्रचलित सिद्धान्त के अनुसार, नीचे के चित्र में दिखलाये गये हैं।

मुझे बताया गया है कि सोमनाथ के प्रान्त के लोग वर्ष को तीन भागों में विभक्त करते हैं। प्रत्येक भाग में चार मास होते हैं। पहला भाग, वर्षा-काल, आषाढ़ मास से आरम्भ होता है; दूसरा शीत-काल, अर्थात सरदी का मौसिम; और तीसरा उष्ण-काल अर्थात गरमी है।

उत्तरायण, जिसका सम्बन्ध देवों से है	ऋतु की राशियां	मकर और कुम्भ	मीन और मेष	वृषभ और मिथुन
	उनके नाम	शिशिर	वसन्त या कुसुमाकर	ग्रीष्म या निदाघ
	उनके अधिपति	नारद	अग्नि	इन्द्र

वृश्चिक और धनु	कन्या और तुला	कर्क और सिंह	ऋतु की राशियां	दक्षिणायन जिसका सम्बन्ध पितरों से है
हेमन्त	शरद्	वर्षकाल	उनके नाम	
वैष्णव	प्रजापति	विश्वेदेवाः	उनके अधिपति	

मैं समझता हूँ कि हिन्दू क्रान्तिमण्डल को चक्र के एक ऐसे द्वार पर बांटते हैं जो चक्र की परिधि को, दो अयनान्त विन्दुओं से आरम्भ करके छः भागों में विभक्त करता है। यह मान त्रिज्या के बराबर है, और इसीलिए वे क्रांतिमडएल के छठे भागों का उपयोग करते हैं यदि वास्तव में यही बात है तो हमें यह भूल न जाना चाहिये। कि हम भी क्रान्तिमएडल को कभी त दो अयनान्त विन्दुओं से और कभी विषुवीय विन्दुओं से आरम्भ करके बांट देते हैं। और हम क्रान्तिमएडल के बारहवें भागों में बांट का उसको चौथे भागों में बांट के साथ-साथ उपयोग करते हैं।

मासों के इकहरे आधों के अधिपति

मास अमावस्या से लेकर पूर्णिमा तक और पूर्णिमा से अमावस्या तक दो अर्धों में बांटे हुए हैं। विष्णु-धर्म्म जिस प्रकार मासों के अर्धों के अधिपतियों का उल्लेख करता है वह नीचे की सूची में दिखाया गया है।

* मास के इन अर्धों को कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष भी कहा जाता है। मोटे तौर पर यह समझना चाहिये कि चन्द्र-हीन रातों को कृष्ण-पक्ष और चांदनी रातों को शुक्ल पक्ष की रातें कहा जाता है। आकाश में चन्द्रमा किस प्रकार घटता बढ़ता है यह पिछले परिच्छे में विस्तार से बताया गया है।

मासों के नाम	प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष के अधिपति	प्रत्येक मास के कृष्ण-पक्ष के अधिपति
चैत्र	त्वष्टृ	याम्य
वैशाख	इन्द्राग्नी	आग्नेय
ज्येष्ठ	शुक्र	रौद्र
आषाढ़	विश्वेदेवाः	सार्प
श्रावण	विष्णु	पित्र्य
भाद्रपद	अज	सान्त
आश्वयुज	अशन (?)	मैत्र
कार्तिक	अग्नि	शक्र
मार्गशीर्ष	सौम्य	निरृति
पौष	जीव	विष्णु
माघ	पित्र्य	वरुण
फाल्गुन	भग	पूषन

अड़तीसवाँ परिच्छेद

दिनों के बने काल

काल के इकहरे मान

दिन को दिमस † (दिमसु), श्रेष्ठ भाषा में दिवस, रात को रात्रि, और दिन-रात को अहोरात्र कहते हैं। महीना मास और उसका आधा पक्ष कहलाता है। पहला या सफेद आधा शुक्ल पक्ष कहलाता है, क्योंकि इसकी रातों के पहले भागों में जब लोग अभी सोये नहीं होते चन्द्रालोक

होता है; परन्तु केवल उसी समय जब कि लोग सो जाते हैं। ये वे रातें होती हैं जिनमें चन्द्रमा के गोले पर प्रकाश घटता और तमोमय अंश बढ़ता है।

दो मासों को मिलाने से एक ऋतु बनती है, परन्तु यह केवल एक करीब करीब का लक्षण है, क्योंकि जिस मास में दो पक्ष होते हैं वह चान्द्र मास है, और जिसका दूना एक ऋतु होती है, वह सौर मास है। छः ऋतुओं का मनुष्यों का एक वर्ष, एक सौर वर्ष, होता है, जिसको बरह या बर्ख या वर्ष कहते हैं। इन तीन आवाजों ह, ख, और ष की हिन्दुओं के मुख में बहुत गड़-बड़ हो जाती है (संस्कृत वर्ष।)

मनुष्यों के तीन सौ आठ वर्षों का देवों का एक बरस होता है जो दिव्य-बरह (दिव्य-वर्ष) कहलाता है, और देवों के १२००० वर्षों का सर्वसम्मति से एक चतुर्युग माना जाता है। केवल चतुर्युग के चार भागों और इसके गुणन के विषय में ही जिनका मन्वन्तर और कल्प बनता है मतभेद है। इस विषय की पूर्ण व्याख्या उचित स्थान (देखो परिच्छेद ४१ तथा ४४) पर की जायगी।

दो कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है। चाहे हम दो कल्प कहें और चाहें २८ मन्वन्तर; बात एक ही है, क्योंकि ब्रह्मा के ३६० दिन ब्रह्मा का एक वर्ष, अर्थात ७२० कल्प या १००८० मन्वन्तर होते हैं।

इसके अतिरिक्त, वे कहते हैं कि ब्रह्मा की आयु उसके १०० वर्ष अर्थात ७२००० कल्प या १००८००० मन्वन्तर होती है।

उपस्थित पुस्तक में हम इस सीमा के आगे नहीं जाते। विष्णु-धर्म पुस्तक में मार्कण्डेय का एक ऐतिह्य है। इसमें वज्र के एक प्रश्न का उत्तर मार्कण्डेय इन शब्दों में देता है—कल्प ब्रह्मा का एक दिन, और उतनी ही उसकी एक रात होती है। इसलिए ७२० कल्पों का उसका एक वर्ष होता है, और उसकी आयु ऐसे १०० वर्षों की होती है। ये १०० वर्ष पुरुष का एक दिन होते हैं और इतनी ही उसकी रात होती है। परन्तु पुरुष के पहले अभी कितने ब्रह्मा गुजर चुके हैं यह बात सिवा उस व्यक्ति के और कोई नहीं जानता जो गंगा की रेत को या वर्षा के के बिन्दुओं को गिन सकता है।

---

‡ दिमस—इसका उच्चारण दिमस किया जाता है और संस्कृत में दिवस कहते हैं वैसे इसका अभिप्राय दिन से है।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

काल के वे परिमाण जो ब्रह्मा की आयु से बड़े हैं

समय के सब से बड़े परिमाण

जो बातें क्रमहीन हैं, जो इस पुस्तक के पूर्ववर्ती भागों में वर्णित नियमों के विरुद्ध हैं वे सब हमारी प्रकृति को वीभत्स और हमारे कानों को अप्रिय मालूम होती हैं। परन्तु हिन्दू एक ऐसी जाति है जो बहुत से ऐसे नामों का उल्लेख करती है जो सब के सब-जैसा कि उनका मत है—एक, आदि (परमेश्वर) के या उसके पीछे किसी और के, जिसकी ओर सङ्केत मात्र किया गया है, बोधक होते हैं। जब वे इस प्रकार के परिच्छेद पर आते हैं तो वे उन्हीं नामों को दुहराते हैं जो कि बहु-संख्यक सत्ताओं के सूचक हों, और उनके लिए आयु नियत करते और बड़ी-बड़ी संख्याओं की कल्पना करते हैं। बस, केवल इस पिछली चीज की ही उन्हें आवश्यकता है; वे इसका अतिशय स्वतंत्रता के साथ उपयोग करते हैं, और संख्यायें तितिक्षु हैं, जहाँ उन्हें रख लो वहीं खड़ी रहती हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी ऐसा विषय नहीं जिस पर स्वयं हिन्दुओं का आपस में एक मत हो, और यह बात हमें इसका प्रयोग ग्रहण करने से रोकती है। इसके विपरीत, काल के इन काल्पनिक परिमाणों पर उतना ही मतभेद है जितना दिन के उन विभागों पर जो प्राण से कम हैं (देखो परिच्छेद ३४)।

कल्पों द्वारा काल के सब से बड़े मान

उत्पल कृत स्रूधव नाम की पुस्तक कहती है कि "एक मन्वन्तर राजा इन्द्र की आयु है, और २८ मान्वन्तर पितामह अर्थात ब्रह्मा का एक दिन होते हैं। उसका जीवन १०० वर्ष या केशव का एक दिन है। केशव की आयु सौ वर्ष या महादेव का एक दिन है। महादेव की आयु १०० वर्ष या ईश्वर का एक दिन है। ईश्वर परमात्मा के निकट है और उसकी आयु १०० वर्ष, या सदाशिव का एक दिन है। सदाशिव की आयु १०० वर्ष, या सनातन विरञ्चन का एक दिन है। विरञ्चन अमर है और पहली पांच सत्ताओं के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी बना रहता है।"

हम अभी कह चुके हैं कि ब्रह्मा की आयु ७२००० कल्प की होती है। जिन संख्याओं का यहाँ उल्लेख करेंगे वे सब कल्प हैं।

ब्रह्मा की आयु को केशव का एक दिन मान कर तीन सौ साठ दिन के बने हुए उसके एक वर्ष के २५९२०००० कल्प, और उसकी आयु के २५९२००००० कल्प होते हैं। कल्पों की यह पिछली संख्या ईश्वर का १ दिन है; इसलिए, उसकी आयु ९३३१२०००००००००० कल्प होती है। यह पिछली संख्या महादेव का १ दिन है; इसलिए, उसकी आयु ३३५९२३२०००००००००००० कल्प हुई। यह पिछली संख्या सदाशिव का एक दिन है, इसलिए उसकी आयु १२०९३२३५२००००००००००००००००० कल्प हुई। यह पिछली संख्या विरञ्चन का एक दिन है, जिसका कि परार्ध कल्प सापेक्ष रूप से केवल एक बहुत थोड़ा अंश है।

त्रुटियों द्वारा निर्णय

इन गणनाओं का स्वरूप चाहे कुछ ही हो, प्रकट रूप से दिन और शतक ही ऐसे तत्व हैं जिन से यह सब कुछ आदि से अन्त तक बनाया गया है। परन्तु, दूसरे लोग दिन के पूर्वोल्लिखित छोटे-छोटे अंशों पर अपनी पद्धति बनाते हैं (परिच्छेद ३४ में)। फलतः उनका अपनी रचना के विषय में आपस में मतभेद पाया जाता है, क्योंकि जिन अंशों को लेकर वे रचना करते हैं वे अंश ही भिन्न-भिन्न होते हैं। हम यहाँ इस प्रकार की एक पद्धति देंगे। इसको उन लोगों ने गढ़ा है जो निम्न-लिखित मान-पद्धति का प्रयोग करते हैं —

१ घटी = ६० कला। १ कला = ३० काष्ठा।
१ काष्ठा = ३० निमेष। १ निमेष = २ लव। १ लव = २ त्रुटि।

इस प्रकार के विभाग का कारण, उनके मतानुसार, यह है कि शिव का दिन इसी प्रकार के कणों का बना हुआ है; क्योंकि ब्रह्मा की आयु हरि, अर्थात वासुदेव की एक घटी है। वासुदेव की आयु सौ वर्ष, या रुद्र अर्थात महादेव की एक कला है; महादेव की आयु सौ वर्ष, या ईश्वर की एक काष्ठा है; ईश्वर की आयु सौ वर्ष, या सदाशिव का एक निमेष है; सदाशिव की आयु सौ वर्ष, या शक्ति का एक लव है; शक्ति की आयु सौ वर्ष, या शिव की एक त्रुटि है।

अब, यदि, ब्रह्मा की आयु ७२००० कल्प है।

तो नारायण की आयु, १५५५२०००००००० कल्प है।

रुद्र की आयु, ५३७४७७१२०००००००००००००० कल्प है।

ईश्वर की आयु, ५५७२५६२७८०१६००००००००००००००००० कल्प है।

सदाशिव की आयु, १७३३२८६६२७१४०६६४०००००००००००००००००००००००० कल्प है।

शक्ति की आयु, १०७८२४४६६७८७५८५२३७८११२००००००००००००००००००००००० कल्प है।

यह पिछली संख्या एक त्रुटि को प्रकट करती है।

यदि तुम उपर्युक्त पद्धति के अनुसार इसका एक दिन बनाओ तो इसमें ३७२६४१४७१२६ ५८६४५८१८७५५०७२०००००००००००००००००००००००००००००००० कल्प होते हैं। यह पिछली संख्या शिव का एक दिन है। शिव को वे सनातन, उत्पन्न होने और सन्तान उत्पन्न करने से मुक्त, और उन सर्वगुणों और विशेषणों से रहित वर्णन करते हैं जिनका प्रयोग सृष्ट पदार्थों पर हो सकता है। यह सबसे पिछली संख्या अङ्क के छप्पन क्रमों (अर्थात इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, इत्यादि) को दिखलाती है; परन्तु यदि उन कल्पनाकारियों ने गणित का अध्ययन अधिक प्रयत्न से किया होता तो वे ऐसी दुर्दान्त संख्याओं की कल्पना न करते। परमेश्वर खयाल रखता है कि कहीं उनके वृक्ष बढ़ कर आकाश में न पहुँच जायँ!

———

चालीसवाँ परिच्छेद

काल की दो अवधि के बीच के अन्तर

दो संन्धियों की व्याख्या

वास्तविक सन्धि दिन और रात के बीच का अन्तर है, अर्थात् प्रातः अरुण, जिसको सन्धि-उदय अर्थात सूर्य के उदय होने की सन्धि, और सायं अरुण, जिसको सन्धि अस्तमन * अर्थात सूर्य के डूबने की सन्धि कहते हैं। हिन्दुओं को एक धार्मिक हेतु से उनका प्रयोजन है, क्योंकि ब्राह्मण लोग इनमें स्नान करते हैं, और इन दोनों के बीच मध्यान में भी भोजन के लिए नहाते हैं, जिससे कोई अदीक्षित व्यक्ति यह परिणाम निकाल सकता है कि एक तीसरी सन्धि भी होती है। परन्तु जो मनुष्य इस विषय को यथार्थ रीति से जानता है वह सन्धियों की संख्या दो से अधिक कभी नहीं मानता।

राजा हिरण्यकशिपु और उसके पुत्र प्रह्लाद की कथा

दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु ‡ के विषय में पुराण यह कथा बयान करते हैं—

चिरकाल तक तपस्या करने से उसने यह वर पाया था कि तुम्हारी प्रत्येक प्रार्थना स्वीकार हो जायगी। उसने अमर जीवन मांगा, परन्तु उसे दीर्घ जीवन मिला, क्योंकि अमरत्व केवल जगत-कर्त्ता परमेश्वर का ही गुण है। अपनी मनोरथसिद्धि न देख कर उसने कामना की कि मैं न मनुष्य के हाथ से, न देवता के हाथ से, और न दैत्य के हाथ से मारा जाऊँ, और मेरी मृत्यु न पृथ्वी पर हो, न आकाश में, न रात में हो और न दिन में। ऐसी शर्तों से उसका उद्देश मृत्यु से, जो मनुष्य के लिए अनिवार्य है, बचने का था। उसकी इच्छा पूरी कर दी गई।

इस इच्छा को देख कर शैतान की इच्छा स्मरण हो आती है कि उसे पुनरुत्थान के दिन तक जीवित रहने दिया जाय, क्योंकि उस दिन सभी प्राणी मृत्यु से जी उठेंगे। परन्तु उसे अपने उद्देश में सफलता न हुई, क्योंकि उसे परम प्रसिद्ध काल के दिन तक ही जिसके विषय में कहा गया है कि यह कष्टों का अन्तिम दिन है, जीवित रहने की आज्ञा मिली।

राजा के प्रहलाद नामक एक पुत्र था। जब वह बड़ा हुआ तो राजा ने उसे एक अध्यापक के सिपुर्द कर दिया। एक दिन राजा ने पुत्र को अपने पास बुला कर पूछा कि तुमने क्या कुछ पढ़ा है। अब लड़के ने उसे एक कविता सुनाई जिसका अर्थ यह था कि केवल विष्णु का ही अस्तित्व है, शेष सब वस्तुएँ माया हैं। यह बात पिता के विचारों के बहुत विरुद्ध थी, क्योंकि वह विष्णु से घृणा करता था। इसलिए उसने आज्ञा दी कि लड़का किसी दूसरे अध्यापक के सिपुर्द किया जाय, और उसे मित्र और बैरी की पहचान सिखलाया जाय। अब विशेष काल तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त जब उसने उसकी फिर परिक्षा की तो लड़के ने उत्तर दिया, "जो कुछ आपने आज्ञा दी है वह मैंने सीख

---

* सन्धि उदय और सन्धि अस्तमन—यह सन्ध्युदय और सन्ध्यस्तमन होना चाहिये। परन्तु अलबेरुनी ने इसी प्रकार लिखा है।

‡ हिरण्यकशिपु और उसके पुत्र प्रहलाद की कथा विष्णुपुराण के द्वितीय खण्ड में है।

लिया है,पर मुझे उसकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरी सभी से एक सी मित्रता है, शत्रुता किसी से नहीं।" इस पर उसका पिता बहुत अप्रसन्न हुआ, और उसने लड़के को विष देने की आज्ञा दी। लड़के ने परमेश्वर के नाम से विष खा लिया, और विष्णु का ध्यान करने लगा, और देखिए, इससे उसका बाल बाँका न हुआ! उसका पिता बोला, "क्या तुम टोना-जादू और मंत्र-यंत्र जानते हो?" लड़के ने उत्तर दिया, "नहीं, परन्तु जिस जगदीश्वर ने मुझे उत्पन्न करके तुझे दिया है वह मेरी रखवाली करता है।" अब राजा का क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आज्ञा दी कि यह गहरे समुद्र में फेंक दिया जाय। परन्तु समुद्र ने उसे फिर बाहर फेंक दिया, और वह अपने स्थान को लौट आया। तब वह राजा के सामने एक बहुत बड़ी धधकती हुई आग में फेंका गया, पर इससे उसका कुछ न बिगड़ा। ज्वाला में खड़ा होकर वह अपने पिता के साथ परमेश्वर और उसकी शक्ति पर बातचीत करने लगा। जब लड़के ने अकस्मात यह कह दिया कि विष्णु प्रत्येक स्थान में है तो उसका पिता बोला, "क्या वह द्वारमण्डप के इस स्तम्भ में भी है?" लड़का बोला, "हाँ।" तब उसके पिता ने उछल कर स्तम्भ पर प्रहार किया, जिस पर उसमें से नरसिंह निकला, जिसका धड़ मनुष्य का और सिर सिंह का था, इसलिए वह न मनुष्य, न देवता, और न दैत्य था। अब राजा और उसके आदमी नरसिंह के साथ लड़ने लगे। नरसिंह ने उन्हें ऐसा करने दिया क्योंकि दिन था। परन्तु जब सायंकाल होने लगा, और वे सन्धि या सन्धियों में हुए, जब न दिन था और न रात, तब नरसिंह ने राजा को पकड़ कर वायु में उठा लिया और उसे वहीं मार डाला; इसलिये वह न पृथ्वी पर था और न आकाश में। राजकुमार आग से बाहर निकाल लिया गया और वह उसके स्थान में राज्य करने लगा।

सन्धि का फलित ज्योतिष में उपयोग

हिन्दू फलित-ज्योतिषियों को दो सन्धियों की इसलिए आवश्यकता है क्योंकि कई राशियाँ अतीव प्रबल प्रभाव डालती हैं, जैसा हम बाद को उचित स्थान पर वर्णन करेंगे। वे उनका उपयोग किञ्चित् बाह्य रीति से करते हैं। वे केवल प्रत्येक सन्धि का काल एक मुहूर्त = दो घटी = ४८ मिनट गिनते हैं। परन्तु वराहमिहिर जैसे सर्वोत्कृष्ट ज्योतिषी ने सदा केवल दिन और रात का उपयोग किया है, और सन्धि के विषय में जन-साधारण के मत का अनुसरण नहीं किया। उसने सन्धि को ठीक वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि वास्तव में वह है, अर्थात वह समय जब सूर्य के पिण्ड का केन्द्र आकाश-कक्षा के ठीक ऊपर स्थित होता है, और इस समय को वह विशेष राशियों की बड़ी शक्ति का समय प्रतिष्ठित करता है।

अन्य प्रकार की सन्धियाँ

स्वभाविक दो दिन की सन्धि के अतिरिक्त, ज्योतिषी और दूसरे लोग और तरह की सन्धियाँ भी मानते हैं जिनका आधार कोई प्राकृतिक नियम या निरीक्षण नहीं, प्रत्युत केवल कोइ उपन्यास होता है। इस प्रकार वे प्रत्येक अयन, अर्थात प्रत्येक वर्षार्ध को, जिसमें सूर्य चढ़ता और उतरता है, सन्धि मानते हैं। यह सन्धि उसके वास्तविक आरम्भ के पहले सात दिन की होती है। इस विषय पर मेरी एक कल्पना है जो निश्चय से सम्भव, प्रत्युत सम्भाव्य है, अर्थात यह सिद्धान्त प्राचीन काल का नहीं, प्रत्युत हाल ही की उपज है, और यह सिकन्दर के १३०० के करीब (=९८९ ईसवी) पेश किया गया है जब हिन्दुओं को यह मालूम हुआ कि वास्तविक क्रान्ति उनकी गणना की क्रान्ति से पहले होती है। क्योंकि लघुमानस का कर्त्ता पुञ्चल कहता है कि शक काल के सन् ८५४ में

वास्तविक क्रान्ति मेरी गणना से ६'५०' पहले थी, और यह भेद प्रतिवर्ष एक-एक मिनट बढ़ता जायगा।

ये एक ऐसे मनुष्य के शब्द हैं जो या तो स्वयं एक महुत बड़ा सावधान और व्यवहारज्ञ आलोचक था, या जिसने अपने पूर्ववर्ती ज्योतिषियों के अवलोकनों को, जो उसके पास थे, परीक्षा की थी, और वहाँ से वार्षिक भेद का परिमाण मालूम किया था। निस्सन्देह दूसरे लोगों ने भी वही या वैसा ही भेद मध्याह्न छाया की गणना के द्वारा मालूम किया है। इसलिए (क्योंकि यह विवेचना पहले ही बहुत प्रसिद्ध थी) कश्मीर के उत्पल ने यह सिद्धान्त पुञ्चल से लिया है।

मेरे इस अटकलपच्चू अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि हिन्दू लोग सन्धियों के वर्ष को छः ऋतुओं में से प्रत्येक के पहले रखते हैं, जिसके फल से वे पहले ही अगली पूर्ववर्ती राशियों के तेईसवें अंश से आरम्भ करते हैं।

हिन्दू दो भिन्न-भिन्न युगों के बीच और मन्वन्तरों के बीच भी सन्धि मानते हैं; किन्तु चूँकि इस कल्पना का आधार आनुमानिक है इसलिए इससे निकाली हुई प्रत्येक बात भी अनुमानिक है। हम उचित स्थान पर बातों का ठीक-ठीक वर्णन करेंगे।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

कल्प तथा चतुर्युग की परिभाषा

चतुर्युग और कल्प

बारह सहस्र दिव्य वर्ष का, जिनकी लम्बाई पहले बता चुके हैं (परिच्छेद ३५); एक चतुर्युग, और सौ चतुर्युग का एक कल्प होता है; कल्प वह अवधि है जिसके आदि और अन्त में मेष-राशि के०° में सात तारों और उनके उच्च नीच स्थानों और पातों का संयोग होता है। कल्प के दिनों को कल्प अहर्गण कहते हैं, क्योंकि अह् का अर्थ दिन और गण का अर्थ समूह है। चूंकि वे सूर्य के उदय से निकाले हुए नागरिक दिन हैं, इसलिए इनको पृथ्वी के दिन भी कहते हैं, क्योंकि सूर्योदय के लिए पहले दिङ्मण्डल मानना आवश्यक है, और दिङ्मण्डल पृथ्वी का एक प्रयोजनीय गुण है।

इसी कल्प-अहर्गण नाम से लोग विशेष तिथि तक प्रत्येक शाक के दिनों के समूह को भी पुकारते हैं।

हमारे मुसलिम लेखक कल्प के दिनों को सिन्द-हिन्द† के दिन या जगत् के दिन कहते हैं, और उनकी गिनती १५७७९१६४५०००० दिन (सावन या नागरिक दिन), या ४३२००००००० सौर वर्ष, या ४४५२७७५०००चान्द्र वर्ष करते हैं। दिनों की उसी संख्या को ३६० नागरिक दिनों के वर्षों में बदलने से ४३८३१०१२५० वर्ष, और १२००००००० दिव्य वर्ष बनते हैं।

---

† सिन्द-हिन्द = सिद्धान्त से इसका अभिप्राय प्रतीत होता।

आदित्य पुराण कहता है—"कल्पन कल, जिसका अर्थ संसार में जातियों का अस्तित्व है, और पन जिसका अर्थ उनका विनाश और लोप है, का बना है। इस भाव और विनाश की समष्टि कल्प है।"

ब्रह्मगुप्त कहता है—"चूंकी ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में जगत् में मनुष्यों और ग्रहों का जन्म हुआ, और चूंकि वे दोनों इसके अन्त में नष्ट हो जाते हैं, इसलिए हमें उनके अस्तित्व के इस दिन को, किसी अन्य अवधि को नहीं, कल्प मानना चाहिए।"

एक दूसरे स्थल पर वह कहता है—"एक सहस्त्र चतुर्युग देवक, अर्थात ब्रह्मा का एक दिन होता है, और उसकी रात भी उतनी ही लम्बी होती है। इसलिए उसका दिन २००० चतुर्युग के बराबर है।"

इसी प्रकार पराशर का पुत्र व्यास कहता है—"जो १००० चतुर्युग का दिन और १००० चतुर्युग की रात मानता है वह ब्रह्मा को जानता है।"

मन्वन्तर और कल्प

एक कल्प की अवधि के अन्दर ७१ चतुर्युग १ मनु, अर्थात् मन्वन्तर या मनु-अवधि के बराबर; और १४ मनु एक कल्प के बराबर होते हैं। ७१ को १४ से गुणा करने से १४ मन्वन्तरों के ९९४ चतुर्युग बनते हैं, और कल्प के अन्त तक ६ चतुर्युग बाकी रहते हैं।

परन्तु, यदि हम १४ मन्वन्तरों में से प्रत्येक के आदि और अन्त दोनों पर सन्धि मालूम करने के लिए इन ६ चतुर्युग को १५ पर बाँटें तो, सन्धि की संख्या मन्वन्तरों की संख्या से १ अधिक होने के कारण, भागफल २/५ वाँ होता है। अब यदि हम प्रत्येक दो क्रमागत मन्वन्तरों के बीच २/५ चतुर्युग डालें, और यही संख्या पहले मन्वन्तर के आरम्भ और अन्तिम मन्वन्तर के अन्त में जोड़ दें तो १५ मन्वन्तरों के अन्त में का २/५ अपूर्णाङ्क लोप हो जाता है (२/५ गुणे १५ = ६)। कल्प के आदि और अन्त के अपूर्णाङ्क सन्धि, अर्थात साधारण शृङ्खला को दिखलाते हैं। एक कल्प में, इसकी सन्धि सहित, १००० चतुर्युग होते हैं, जैसा हमने इस परिच्छेद के प्रथम भाग में कहा है।

कल्प के आरम्भ की शर्तें

कल्प के इकहरे भागों का एक-दूसरे से स्थिर सम्बन्ध है, एक भाग दूसरे भाग के विषय में साक्षी है। क्योंकि कल्प का आरम्भ महाविषुव, आदित्यवार, ग्रहयुति, ग्रहों के उच्च नीच स्थानों और पातों से होता है। यह शर्तें ऐसे स्थान में पूरी होती हैं जहाँ न रेवती हो और न अश्विनी, अर्थात उनके बीचों-बीच, चैत्र मास के आरम्भ में, और सूर्य के लङ्का के ऊपर चढ़ने के समय। यदि इन शर्तों में से किसी एक में भी अनियम हो तो शेष सबमें गड़बड़ हो जाती है और वे समर्थनीय नहीं रहतीं।

कल्प के वर्षों और दिनों की संख्या का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। तदनुसार एक चतुर्युग में, कल्प का १/१००० वाँ भाग होने से, १५७७९१६४५० दिन और ४३२०००० वर्ष होते हैं।

ये संख्यायें कल्प और चतुर्युग के बीच के सम्बन्ध को प्रकट करतीं, और इसके अतिरिक्त एक को दूसरे के द्वारा स्थिर करने की रीति को दिखलाती हैं।

इस परिच्छेद का हमारा सारा कथन ब्रह्मगुप्त की कल्पना और इस कल्पना की पुष्टि में उसकी युक्तियों पर निर्भर करता है।

आर्यभट तथा पुलिश की कल्पनायें

बड़ा आर्यभट और पुलिश ७२ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर और १४ मन्वन्तरों का एक कल्प बनाते हैं। वे इनके बीच कहीं सन्धि नहीं डालते। इसलिए, उनके मतानुसार, एक कल्प में १००८ चतुर्युग; या १२०९६००० दिव्य वर्ष या ४३५४५६०००० मानव-वर्ष होते हैं।

पुलिश के मतानुसार एक चतुर्युग में १५७७९१७८०० नागरिक दिन होते हैं। इसलिए उसके अनुसार एक कल्प के दिनों की संख्या १५९०५४११४२४०० होगी। ये वे संख्यायें हैं जिनका प्रयोग वह अपनी पुस्तक में करता है।

मुझे आर्यभट की पुस्तकों का कुछ भी पता नहीं लग सका। उसके विषय में जो कुछ मुझे ज्ञात है वह ब्रह्मगुप्त के दिये हुए उसके अवतरणों द्वारा मालूम है। ब्रह्मगुप्त "शास्त्र के आधार पर गुणदोषविवेचक अन्वेषण" नाम के एक प्रबन्ध में कहता है कि आर्यभट के अनुसार चतुर्युग के दिनों की संख्या १५७७९१७५००, अर्थात पुलिश की बताई संख्या से ३०० दिन कम है। इसलिए आर्यभट के अनुसार कल्प के १५९०५४०८४०००० दिन होंगे।

आर्यभट और पुलिश के अनुसार, कल्प और चतुर्युग का आरम्भ उस मध्यरात्रि से होता है जो उस दिन के बाद आती है जिसका आरम्भ ब्रह्मगुप्त के मतानुसार, कल्प का आरम्भ है।

कुसुमपुर का आर्यभट, जो बड़े आर्यभट का अनुयायी है, अलन्त्फ (?) पर अपनी एक छोटी पुस्तक में कहता है, कि "१००८ चतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन होते है। ५०४ चतुर्युगों का पहला आधा जिसमें सूर्य ऊपर को चढ़ता है उत्सर्पिणी कहलाता है और दूसरा आधा जिसमें सूर्य उतरता है अवसर्पिणी कहलाता है। इस अवधि के मध्य को सम, अर्थात बराबरी कहते हैं, क्योंकि यह दिन का मध्य है और दोनों सिरे दुर्तम (?) कहलाते हैं।"

जहां तक दिन और कल्प के बीच की तुलना का सम्बन्ध है वहां तक तो यह दुरुस्त है, परन्तु सूर्य के ऊपर को चढ़ने और उतरने की बात सत्य नहीं। यदि उसका मतलब उस सूर्य से है जो हमारा दिन बनाता है तो इस बात का स्पष्ट करना उसका कर्तव्य था कि सूर्य का यह चढ़ना और उतरना किस प्रकार का है? परन्तु यदि उसका अभिप्राय किसी ऐसे सूर्य से है जिसका ब्रह्मा के दिन से विशेष सम्बन्ध है तो यह उसका कर्तव्य था कि वह उस सूर्य को हमें दिखाता या हमारे पास उसका वर्णन करता। मैं समझता हूँ इन दो बायानों से लेखक का मतलब यह है कि इस अवधि के पहले आधे में चीजों का क्रमिक, वर्धमान विकास, और दूसरे आधे में प्रतीत, ह्रास होता हैं।

बयालीसवाँ परिच्छेद

चतुर्युग की युगों में बांट

चतुर्युग के भाग

विष्णु-धर्म्म का रचयिता कहता है—"बारह सौ दिव्य वर्षों का एक युग होता है जिसको कि तिष्य कहते हैं। इसका दूना द्वापर, तिगुना त्रेता, चौगना कृत और चारों युगों का एक चतुर्युग होता है।

"इकहत्तर चतुर्युगों का एक मन्वन्तर, और प्रत्येक दो मन्वन्तरों के बीच एक कृतयुग की संस्थिति की सन्धि के सहित १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। दो कल्प ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है, और उसकी आयु एक सौ वर्ष या पुरुष अर्थात् आदि मनुष्य का एक दिन होता है। इस पुरुष का न आदि और न अन्त मालूम है।"

यही बात जल के अधिपति, वरुण, ने प्राचीन काल में दशरथ के पुत्र, राम, को बताई थी, क्योंकि वह इन बातों को पूर्ण रीति से जानता था। भार्गव, अर्थात् मार्कण्डेय ने भी, जिसे समय का ऐसा पूर्ण ज्ञान था कि वह प्रत्येक संख्या पर सुगमता से अधिकार कर लेता था, यही जानकारी दी थी। हिन्दुओं के लिए यह मृत्यु के देवता के सदृश है; जो, अप्रतिधृष्य (अप्रतिकार्य) होने से, उनको अपने बैठने की गद्दी के साथ मारता है।

ब्रह्मगुप्त कहता है—"स्मृति नामक पुस्तक कहती है कि ४००० देवक वर्षों का एक कृतयुग होता है, किन्तु ४०० वर्ष की एक सन्धि और ४०० वर्ष के सन्ध्यांश को मिलाकर कृतयुग के ४८०० देवक वर्ष होते हैं।

"तीन सहस्र वर्ष का एक त्रेतायुग होता है, परन्तु, सन्धि और सन्ध्यांश को साथ मिलाकर जिनमें से प्रत्येक तीन-तीन सौ वर्ष का होता है, त्रेतायुग में ३६०० वर्ष होते हैं।

"दो सहस्र वर्ष का एक द्वापर होता है, किन्तु सन्धि और संध्यांश को साथ मिलाकर; जिनमें से प्रत्येक दो-दो सौ वर्ष का होता है; एक द्वापर में २४०० वर्ष होते हैं।

"एक सहस्र वर्ष का एक कलि होता है, किन्तु संधि और संध्यांश को साथ मिलाकर, जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ वर्ष का होता है, एक कलियुग में १२०० वर्ष होते हैं।"

यह ब्रह्मगुप्त का दिया हुआ स्मृति नामक पुस्तक का अवतरण है।

"दिव्य वर्षों को ३६० से गुणा करने से मानुष-वर्ष बन जाते हैं। तदनुसार चार युगों में निम्नलिखित मानव-वर्ष होते—

एक कृतयुग में	१४४०००० वर्ष अपने,
इनके अतिरिक्त	१४४००० ,, सन्धि के
और	१४४००० ,, सन्ध्यांश के होते हैं।
योग	१७२८००० वर्ष = एक कृतयुग।

क त्रेतायुग में	१०८००००	वर्ष अपने,
इनके अतिरिक्त	१०८०००	,, संधि के,
और	१०८०००	,, सन्ध्यांश के होते हैं।
योग	१२९६०००	वर्ष = एक कृतयुग।
एक द्वापर में	७२००००	वर्ष अपने,
इनके अतिरिक्त	७२०००	,, सन्धि के,
और	७२०००	,, सन्ध्यांश के होते हैं।
योग	८६४०००	वर्ष = एक द्वापर।
एक कलि में	३६००००	वर्ष अपने,
इनके अतिरिक्त	३६०००	,, सन्धि के,
और	३६०००	,, सन्ध्यांश के होते हैं।
योग	४३२०००	वर्ष = एक कलियुग।

"कृत और त्रेता का योग ३०२४००० वर्ष होता है, और कृत, त्रेता, और द्वापर का जोड़ ३८८८००० वर्ष है।"

ब्रह्मगुप्त द्वारा दूसरों के अवतरण

आगे चलकर ब्रह्मगुप्त कहता है—"आर्यभट चार युगों को चतुर्युग के चार समान भाग समझता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्मृति नामक पुस्तक के सिद्धान्त से उसका मतभेद है, और आर्य-भट तथा पुलिश के जिसका हमसे मतभेद है वह विरोधी है।" इसके विपरीत, पुलिश जो कुछ करता है उसके लिए ब्रह्मगुप्त उसकी प्रशंसा करता है; क्योंकि उसका स्मृति नामक पुस्तक से मतभेद नहीं, क्योंकि वह कृतयुग के ४८०० वर्षों में से १२०० निकाल देता है, और अवशेष को और भी अधिक हटाता जाता है यहां तक कि ऐसे युग निकल आते हैं जो स्मृति के युगों से मिलते हैं, और सन्धि तथा सन्ध्यांश से रहित हैं। स्मृति के ऐतिह्य के सदृश यूनानियों की कोई चीज नहीं, क्योंकि वे समय को युगों, मन्वन्तरों; या कल्पों से नहीं मापते।

यह तो हुई ब्रह्मगुप्त के अवतरण की बात।

यह बात भली भांति विदित है कि पूर्ण चतुर्युग के वर्षों की संख्या के विषय में कोई भी मतभेद नहीं। इसलिए; आर्यभट के अनुसार, कलियुग में ३००० दिव्य वर्ष या १०८०००० मानुष वर्ष होते हैं। प्रत्येक दो युगों में ६००० दिव्य वर्ष या २१६०००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। प्रत्येक तीन युगों में ९००० दिव्य वर्ष या ३२४०००० मनुष्य-वर्ष होते हैं।

पौलिस का नियम और उसकी अलोचना

एक ऐतिह्य है कि पौलिस अपने सिद्धान्त में इन संख्याओं की गिनती के लिए अनेक नये नियम निर्दिष्ट करता है। इनमें से कुछ तो मानने योग्य हैं और कुछ त्यागने लायक। इस प्रकार युगों की गिनती के नियम में वह ४८ को आधार रख कर इसमें से एक चौथाई निकाल देता है, जिससे ३६ बाकी रह जाते हैं तब वह फिर १२ को घटाता है, क्योंकि यह संख्या उसके वियोजन का आधार है, जिससे शेष २४ रह जाते हैं, और इसी संख्या को तीसरी बार घटाने से शेष उसके पास

१२ रह जाते हैं। इन १२ को वह १०० से गुणता है, और उनका गुणन-फल युगों के दिव्य वर्षों की संख्या को दिखलाता है।

यदि वह ६० की संख्या को आधार बनाता, क्योंकि बहुतसी बातों का निश्चय इससे हो सकता है, और इसके एक-पाँचवे भाग को वियोजन का आधार बनाता अथवा यदि वह ६० में से अवशिष्ट संख्या के क्रमागत अपूर्णाङ्कों को निकाल देता, पहले १/५ = १२, अवशेष १/४ = १२ में से, अवशेष १/३ = १२ में से, और अवशेष १/२ = १२ में से, तो वह उसी परिणाम पर पहुँच जाता जिस पर कि वह इस रीति से पहुँचा है (६० − १/५ = ४८, − १/४ = ३६, − १/३ = २४, − १/२ = १२)।

सम्भव है कि पौलिस ने इस विधि का उल्लेख दूसरी विधियों में से एक के रुप में किया है, और विशेष रुप से यह वह विधि नहीं जिसको स्वयं उसने ग्रहण किया था। उसकी सारी पुस्तक का भाषान्तर अभी तक अरबी में नहीं हुआ; क्योंकि उसके गणित-सम्बन्धी प्रश्नों में एक सुस्पष्ट धार्मिक और ईश्वर-तत्व-विषयक प्रवृत्ति पाई जाती है।

पुलिस द्वारा ब्रह्मा के आयु की गणना

इस बात को गिनते समय कि वर्तमान कल्प के पहले ब्रह्मा की आयु के हमारे कितने वर्ष बीत चुके हैं पुलिश अपने दिये नियम को छोड़ देता है। उसके लिखने के समय तक, नये कल्प के आठ वर्ष, पाँच मास और चार दिन बीत चुके थे। वह ६०६८ कल्प गिनता है। क्योंकि, उसके मतानुसार, एक कल्प में १००८ चतुर्युग होते हैं, इसलिए वह इस संख्या को १००८ से गुणा करके ६११६५४४ चतुर्युग प्राप्त करता है। इनको वह ४ से गुणा करके युग बना लेता है, और इससे २४४६६१७६ युग बन जाते हैं। क्योंकि, उसके मतानुसार, एक युग में १०८०००० वर्ष होते हैं, इसलिए वह युगों की संख्या को १०८०००० से गुणा करके २६४२३४७००८०००० गुणन-फल प्राप्त करता है। यह संख्या उन वर्षों की है जो वर्तमान युग के पहले ब्रह्मा की आयु के बीत चुके हैं।

पुलिस की गणना की समालोचना

ब्रह्मगुप्त के अनुयायियों को शायद यह बात विचित्र मालूम होगी कि पुलिश ने चतुर्युग को ठीक-ठीक युगों में नहीं, प्रत्युत केवल चौथे भागों (उनको ४ पर बाँट कर) में बदल डाला है, और इन चौथे भागों को एक अकेले चौथे भाग के वर्षों की संख्या से गुणा किया है।

अब, हम उससे यह नहीं पूछते कि चतुर्युगों को चतुर्थांशों के रुप में दिखलाने का क्या फायदा है क्योंकि उनमें कोई ऐसा अपूर्णाङ्क नहीं जिसको इस प्रकार पूर्णाङ्कों में बदल देने की आवश्यकता हो। पूरे चतुर्युगों का एक पूर्ण चतुर्युग के वर्षो, अर्थात् ४३२०००० के साथ गुणन काफी लम्बा होता। परन्तु, हम कहते हैं कि यदि वह वर्तमान कल्प के बीते हुए वर्षों को उपरोक्त संख्या के सम्बन्ध में लाने की कामना से प्रभावित हुआ न होता, और अपने सिद्धान्त के अनुसार पूरे गुजरे हुए मन्वन्तरों को ७२ से गुणा करता, इसके अतिरिक्त, यदि उसने गुणनफल को एक चतुर्युग के वर्षों से गुणा न किया होता, जिससे १८६६२४०००० वर्ष का गुणाकार प्राप्त होता है, और फिर यदि वह वर्तमान मन्वन्तर के गुजरे हुए पूर्ण चतुर्युगों की संख्या को अकेले चतुर्युग के वर्षों से गुणा न करता, जिससे ११६६४०००० वर्ष का गुणाकार प्राप्त होता है, तो उसका

ऐसा करना ठीक था। वर्तमान चतुर्युग के तीन युग, अर्थात् उसके अनुसार, ३२४०००० वर्ष बीत चुके हैं। पिछली संख्या एक चतुर्युग के वर्षों की तीन-चौथाइयों को दिखलाती है। वह वर्षों की यहाँ लिखी संख्या के दिनों की संख्या के द्वारा किसी तिथि का सप्ताह-दिवस मालूम करते समय इसी संख्या का प्रयोग करता है। यदि उपर्युक्त नियम में उसका विश्वास होता तो वह इसका वहाँ प्रयोग करता जहाँ इसकी आवश्यकता है, और वह तीन युगों को एक चतुर्युग का नौ-दसवाँ गिनता।

आर्यभट पर ब्रह्मगुप्त की आलोचना

अब यह स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त उसके प्रमाण पर जो कुछ बयान करता है, और जिसके साथ वह स्वयं भी सहमत है, वह सर्वथा निःसार है; परन्तु वह आर्यभट्ट से, जिसको वह बहुत बुरा-भला कहता है, केवल घृणा के कारण ही इस पर आँखें बन्द कर लेता है और इस दृष्टि से आर्यभट और पुलिश उसके लिए समान हैं। साक्ष्य के रूप में मैं ब्रह्मगुप्त का वह वाक्य लेता हूं जिसमें वह कहता है कि आर्यभट ने चन्द्रमा के उच्च नीच स्थानों और अजगर तारापुञ्ज के काल-चक्रों से कुछ घटाया है, और इससे ग्रहण की गिनती में गड़बड़ कर दी है। वह इतना अशिष्ट है कि आर्यभट को एक ऐसे कीड़े से उपमा देता है, जो लकड़ी को खाते हुए अकस्मात् उसमें विशेष अक्षर बना देता है; इन अक्षरों को न वह समझता है और न इनको बनाने की उसकी इच्छा ही होती है। "परन्तु जो इन चीजों को भली भाँति जानता है वह आर्यभट, श्रीषेण, और विष्णुचन्द्र के सम्मुख ऐसे खड़ा होता है जैसे हिरणों के सामने सिंह। वे उसे अपना मुँह नहीं दिखा सकते।" वह ऐसे कटु शब्दों में आर्यभट पर आक्रमण और उसके साथ असद्व्यवहार करता है।

सौर वर्ष की भिन्न-भिन्न लम्बाइयाँ

हम अभी बतला चुके हैं कि तीन विद्वानों के अनुसार एक चतुर्युग में कितने नागरिक दिन (सावन) होते हैं। पुलिश ब्रह्मगुप्त की अपेक्षा इसके १३५० दिन अधिक देता है, परन्तु चतुर्युग के वर्षों की संख्या दोनों के अनुसार एक ही है। इसलिए यह स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त की अपेक्षा पुलिश सौर वर्ष के अधिक दिन मानता है। ब्रगुह्मप्त के वृत्तान्त पर विचार करने से पता लगता है कि आर्यभट् चतुर्युग के दिन पुलिश से ५०० कम और ब्रह्मगुप्त से १०५० अधिक मानता है। इसलिए, आर्यभट के सौर वर्ष को ब्रह्मगुप्त से लम्बा और पुलिश से छोटा गिनना अवश्यक है।

तेंतालीसवाँ परिच्छेद

चार युगों और चौथे युग की समाप्ति

प्रकृतिक जल-प्रलय

प्रचीन यूनानियों के पृथ्वी के विषय में अनेक मत थे। दृष्टान्त रूप से हम इनमें से एक का यहाँ वर्णन करते हैं।

पृथ्वी पर, ऊपर और नीचे से, जो आपदायें समय-समय पर आती रहती हैं वे गुण और परिमाण में भिन्न-भिन्न होती हैं। पृथ्वी ने बहुशः एक ऐसे विप्लव का अनुभव किया है जो गुण में या परिमाण में, या इकट्ठा दोनों में, ऐसा अतुल्य था कि उससे बच सकने का कोई उपाय न था, और भाग जाने या सावधान रहने से कुछ भी बन न पड़ता था। आपद्, जल-प्रलय या भूडोल के सदृश आती है, और पृथ्वीतल को तोड़ कर, या जल में डुबाकर जो फूट कर निकलने लगता है, या राख और गरम पत्थरों के साथ जला कर जोकि बाहर फेंके जाते हैं, कड़क से, भूमि-स्खलन से, और आंधी से नाश करती है; इसके अतिरिक्त, संक्रामक तथा अन्य प्रकार के रोगों से, महामारी से, और इसी प्रकार के अन्य साधनों से विध्वंस फैलाती है। इससे एक बड़ा प्रदेश इसके अधिवासियों से खाली हो जाता है; परन्तु जब थोड़ी देर के बाद, विपद् और इसके कार्यों के चले जाने के उपरान्त, देश अपनी पूर्व अवस्था को पुनः लाभ करने और जीवन के नये चिह्न प्रकट करने लगता है, तो भिन्न-भिन्न जातियों के लोग, जो पहले गुप्त छिद्रों में और पर्वत-शिखरों पर निवास करते थे, वनैले पशुओं की तरह, वहाँ जमा होने लगते हैं। वे समान शत्रुओं, वन्य पशुओं या मनुष्यों के मुकाबले में एक-दूसरे की सहायता करने, तथा सुख और शान्ति के जीवन की आशा में एक-दूसरे को सहाय देने से सभ्य बन जाते हैं। इस प्रकार उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है; परन्तु, तब महत्वाकांक्षा, क्रोध और द्वेष के पङ्खों के साथ उनके गिर्द चक्कर लगती हुई, उनके जीवन केविमल आनन्द को बिगाड़ने लगती है।

हिप्पोक्रटीज की वंशावली

अनेक बार इस प्रकार की कोई जाति किसी ऐसे व्यक्ति से अपनी वंशावली है जो पहले-पहल उस स्थान में आबाद हुआ था, या जिसने किसी बात में नाम पाया था, जिससे अगली पीढ़ियों की स्मृति में अकेला वही जीता रहता है, और उसके सिवा शेष सब विस्मृत हो जाते हैं। अफलातूं ने नियमों की पुस्तक में जिउस, अर्थात बृहस्पति को यूनानियों का पूर्व पुरुष बताया है, और हिप्पोक्रटीज की वंशावली जिउस के साथ मिला दी गई है। इसका उल्लेख पुस्तक के अन्त में जोड़े हुए पिछले परिच्छेदों में पायाजाता है। परन्तु हम देखते हैं कि वंशावली में बहुत थोड़ी, चौदह से अधिक नहीं, पीढ़ियाँ हैं। वंशावली यह है—हिप्पोक्रटीज—नोसिडिकोस—नेब्रोस—सोस्ट्रेटोस—थियोडोरोस—क्लियोमिटाडस—क्रिसमिस—डर्डनस—सोस्ट्रेटोस—(?)—हिप्पोलोचोस— पोडलीरियोस मकेओन—अस्क्लिपियोस—अपोलो—जिउस—क्रोनोस, अर्थात शनि।

चार युगों के विषय में हिन्दुओं के मत

चतुर्युग के विषय में हिन्दुओं के भी ऐसे ही ऐतिह्य हैं, क्योंकि उनके मतानुसार, इसके आरम्भ, अर्थात कृतयुग के आरम्भ में सुख और शान्ति, सफलता और विपुलता, स्वास्थ्य और शक्ति, यथेष्ट ज्ञान और बहुत से ब्राह्मण थे। इस युग में, एक पूरे की चार चौथाइयों के सदृश, धर्म पूर्ण होता है, और समय की इस सारी अवधि में सब प्राणियों की आयु एकसाँ ४००० वर्ष होती थी।

इस पर पदार्थों का ह्रास प्रारम्भ हुआ और उनमें विपरीत तत्व यहाँ तक मिलने लगे कि त्रेतायुग के आरम्भ में आक्रमण करनेवाले अधर्म्म से धर्म्म तीन गुना अधिक, और आनन्द सारे का तीन चौथाई रह गया। इसमें क्षत्रियों की संख्या ब्राह्मणों से अधिक थी, और लोगों की आयु उतनी

ही लम्बी थी जितनी वह पूर्व युग में थी। विष्णु-धर्म्म ने ऐसा ही बताया है, परन्तु सादृश के अनुसार यह उतनी ही छोटी होनी चाहिए जितना आनन्द कम है, अर्थात यह एक-चौथाई कम होनी चाहिए। इस युग में वे यज्ञ में पशुओं का वध करने और पौधों को चीरने लगे। इन अनुष्ठानों को पहले कोई न जानता था।

इस प्रकार अधर्म्म बढ़ता है, यहाँ तक कि द्वापर के आरम्भ में धर्म्म और अधर्म्म का प्रमाण बराबर हो जाता है और इसके साथ हो आनन्द और विपत्ति भी बराबर हो जाते हैं। जल-वायु के गुणों में भिन्नता आने लगती है, हत्या बहुत बढ़ जाती है, और धर्म भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। आयु छोटी होकर विष्णु-धर्म्म के अनुसार केवल ४०० वर्ष की रह जाती है। तिष्य, अर्थात कलियुग के आरम्भ में अवशिष्ट धर्म्म से अधर्म्म तीन गुना अधिक होता है।

त्रेता और द्वापर युगों में होनेवाली घटनाओं के विषय में हिन्दुओं के अनेक परम प्रसिद्ध ऐतिह्य हैं, उदाहरणार्थ, राम की कथा जिसने रावण को मारा था; परशुराम ब्राह्मण की कथा, जिसने अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए प्रत्येक क्षत्रिय को जो उसके हाथ आया मार डाला था। उनका खयाल है कि वह आकाश में रहता है, अब तक इक्कीस बार पृथ्वी पर प्रकट हो चुका है, और फिर भी प्रकट होगा। इसके अतिरिक्त, पाण्डु और कुरु के पुत्रों के युद्ध की कथा है।

कलियुग में अधर्म्म बढ़ता है, यहाँ तक कि अन्त में धर्म्म का सर्वथा नाश हो जाता है। उस समय पृथ्वी के अधिवासी नष्ट हो जाते हैं, और जो लोग पर्वतों में बिखरे हुए और अपने आपको गुफाओं में छिपाते फिरते हैं उनमें एक नई जाति उत्पन्न होती है, जो ईश्वर की भक्ति के उद्देश से एकत्र होती, और कराल, पैशाचिक मनुष्य-जाति से दूर भागती है। इसलिए यह युग कृतयुग कहलाता है, जिसका अर्थ है "काम को समाप्त करने के बाद चले जाने के लिए तैयार होना।"

कलियुग का वर्णन

शौनक की कथा में जो शुक्र ने ब्रह्मा से सुनी थी परमेश्वर उससे ये शब्द कहता है—"जब कलियुग आता है तो मैं धर्मात्मा शुद्धोदन के पुत्र बुद्धोदन को जगत् में धर्म के प्रचार के लिए भेजता हूँ। परन्तु फिर मुहम्मिर अर्थात रक्तपटधारी, जिनकी उत्पत्ति उससे हुई है, उसकी लाई हुई प्रत्येक चीज को बदल देंगे, और ब्राह्मणों का यहाँ तक निरादर होगा कि शूद्र, जो उनके सेवक हैं, उनके साथ अविनीत वर्ताव करेंगे, और शूद्र और चण्डाल उनके साथ ही दान और नैवेद्य का भाग लेंगे। लोग पाप से धन इकट्ठा करने और खजाने भरने में रत होंगे, और भयानक तथा अन्याययुक्त अपराध करने में भी सङ्कोच न करेंगे। इस सारे का परिणाम यह होगा कि छोटे बड़ों के, सन्तान अपने माता-पिता के, और सेवक अपने स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह करेंगे। वर्ण एक-दूसरे के विरुद्ध हुल्लड़ मचायेंगे, चार वर्ण लोप हो जायँगे, और अनेक मत-मतान्तरों का जन्म होगा। अनेक पुस्तकें बनाई जायँगी, और जिन समाजों में पहले एकता थी वे उनके कारण व्यक्तियों में बँट जायँगे। देवालय नष्ट कर दिये जायँगे और विद्यालय खाली पड़े होंगे। न्याय संसार से उठ जायगा, राजा लोग लम्बी-चौड़ी आशाओं में मूर्खता से फँस कर और इस बात पर विचार न करके कि पापों (जिनके लिए उन्हें प्रायश्चित्त करना होगा) के मुकाबले में जीवन कितना छोटा है, अत्याचार और लूटने, छीनने और नष्ट कर डालने के सिवा और कुछ न जानेंगे, मानों वे प्रजा को निगल जाना चाहते हैं।

मानी का कथन

इन विचारों को मानी ने ग्रहण किया है क्योंकि वह कहता है— "तुमको मालूम रहे कि संसार के कार्यों में परिवर्तन आ चुका है; जबसे आकाश के राजदूतों अर्थात ग्रहों में परिवर्तन हुआ है तबसे पुरोहित-वर्ग भी बदल गया है, और पुरोहित लोग अब एक गोले के मण्डल के तारों का वैसा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जैसा उनके पिता कर सकते थे। वे छल से मनुष्यों को भ्रान्ति में डालते हैं। उनकी भविष्यद्वाणी दैव-योग से कभी ठीक होती है परन्तु बहुधा वह झूठ निकलती है।"

विष्णु-धर्म में कृतयुग का वर्णन

विष्णु-धर्म में इन बातों का वर्णन जितना हमने ऊपर दिया उससे बहुत अधिक लिखा है। लोगों को फल और दण्ड का ज्ञान न होगा; वे इस बात को न मानेंगे कि देवताओं का ज्ञान सम्पूर्ण है। उनके जीवनों की लम्बाई भिन्न-भिन्न होगी, और उनमें से किसी को भी पता न होगा कि मेरा जीवन कितना लम्बा है। एक भ्रूणावस्था में मरेगा तो दूसरा शैशव-काल में। धर्म-परायण लोग संसार से छीन लिये जायेंगे और उनका जीवन लम्बा न होगा, परन्तु पापी और धर्महीन लोग चिरकाल तक जीते रहेंगे। शूद्र राजा होंगे, और लालची भेड़ियों की तरह दूसरों का मन-भाता माल छीन लेंगे। ब्राह्मणों के काम भी इसी प्रकार के होंगे परन्तु बहुतायत शूद्रों और दस्युओं की होगी। ब्राह्मणों के नियम अन्यथा हो जायेंगे। लोग उन मनुष्यों की ओर कौतुक के तौर पर उंगली का इशारा करेंगे जिनका आचरण मितव्ययिता और दरिद्रता का होगा, वे। उनका तिरस्कार करेंगे, और विष्णु की पूजा करने वाले मनुष्य को देख कर आश्चर्य करेंगे; क्योंकि उन सबका चरित एक ऐसा (दुष्ट) हो गया है। इसलिये प्रत्येक कामना शीघ्र ही स्वीकृत होगी, थोड़े से गुण का बड़ा पुरस्कार मिलेगा, और थोड़ी सी भक्ति सेवा से ही यश और माहात्म्य प्राप्त हो जायगा।

परन्तु अन्ततः, इस युग की समाप्ति पर, जब अधर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायगा तो ज-व-श (?) ब्राह्मण का पुत्र गर्ग, अर्थात कलि, जिसके कारण कि इस युग यह नाम है, आगे निकलेगा। इसके तेज के सामने कोई ठहर न सकेगा और शस्त्र-विद्या में कोई भी दूसरा उसके तुल्य न होगा। तब वह प्रत्येक वस्तु को जो बुरी हो गयी है अच्छी बनाने के लिये अपनी तलवार निकालता है, वह पृथ्वीतल से मनुष्यों के मैल को दूर करता और भूमि को उनसे खाली करता है। वह पवित्र और धर्मपरायण लोगों को संतानोत्पत्ति के लिये इकट्ठा करता है। तब कृतयुग उनके बहुत पीछे जा पड़ता है, और समय और संसार पवित्रता, पूर्ण धर्म और सुख को पुनः लाभ करते हैं।

चरक और आयुर्वेद की उत्पत्ति

चतुर्युग चक्र में घूमने वाले युगों का यह स्वरूप है। तबरिस्तान के अली इब्न जैन के दिये अवतरण के अनुसार, चरक नाम की पुस्तक कहती है—प्राचीन काल में पृथ्वी सदा उर्वरा और स्वास्थ्यवर्धक होती थी, और तत्व या महाभूत समान रूप से मिश्रित होते थे। मनुष्य परस्पर प्रेम

और एकता के साथ रहते थे। उनमें अतिलिप्सा और महात्वाकांक्षा, ईर्ष्या और द्वेष, आत्मा तथा शरीर को अस्वस्थ करने वाली कोई बात न थी। किन्तु तब ईर्ष्या आई और उसके उपरान्त लालसा ने आकर घेरा डाला। लालसा से प्रेरित होकर वे धन जमा करने का यत्न करने लगे। यह काम अनेकों के लिए कठिन और अनेकों के लिए सुगम था। तब सब प्रकार के विचार, परिश्रम, और चिन्तायें उत्पन्न हुई जिनका फल युद्ध, कपट, और झूठ हुआ। मनुष्यों के हृदय पत्थर हो गये, प्रकृतियाँ बदल गईं और उनको रोगों का भय हो गया। व्याधियों ने मनुष्यों पर अधिकार कर उनसे ईश्वर की पूजा और विज्ञान की उन्नति छुड़ा दी। अविद्या का राज्य स्थापित हो गया और विपत्ति बढ़ गई। तब धर्म-परायण लोग आत्रेय के पुत्र कुश (?) ऋषि के पास गये और मन्त्रणा की; तदनन्तर ऋषि ने पर्वत पर चढ़ कर वहाँ से अपने आप को पृथ्वी पर गिरा दिया। इसके बाद परमेश्वर ने उसे आयुर्वेद की शिक्षा दी।

अराटस का अवतरण

यह सारा यूनानियों के ऐतिह्यों से, जिनका हमने (अन्यत्र) वर्णन किया है, बहुत मिलता है। क्योंकि अराटस अपनी जाहरात नामक पुस्तक में, और अपनी वक्रोक्तियों में सातवीं राशि के विषय में कहता है—उत्तरी आकाशों में चरवाहे अर्थात अलअव्वा के पैरों के नीचे देखो, और तुम्हें कुमारी अपने हाथ में अनाज की महकती हुई बाल, अर्थात अलसिमाकुल अजल लिये आती दिखाई देगी। वह या तो उस तारा-जाति की है जिसको प्राचीन तारों का पूर्वज कहा जाता है, या उसको किसी दूसरी जाति ने जन्म दिया है जिसे हम नहीं जानते। लोग कहते हैं कि प्राचीन काल में वह मनुष्य जाति में रहती थी। परन्तु उसका निवास केवल स्त्रियों में ही था, पुरुषों को वह दिखाई न देती थी, और न्याय के नाम से प्रसिद्ध थी। वह वृद्धों और मण्डियों तथा बाजारों में खड़े होने वाले लोगों को मिलाया करती और उच्च स्वर से उन्हें सत्यानुरागी बने रहने का उपदेश दिया करती थी। वह मानव जाति को असंख्य सम्पत्ति का दान देती और उसे स्वत्व प्रदान करती थी। उस समय पृथ्वी स्वर्णीय कहलाती थी। इसके अधिवासियों में से कोई भी कर्म या वचन से अनिष्ट कर दम्भ न करता था और उनमें कोई आपत्तिजनक भिन्नता न थी। उनका जीवन शान्त था और वे अभी जहाज में बैठ कर समुद्र यात्रा न करने लगे थे। गाँवों से ही आवश्यक प्रतिपालन हो जाता था।

"बाद को, जब स्वर्णीय जाति का अवसान हो गया और उसके स्थान में रजत-जाति आई, तो कन्या (राशि) लोगों के साथ मिलने लगी, परन्तु इससे उसे सुख नहीं हुआ। वह पर्वतों में छिप गई और अब उसका स्त्रियों के साथ पहला सम्बन्ध न रहा। तब वह बड़े-बड़े नगरों में गई। उसने उनके अधिवासियों को चेतावनी दी, उनके दुष्कर्मों के लिए उन्हें डांट डपट की, और उन्हें सुवर्णीय पूर्वजों से उत्पन्न हुई जाति के विनाश का दोष दिया। उसने पहले ही बता दिया कि तुमसे भी बदतर एक और जाति आयेगी, और युद्ध, रक्तपात, और अन्य महान विपत्तियाँ उसका अनुसरण करेंगी।

"इसको समाप्त करने के बाद, वह पर्वतों में अन्तर्धान हो गई, और रजत-जाति के अवसान तथा पित्तल-जाति के प्रादुर्भाव तक वहीं छिपी रही। लोगों ने तलवार बनाई जो कि पाप करने वाली है; उन्होंने गो-मांस खाया, वही सबसे पहले यह काम करने वाले थे। इन सब बातों से उनके पड़ोस में रहना न्याय के लिये कष्टप्रद हो गया, और वह उड़ कर आकाश में चली गयी।

अराटस पर धर्म पंडित की राय

अराटस को पुस्तक का टीकाकार कहता है—यह कन्या जीउस की पुत्री है। वह सार्वजनिक स्थानों और बाजारों में लोगों से बातचीत करती थी, और उस समय वे अपने शासकों के आज्ञाकारी थे। न उन्हें बुराई का पता था और न विरोध का। सब प्रकार के विवाद या ईर्ष्या से रहित वे कृषि पर निर्वाह करते थे, और वाणिज्य के लिए या लूट की लालसा से कभी समुद्र यात्रा न करते थे। उनकी प्रकृति स्वर्ण के सदृश पवित्र थी।

"परन्तु जब उन्होंने इन आचरणों को छोड़ दिया और उनमें सत्यानुराग न रहा, तो यथार्थता ने उनसे मिलना छोड़ दिया, परन्तु पर्वतों में रहती हुई वह उन्हें देखती थी। किन्तु जब वह उनके समाजों में इच्छा न रहने पर भी, आती थी तो वह उन्हें धमकाती थी, क्योंकि वे चुपचाप उसके शब्दों को सुनते थे। और इसलिए अब वह पहले के सदृश अपने आवाहन करने वालों को दर्शन न देती थी।

तब; जब, रजत-जाति के उपरान्त; पित्तल-जाति आई, जब एक लड़ाई के बाद दूसरी लड़ाई होने लगी और संसार में अधर्म फैल गया, तब वह वहाँ से चली गई, क्योंकि वह किसी प्रकार भी उनके पास रहना न चाहती थी, और उनसे घृणा करती थी और गगनमण्डल की ओर चली गई।

"यथार्थता (न्याय) के विषय में अनेक दृष्टान्त हैं। कई एक के मतानुसार वह डेमीटर है, क्योंकि उसके पास अनाज की बाल है; और कई उसे बख्त (भाग्य) समझते हैं।

अटारस का यही कथन है।

प्लेटो के नियमों से अवतरण

निम्नलिखित वाक्य प्लेटो (अफलातूं) के नियमों की तीसरी पुस्तक में मिलता है—

"एथन्सवालों ने कहा—'पृथ्वी पर ऐसे-ऐसे जल-प्रलय, रोग, और विपत्तियां आती रही हैं जिनसे सिवा पशुरक्षकों और पर्वतनिवासियों के और कोई नहीं बचा। वे उस जाति के अवशिष्टांश हैं जिसमें कपट और अधिकार-प्रेम न था।'

"क्नोसियन ने कहा—'आरम्भ में, इस संसार-कानन में अपने को अकेला अनुभव करके, मनुष्य एक दूसरे से सच्चा प्रेम करते थे। क्योंकि संसार उन सबके लिए पर्याप्त खुला था और उनको किसी प्रकार का उद्यम करने के लिए बाध्य नहीं करता था। उनमें न दरिद्रता थी, न भोग था, और न प्रणबन्ध। उनमें न लालच था, और न सोना और न चांदी। उनमें न कोई धनी था और न निर्धन। उनकी कोई भी पुस्तक देखने से इस सारे के लिए अनेक प्रमाण मिल जायँगे।"

चवालीसवाँ परिच्छेद

मन्वन्तरों के सम्बन्ध में

मन्वन्तर, उनके इन्द्र और उनकी सन्तानें

जिस प्रकार ७२००० कल्प ब्रह्मा की आयु गिनी जाती है, उसी प्रकार मन्वन्तर अर्थात् मनु की अवधि, इन्द्र की आयु गिनी जाती है। इन्द्र का शासन इस अवधि की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है। तब उसकी पदवी एक दूसरे को मिल जाती है और नये मन्वन्तर में वही संसार पर शासन करता है। ब्रह्मगुप्त कहता है—"यदि किसी मनुष्य का यह मत हो कि दो मन्वन्तरों के बीच कोई सन्धि नहीं होती, और वह प्रत्येक मन्वन्तर को ७१ चतुर्युग के बराबर गिनता हो तो उसे मालूम हो जायगा कि कल्प में से छः चतुर्युग कम हो जाने से वह बहुत छोटा हो जाता है, और १००० के नीचे ऋण (अर्थात ९९४ में), १००० के ऊपर योग (अर्थात, आर्यभट्ट के अनुसार, १००८ में) की अपेक्षा कुछ अच्छा नहीं है। परन्तु ये दोनों संख्यायें स्मृति नाम्नी पुस्तक से नहीं मिलतीं।"

इसके आगे वह कहता है—"आर्यभट अपनी दो पुस्तकों में, जिनमें से एक दशगीतिका और दूसरी आर्याश्तशत कहलाती है, कहता है कि प्रत्येक मन्वन्तर ७२ चतुर्युग के बराबर होता है। तदनुसार वह कल्प में १००८ चतुर्युग (१४ गुणे ७२) गिनता है।"

विष्णु-धर्म नाम्नी पुस्तक में मार्कण्डेय वज्र को यह उत्तर देता है—"पुरुष विश्व का अधिपति है; कल्प का अधिपति ब्रह्मा है जो जगत् का स्वामी है; परन्तु मन्वन्तर का अधिपति मनु चौदह हैं और प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में राज्य करनेवाले पृथ्वी के राजा इनसे उत्पन्न हुए थे।"

आगे की सूची में हमने उनके नामों को इकट्ठा कर दिया है—

मन्वन्तरों के बारे में विष्णु-पुराण का मत

सातवें मन्वन्तर के परे आगामी मन्वन्तरों की गिनती में जो विभिन्नता पाठकों को दिखाई देती है, मैं समझता हूँ, वह उसी कारण से उत्पन्न हुइ है जिससे द्वीपों के नामों में प्रभेद पैदा हुआ है, अर्थात इसका कारण यह है कि लोग उस क्रम की अपेक्षा जिसमें नाम सन्तानों तक पहुँचाये जाते हैं खुद नामों को अधिक परवा करते हैं। हम यहाँ विष्णु-पुराण के ऐतिह्य का आश्रय लेते हैं, क्योंकि इस पुस्तक में उनकी-संख्या, उनके नाम और वर्णन ऐसी रीति से दिये गये हैं कि जिससे यह आवश्यक हो जाता है कि जिस क्रम में यह उनको देता है उस क्रम को भी विश्वस्त समझा जाय। परन्तु हमने इन बातों को यहाँ लिखना उचित नहीं समझा क्योंकि उनसे लाभ बहुत कम है।

वही पुस्तक कहती है कि क्षत्रिय राजा मैत्रेय ने व्यास के पिता पराशर से अतीत और भावी मन्वन्तरों के विषय में पूछा। तब पराशर प्रत्येक मनु का नाम बताता है। ये वही नाम हैं जिनको हमारी सूची प्रदर्शित करती है। उसी पुस्तक के अनुसार, प्रत्येक मनु की सन्तान पृथ्वी का

मन्वन्तरों की संख्या	विष्णु-पुराण के अनुसार मन्वन्तरों के नाम	विष्णु-धर्म के अनुसार उनके नाम	अन्य स्त्रोतों से लिये हुए उनके नाम	विष्णु-पुराण के अनुसार इन्द्र के नाम	विष्णु-पुराण के अनुसार, मनु की संतान के, अर्थात पृथ्वी के उन राजाओं के नाम जो प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में राज्य करते थे
१	स्वायम्भुव	स्वायम्भुव	स्वायम्भुव		पहले मन्वतर के राजा के रूप में मनु इन्द्र है इसकी दूसरे किसी प्राणी से कोई चीज नहीं मिलती
२	स्वारोचिष	स्वारोचिष	स्वारोचिष	विपश्चित	मनु की पहली सन्तान, चैत्रक (!)
३	औत्तमि	औत्तमि	औत्तमि	सुशान्ति	सुदिव्य (?)
४	स्तामस (?)	स्तामस	उतामस (?)	शिखिन	नर, ख्याति, शान्तहय जानुजङ्घ
५	रैवत	रैवत	रैवत	औतत (?)	बलबंधु, सुसम्भाव्य, सत्यक, सिंधु (?), रेभ
६	चाक्षुप	चक्षुख	चाक्षुप	मनोजव	पुरु, मुरु, शतद्युम्न, प्रमुख (?)
७	वैवस्वत	वैवस्वत	वैवस्वत	पुरन्दर	इक्ष्वाकु, नवस (?), धृष्ण, शर्याति
८	शावर्णि	शावर्णि	शावर्णि	कैद किया हुआ राजा बलि	विरजस, अश्वचार्वरि, निर्मोघ,
९	दक्ष	विष्णु-धर्म	ये पाँच शावर्णि कहलाते हैं: ब्रह्मपुत्र	महावीर्य	धृतकेतु, निरामय, पंचहस्त
१०	ब्रह्मशावर्णि	धर्मपुत्र	विष्णु पुत्र	शान्ति	सुक्षेत्र उत्तमौजस, भूरिषेण
११	धर्मशावर्णि	रुद्रपुत्र	रुद्रपुत्र	वृष	सर्वत्रग, देवानीक, सुधर्मात्मन (?)
१२	रुद्रपुत्र	दक्षपुत्र	दक्षपुत्र	ऋतधामन	देवत [?], वानुपदेवश्यच, देवश्रेष्ठ
१३	रौच्य	रैभ्य (?)	रैभ्य (?)	दिवस्पति	चित्रसेन; विचित्र-आद्या ! [?]
१४	भौत्य	भौत्य	भूमि (?)	शुचि	उरुर, गभिर, वुव्न्य-आद्या [?]

राज्य करेगी, और यह उनमें से सबसे पहले उनका उल्लेख करती है जिनके नाम हमने सूची में दिये हैं। उसी पुस्तक के लेखानुसार दूसरे, तीसरे, चौथे, और पांचवें मन्वन्तरों के मनु प्रियव्रत ऋषि की सन्तान में से होंगे। इस ऋषि पर विष्णु की ऐसी कृपा थी कि उसने इसकी सन्तान को इस प्रतिष्ठा से सम्मानित किया।

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

सप्तर्षि नामक तारामंडल

वषिष्ठ की भार्या अरुन्धति

विनातुन नाश को भारतीय भाषा में सप्तर्षि अर्थात् सात ऋषि कहते हैं। कहा जाता है कि वे ऐसे संन्यासी थे जो अपना पोषण केवल भक्ष्य पदार्थों से ही किया करते थे, और उनके साथ एक धर्म्मपरायण स्त्री, अल-सुहा (सप्तर्षि-मण्डल, ' के समीप तारा ८०) थी। वे खाने के लिए सरोवरों में से कमलनाल उखाड़ लेते थे। इसी बीच में कानून (धर्म्म ?) आया और उसने उस स्त्री को उनसे छिपा लिया। उनको एक-दूसरे से लज्जा आने लगी, और उन्हों ऐसी शपथें लीं जिनको सम्मानित करने के लिए धर्म्म ने उनको वह उच्च स्थान प्रदान किया जहाँ वे अब दिखाई देते हैं।

वराहमिहिर का अवतरण

हम पहले कह आये हैं कि हिन्दुओं की पुस्तकें छन्दों में रची हुई हैं, इसलिए ग्रन्थकार ऐसी उपामाओं और अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं जिनको उनके देशबन्धु प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। वराहमिहिर की संहिता में सप्तर्षियों का वर्णन भी इसी प्रकार का है। यह वर्णन उस पुस्तक में इस तारामण्डल से निकाले हुए फलित्त-ज्योतिष-सम्बन्धी पूर्व चिन्हों के पहले आता है। हम अपने अनुवाद के अनुसार वह वचन नीचे देते हैं—

"जिस प्रकार रूपवती रमणी गूंथे हुए मोतियों की माला, और सुन्दर रीति से पिरोये हुए श्वेत कमलों के हार से अलंकृत होती है उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारकाओं से अलंकृत है। इस प्रकार अलंकृत, वे कुमारियों के सदृश हैं जो ध्रुव के गिर्द उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। और मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हूँ कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठिर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र, मघा, में थे, और शक-काल इसके २५२६ वर्ष उपरान्त था। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६००० वर्ष रहते हैं। (सात ऋषियों में से) जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है; उसके पश्चिम में वसिष्ठ है, फिर अङ्गिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और वसिष्ठ के समीप अरुन्धती नाम की एक सती स्त्री है।"

क्योंकि इन नामों की अनेक बार एक-दूसरे के साथ गड़बड़ हो जाया करती है, इसलिए हम इनको सप्तर्षि के अनुरूप तारों के साथ मिलाने की चेष्टा करेंगे—

मरीचि	इस तारामण्डल का		२७ वाँ	तारा है।
वसिष्ठ	,,	,,	२६ वाँ	,,
अङ्गिरस्	,,	,,	२५ वाँ	,,
अत्रि	,,	,,	१८ वाँ	,,
क्रतु	,,	,,	१६ वाँ	,,
पुलह	,,	,,	१७ वाँ	,,
पुलस्त्य	,,	,,	१९ वाँ	,,

गर्ग की समालोचना

हमारे समय में; अर्थात शक-काल के ९५२ वें वर्ष में ये तारे सिंह के १⅓° और कन्या के १३ ⅓° के बीच के स्थान में हैं। स्थिर तारों की निज गति के अनुसार, जैसा कि हमें ज्ञात है, यही तारे युधिष्ठिर के समय में मिथुन के ८⅓° और कर्क के २०⅓° के बीच के स्थान में थे।

टोलमी और प्राचीन ज्योतिषियों ने जैसा स्थिर तारों की गति को माना है उसके अनुसार ये तारे उस समय मिथुन के २९⅓° और सिंह के ८⅓° के बीच के स्थान में थे, और उत्तरोक्त नक्षत्र (मघा) का स्थान सिंह में ०—८०० मिनटों के मध्य में था।

इसलिए युधिष्ठिर के अपेक्षा यदि वर्तमान समय में सप्तर्षियों को मघा में खड़ा प्रकट किया जाय तो बहुत अधिक योग्य होगा। और यदि हिन्दू मघा को सिंह के हृदय से अभिन्न मानते हैं तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह तारा-मण्डल उस समय कर्क के पहले अंशों में खड़ा था।

गर्ग के शब्द निःसार हैं; वे केवल यह प्रकट करते हैं कि उसे उस चीज का कितना थोड़ा ज्ञान था जिसका जानना उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो चर्मचक्षु द्वारा या ज्योतिष-संम्बन्धी यन्त्रों द्वारा राशि-चक्र की राशियों के विशेष अंशों पर तारों के स्थानों को स्थिर करना चाहता है।

काश्मीरी पंचाङ्ग की टीका

मैंने शक-काल के ९५१वें वर्ष के पञ्चाङ्ग में जो काश्मीर से आया था यह बयान पढ़ा है कि सप्तर्षि सतत्तर वर्षों से अनुराधा नक्षत्र में खड़े हैं। इस नक्षत्र का स्थान वृश्चिक के १९⅓° के अन्त और ३⅓° के बीच है। परन्तु सप्तर्षि इस स्थान से कोई एक पूरी राशि और २० अंश, अर्थात १⅔° राशियाँ आगे हैं। परन्तु कौन ऐसा मनुष्य है जो हिन्दुओं की सारी भिन्न-भिन्न कल्पनाओं को जान सकेगा, यदि वह उनमें निवास नहीं करता!

सप्तर्षि की स्थिति पर विचार

आओ पहले हम यह मान लें कि गर्ग-कथन ठीक है, कि उसने मघा में सात ऋषियों का निश्चित स्थान नहीं बताया, और यह भी मान लें कि यह स्थान मघा का०° था जो हमारे समय के लिए सिंह के ०° के बराबर होगा। इसके अतिरिक्त, युधिष्ठिर के समय और वर्तमान वर्ष, अर्थात अलक्षेन्द्र के १३४० वें वर्ष के बीच ३४७९ वर्ष का अन्तर है। और अन्ततः, मान लीजिए कि

वराहमिहिर का यह कथन ठीक है कि सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६०० वर्ष रहते हैं। तदनुसार, वर्त्त-मान वर्ष में उन्हें तुला-राशि के १७°१८' में होना चाहिए जो स्वाती के १०°३८' से अभिन्न है। परन्तु यदि हम यह मानें कि वे मघा के मध्य में थे (उसके आरम्भ में नहीं), तो अब उन्हें विशाखा के ३° ५८' में होना चाहिए। और यदि हम यह मानें कि वे मघा के अन्त में स्थित थे तो इस समय उन्हें विशाखा के १०° ३८' में होना चाहिए।

इसलिए यह स्पष्ट है कि काश्मीर के पञ्चाङ्ग का बयान संहिता के बयान से नहीं मिलता। इसी प्रकार यदि हम अयन-चलन के विषय में पूर्वोक्त पंचाङ्ग का नियम ग्रहण कर इस मान के साथ पीछे की ओर गिनती करें तो भी हम किसी प्रकार इस परिणाम पर नहीं पहुँचते कि युधिष्ठिर के समय में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे।

अब तक हम यह समझा करते थे कि हमारे समय में स्थिर तारों का परिभ्रमण पहले समयों की अपेक्षा अधिक तेज है, और इसका कारण हम आकाश-मण्डल के आकार की विशेषतायें जतलाने का यत्न करते थे। हमारे मतानुसार, वे ६६ सौर वर्षों में एक अंश चलते हैं। इसीलिए वराहमिहिर पर हमें घोर आश्चर्य होता है, क्योंकि, उसके अनुसार, इस गति का परिमाण पैंतालीस वर्ष में एक अंश, अर्थात वर्तमान काल से बहुत अधिक शीघ्र होगा, जब उसका समय हमारे समय से केवल ५२५ वर्ष पहले है।

सप्तर्षि के लिए करणसार का नियम

करणसार नाम्नी पुस्तक का कर्त्ता सप्त ऋषियों की गति को गिनने और किसी निश्चित समय में उसकी स्थिति को मालूम करने के लिए निम्नलिखित नियम देता है—

"शक-काल में से ८२१ घटाओ। अवशेष मूल है, अर्थात ४००० से ऊपर उन वर्षों की संख्या है जो कलियुग के आरम्भ से बीत चुकी हैं।

"मूल को ४७ से गुणा करो, और गुणन-फल में ६८००० योग करो। योगफल को १०० ०० पर बांटो। भाग-फल राशियों और उनके अपूर्णाङ्कों को, अर्थात सप्त ऋषियों की स्थिति को जिसको मालूम करना अभीष्ट था दिखलाता है।"

इस नियम में बताया हुआ ६८००० का योग, आवश्यक तौर पर मूल के आरम्भ में सप्त-ऋषियों की वास्तविक स्थिति का १०००० से गुणनफल होगा। यदि हम ६८००० को १०००० पर बांटें तो भाग-फल ६$\frac{8}{10}$ अर्थात छः राशियां और सातवीं राशि के चौबीस अंश प्राप्त होते हैं।

इसलिए यह स्पष्ट है यदि हम १००० को ४७ पर बांटें तो, सौर काल के अनुसार, सप्तर्षि का एक राशि में से २१२ वर्ष ९ मास, और ६ दिन में चलना निकल आयगा। तदनुसार ये एक राशि के एक अंश में से ७ वर्ष, १ मास, और ३ दिन में, और एक नक्षत्र में से ९४ वर्ष, ६ मास, और २० दिन में भ्रमण करेंगे।

यदि ऐतिह्य में कोई दोष नहीं तो वराहमिहिर और वित्तेश्वर के मूल्यों के बीच बड़ी भिन्नता है। यदि हम, उदाहरणार्थ, वर्तमान वर्ष (१०३० ईसवी) के लिए ऐसा हिसाब लगायें तो सप्त ऋषियों का स्थान अनुराधा नक्षत्र में ९°१७' निकलता है।

ज्योतिष एवं धर्म-सम्बन्धी विचार

काश्मीर के लोगों का मत था कि सप्तर्षि एक नक्षत्र में से १०० वर्ष में गुजरते हैं। इसी लिए उपर्युक्त पञ्चाङ्ग कहता है कि सप्त ऋषियों की गति के वर्तमान शतक में से अभी तेईस वर्ष

बाकी हैं। जिस प्रकार की अशुद्धियों और भ्रमों को हमने यहाँ प्रकट किया है वे, एक तो ज्योतिष-सम्बन्धी अन्वेषणों में आवश्यक कौशल के अभाव से, और दूसरे वे वैज्ञानिक प्रश्नों और हिन्दुओं के धर्म-सम्बन्धी मत को आपस में मिला देने की रीति से पैदा होते हैं। क्योंकि धर्म-पण्डितों का विश्वास है कि सप्तर्षि स्थिर तारों से उच्चतर हैं। उनका मत है कि प्रत्येक मन्वन्तर में एक नया मनु प्रकट होगा जिसकी सन्तान पृथ्वी को नष्ट कर देगी; परन्तु राज्य की पुनः स्थापना इन्द्र और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के देवताओं तथा सप्त ऋषियों द्वारा होगी। देवताओं का होना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्यों को उनके लिए यज्ञ करने और उनकी आहुतियाँ अग्नि में देनी पड़ती हैं; और सप्त ऋषियों का होना इसलिए आवश्यक है जिससे वे वेदों को नये सिरे से जारी करें क्योंकि प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में वेद नष्ट हो जाते हैं।

भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में सप्तर्षि

इस विषय पर हमारी जानकारी का स्रोत विष्णु-पुराण है। अगले पृष्ट की सूची में दिखलाये गये प्रत्येक मन्वन्तर में सप्त ऋषियों के नाम भी इसी स्रोत से लिये गये हैं।

छियालीसवाँ परिच्छेद

भिन्न भिन्न समयों में नारायण

नारायण के स्वरूप

हिन्दुओं के मतानुसार नारायण एक लोकोत्तर शक्ति है, जो नियमानुसार भलाई से भलाई और बुराई से बुराई निकालने के यत्न नहीं करती, परन्तु वह जिन उपायों से भी हो सके अधर्म और विध्वंस को रोकने की चेष्टा करती है। इस शक्ति के लिए भलाई, बुराई से पहले है, परन्तु यदि भलाई का यथार्थ विकास न हो और न वह फलदायक ही हो, तो यह अगत्या बुराई का प्रयोग करती है। इस कर्म में वह उस सवार के सदृश है जो अनाज के खेत के मध्य में पहुँच चुका है। जब वहाँ जाकर उसे होश आता है और वह दुष्कर्म से बचना चाहता है, तब उसके पास सिवा इसके और कोई चारा नहीं होता कि घोड़े को वापस मोड़े और जिस मार्ग से वह अन्दर आया था उसी से बाहर निकल जाय, यद्यपि ऐसा करने में वह उतना ही नहीं किन्तु उससे भी अधिक अनिष्ट करेगा जितना उसने खेत में प्रवेश करते समय किया था। परन्तु इसके सिवा और कोई संशोधन सम्भव ही नहीं।

हिन्दू इस शक्ति और अपने तत्वज्ञान के आदिकारण के बीच भिन्नता नहीं समझते। जगत में इसके निवास का स्वरूप ऐसा है कि लोग इसे भौतिक अस्तित्व के सदृश समझते हैं, इसकी उपस्थिति शरीर और वर्णवाली मानते हैं, क्योंकि वे किसी अन्य प्रकार की उपस्थिति की कल्पना नहीं कर सकते।

मन्वन्तरों की संख्या	मन्वन्तरों में सप्तर्षि अर्थात बनातुन्नाश						
	१	२	३	४	५	६	७
१	इस मन्वन्तर में न इन्द्र था न सप्तर्षि थे, केवल एक मनु ही था।						
२	ऊर्जस्तम्भ	प्राण	दत्त	निश्चृषभ	निश्वर	श्चोर्वरी (१)	वांश्च (१)
३	वसिष्ठ की सन्तान						
४	ज्योति	धामन	पृथु	काव्य	चैत्र और अग्नि	वरक	पीवर
५	हिरण्यरोमन्	वेदश्री	ऊर्ध्वबाहु (१)	अपर (१)	वेदबाहु	सुबाहु	पर्जन्य
६	सुमेधस्	विरजस	हविष्मत	मधु	अतिनामन	सहिष्णु	चर्षयः
७	वसिष्ठ	कश्यप	अत्रि	जमदग्नि	गौतम	विश्वामित्र	भरद्वाज
८	दीप्तिमत्	गालव	कृप	द्रोण का पुत्र अश्वत्थामन	पराशर	पराशर का पुत्र व्यास	ऋष्यश्रृङ्ग
९	सवन	द्युतिमत	हव्य	वसु	मेधाधृत	ज्योतिष्म	सत्य
१०	हविष्मत	सुकृति	सत्य	अपांमूर्ति	नाभाग	अप्रतिमौजस	सुक्षेत्र
११	निश्चर	अनघ	वपुष्मत	विष्णु .	आरुणि	हविष्मन्त	नघ
१२	तपस्विन	सुतप	तपोमूर्ति	तपोरति	तपोधृति	द्युति	इश्चान्यः (!)
१३	निर्मोह	तत्वदर्शी च	निष्प्रकम्प	निरुत्सुक	धृतिमन्त	व्यय	सुतपस्
१४	अग्निव	शुचि	शुक्र	मागध	अग्नीध्र	युक्तस्त	जित

अन्य समयों के अतिरिक्त नारायण पहले मन्वन्तर की समाप्ति पर लोक लोकान्तरों का राज्य वालखिल्य (?) * से छीन लेने के लिए प्रगट हुआ है। वालखिल्य (?) ने इसका नाम रक्खा था और इसको अपने हाथों में लेना चाहता था। नारायण आया और उसने राज्य को सौ यज्ञों के करने वाले शतक्रतु † को सौंप दिया और साथ ही उसे इन्द्र वना दिया।

विरोचन के पुत्र वलि की कथा

एक दूसरे समय वह छठे मन्वन्तर के अन्त में प्रकट हुआ। उस समय उसने विरोचन के पुत्र राजा वलि ‡ को मारा। वलि का सारे भूमण्डल पर राज्य था और उसका मन्त्री शुक्र था। उसने अपनी माता से सुना कि उसके पिता के समय उसके अपने समय की अपेक्षा वहुत अच्छा था, क्योंकि यह कृतयुग के निकटतर था। उस समय लोग अधिक सुखी थे, और उनको किसी प्रकार की क्लान्ति न होती थी। तव उसके मन में अपने पिता से स्पर्धा की आकांक्षा और लालसा उत्पन्न हुई। इसलिए उसने पुण्यशीलता के कार्य शुरू कर दिये। वह दान करने, धन वांटने, और यज्ञ करने लगा जिनके सौ वार करने से करने वाले को स्वर्ग और पृथ्वी का राज्य प्राप्त हो जाता है। जव वह इस सीमा के पास पहुँचा, या उसने निन्यानवें यज्ञ प्रायः समाप्त कर लिया, तव देवता वड़े घवड़ाये और अपने माहात्म्य की रक्षा के लिये डरने लगे, क्योंकि वे जानते थे कि यदि मनुष्यों को उनकी आवश्यकता न रहेगी तो जो भेंट मनुष्य उन्हें चढ़ाते हैं वह मिलनी वन्द हो जायगी।

अव वे इकट्ठा होकर नारायण के पास गये और उससे सहायता के लिए प्रार्थना की। उसने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और वामन रूप में—अर्थात जिसके हाथ और पैर उसके शरीर के मुकावले में वहुत छोटे होते हैं—जिससे उसका रूप भयानक और कुत्सित समझा जाता है, पृथ्वी पर अवतरित हुआ जव वलि यज्ञ कर रहा था, उसके व्राह्मण हवन के इर्द-गिर्द खड़े थे, और उसका मन्त्रि शुक्र उसके सम्मुख उपस्थित था तव नारायण उसके पास आया। दान देने के लिए खजाने खुले पड़े थे, और रत्नों के ढेर लगे हुए थे। अव वामन व्राह्मणों की तरह वेद के उस भाग का गान करने लगा जिसको सामवेद कहते है। उसका स्वर खिन्न और हृदयग्राही था। उसने राजा से प्रार्थना की कि उदारतापूर्वक मेरी मनोकामनाओं को पूर्ण कीजिए। इस पर शुक्र ने चुपके से राजा को कहा—यह नारायण है। यह तुमसे तेरा राज्य छीनने आया है। परन्तु राजा इतना उत्तेजित था कि उसने शुक्र के शब्दों की कुछ परवा न की, और वामन से पूछा कि तुम क्या चाहते हो। तव वामन वोला—तेरे राज्य में से चार पग (भूमि) जिससे मैं वहां रहूँ। राजा ने उत्तर दिया—जो तुम चाहते हो और जिस तरह तुम चाहते हो पसन्द कर लो, और तव हिन्दु-रीति के अनुसार, अपनी दी हुई आज्ञा के दृढ़ीकरण के चिन्ह के तौर पर उसने अपने हाथों

---

* वालखिल्य को विष्णु-पुराण में वामन-ऋषि कहा गया है।

† शतक्रतु की कथा का विष्णु-पुराण में कोई वर्णन नहीं है। पता नहीं लगता कि अल-वेरूनी ने यह कथा कहां से ली है।

‡ विरोचन के पुत्र वलि और उसके मंत्री की कथा विष्णु-पुराण तीसरी पुस्तक से ली गयी है।

पर डालने के लिए जल मँगवाया। अब शुक्र, लोटा तो ले आया परन्तु राजा के प्रेम के कारण उसने उसकी टोंटी में डाट लगा दी जिससे इससे जल बाहर न निकले। साथ ही उसने डाट के छिद्र को भी अपनी उँगली के कुश घास से बन्द कर दिया। परन्तु शुक्र के केवल एक आँख थी इसलिए उसे छिद्र का पता न लगा, और पानी बाहर निकल आया फलतः वामन ने एक पग में पूर्व दिशा को, दूसरे में पश्चिम को; और तीसरे में स्वर्लोक तक ऊपर को माप लिया। उसके चौथे पग के लिए जगत में कोई स्थान ही न था, इसलिए उसने चौथे पग में राजा को दास बना लिया, और उसको दास बनाने के चिन्ह के तौर पर उसके कन्धों के बीच अपना पैर रख दिया। उसने राजा को पृथ्वी के तले पाताल में, जो सबसे निचला स्थान है, गिरा दिया। उसने लोकों को उससे लेकर राज्य को पुरन्दर के सुपुर्द कर दिया।

विष्णु-पुराण के अवतरण। * विष्णु-पुराण में लिखा है—

राजा मैत्रेय ने पराशर से युगों के विषय में प्रश्न किया। इस पर उसने उत्तर दिया—उनका अस्तित्व इसलिए है जिससे विष्णु उनमें किसी बात में लगा रहे। कृतयुग में वह अकेले कपिल के रूप में, ज्ञान के प्रसारार्थ आता है। त्रेता में वह सहिष्णुता के प्रसार, दुष्टों को जीतने, और पुण्य कार्यों के प्रचार तथा शक्ति के द्वारा तीन लोकों की रक्षा के निमित्त अकेले राम-रूप में प्रकट होता है। द्वापर में वह वेद को चार भागों में विभक्त करने और इससे अनेक शाखायें निकालने के लिए व्यास-रूप में अवतरित होता है। द्वापर के अन्त में वह राक्षसों के नाश के लिए वासुदेव रूप में, और कलियुग में सबको मारने और युगों के चक्र को नये सिरे से शुरू करने के लिए वह ज-प-व (?) ब्राह्मण के पुत्र कलि के रूप में पृथ्वी पर आता है। यही उस (विष्णु) का काम है।

उसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है —विष्णु, जो नारायण का ही दूसरा नाम है; वेद को चार भागों में विभक्त करने के लिए प्रत्येक द्वापर के अन्त में आता है, क्योंकि मनुष्य दुर्बल हैं और सारे वेद पर चल नहीं सकते। मुखमंडल में वह व्यास के सदृश होता है।

सातवें मन्वन्तर के व्यास की सूची

नीचे की सूची में हम उसके नामों को दिखलाते हैं, यद्यपि ये नाम भिन्न-भिन्न स्रोतों में भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ वर्तमान या सातवें के मन्वन्तर ‡ के बीते हुए चतुर्युगों में प्रकट होनेवाले व्यासों की गिनती आगे दी गई है।

कृष्णद्वैपायन पराशर का पुत्र व्यास है। उनतीसवाँ व्यास अभी नहीं हुआ परन्तु भविष्यत में होगा।

---

* यह अवतरण विष्णु-पुराण की तीसरी पुस्तक द्वितीयांश में पाया जाता है।

‡ मनु की अवधि को मन्वन्तर कहा गया है। इसके विषय में इकतालीसवें परिच्छेद में वर्णन किया गया है।

१	स्वयम्भू	१६	धनंजय
२	प्रजापति	१७	कृतञ्जय
३	उशनस्	१८	ऋणज्येष्ठ (?)
४	बृहस्पति	१९	भरद्वाज
५	सवितृ	२०	गौतम
६	मृत्यु	२१	उत्तम
७	इन्द्र	२२	हर्यात्मन्
८	वसिष्ठ	२३	वेद-व्यास
९	सारस्वत	२४	वाजश्रवस्
१०	त्रिधामन्	२५	सोमशुष्म
११	त्रिवृष	२६	भार्गव
१२	भरद्वाज	२७	वाल्मीकि
१३	अन्तरिक्ष	२८	कृष्ण
१४	वप्र (?)	२९	द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा
१५	अय्यारुण		

विष्णु-धर्म से अवतरण

विष्णु-धर्म नाम्नी पुस्तक कहती है :—हरि, अर्थात नारायण के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं। वे ये हैं—वासुदेव, संकर्षण, द्युम्न और अनिरुद्ध। *

मैं समझता हूँ ग्रन्थकार ने यहाँ उचित अनुक्रम का ख्याल नहीं रक्खा, क्योंकि वासुदेव तो चार युगों के अन्त का है।

---

* वासुदेव आदि विष्णु के नाम युगों में बताने से यह स्त्रोत भागवतों या पांचरात्रों के सम्प्रदाय की शिक्षा से मिलता है।

नोट :— उनतीस द्वापर युगों के व्यासों के नाम विष्णु-पुराण, तृतीय पुस्तक, तृतीयांस से लिये गये हैं। अलवेरूनी का ऐतिह्य संस्कृत-पाठ से थोड़ा सा भिन्न है, क्योंकि वह सदा उसी व्यास को उसी द्वापर के साथ, विशेषतः सूची के अन्त के समीप, नहीं मिलाता। त्रिवृपन को छोड़कर, जिसके लिये अरबी में त्रिवर्त या त्रिवृत्त जैसा कुछ लिखा है, दोनों ऐतिह्यों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणज्येष्ठ शब्द में (अरबी में रिनजेतु) अलवेरूनी ने भूल की है। संस्कृत श्लोक इस प्रकार है—
कृतञ्जयः सप्तदशे ऋणज्येष्टादशे स्मृतः।

वही पुस्तक कहती है—विभिन्न युगों में उसके रंग भी विभिन्न होते हैं। कृतयुग में वह सफेद, त्रेता में लाल, द्वापर में पीला; (यह पिछला उसके नर-देह धारण करने का पहला रूप है) और कलियुग में काला होता है।

ये रंग उनके तत्वज्ञान की तीन प्रारम्भिक शक्तियों से कुछ मिलते हैं, क्यकि उनके मतानुसार सत्व स्वच्छ श्वेत, रजस लाल, और तमस काला है। इस पुस्तक के किसी अगले परिच्छेद में उसके इस पृथ्वी पर अन्तिम अवतार का वर्णन करेंगे।

सैंतालीसवाँ परिच्छेद

वासुदेव और महाभारत की कथा

मानव जाति के इतिहास के साथ सृष्टि का विकास

संसार का जीवन बोने और उत्पन्न करने पर निर्भर करता है। ये दोनों क्रियायें कालक्रम से बढ़ती हैं, और यह वृद्धि अपरिमित है पर संसार परिमित है।

जब पौधों या जन्तुओं की किसी श्रेणी की बनावट में वृद्धि का होना बन्द हो जाता है, और उसका विशेष प्रकार उसकी अपनी जाति के रूप में स्थिर हो जाता है, जब इसका प्रत्येक व्यक्ति एक ही दफे पैदा और नष्ट नहीं होता, प्रत्युत अपने सदृश एक या इकट्ठा अनेक भूत उत्पन्न करता है, और एक ही बार नहीं बल्कि अनेक बार उत्पन्न करता है, तब वह पौधों या जन्तुओं की अकेली जाति के रूप में पृथ्वी को घेर लेती है, और अपने आपको और अपनी जाति को उस सारे प्रदेश पर फैला देती है जो उसे मिल सकता है।

किसान अपना अनाज छाँटता है, जितने की उसे आवश्यकता है उतना उगने देता है, और बाकी को उखाड़ डालता है।

जंगल का रखवाला जिन शाखाओं को उत्कृष्ट समझता है उनको छोड़ शेष सबको काट डालता है। मधु-मक्खियां अपने में से उन मक्खियों को मार डालती है जो केवल खाती ही खाती हैं और छत्ते में काम कुछ नहीं करतीं।

सृष्टि का कार्य भी इसी प्रकार होता है, परन्तु इसमें विवेचना नहीं है, क्योंकि इसका काम सभी अवस्थाओं में एक ऐसा होता है। वह पेड़ों के पत्तों और फलों को नष्ट होने देती है, और इस प्रकार उन्हे उस परिणाम का अनुभव करने से रोकती है जिसको प्रकृति के प्रबन्ध में पैदा करने के लिए वे बनाये गये हैं। वह उनको दूर कर देती है जिससे दूसरों के लिए स्थान हो जाय।

वासुदेव के जन्म की कथा

जब पृथ्वी के अधिवासियों के बहुत ज्यादा बढ़ जाने से यह विनष्ट-प्राय हो जाती है, तो इसका राजा—क्योंकि इसका राजा है और उसकी सर्वव्यापिनी रक्षा इसके प्रत्येक कण में दिखाई दे रही है—इस बहुत अधिक संख्या को घटाने और जो कुछ इसमें बुरा है उसे काट फेंकने के लिए एक दूत भेजता है।

हिन्दुओं के विश्वासानुसार, इस प्रकार का एक दूत वासुदेव है, जो पिछली दफे मनुष्य रूप में भेजा गया था, और वासुदेव कहलाया था। यह उस समय की बात कही गई है, जब पृथ्वी पर राक्षस बहुत ज्यादा थे और पृथ्वी उनके अत्याचार से परिपूर्ण थी, उनकी सारी संख्या को उठाने में असमर्थ होने के कारण यह डोलती और उनके चलने की तीव्रता से यह कांपती थी। तब मथुरा नगरी में उस समय के राजा, कंस की भगिनी के गर्भ से वसुदेव के यहां एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह एक पशु पालनेवाला, नीच शूद्र, जट्ट परिवार का था। कंस ने अपनी भगिनी के विवाह के समय एक आकाश-वाणी द्वारा सुना था कि मेरी मृत्यु इसके पुत्र के हाथ से होगी, इसलिए उसने मनुष्य नियत कर रक्खे थे ताकि जिस समय उसके कोई सन्तान उत्पन्न हो वे उसी समय उसे उठाकर उसके पास ले आये और वह उसके सभी बच्चे को—क्या लड़का और क्या लड़की—मार डालता था। अन्ततः, उसके यहां बलभद्र उत्पन्न हुआ, और नन्द ग्वाले की स्त्री, यशोदा, बालक को उठाकर अपने घर ले गई। वहां उसने उसे कंस के गुप्तचरों से छिपा रक्खा। इसके बाद वह आठवीं बार गर्भवती हुई, और भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष के आठवें दिन की बरसाती रात को, जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में चढ़ रहा था उसने वासुदेव को जन्म दिया *। चूंकि पहरेदार सो गये थे और पहरे पर कोई न था इसलिए पिता बालक को चुपके से उठाकर नन्दकुल, अर्थात यशोदा के पति, नन्द, की गोशाला में ले गया। यह गोशाला मथुरा के समीप थी; परन्तु इन दोनों स्थानों के बीच यमुना नदी बहती थी। वसुदेव ने नन्द की लड़की के साथ लड़के का अदलबदल कर लिया। यह लड़की सुयोग से उसी समय उत्पन्न हुई थी जब वसुदेव लड़के को लेकर वहां पहुंचा ही था। उसने अपने पुत्र के स्थान में यह लड़की पहरेवालों को दे दी। राजा कंस बालिका को मारना ही चहता था कि वह वायु में उड़कर अन्तर्धान हो गई।

वासुदेव आपनी दूध-मां, यशोदा, की रक्षा में पलने लगा। यशोदा को मालूम न था कि यह कन्या के बदले में आया हुआ लड़का है। परन्तु कंस को इस बात की कुछ-कुछ खबर हो गई। उसने छल और कपट की चालों से बालक को अपने काबू में लाने का यत्न किया, परन्तु वे सब चालें उसके विरुद्ध बैठीं। अन्ततः, कंस ने उसके माता-पिता से कहला भेजा कि उसे (वासुदेव को) मेरे सामने कुश्ती लड़ने के लिए भेजो। अब वासुदेव सबके साथ औद्धत्यपूर्ण बर्ताव करने लगा। रास्ते में एक सरोवर में कमलों की रक्षा के लिए उसकी मौसी ने एक सर्प नियत कर रक्खा था। वासुदेव ने उस सांप के नथनों में से लगाम की तरह एक रस्सी डाल दी। इससे उसकी मौसी बहुत अप्रसन्न हुई। इसके अतिरिक्त, उसने उसके धोबी को मार डाला था क्योंकि उसने कुश्ती लड़ने के लिए

---

* वासुदेव अर्थात कृष्ण के जन्म की कथा विष्णुपुराण, पांचवी पुस्तक, तीसरे अध्याय में वर्णित है।

उसको कपड़े उधार नहीं दिये थे। उसने अपनी सहचरी लड़की का वह चन्दन छीन लिया था जिसका पहलवानों पर लेपन करने की उसे आज्ञा मिली थी। अन्ततः वह उस मस्त हाथी को मार चुका था जो कंस के द्वार के सामने उसको मारने के लिए खड़ा किया गया था। इन सब घटनाओं को देखकर कंस का क्रोध इतना बढ़ गया कि उसका पित्त फट गया और वह वहीं मर गया। तब उसके स्थान में उसकी भगिनी का पुत्र, वासुदेव राज्य करने लगा।

वासुदेव के अलग-अलग नाम

वासुदेव का प्रत्येक मास में एक विशेष नाम होता है। उसके अनुयायी मासों को मार्गशीर्ष से आरम्भ करते हैं, और वे प्रत्येक मास को ग्यारहवें दिन से शुरू करते हैं क्योंकि उस दिन वासुदेव प्रकट हुआ था।

नीचे की सूची में मासों में वासुदेव के नाम दिखलाये गये हैं।

मास	वासुदेव के नाम	मास	वासुदेव के नाम
मार्ग शीर्ष	केशव	ज्येष्ठ	त्रिविक्रम
पौष	नारायण	आषाढ़	वामन
माघ	माधव	श्रावण	श्रीधर
फाल्गुन	गोविन्द	भाद्रपद	हृषीकेश
चैत्र	विष्णु	आश्वयुज	पद्मनाभि
वैशाख	मधुसूदन	कार्त्तिक	दामोदर

अब कंस के साले को क्रोध आया, उसने शीघ्रता से मथुरा को कूच किया, वासुदेव के राज्य पर अधिकार कर लिया, और उसे सागर में निर्वासित कर दिया। तब सागरतट के निकट बरोदा नामक सोने का एक दुर्ग प्रकट हुआ, और वासुदेव उसमें रहने लगा।

कौरवों और पाण्डवों की कथा

पाण्डु के पुत्र अपने चचेरे भाइयों, कौरव* (अर्थात धृतराष्ट्र) के पुत्रों के अधिकार में थे। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन उन्हें अपने पास बुलाकर उनके साथ पाँसा खेला आखिरी बाजी उनकी सारी सम्पत्ति

* यह कथा महाभारत नामक ग्रंथ से ली गयी है। जुआ खेलना—सभापर्व से युद्ध के लिये तैयारी करना—उद्योग-पर्व, ब्रह्मा के शाप से विनाश—मौशल-पर्व से, उनका स्वर्ग को जाना-महाप्रस्थानिक पर्व से लिया गया है।

थी। वे अधिक और अधिक हारते चले गये, यहाँ तक कि उसने उन पर दस वर्ष से अधिक काल के देश-निकाले और देश के किसी ऐसे दूरस्थ अञ्चल में जहाँ उन्हें कोई न जाने छिपे रहने की शर्त लगा दी। यदि वे इस शर्त को तोड़ दें तो उन्हें उतने ही वर्षों के लिए और निर्वासित रहना पड़ेगा। यह शर्त पूरी की गई, परन्तु अन्त को लड़ाई के लिए बाहर निकलने का समय आया। अब प्रत्येक दल अपनी सारी सैन्य को इकट्ठा करने और सहायकों के लिए प्रार्थना करने लगा, यहाँ तक कि अन्त को तानेशर के मैदान में प्रायः असंख्य सैन्य एकत्रित हो गई। सारी सेना अठारह अक्षौहिणी थी। प्रत्येक पक्ष वासुदेव को अपना सहायक बनाना चाहता था। इस पर उसने कहा कि या तो मुझे ले लो, या सेना-सहित मेरे भाई बलभद्र को। परन्तु पाण्डु के पुत्रों ने उसे लेना अच्छा समझा। वे पाँच मनुष्य थे—उनका सरदार युधिष्ठिर, उनमें वीर-शिरोमणि अर्जुन, सहदेव, भीमसेन, और नकुल। उनके पास सात अक्षौहिणीयाँ थीं; और उनके शत्रु उनसे बहुत अधिक थे। यदि वासुदेव के निपुण उपाय न होते और यदि वह उन्हें यह न सिखाता कि किस प्रकार लड़ने से उनकी विजय होगी तो उनकी स्थिति अपने शत्रुओं की अपेक्षा कम अनुकूल हो जाती परन्तु अब उनकी जीत हुई; वह सारी सेना नष्ट हो गई; और उन पाँच भाइयों के सिवा और कोई न बचा। इसके बाद वासुदेव अपने निवास-स्थान को लौट आया, और, अपने परिवार-सहित जिसको यादव कहते थे, मर गया। पाँचो भाई भी, उन युद्धों के अन्त पर, वर्ष की समाप्ति के पहले ही मर गये।

वासुदेव और पांडवों की समाप्ति

वासुदेव ने अर्जुन के साथ सलाह कर रक्खी थी कि वे बायें हाथ या बाईं आँख के फड़कने को इस बात की एक ऐसी सूचना समझेंगे कि उसके साथ कोई घटना घटी है। उस समय दुर्वासा नाम का एक पुण्यात्मा ऋषि रहता था। अब वासुदेव के भाई-बन्धु और नातेदार बड़े अविवेकी और ईर्ष्यालु लोग थे। उनमें से एक ने अपने कपड़े के नीचे एक नया तवा छिपा लिया, और ऋषि के पास जाकर, हँसी के तौर पर, पूछने लगा कि मेरे गर्भ से क्या उत्पन्न होगा। ऋषि ने कहा, "तेरे पेट में कोई ऐसी चीज है जो तेरी और तेरे सारे वंश की मृत्यु का कारण होगी।" जब वासुदेव ने यह सुना तो उसे बहुत खेद हुआ, क्योंकि वह जानता था कि ये शब्द सत्य हुए बिना न रहेंगे। उसने आज्ञा दी कि तवे को रेती के जरिये चूर-चूर कराकर पानी में फेंक दिया जाय, ऐसा ही किया गया। इसका केवल एक छोटा सा टुकड़ा बच रहा जिसको रेतनेवाले कारीगर ने तुच्छ समझ कर छोड़ दिया। इसलिए उसने उसे वैसे ही पानी में फेंक दिया। उसे एक मछली निगल गई; वह मछली पकड़ी गई, और कैवर्त को वह टुकड़ा उसके पेट में मिल गया। उसने समझा कि मेरे तीर के लिए इसकी बहुत अच्छी नोक बनेगी।

जब पूर्वनिरूपित काल आया, वासुदेव सागर तट पर एक पेड़ के नीचे एक टाँग दूसरी टाँग पर रक्खे बैठा था। कैवर्त ने भूल से उसे मृग समझ कर तीर मारा और उसके दायें पैर को आहत कर दिया। यही घाव वासुदेव की मृत्यु का कारण हुआ। उसी समय अर्जुन का बायाँ पार्श्व, और फिर उसकी बाँह फड़कने लगी। अब उसके भाई सहदेव ने आज्ञा दी कि तुम किसी व्यक्ति का आलिङ्गन न करना, अन्यथा तुम्हारा सारा बल जाता रहेगा (?)। अर्जुन वासुदेव के पास गया, परन्तु जिस दशा में था उसके कारण उसका आलिङ्गन न कर सका। वासुदेव ने अपना धनुष मँगवा कर अर्जुन के हाथ में दे दिया। अर्जुन ने उस पर अपने बल की परीक्षा की। वासुदेव ने उसे आज्ञा

दी कि मृत्यु के पश्चात् मेरे शरीर को तथा मेरे नातेदारों के शरीरों को जला देना, और मेरी स्त्रियों को दुर्ग में से ले जाना। इसके बाद वह मर गया।

तवे को रेतने से जो लोह चून या लोहे के कण गिरे थे उनसे वर्दी नामक एक झाड़ी उग आई थी। इस वर्दी के पास यादव आये और उन्हों ने बैठने के लिए इसकी शाखाओं के बण्डल बांध लिये। जब वे वहाँ सुरा-पान कर रहे थे उन लोगों के बीच झगड़ा हो गया; वे एक-दूसरे को वर्दी के बण्डलों के साथ पीटने लगे, और उन्होंने एक-दूसरे को मार डाला। यह सारी घटना सर्सती नदी के मुहाने के समीप हुई, जहाँ यह नदी सोमनाथ के स्थान के निकट समुद्र में गिरती है।

जो कुछ वासुदेव ने कहा था अर्जुन ने वह सब किया। जब वह स्त्रियों को ला रहा था तब लुटेरों ने उस पर अकस्मात् आक्रमण किया। अब अर्जुन अपने धनुष को झुकाने में असमर्थ था। उसने अनुभव किया कि मेरी शक्ति जा रही है। उसने धनुष को अपने सिर के ऊपर चक्राकार घुमाया। जो स्त्रियाँ धनुष के नीचे खड़ी थी वे सब बच गईं, पर बाकी को लुटेरे पकड़ कर ले गये। अब अर्जुन और उसके भाइयों ने देखा कि अब अधिक जीने से कुछ लाभ नहीं, इसलिए वे उत्तर की ओर जाकर उन पर्वतों में घुस गये जिनका हिम कभी नहीं पिघलता। शीत के कारण वे एक-दूसरे के बाद मरने लगे और अन्त को अकेला युधिष्ठिर ही शेष रह गया। उसने स्वर्ग में प्रवेश करने की प्रतिष्ठा लाभ की, परन्तु स्वर्ग में जाने के पहले उसका नरक में से गुजरना आवश्यक था क्योंकि वासुदेव और अपने भाइयों की प्रार्थना पर अपने जीवन में वह एक बार झूठ बोला था। उसने द्रोण ब्राह्मण को सुनाकर ये शब्द कहे थे—"अश्वत्थामन्, हाथी, मर गया है।" बोलते समय वह अश्वत्थामन् और हाथी के बीच कुछ देर ठहर गया था जिससे द्रोण ने भूल से यह समझ लिया कि मेरा पुत्र मर गया है। युधिष्ठिर ने देवताओं से कहा—"यदि ऐसा होना आवश्यक ही है तो नरक में पड़े हुए लोगों की ओर से मेरा माध्यस्थ्य स्वीकार कीजिए; वे सब यहाँ से छोड़ दिये जायँ।" जब उसकी यह कामना पूरी हो गई तब वह स्वर्ग में चला गया।

अड़तालीसवाँ परिच्छेद

अक्षौहिणी का वर्णन

सेना की अक्षौहिणी में गिनती

प्रत्येक	अक्षौहिणी	में	१०	अनीकिनी	होती हैं।
"	अनीकिनी	"	३	चमू	"
"	चमू	"	३	पृतना	"
"	पृतना	"	३	वाहिनी	"

”	वाहिनी	”	३	गण	”
”	गण	”	३	गुल्म	”
”	गुल्म	”	५	सेनामुख	”
”	सेनामुख	”	३	पत्ति	”
”	पत्ति	”	३	रथ	”

शतरञ्ज में रथ रुख कहलाता है परन्तु यूनानी इसे युद्ध का रथ कहते हैं। इसकी रचना मङ्कलूस (मिर्टिलोस ?) द्वारा एथन्स में हुई थी, और एथन्स निवासियों का मत है कि सबसे पहले हम ही युद्ध के रथ पर चढ़े थे। परन्तु उस समय के पूर्व ही अफ़्रोडिसीयोस नामक हिन्दू उन्हें बना चुका था जब कि वह जलप्लावन के कोई ९०० वर्ष बाद मिस्र देश पर राज्य करता था। उनको दो घोड़े खींचा करते थे।

यूनानियों की कथा इस प्रकार है—हेफिस्टोस एथीनी से प्रेम करता और उसे अपने अधिकार में लाने की क़ामना करता था, परन्तु उसने इन्कार कर दिया और अविवाहित रहना ही पसन्द किया। अब वह एथन्स के देश में छिप गया और उसे बलात्कार पकड़ लाने की ठानी। परन्तु जब एथीनी ने उसके बरछी मारी तब उसे छोड़ दिया। उसके पृथ्वी पर गिरे हुए रक्त के एक बिन्दु से एरिच थोनियोस पैदा हुआ। वह सूर्य के मीनार के सदृश रथ पर पहुंचा, भागों को पकड़नेवाला उसी के साथ सवार था। हमारे समय के घुड़दौड़ के चक्कर, अर्थात् दौड़ में दौड़ने और रथों को दौड़ाने की रीतियाँ भी ऐसी ही हैं।

इसके अतिरिक्त एक रथ में एक हाथी, तीन सवार, और पाँच प्यादे भी शामिल होते हैं।

लड़ाई के आयोजन, छावनी के डालने और छावनी को उठा लेने के लिये ये सब अनुक्रम और विभाग आवश्यक हैं।

एक अक्षौहिणी में २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० सवार और १०९३५० प्यादे होते हैं।

प्रत्येक रथ में चार घोड़े और उनका सारथि, तीरों से सुसज्जित और तरह तरह के अस्त्र-शस्त्रों से लैस रथ का स्वामी, जो लड़ाकू योद्धा रहता है और दुश्मन पर लगातार वार करता रहता है, बरछियाँ लिये उसके दो साथी, जो बगल के वार से रक्षा करते हैं, एक रखवाला जो स्वामी की पीछे से रक्षा करता और एक छकड़ा होते हैं।

प्रत्येक हाथी पर ये लोग बैठते हैं—हाथी का नायक, और उसके पीछे उप-नायक, जिसको गद्दी के पीछे से हाथी को आँकुस से चलाना पड़ता है, गद्दी पर बैठा हुआ तीरों से सुसज्जित स्वामी, और उसके साथ ही बरछीवाले उसके दो साथी और उसका भण्ड, हौहव (?), जो अन्य अवसरों पर उसके आगे-आगे चलता है।

तदनुसार रथों और हाथियों पर बैठनेवाले लोगों की संख्या २८४३२३ होती है। घोड़ों पर चढ़नेवालों की संख्या ८७४८० होती है। एक अक्षौहिणी में हाथी २१८७०, रथ भी २१८७०, घोड़े १५३०९०, और मनुष्य ४५९२८३ होते हैं।

एक अक्षौहिणी के सजीव प्राणियों, हाथियों, घोड़ों, और मनुष्यों की सारी संख्या ६३४२४३ होती है ; अठारह अक्षौहिणीयों के लिए यही संख्या ११४१६३७४ होती है, अर्थात ३९३६६० हाथी, २७५५६२० घोड़े, और ८२६७०९४ मनुष्य ।

यह अक्षौहिणी और उसके जुदा-जुदा भागों की व्याख्या है ।

उनचासवाँ परिच्छेद

सम्वतों का सक्षिप्त वर्णन

हिन्दुओं के कुछ संवतो की गिनती

संवत् उन विशेष मुहूर्त्तों को स्थिर करने में सहायक होवे हैं जिनका उल्लेख किसी ऐतिहासिक अथवा नाक्षत्रिक सम्बन्ध में हुआ है। हिन्दू विद्वान बड़ी-बड़ी लम्बी-चौड़ी संख्याओं का लेखा करने को प्रशंसा की बात मानते हैं। उन्हें इसमें आनन्द आता है। फिर भी, व्यवहार में, वे इनकी जगह छोटी संख्याएँ रखते हैं।

उनके संवतों में से हम इनका उल्लेख करते हैं—

१. ब्रह्मा के अस्तित्व के आरम्भ होने के आरम्भ से वर्तमान काल तक ।

२. ब्रह्मा के वर्तमान अहोरात्र के दिन के आरम्भ, अर्थात् कल्प के आरम्भ से अब तक का समय ।

३. जिस सातवें मन्वन्तर में हम इस समय हैं उसकी गणना ।

४. जिस अट्ठाईसवें चतुर्युग में हम इस समय हैं उसकी गणना ।

५. वर्तमान चतुर्युग के चौथे युग का (जो कलिकाल अर्थात् कलि का समय कहलाता है) आरम्भ। सारा युग उसी के नाम पर कहलाता है, यद्यपि ठीक-ठीक कहें तो उसका समय उस युग के केवल अन्तिम भाग में ही आता है। इस पर भी कलिकाल से हिन्दुओं का तात्पर्य कलियुग के आरम्भ से है।

६. पाण्डव-काल अर्थात् महाभारत के जीवन तथा युद्धों का काल ।

नोट—ग्रंथकार को कई भिन्न-भिन्न शाकों की आपस में तुलना करने के लिए के लिए एक सामान्य मान की आवश्यकता थी उसने इस प्रयोजन के लिए नव वर्ष का दिन या शक संवत ९५३ का प्रथम चैत्र चुना। यह दिन अनुरूप होता है इन दिनों के निम्नलिखित होते हैं।

(१) सन १०३१ ईसवी, २५ वीं फरवरी, वृहस्पतिवार ।

(२) सन ४२२ हिजरी, २८ वीं सफर ।

(३) सन ३९९ परसराम, १९वीं इस्पन्दामज-माह

ये सब संवत प्राचीनता में एक दूसरे से बढ़ने का यत्न करते हैं। एक संवत दूसरे की अपेक्षा अपना आरम्भ और भी दूर ठहराता है, और उससे मिलने वाले वर्षों की संख्या से सैंकड़ों, सहस्त्रों और अंको के उच्चतर क्रमों से भी परे तक पहुंचती है। इसलिए न केवल ज्योतिषी ही, प्रत्युत दूसरे लोग भी इनका उपयोग करना कष्टदायक और अव्यवहार्य समझते हैं।

यज्दजिर्द के संवत और मान-वर्ष

इन संवतों की कल्पना का कुछ ज्ञान कराने के लिए हम प्रथम नाप या तुलना के विषय के रूप में उस हिन्दू वर्ष का उपयोग करेंगे जिसका एक बड़ा भाग यज्दजिर्द के संवत् ४०० से मिलता है। इस अंक में केवल सैकड़े ही हैं, इकाइयाँ और दहाइयाँ बिलकुल नहीं, इसलिए अपनी इस विशेषता के कारण यह उन सब बाकी वर्षों से पहचाना जाता है जो सम्भवतः चुने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यह स्मरणीय काल है, क्योंकि धर्म के दृढ़तम स्तम्भ के टूटने की घटना—आदर्श राजा, संसार केशरी, अपने समय के चमत्कार, महमूद का देहावसान। (भगवान उस पर अपनी दया करें!) इसके थोड़ा ही समय, एक वर्ष से भी कम, पहले हुई थी। हिन्दुओं का वर्ष इस वर्ण अथवा वर्ष के पहले दिन, के केवल बारह दिन पहले आरम्भ होता है, और इस राजा की मृत्यु के नौरोज इसके ठीक पूरे दस फारसी मास पहले हुई थी।

अब अपने इस नाप को पहले ही ज्ञात मानकर हम संयोग के इस स्थान के वर्षों की गिनती करेंगे। यह स्थान अनुरूप हिन्दू-वर्ष का आरम्भ है, क्योंकि विचारार्थ उपस्थित होनेवाले सभी वर्षों का अन्त इसके साथ मिलता है, और यज्दजिर्द के संवत् ४०० का नौरोज* इसके थोड़ा ही (अर्थात बारह दिन) पीछे आता है।

विष्णु-धर्म नामक पुस्तक के अनुसार—"वज्र ने मार्कण्डेय से पूछा कि ब्रह्मा की आयु कितनी व्यतीत हो चुकी है †। इस पर ऋषि ने उत्तर दिया—जो बीत चुका है वह तेरे अश्वमेध के करने तक ८ वर्ष, ५ मास, ४ दिन, ३ मन्वन्तर, ७ सन्धि, २७ चतुर्युग, और अट्ठाईसवें चतुर्युग के ३ युग और १० दिव्य वर्ष हैं। जो मनुष्य इस कथन के विवरण को जानता और उसे यथोचित रीति से समझता है वह ऋषि है; और ऋषि वह है जो केवल परब्रह्म की ही सेवा करता और उसके स्थान के, जो परमपद कहलाता है, पड़ोस में पहुँचने का यत्न करता है।"

---

* पारसी सन ४०० का नौरोज या नव वर्ष का दिन ९वीं मार्च १०३१ को हुआ, जो कि जूलियन काल का २,०९७,६८६ दिन है।

† इसका सम्बन्ध कलियुग सम्वत ३६०० से है, क्योंकि वर्तमान युग के १० दिव्य वर्ष या ३६०० वर्ष बीत चुके हैं। अगले पृष्ठ पर अलबेरूनी मानु-वर्ष या कलियुग के ४१३२ वें वर्ष की गिनती करता है। क्योंकि कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है इस लिये ८ वर्ण, ५ मास, ४ दिन अनुरूप होते हैं ८×७२०+५×६०+४×२, या ६०६८ कल्पों, या २६, २१३, ७६०, ००० ००० के। वर्तमान कल्प के छः मन्वन्तर या १,८४०, २३०,००० वर्ण सात सन्धियाँ या १२ ०९६, ०००, सत्ताईस चतुर्युग या ११६, ६४०, ००० वर्ण कृतयुग या १, ७२८ ००० वर्ण, त्रेतायुग या १, २९६, ००० द्वापर युग या ८६४,००० वर्ण, और कलियुग के ४१३२ वर्ण व्यतीत हो चुके हैं; इसलिए सातवें मन्वन्तर के सारे १२०, ५३२ १३२ वर्ण, कल्प के १, ९७२, ९४८, १३२, वर्ण और ब्रह्मा की आयु के २६; २१५, ७३०, ९४८, १३२ वर्ण व्यतीत हो चुके हैं।

इस कथन को पहले से ही अवगत मानकर, और अपने पाठकों का ध्यान काल के विविध भावों की उस व्याख्या को ओर फेंककर,—जो हम पहले परिच्छेदों में दे आये हैं—हम निम्नलिखित विश्लेषण उपस्थित करते हैं;—

हमारे माप के पहले ब्रह्मा की आयु के हमारे २ नील ६२ खरब १५ अरब ७३ करोड़ २९ लाख ४८ हजार १३२ वर्ष बीत चुके हैं। ब्रह्मा के अहोरात्र, अर्थात दिन के कल्प के १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४८ हजार १३२ और सातवें मन्वन्तर के १२ करोड़ ५ लाख ३२ हजार १३२ वर्ष बीत चुके हैं।

शेषोक्त तिथि राजा बलि के बाँधे जाने की भी तिथि है, क्योंकि यह घटना सातवें मन्वन्तर के पहले चतुर्युग में हुई थी।

उन सब काल गणना-सम्बन्धी तिथियों में जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं और अभी करेंगे, हम केवल पूर्ण वर्षो को ही गिनते हैं, क्योंकि हिन्दुओं का स्वभाव वर्ष के अपूर्णाङ्कों को छोड़ देने का है।

विष्णु-धर्म के अनुसार राम का काल

फिर, विष्णु-धर्म आगे कहता है—"वज्र के एक प्रश्न के उत्तर में मार्कण्डेय कहते हैं—मैं अब तक ६ कल्प और सातवें मन्वन्तर, सातवें के २३ त्रेतायुग जो चुका हूँ। चौबीसवें त्रेतायुग में राम ने रावण को, और राम के भाई लक्ष्मण ने रावण के भाई कुम्भकर्ण को मारा था। दोनों ने सभी राक्षसों को पराजित किया था। उस समय वाल्मीकि ऋषि ने राम कथा रची और उसे रामायण में अमर कर दिया। मैंने ही यह कथा पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर को काम्यक वन में सुनाई थी।

विष्णु-धर्म का रचयिता यहाँ त्रेतायुग से गिनना आरम्भ करता है। इसका कारण यह है कि एक तो जिन घटनाओं का वह उल्लेख करता है वे किसी विशेष त्रेतायुग में हुई थीं, और दूसरे एक ऐसी इकाई के साथ गिनने की अपेक्षा जिसकी व्याख्या के लिए उसके एक एक चतुर्थांश की ओर संकेत करना पड़ता है, किसी सरल इकाई के साथ गिनना अधिक सुखदायक होता है। इसके अतिरिक्त, त्रेतायुग का पिछला भाग इसके आरम्भ की अपेक्षा उल्लिखित घटनाओं के लिए अधिक अनुरूप है, क्योंकि यह पाप-कर्मो के युग के बहुत समीप है। इसमें सन्देह नहीं कि राम और रामायण की तिथि हिन्दुओं को मालूम है पर मैं इसे नहीं जाँच सका।

तेईस चतुर्युग ९ करोड़ ९३ लाख ६० सहस्त्र वर्ष होते हैं, और एक चतुर्युग के आरम्भ से लेकर त्रेतायुग के अन्त तक जितना समय होता है उसको मिलाकर १० करोड़ २३ लाख ८४ सहस्त्र वर्ष होते हैं। यदि हम वर्षो की इस संख्या को सातवें मन्वन्तर के वर्षो की उस संख्या में से जो हमारे मान वर्ष के पहले व्यतीत हो चुकी है अर्थात् १२ करोड़ ३५ लाख ३२ सहस्त्र १३२ में से निकाल दें तो हमारे १ करोड़ ८१ लाख ४८ हजार १३२ वर्ष, अर्थात् राम की आनुमानिक तिथि पर हमारे मान वर्ष से इतने वर्ष पहले बच रहते हैं। और जब तक पुष्टि में कोई उससे अधिक विश्वसनीय ऐतिहासिक प्रमाण न हो यही पर्याप्त होगा। यहाँ पर जो वर्ष लिखा गया है वह २८ वें चतुर्युग के ३८ लाख ९२ हजार १३२वें वर्ष के अनुरूप है।

वर्तमान कल्प के पहले का व्यतीत समय

ये सभी लेख ब्रह्मगुप्त द्वारा ग्रहण किये हुए मान पर आधारित हैं। वह और पुलिस इस बात में सहमत हैं कि वर्तमान कल्प के पहले ब्रह्मा की आयु के ६ सहस्र ६८ कल्प व्यतीत हो चुके हैं (जो ब्रह्मा के ८ वर्ष, ५ मास, ४ दिन के बराबर हैं) परन्तु इस संख्या को चतुर्युगों में बदलने में उनका एक दूसरे से मत-भेद है। पुलिस के अनुसार, यह ६१ लाख १६ सहस्र ५४४ के बराबर है; ब्रह्मगुप्त के अनुसार इसके केवल ६० लाख ६८ सहस्र चतुर्युग ही बनते हैं। इसलिए यदि हम पुलिस की पद्धति ग्रहण करके १ मन्वन्तर को सन्धि के बिना ७२ चतुर्युगों के बराबर, १ कल्प को १००८ चतुर्युगों के बराबर, और प्रत्येक युग को चतुर्युग के चतुर्थांश के बराबर गिनें, तो हमारे मान-वर्ष के पूर्व ब्रह्म के जीवन का जो भाग व्यतीत हो चुका है उसकी संख्या २ नील ६४ खरब २५ अरब ४५ करोड़ ६२ लाख ४ हजार १३२ वर्ष है और कल्प के १ अरब ९८ करोड़ ६१ लाख २४ सहस्र १३२ वर्ष, मन्वन्तर के ११ करोड़ ९८ लाख ८४ सहस्र १३२ वर्ष, और चतुर्युग के ३२ लाख ४४ सहस्र १३२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।‡

कलियुग का व्यतीत समय

कलियुग के आरम्भ से लेकर जो समय व्यतीत हो चुका है उसके विषय में पूर्ण वर्षों तक पहुँचनेवाला कोई भी भेद नहीं पाया जाता *। ब्रह्मगुप्त और पुलिस दोनों के अनुसार, हमारे मान-वर्ष के पूर्व कलियुग के ४१३२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और भारत के युद्धों तथा हमारे मान-वर्ष के बीच ३४७९ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। मान-वर्ष के पहले ४१३२ वाँ वर्ष कलिकाल का गणनारम्भ है, और मान-वर्ष के पहले ३४७९ वें वर्ष से पाण्डवकाल की गणना की जाती है।

कालयवन संवत

हिन्दुओं का एक सम्वत कालयवन नाम का है। इसके विषय की पूर्ण जानकारी मुझे प्राप्त नहीं हो सकी। वे इसका गणनारम्भ अन्तिम द्वापरयुग के अन्त में करते हैं। कालयवन नामक राक्षस ने उनके देश तथा धर्म दोनों को घोर रूप से पीड़ित किया था।

---

‡ ब्रह्मा के जीवन के आरम्भ से लेकर वर्तमान कल्प तक ६०६८ कल्प या ६०६८×१००८×४, ३२०,००० या २६, ४२३, ४७०, ०८०,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। छः मन्वन्तर=६×७२×४, ३२०,००० या १ ८६६, २१० वर्ष सत्ताईस चतुर्युग=२७×४, ३२०, ००० या ११६, ६४०,००० वर्ष, तीन युग+४१३२ वर्ष=३×१, ०८०, ०००+४१३२या ३, २४४, १३२, वर्ष। पिछली संख्या चतुर्युग के वीते हुए वर्षों को दिखलाती है; इसमें वर्षों की दूसरी संख्याएँ क्रमशः जोड़ने से इस पृष्ठ पर दी हुई संख्यायें प्राप्त होती हैं।

अरबी हस्तलिखित प्रति में २६, ४२५, ४५६, २०४, १३२ के स्थान में, २६, ४२५, ४५६, २०० ००० है (भ्रम)।

* अलबेरूनी ने शायद भारतीय पंचांग नहीं देखा था। प्रत्येक पंचांग में काल के वीते हुए वर्षों की संख्या लिखी रहती है। जैसे आज सन १९६५ में कलियुग के ५०६७ वर्ष वीत चुके हैं।

उपरोक्त संवतों के अनुसार तिथि लिखने के लिए हर दशा में बड़ी-बड़ी संख्याएँ, चाहिये क्योंकि उनका गणनारम्भ बहुत ही दूर के प्राचीनकाल में होता है। इस कारण अब वे व्यवहृत नहीं होते और उनके स्थान में निम्नलिखित संवत् ग्रहण कर लिये गये हैं :—

(१) श्रीहर्ष (२) विक्रमादित्य
(३) शक (४) वलभ, और
(५) गुप्त

श्री हर्ष का संवत

श्रीहर्ष के विषय में हिन्दू मानते हैं कि वे पृथ्वी के पेट में छिपे हुए कोष-प्राप्ति के लिए, सातवीं पृथ्वी तक नीचे की ओर, भूमि की परीक्षा किया करते थे; वास्तव में, उन्हें ऐसे कोष मिले भी थे; और, इसके परिणाम से, उन्हें कर आदि से प्रजा को दबाने की आवश्यकता नहीं रही थी। उनके संवत् का व्यवहार मथुरा और कन्नौज के देश में किया जाता है। उस प्रदेश के कुछ अधिवासियों से मुझे ज्ञात हुआ है कि श्रीहर्ष और विक्रमादित्य के बीच ४०० वर्ष का अन्तर है। परन्तु काश्मीर पञ्चाङ्ग में मैंने पढ़ा है कि श्रीहर्ष विक्रमादित्य से ६६४ वर्ष पीछे हुए थे। इस असंगति के होते हुए मैं किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाया और मेरे अनिश्चय को अब तक किसी विश्वस्त जानकारी ने स्पष्ट नहीं किया।

विक्रमादित्य का संवत

जो लोग विक्रमादित्य के संवत का उपयोग करते हैं वे भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में बसते हैं। इसका इस प्रकार उपयोग किया जाता है—३४२ को ३ से गुणा किया जाता है, जिससे १०२६ गुणनफल निकलता है। इस संख्या में वे वर्ष जोड़ते हैं जो वर्त्तमान षष्ठ-यब्द या साठवें संवत्सर के व्यतीत हो चुके हैं, और दोनों का जोड़ा विक्रमादित्य संवत का अनुरूप वर्ष होता है। महादेव कृत स्रूधव नामक पुस्तक में इसका नाम चन्द्रबीज है।

गणना की इस रीत के विषय में हम पहले ही कह देना चाहते हैं कि यह भद्दी और अस्वाभाविक है, क्योंकि यदि वे १०२६ को गणना का आधार मानकर आरम्भ करते जैसा कि वे—बिना किसी अभिव्यक्त आवश्यकता के—३४२ से आरम्भ करते हैं, तो इससे भी वही प्रयोजन सिद्ध हो जाता। और दूसरे, यदि यह मान लिया जाय कि जब तक तिथि में एक ही षष्ठ्यब्द हो यह रीति ठीक है, तो अनेक षष्ट्यब्द होने पर इसका निर्धारण कैसे होगा ?

शक-काल

शक के संवत का प्रारम्भ विक्रमीय संवत से १३५ वर्ष पीछे होता है। शकराज ने, इस देश के बीच में आर्यावर्त को अपना निवास बनाया तदुपरान्त सिन्धु नदी और सागर के बीच उनके देश पर अनेक अत्याचार किये। उसने हिन्दुओं के लिए आज्ञा कर दी कि वे अपने आप को शकों के सिवा न कुछ और समझें और न कुछ और प्रकट करें। कुछ लोगों का मत है कि वह अलमनसूरा नगर निवासी एक शूद्र था। कुछ लोगों की धारणा है कि वह हिन्दू था ही नहीं और वह पश्चिम के किसी देश से भारत में आया था। हिन्दुओं ने इसके हाथ से बहुत दुःख पाया, परन्तु अन्त को पूर्व

की दिशा से उनके पास सहायता आ पहुँची। विक्रमादित्य ने उसके विरुद्ध चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुलतान और लोनी के दुर्ग के बीच, करूर के प्रदेश में उसका वध कर डाला। उसी समय से यह तिथि विख्यात हो गई, क्योंकि अत्याचारी की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रजा को बड़ा आनन्द हुआ, और लोग, विशेषतः ज्योतिषी, इस तिथि का एक संवत के आरम्भ के रूप में प्रयोग करने लगे। वे विजेता के नाम के साथ श्री लगाकर उसका सम्मान करते हैं, और उसे श्री विक्रमादित्य कहते हैं। जो संवत कहलाता है उसके और शक के मारे जाने के बीच एक लम्बा अन्तर है, इसलिए हम समझते हैं कि वह विक्रमादित्य, जिससे संवत का यह नाम पड़ा है, वही व्यक्ति नहीं जिसने शक * को मारा था, वरन् केवल उसका समनामधारी है।

वलभ का संवत

वलभ का संवत वलभी नगरी के शासक वलभ के नाम पर पड़ा है। वलभी अनहिलवाड़ा से दक्षिण की ओर लगभग ३० योजन की दूरी पर थी। इस संवत का आरम्भ शक संवत के आरम्भ से २४१ वर्ष पश्चात् है। लोग इसका प्रयोग इस प्रकार करते हैं। वे पहले शककाल का वर्ष लिखकर उसमें से ६ का घन और ५ (२१६+२५=२४१) का वर्ग घटा देते हैं। अवशेष वलभ-संवत का वर्ष रह जाता है। वलभ का इतिहास इसके उपयुक्त स्थान में दिया गया है (देखिए परिच्छेद १७)

गुप्तकाल

गुप्तकाल के विषय में लोग कहते हैं कि गुप्त दुष्ट और बलवान लोग थे। जब उनका अस्तित्व नष्ट हो गया तब यह तिथि एक संवत के आरम्भ के रूप में प्रयुक्त हो गयी। जान पड़ता है कि वलभ उनमें से अन्तिम था, क्योंकि, वलभ संवत के सदृश, गुप्तों के संवत का आरम्भ शककाल के २४१ वर्ष पश्चात होता है।

ज्योतिषियों का संवत शककाल के ५८७ वर्ष पश्चात आरम्भ होता है। ब्रह्मगुप्त-कृत खण्डखाद्यक, जो मुसलमानों में अल-अर्कन्द ‡ नाम से प्रसिद्ध हैं, इसी संवत पर अवलम्बित है।

---

* अलबेरूनी अपनी पुस्तक कानून मऊसदी में इस शक के विषय में ये शब्द कहता है—

वक्त को हिन्दुओं की भाषा में काल कहते हैं। उनमें और विशेषतः उनके ज्योतिषियों में, जो सम्वत सबसे अधिक प्रसिद्ध है वह शककाल अर्थात शक का समय है। यह सम्वत उसके विनाश के वर्ष से गिना जाता है क्योंकि वह उस पर (उस समय पर) शासन कर रहा था। इसमें और दूसरे संवतों में यह रीति है कि गिनती पूर्ण वर्षों से की जाती है, अपूर्ण या वर्तमान वर्षों से नहीं—इसके आगे ग्रन्थकर्ता यूनानी, पारसी, और मुसलिम सम्वतों के साथ शक सम्वत की तुलना करने के नियम देता है।

‡ यह भारतीय ज्योतिष पर एक मात्र पुस्तक है, जो उनको ज्ञात थी। यह ब्रह्मगुप्त की खण्डखाद्यक का अनुवाद है। बलभद्र ने इस पर टीका लिखी है। संभवतः अलबेरूनी ने इसका एक संशोधित अनुवाद लिखा है—परन्तु यह पुस्तक योरप के पुस्तकालयों में नहीं मिलती।

मान वर्ष के साथ भारती संवतों की तुलना

अब, यज्दजिर्द का वत्सर ४००, जिसे हमने मान के रूप में चुना है, भारतीय संवतों के निम्नलिखित वर्षों के अनुरूप है :—

(१) श्रीहर्ष के संवत के वर्ष १४८८ के,
(२) विक्रमादित्य के संवत के वर्ष १०८८ के,
(३) शककाल के वर्ष ६५३ के,
(४) वलभ संवत् के, जो गुप्तकाल से अभिन्न है, वर्ष ७१२ के,
(५) खण्डखाद्यक के संवत के वर्ष ३६६ के,
(६) वारहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका के संवत के वर्ष ५२६ के,
(७) करणसार के सम्वत के वर्ष १३२ के, और
(८) करणतिलक के सम्वत के वर्ष ६५ के।

यहाँ-लिखी पुस्तकों के ये सब सम्वत ऐसे हैं जिनका उनके रचयिता, ज्योतिप-सम्बन्धी तथा अन्य गणनाओं में प्रधान सीमाओं के रूप में, प्रयोग करना बहुत योग्य समझते थे अर्थात जहाँ से बड़े सुभीते के साथ आगे और पीछे की ओर गणना हो सकती है। कदाचित इन सम्वतों का आरम्भ उसी काल के अन्दर होता है जब कि प्रस्तुत ग्रन्थकार स्वयम जीवित थे, परन्तु यह भी सम्भव है कि उनका आरम्भ ऐसे काल में होता हो जो उनके जीवन काल के पूर्व था।

संवत्सरों से तिथि लिखने की रीति

भारत में साधारण लोग शताब्दी के, जिसे वे सम्वत्सर कहते हैं, वर्षों से तिथि लिखते है। यदि एक सम्वत्सर समाप्त हो जाय तो वे उसे छोड़ देते हैं, और केवल नए स.वत्सर से तिथि लिखना आरम्भ कर देते हैं। यह लोककाल अर्थात समस्त जाति का सम्वत कहलाता है। परन्तु इस सम्वत के विषय में लोग ऐसे सम्पूर्ण रूप से विभिन्न वृत्तान्त सुनाते हैं कि वास्तविकता को जान पाना मेरे लिये असम्भव हो गया। इसी प्रकार वर्ष के आरम्भ के विषय में भी उनका आपस में मतभेद है इस शेषोक्त विषय पर जो कुछ मैंने स्वयम सुना हैं, लिखूंगा। इसी बीच में मुझे आशा है कि, एक दिन, हम इस प्रकट अव्यवस्था में कोई व्यवस्था मालूम कर सकेंगे।

वर्ष के भिन्न-भिन्न आरम्भ

शक-सम्वत का प्रयोग करने वाले लोग चैत्र मास से वर्ष आरम्भ करते हैं, और परन्तु कनीर के अधिवासी, जो कश्मीर का उपान्तवर्ती प्रदेश है, भाद्रपद से आरम्भ करते हैं। वही लोग हमारे मान-वर्ष (४०० यज्दजिर्द) को अपने एक सम्वत का चौरासीवां वर्ष गिनते हैं।

जो लोग बर्दरी और मारीगल के बीच के देश मे बसते हैं उनके वर्ष का प्रारम्भ कार्त्तिक से होता है, और मान वर्ष को अपने एक सम्वत का ११०वां वर्ष गिनते हैं। काश्मीरी पंचाङ्ग के रचयिता के अनुसार शेपोक्त वर्ष एक नए शतक के छठवें वर्ष के अनुरूप है, और वास्तव में काश्मीर के लोगों का ऐसा ही व्यवहार है।

मारीगल * के पिछली ओर, ताकेशर और लोहावर के नितान्त उपान्तों तक, नीरहर का देश है। उसका नूतन वर्ष मार्गशीर्ष से आरम्भ होता है और वे हमारे मान वर्ष को अपने संवत् का १०८वाँ वर्ष गिनते हैं। लंवग अर्थात लमगान के लोग भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। मुझे मुलतान के लोगों ने बताया है कि यह रीति सिंध और कन्नौज के लोगों में विशेष रूप से प्रचलित है, और वे मार्गशीर्ष की अमावस्या से वर्ष आरम्भ किया करते हैं, परन्तु मुलतान वालों ने थोड़े ही वर्ष से इस रीति को छोड़कर काश्मीर के लोगों की पद्धति को ग्रहण कर लिया है, और उनके उदाहरण का अनुकरण करते हुए वे चैत्र की अमावस्या से वर्ष आरम्भ करते हैं।

हिन्दुओं में प्रचलित तिथि लिखने की रीति

इस परिच्छेद में दी हुई जानकारी के अधूरेपन के लिये मैं पहले क्षमा याचना कर चुका हूँ। कारण यह है कि जिन सम्वतों पर यह परिच्छेद लिखा गया है उनका हम केवल इसलिये ठीक ठीक वैज्ञानिक वर्णन नहीं दे सकते कि उनमें हम को काल के ऐसे ऐसे परिमाणों का लेखा करना पड़ता है जो एक शतक से बहुत अधिक बड़े हैं और क्योंकि सौ वर्ष से अधिक पीछे की घटनाओं का सारा ऐतिहासिक वृत्त ही गड़बड़ होता है। सो मैंने स्वयम उस गोल-मोल और जटिल रीति को देखा है जिससे वे हिजरी सम्वत ४१६ या ९४७ शककाल में सोमनाथ के विध्वंस का वर्ष गिनते हैं। पहले वे २४२ अङ्क लिखते हैं, फिर उसके नीचे ६०६, फिर उसके नीचे ९९। इन संख्याओं का जोड़ ९४७, अथवा शककाल का वर्ष होता है।

अब मैं समझता हूँ कि उनकी शताब्द-पद्धति के आरम्भ के पूर्व २४२ वर्ष व्यतीत हो हो चुके हैं, और उन्होंने शेषोक्त को गुप्तकाल सहित ग्रहण कर लिया है; इसके अतिरिक्त ६०६ का अंक पूर्ण संवत्सरों या शताब्दों को दिखलाता है, जिनमें से प्रत्येक को उन्हें अवश्य १०१ वर्ष गिनना होगा। अन्ततः ९९ वर्ष उस समय को दिखलाते हैं जो वर्तमान शताब्द का व्यतीत हो चुका है।

वास्तव में गणना का यही स्वरूप है, इसकी पुष्टि मुलतान के दुर्लभ की बनाई हुई एक पुस्तक के एक पन्ने से होती है। यह पन्ना दैवयोग से मेरे हाथ लग गया है। उस पृष्ठ के अनुसार —"पहले ८४८ लिखा जाता है और इसमें लौकिक काल, अर्थात लोगों का संवत, जोड़ा जाता है और दोनों का योगफल शककाल है।"

यदि हम अपने मान-वर्ष के अनुरूप शककाल का पहला वर्ष अर्थात ९५३ लिखें और इसमें से ८४८ निकाल दें, तो अवशेष १०५, लौकिक काल का वर्ष रह जाता है, पर सोमनाथ का विध्वंस-शताब्द या लौकिक काल के अठानवे वर्ष में पड़ता है।

---

* कनीर, वर्दरी, मारीगल, निरहर (निर्गृह ?) नामों का उच्चारण अटकलपच्चू है। अलबेरूनी मारीगल को तक्षशिला से अभिन्न ठहराता है। मारीगल नाम शाहढेरी से केवल दो मील दक्षिण में स्थित गिरिमाला में सुरक्षित जान पड़ता है। इस स्थान का उल्लेख "तबकाते नासरी" में भी है।

इसके अतिरिक्त, दुर्लभ * कहता है कि वर्ष मार्गशीर्ष मास से आरम्भ| होता है, परन्तु लनात के ज्योतिषी इसे चैत्र से आरम्भ करते हैं।

काबुल के शाहों के वंश का मूल

हिन्दुओं के एक राजा काबुल में रहते थे। वे तुर्क थे और उनकी उत्पत्ति तिब्बत की बताई जाती है। उनमें से पहला, बर्हतकीन, उस देश में आकर काबुल में एक ऐसी गुफा में घुस गया जिनमें प्रवेश करने के लिये हाथों पैरों पर रेंग कर जाना पड़ता था। उस गुफा में जल था, और इसके अतिरिक्त उसने कुछ दिन के लिए वहाँ अन्न भी रख लिया था। हमारे समय में भी लोग इसे अब तक जानते हैं; यह वर कहलाती है। जो लोग बर्हतकीन † के नाम को एक शुभ शकुन समझते हैं वे गुफा में प्रवेश करके बड़ी कठिनता से कुछ जल बाहर लाते हैं।

किसानों की कुछ टोलियाँ गुफा के द्वार के सामने काम कर रही थीं। इस प्रकार की ठग-विद्या उसी अवस्था में की जा सकती और प्रसिद्ध हो सकती है यदि उसके रचयिता ने किसी दूसरे के साथ—वास्तव में, अपने संगियों के साथ—कोई गुप्त व्यवस्था कर रक्खी हो। अब इन्होंने लोगों को वहाँ बारी-बारी से दिन-रात निरन्तर कार्य करते रहने के लिए प्रेरित किया था, जिससे वह स्थान कभी सूना नहीं रहता था।

गुफा में प्रवेश करने के कुछ दिन पश्चात्, वह लोगों के सम्मुख रेंग कर उसमें से बाहर नकलने लगा। वे लोग उसे एक नव-जात बालक के समान देखते थे। वह तुर्की वस्त्र पहने हुए था, सामने से खुला एक छोटा अँगरखा, एक ऊँची टोपी, बूट और शस्त्र थे। अब लोगों ने एक ऐसे प्राणी के रूप में उसका सम्मान किया जो अलौकिक रीति से उत्पन्न हुआ हो और जिसके भाग्य में राजा बनना बदा हो। वास्तव में वह उन देशों को अपने प्रभुत्व के नीचे ले आया और काबुल के शाहिया की उपाधि धारण करके उसने उन देशों पर शासन किया। उसके वंश में कई पीढ़ियों तक शासन रहा। इन पीढ़ियों की संख्या साठ के लगभग बताई जात है।

दुर्भाग्य से हिन्दू लोग बातों के ऐतिहासिक क्रम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। अपने राजाओं की कालक्रमानुगत परम्परा का वर्णन करने में वे विशेष सावधानी नहीं रखते। जब उन्हें जानकारी के लिए जोर दिया जाय और न जानने के कारण वे कुछ बता न सकें तब वे सदा कहानियाँ सुनाने

---

* दुर्लभ— एक मुलतान-निवासी है। इसका केवल दो बार उल्लेख हुआ है। यहाँ ग्रंथकर्ता शक संवत को गिनने की और अहर्गण को गिनने की उसकी बताई हुई विधि उदधृत करता है। उसके अनुसार भारतीय वर्ष मार्गशीर्ष मास से आरम्भ होता था, परन्तु मुलतान के ज्योतिषियों के अनुसार यह चैत्र से शुरु होता था।

† बर्हतकीन—यह नाम केवल इस एक ही जगह पर मिलता है। यदि यह भारतीय नाम होता तो मैं इसे बृहत्कोन जैसा कोई शब्द समझ लेता। यदि यह तुरकी शब्द है तो यह संयुक्त है, जिसका दूसरा अंश तगीन है (जैसा कि तुगरुल्तगीन और दूसरे नामों में)। क्योंकि अलबेरुनी इसको तिब्बती बताता है, इसलिए प्रश्न पैदा होता है की क्या इस प्रकार की व्याख्या तिब्बती मान-कर की जाय।

लग जाते हैं। इनको छोड़ कर हम पाठकों को वे ऐतिहासिक वृत्तांत सुनायेंगे जो हमने उनमें से कुछ लोगों-से सुने हैं। मुझे बताया गया है कि इस राज-वंश की वंशावली, रेशम पर लिखी हुई, नगरकोट के दुर्ग में विद्यमान है। मेरी बड़ी कामना थी कि इसका परिचय प्राप्त करूँ, परन्तु अनेक कारणों से ऐसा न हो सका।

कनिक की कथा

राजाओं की इस परम्परा में एक कनिक * था। यह वही है जिसके विषय में कहा जाता है कि उसने पुरुषावर का विहार बनवाया था। यह उसके नाम पर कनिक चैत्य कहलाता है। लोग बताते हैं कि कन्नौज के राजा ने, अन्य उपहारों के अतिरिक्त, उसे एक समुज्ज्वल और अति विलक्षण कपड़े का टुकड़ा दिया था। कनिक अपने पहनने के लिए उसके कपड़े बनवाना चाहता था, परन्तु उसके दर्जी में उनके बनाने का साहस न था, क्योंकि वह कहता था, कपड़े में जो काम किया गया है उसमें मानव के पैर की एक आकृति है, और मैं कितना ही यत्न क्यों न करूँ वह पैर सदा कन्धों के बीच में आयगा।" उसका अर्थ वही है जो हम पहले ही विरोचन के पुत्र, बलि, की कथा में कह चुके हैं (अर्थात्; वश्यता का चिन्ह)। अब कनिक को विश्वास हो गया कि इस प्रकार कन्नौज के राजाकी इच्छा उसे अपमानित और निन्दित ठहराने की थी, इसलिए उसने शीघ्रता से सेना लेकर उस पर चढ़ाई कर दी।

जब राजा को यह समाचार मिला तो वह बहुत घबराया, क्योंकि उसमें कनिक का सामना करने की शक्ति न थी। इसलिए उसने अपने मन्त्री से परामर्श किया। मन्त्री ने कहा, "आपने एक शान्त रहने वाले मनुष्य को जगा कर, बड़ा अनुचित कर्म किया है। अब मेरी नाक और होंठ काट कर मेरा अङ्गच्छेदन कर दीजिए ताकि मैं कोई कपट उपाय ढूँढ़ सकूँ; क्योंकि खुले तौर-पर सामना करने की कोई सम्भावना नहीं।" राजा ने उसके साथ वैसा ही किया जैसा कि उसने प्रस्ताव किया था, और तब वह मन्त्री राज्य के सीमान्त प्रदेश की ओर चला गया।

वहाँ शत्रु-सेना ने उसे पकड़ लिया, और वह पहचाना जाकर कनिक के सामने लाया गया। कनिक ने उससे उसकी इस दुरवस्था का कारण पूछा। मन्त्री ने कहा—"मैंने उसे आपका विरोध करने से हटाने का बहुतेरा यत्न किया, और उसे आपके आज्ञाधीन होने का सच्चे हृदय से परामर्श दिया। परन्तु उसे मुझ पर संदेह हो गया, और उसने मेरे अङ्गच्छेदन की आज्ञा दे दी। तब से वह, अपनी इच्छा से, एक ऐसे स्थान को चला गया है जहाँ मनुष्य राज-मार्ग पर चल कर बहुत लम्बी यात्रा के बाद ही पहुँच सकता है, परन्तु यदि वह अपने साथ इतने दिन के लिए पानी ले जा सके तो रास्ते में पड़ने वाली मरुस्थली को पार करने का कष्ट सहन करके सुगमता से वहाँ पहुँच सकता है।" इस पर कनिक ने उत्तर दिया—"यह शेषोक्त बात सुगमता से हो जायगी।" उसने साथ पानी ले चलने की आज्ञा दे दी, और रास्ता दिखलाने के लिए मन्त्री को ले लिया।

---

* कनिक—केवल तीन व्यंजनों क न क, का पता लगता है। हम इसे कनिक या कनिक्कु पढ़ सकते हैं। कनिक्कु संस्कृत के कनिष्क का मध्य भारतीय रूप कनिक्खु होगा। इसी प्रकार तुर्क शब्द का उच्चारण मध्यभारतीय बोली में तुरुक्खु और संस्कृत तुरुष्क हो गया था।

मन्त्री राजा के आगे-आगे चल पड़ा और उसे एक असीम मरुस्थली में ले गया। जब उतने दिन बीत गये और मार्ग समाप्त न हुआ, तब राजा ने मन्त्री से पूछा कि अब क्या करना चाहिए। मन्त्री ने कहा--"मैंने अपने स्वामी को बचाने और उसके शत्रु को नष्ट करने का जो यत्न किया है इसके लिए मुझे कोई दोष नहीं लग सकता। इस मरुस्थली से बाहर निकलने का निकटतम मार्ग वही है जिस पर आप आये हैं। अब आप मेरा जो चाहे सो कीजिए, क्योंकि कोई इस मरुस्थली से जीता बाहर न जायगा।" तब कनिक घोड़े पर सवार होकर भूमि में नीचे को दबे हुए एक स्थान के गिर्द घूमा। इसके मध्य में उसने पृथ्वी में अपनी बरछी गाड़ दी। बस, उसमें से इतना जल निकला जो सेना के पीने तथा लौटते हुए साथ ले जाने के लिए पर्याप्त था। इस पर मन्त्री ने कहा—"मैंने अपनी कपट युक्ति प्रबल देवदूतों के विरुद्ध नहीं, वरन निर्बल मनुष्यों के विरुद्ध, गढ़ी थी। क्योंकि अवस्था ऐसी हो गई है इसलिए मेरे उपकर्ता राजा को, मेरा माध्यस्थ्य स्वीकार करके, क्षमा-दान दीजिए।" कनिक ने उत्तर दिया—"मैं इस स्थान से लौटता हूँ। तेरा मनोरथ पूरा किया जाता है। तेरे स्वामी के लिए जो कुछ उचित था वह उसे पहले ही मिल चुका है।" कनिक मरुस्थली से निकलकर वापस लौट गया, और मन्त्री अपने स्वामी, कन्नौज के राजा के पास चला गया। वहां जाकर उसने देखा कि जिस दिन कनिक ने पृथ्वी में अपनी बरछी गाड़ दी थी उसी दिन राई के शरीर से दोनों हाथ और पैर अलग होकर गिर पड़े थे।

तिब्बती वंश का अन्त और ब्राह्मण वंश की उत्पत्ति।

इस जाति का अन्तिम राजा लगतुर्मान् * था। उसका मंत्री कल्लर † नाम का एक ब्राह्मण था। कल्लर बड़ा भाग्यवान था। आकस्मात उसे गुप्त कोष मिल गये थे, जिनसे उसकी सम्पत्ति और शक्ति बहुत बढ़ गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस तिब्बती वंश के हाथ में इतने दीर्घ काल तक राजकीय शक्ति रहने के पश्चात्, इसके अन्तिम राजा ने इसे शनैः शनैः अपने हाथ से छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त लगतुर्मान का आचार खराब और चरित्र उससे भी बुरा था। इस कारण लोगों ने मंत्री से उसकी बड़ी शिकायत की। अब मंत्री ने उसे बांधकर कारागार में डाल दिया ताकि वह ठीक हो जाय, और ऐसी स्थिति में उसे शासन करने में अधिक सुख प्रतीत हुआ। उसके धन ने उसकी कल्पनाओं को पूरा करने में उसे सहायता दी और इस प्रकार उस ने राज-सिंहसान पर पूर्ण अधिकार कर लिया। इसके पश्चात ब्राह्मण राजा सामन्त, § कमलू, ‡

---

* लगतुर्मान—इस शब्द की रूप रचना इसे अभारतीय मूल (तिब्बती) का दिखलाती प्रतीत होती है। पहले इसको तिब्बती राजा, लङ्गतरमा, के नाम के साथ जोड़ने का विचार किया गया था। क्योंकि लगतूरमान अन्तिम बौद्ध राजा था, और दोनों नाम भी बहुत कुछ आपस में मिलते हैं। राजा लङ्गतरमान ने बुद्धधर्म का (सन् ८६९ ई०) नाश किया था।

† कल्लर नाम को कल्लूर लिखा गया है क्या यह नाम कुलुप (कलुप ?) के साथ मिलाया जा सकता है ? मराठा राजा सम्भाजी के एक ब्राह्मण मन्त्री का यह नाम मिलता है।

§ ब्राह्मण राजा—सामन्त का अर्थ माण्डलिक राजा है।

‡ कमलू राजा अमर इब्न लैतह् का समकालीन था। इब्न लैतह की मृत्यु ९११ में हुई थी।

भीम, जयपाल, आनन्दपाल, * और त्रिलोचनपाल ने राज्य किया है। राजा त्रिलोचनपाल सन् ४१२ हिजरी(सन् १०२१ ई०) में और उसका पुत्र भीमपाल इसके पाँच वर्ष पश्चात (सन् १०२६ ई०) § में मारा गया था।

यह हिन्दू शाहिया वंश अब सर्वथा नष्ट हो चुका है, सारे कुल में एक भी व्यक्ति अब शेष नहीं है। हमें कहना पड़ता है कि, अपने सारे ऐश्वर्य में, जो बात सत्य और भद्र है उसके करने को वे सदैव तत्पर रहे और वे श्रेष्ठ वृत्ति और श्रेष्ठ भाव के मनुष्य थे। मैं आनन्दपाल के एक पत्र में आगे दिये वचन की प्रशंसा करता हूँ। यह पत्र उसने राजा महमूद को उस समय लिखा था जब उनका आपस का सम्बन्ध अत्यधिक बिगड़ चुका था—"मैंने सुना है कि तुर्कों ने आप के विरुद्ध विद्रोह किया है, और वे खुरासान में फैल रहे हैं। यदि आप चाहें तो मैं ५००० अश्वारोहियों, १०००० पदातियों, और १०० हस्तियों के साथ आप के पास आने को तैयार हूँ, या, यदि आप चाहें तो मैं अपने पुत्र को इससे दुगनी संख्या के साथ आप के पास भेज दूँगा। मैं यह काम इस आशा से नहीं करता कि इससे जो प्रभाव आप पर पड़ेगा उससे मुझे कुछ लाभ होगा। मैं आप के द्वारा पराजित हो चुका हूँ, और मैं नहीं चाहता कि कोई दूसरा मनुष्य आप को भी पराजित कर दे।"

जब से इस राजा का पुत्र कैद कर लिया गया था तब से उसके मन में मुसलमानों के विरुद्ध अत्यन्त घृणा हो गई थी, परन्तु उसका पुत्र त्रिलोचन पाल अपने पिता के सर्वथा विपरीत था।

पचासवाँ परिच्छेद

कल्प और चतुर्युग में तारागणों के चक्कर

अलफजारी तथा इब्नतारिक का प्रमाण

कल्प के आरम्भ में या अन्त में प्रत्येक ग्रह अपने उच्चतम स्थानों और प्रान्तों सहित, मेषराशि के ०° में, अर्थात महाविषुव के विन्दु में अवश्य मिलता है। इसलिये प्रत्येक ग्रह एक कल्प में पूर्ण परिभ्रमणों या चक्करों की एक विशेष संख्या पूरी करता है।

उन परिभ्रमणों का ज्ञान अलफजारी तथा याकूब इब्नतारिक की ज्योतिष की पुस्तक के द्वारा हुआ है। उन लोगों ने यह ज्ञान एक हिन्दू से पाया था, जो खलीफा अलमन्सूर के पास सिंध भेजे हुए राजनैतिक प्रतिनिध-दल के एक सदस्य के रूप में हिजरी संवत १५४ (=७७१ई०)

---

* आनन्दपाल, भीमपाल, और त्रिलोचन का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका रक्षक शिव है। इसलिये यदि ये इण्डो-सिदियन राजाओं की तरह शैव थे, तो हमें जयपाल नाम की व्याख्या कदाचित जयपाल, अर्थात वह व्यक्ति जिसकी रक्षिका (शिव-पत्नी) दुर्गा है, के तौर पर करनी चाहिये।

§ यह नहीं मालूम किया जा सका कि प्रस्तुत वर्ष त्रिलोचनपाल के राजतिलक का था या मृत्यु का। परन्तु उसका वध किया गया था उसमें सन्देह नहीं है।

ग्रह		एक कल्प में उनके भ्रमणों की संख्या	उनके उच्चस्थानों के भ्रमणों की संख्या	उनके पातों के भ्रमणों की संख्या
सूर्य	...	४,३२०,०००,०००	४८०	इसका कोई पता नहीं।
चन्द्रमा	ब्रह्मगुप्त ...	५७,७५३,३००,०००	४८०,१०५,८०८	२३२,३११,१६८
	अलफजारी का अनुवाद ...			२३२,३१२,१३८
	आर्यभट ...		४८८,२१९,०००	२३२,३१६,०००
	ब्रह्मगुप्त के अनुसार चन्द्रमा का कैन्द्रिक भ्रमण		५७,२६५,१९४,१४२	चन्द्रमा के कैन्द्रिक भ्रमण को यहां इस प्रकार वर्णन किया गया है मानो यह उच्चस्थान हो, क्योंकि यह चन्द्रमा की गति और उच्चस्थान की गति के बीच का अन्तर है।
मङ्गल	...	२,२९६,८२८,५२२	२९२	२६७
बुध	...	१७,९३६,९९८,९८४	३३२	५२१
बृहस्पति	...	३६४,२२६,४५५	८५५	६३
शुक्र	...	७,०२२,३८९,४९२	६५३	८९३
शनि	ब्रह्मगुप्त ...	१४६,५६७,२९८		
	अलफजारी का अनुवाद ...	१४६,५६९,२८४	४१	५८४
	अलसरखसी का संशोधन ...	१४६,५६९,२३८		
स्थिर तारे		अलफजारी के अनुवाद के अनुसार १२०,०००		

में आया था। यदि हम इन गौण कथनों की तुलना हिन्दुओं के प्राथमिक कथनों के साथ करें, तो हमें असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका कारण मुझे मालूम नहीं। क्या इनका कारण अलफजारी और याकूब का अनुवाद है? या उस हिन्दू के लिखाने से ये उत्पन्न हो गई हैं? या इनका कारण यह है कि पीछे से ब्रह्मगुप्त, या किसी और ने, इन संख्याओं को ठीक किया है? क्योंकि यह बात निश्चित है कि जिस भी विद्वान् को ज्योतिष-संबंधी संख्याओं में भूलों का पता लग जाता है और जिसे इस विषय में रस आता है वह उनको ठीक करने का यत्न करता है, जैसा कि सरखस के मुहम्मद इब्न-इसहाक ने किया है। उसने शनि के परिसंख्यान में वास्तविक समय से कुछ पीछे हट जाना मालूम किया था (अर्थात, शनि जितना वास्तव में घूमता है, इस परिसंख्यान के अनुसार उससे कम घूमता था)। अब उसने इस विषय का यत्नपूर्वक अध्ययन किया, यहां तक कि अन्त को उसे विश्वास हो गया कि उसका दोष समीकरण से (अर्थात, नक्षत्रों के स्थान की भूल सुधार, उनके मध्य स्थानों के परिसंख्यान से) उत्पन्न नहीं हुआ। तब उसने शनि के काल-चक्र में एक काल चक्र और जोड़ दिया, और अपनी गणना की तुलना उस ग्रह की वास्तविक गति के साथ की, यहाँ तक कि अन्त को उसे मालूम हो गया कि काल-चक्रों की गणना ज्योतिष-सम्बन्धी अवलोकन के साथ पूर्ण रूप से मिलती है। इस संशोधन के अनुसार वह अपनी ज्योतिष की पुस्तक में तारों के काल-चक्रों का वर्णन करता है।

आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के प्रमाण

आर्यभट के अनुसार ब्रह्मगुप्त चन्द्रमा के उच्चतम स्थानों तथा पातों के काल-चक्रों के विषय में एक भिन्न कल्पना का वर्णन करते हैं। हम ब्रह्मगुप्त के प्रमाण पर ही इसे यहां उद्धृत करते हैं, क्योंकि हम इसे आर्यभट की मूल पुस्तक में नहीं पढ़ सके। हमने इसे केवल ब्रह्मगुप्त की पुस्तक में एक अवतरण में ही पढ़ा है।

आगे दी हुई तालिका में ये सब ऐतिह्य मौजूद हैं। यदि जगदीश्वर ने चाहा, तो इससे उनके अध्यान में सुभीता हो जायगा।

चतुर्युग और कलियुग में ग्रहों के चक्र

इन चक्रों के परिसंख्यान का आधार ग्रहों की मध्यम गति है। क्योंकि ब्रह्मगुप्त के अनुसार चतुर्युग कल्प का एक-सहस्रवां भाग होता है, इसलिए हमें इन चक्रों को केवल १०००-से ही भाग देना है। जो भाग-फल निकलेगा वही एक चतुर्युग में तारों के चक्करों की संख्या है।

इसी प्रकार, यदि हम तालिका के कालचक्रों को १०,००० पर भाग दें, तो भागफल एक कलियुग में ग्रहों के काल-चक्रों की संख्या होगी, क्योंकि यह एक चतुर्युग का दसवां भाग है। उन भागफलों में आने वाले अपूर्णाङ्कों के भाजक के बराबर हो, पूर्णाङ्क, चतुर्युग या कलियुग बनायला जाता है।

नीचे की तालिका विशेष रूप से एक चतुर्युग और कलियुग में होने वाले तारों के का चक्रों को दिखलाती है, मन्वन्तर में होने वालों को नहीं। यद्यपि मन्वन्तर पूर्ण चतुर्युगों के गुणनों के सिवा और कुछ नहीं, फिर भी उनका लेखा करना कठिन है क्योंकि उनके आदि और अन्त में सन्धि लगी हुई है।

ग्रहों के नाम	एक चतुर्युग में उनके परिभ्रमण	एक कलियुग में उनके परिभ्रमण
मङ्गल ...	$२,२९६,८२८\frac{२६१}{५००}$	$२२९,६८२\frac{४२६१}{५०००}$
उसका उच्च स्थान ...	$०\frac{७३}{२५०}$	$०\frac{७३}{२५००}$
उसका पात ...	$०\frac{२६७}{१०००}$	$\frac{२६७}{१००००}$
बुध ...	$१७,९३६,९९८\frac{१२३}{१२५}$	$१,७९३,६९९\frac{११२३}{१२५०}$
उसका उच्च स्थान ...	$०\frac{८३}{२५०}$	$०\frac{८३}{२५००}$
उसका पात ...	$०\frac{५२१}{१०००}$	$०\frac{५२१}{१००००}$
बृहस्पति ...	$३६४,२२६\frac{९१}{२००}$	$३६,४२२\frac{१२९१}{२०००}$
उसका उच्च स्थान ...	$०\frac{१७१}{२००}$	$०\frac{१७१}{२०००}$
उसका पात ...	$\frac{६३}{१०००}$	$०\frac{६३}{१००००}$
शुक्र	$७,०२२,३८९\frac{१२३}{२५०}$	$७०२,२३८\frac{२३७३}{२५००}$
उसका उच्चस्थान	० ६५३	०·०६५३
उसका पात	·८९३४	०·०८९३
शनि ...	$१४६५६९\frac{१४९}{५००}$	$१४,६५६\frac{३६४९}{५०००}$
उसका उच्चस्थान ...	·०४१	०·००४१
उसका पात ...	$\frac{७३}{१२५}$	$\frac{७३}{१२५०}$
अलफ़ज़री का अनुवाद	१४६,५६९·२८४	१४,६५६·९२
अलसरख़सी का संशोधन	१४६,५६९·२३८	१४,६५६·९२३८
स्थिर ग्रह ...	१२०	१२

	ग्रहों के नाम	एक चतुर्युग में उनके परिभ्रमण	एक कलियुग में उनके परिभ्रमण
	सूर्य	४,३२०,०००	४३२,०००
	उसके उच्चनीच स्थान	१२ २५	६०/१२५०
	सोम	५७,७५३,३००	५७७५३३०
उसके उच्च स्थान	ब्रह्मगुप्त	४८८२०५ ४२९/५००	४८८०१ २९२९/५०००
	आर्यभट	४८८,२१९	४८८२१ ९/१०
	उसका केन्द्रिक परिभ्रमण	५७,२६५,१९४ ७१/५००	५,७२६,५१९ २०७१/५०००
उसका पात	ब्रह्मगुप्त	२३२,३११ २१/१२५	२३,२३१ २९२/२५००
	मलफ़जारी का अनुवाद	२३२,३१२ ६९/५००	२३,२३१ १०६९/५०००
	आर्यभट	२३२,३१६	२३,२३१

यह बता देने के उपरान्त कि, ब्रह्मगुप्त के अनुसार, एक चतुर्युग में और एक कलियुग में एक कल्प के कितने ग्रहचक्र होते हैं, अब हम पहले कल्प = १००० चतुर्युग गिनकर, और दूसरे, इस १००८ चतुर्युग गिनकर, पुलिस के अनुसार एक चतुर्युग के ग्रहचक्रों की संख्या के एक कल्प के ग्रहचक्रों की संख्या निकालते हैं। ये संख्याएँ नीचे की तालिका में दी गयी है :—

नोट: पा5 में यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गई कि केन्द्रिक परिभ्रमण से क्या तात्पर्य है, परन्तु जो संख्याएँ अलबेरूनी ने उद्धृत की है वे इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रहने देतीं। कल्प के दिन १,५७७, ९१६,४५०,००० हैं। इनको यदि संख्या ५७,२६५,१९४, १४२ पर भाग दिया जाय तो एक परिभ्रमण के लिए २७ ३१७५६२०८१६६/५७२६५१९४१४२ दिन, या २७ दिन १३ घण्टे १८ कला ३३ विपल निकलते हैं, और चन्द्रमा का केन्द्रिक परिभ्रमण २७ दिन, १३ घण्टे, १८ कला ३७ विपल के बराबर है। इन दोनों संख्याओं का एक दूसरे से इतना निकट का तुल्यत्व है कि यह सन्देह कि यहाँ केन्द्रिक परिभ्रमण के सिवा किसी दूसरी चीज से तात्पर्य है पूर्ण रूप से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त उच्चस्थान के परिभ्रमणों की संख्या ४८८, १०५, ८५८ में ५७, २६५, १९४, १४ बढ़ाने से संख्या ५७, ७५३, ३००, ००० के बराबर होती है जो कि नक्षत्र-सम्बन्धी परिभ्रमणों की संख्या है। वास्तव में, उच्चस्थान के परिभ्रमण योग केन्द्रिक परिभ्रमण नक्षत्र-सम्बन्धी परिभ्रमणों के बराबर होने चाहिएँ।

अह्वाज के अबुलहसन का उल्लेख केवल इसी स्थान में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अलफ़ज़ारी और याक़ूब इब्न तारिक़ का समकालीन था।

पुलिस के अनुसार युग

ग्रहों के नाम	एक चतुर्युग में उनके परिभ्रमणों की संख्या	१००० चतुर्युगों के कल्प में उनके परिभ्रमणों की संख्या	१००८ चतुर्युगों के कल्प में उनके परिभ्रमणों की संख्या
सूर्य	४,३२,०००	४,३२०,०००,०००	४,३५४,५६०,०००
सोम	५७,५७३,३३६	५७,७५३,३३६,०००	५८,२१५,३६२,६८८
उसका उच्च-स्थान	४८८,२१६	४८८,२१६,०००	४९२,१२४,७५२
उसका पता	२३२,२२६	२३२,२२६,०००	२३४,०८३,८०८
मङ्गल	२,२९६,८२४	२,२९६,८२४,०००	२,३१५,१९८,५९२,
बुध	१७,९३७,०००	१७,९३७,०००,०००	१८,०८,४९६,०००
वृहस्पति	३६४,२२०	३६४,२२०,०००	३६७,१३३,७६०
शुक्र	७,०२२,३८८	७,०२२,३८८,०००	७,०७८५६७,१०४
शनि	१४६,५६४	१४६,५६४,०००	१४७,७३६,५१२

अरब लोगों में आर्यभट का रूपान्तर

इस सन्दर्भ में हमें एक विचित्र अवस्था मिलती है। यह बात प्रत्यक्ष है कि अलफज़ारी और यअ़कूब ने कभी अपने हिन्दू गुरु से इस विषय की बात सुनी थी, कि ग्रहों के चक्करों की उसकी गिनती वृहत्सिद्धान्त की है, परन्तु आर्यभट इसके एक-सत्रहवें भाग के साथ गिनता था। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्होंने उसके अर्थ को यथार्थतः नहीं समझा, और यह कल्पना कर ली कि आर्यभट का अर्थ एक-सहस्रवाँ भाग है। हिन्दू लोग इस शब्द के ड का उच्चारण कुछ द और र के बीच करते हैं। इसलिये व्यञ्जन वदल कर र हो गया, और लोगों ने आर्यभर लिख दिया। पीछे से इसके अंगों को और भी अधिक काट डाला। पहले र को ज में वदल दिया गया, और इस प्रकार लोग इसे आर्ज़भर लिखने लगे। यदि उस वेष में यह शब्द मुड़ कर हिन्दुओं के पास जावे, तो वे उसे पहचान न सकेंगे।

अबू-अलहसन के अनुसार ग्रहों के काल-चक्र

फिर, अल अहवाज का अबू-अलहसन अल-अर्जर के वर्षों में, ग्रहों के परिभ्रमणों का उल्लेख करता है। मैंने उन्हें जैसा पाया है वैसा ही तालिका में दिखलाता हूँ, क्योंकि मेरा अनुमान है कि वे उस हिन्दू के लिखाए हुए वर्णन से लिए गए हैं। इसलिये सम्भवतः वे हमें आर्यभट की कल्पना बतलाते हैं। इन संख्याओं में से कुछ तो एक चतुर्युग में होने वाले उन ग्रह-चक्रों के साथ मिलती हैं जिनका उल्लेख हमने ब्रह्मगुप्त के प्रमाण से किया है; कुछ उनसे भिन्न हैं और पुलिश की कल्पना से मिलती हैं; तीसरी प्रकार की संख्याएँ ब्रह्मगुप्त और पुलिश दोनों की संख्याओं से भिन्न हैं, जैसा कि सारी तालिका को ध्यान-पूर्वक देखने से विदित हो जायगा।

अबू-अलहसन अलअहवाज के अनुसार एक चतुर्युग के भागों के रूप में उनके युग	ग्रहों के नाम
४,३२०,०००	सूर्य
५७,७५३,३३६	चन्द्र
४८८,२१९	उसका उच्चस्थान
२३२,२२६	उसका पात
२,२९६,८२८	मङ्गल
१७,९३७,०२०	बुध
३६४,२२४	बृहस्पति
१,०२२,३८८	शुक्र
१४६,५६४	शनि

इकावनवाँ परिच्छेद

दिनों की भिन्न भिन्न संख्यायें

अधिमास पर

हिन्दुओं के मास चन्द्रानुसार चलते हैं और उनके वर्ष सूर्यानुसार, इसलिए प्रत्येक सौर वर्ष में उनके नव वर्ष का दिन अपेक्षाकृत उतना ही पहले आता है जितना कि वह चान्द्र वर्ष का सौर वर्ष से छोटा होता है (स्थूल रूप से कहें तो ग्यारह दिन) यदि यह पुरोगति पूरा एक मास बना लेती है, तो वे यहूदियों के सदृश ही कार्य करते हैं, जो अजार मास को दो बार गिनकर वर्ष को तेरह मास का लौंद का वर्ष बना लेते हैं, और इसी प्रकार साकारवादी अरबों के सदृश काम करते हैं, जिन्होंने कथन-मात्र विलम्बित संवत् में नव वर्ष के दिवस को स्थगित कर दिया और उससे पूर्ववर्ती वर्ष को बढ़ाकर उसका समय तेरह मास का बना दिया।

जिस वर्ष में एक मास दो बार लाया जाता है उसे हिन्दू सामान्य भाषा में मलमास कहते हैं। मल का अर्थ है हाथ को लग जाने वाला मैल। जिस प्रकार ऐसे मैल को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार अधिमास को भी गिनती से बाहर कर दिया जाता है, और एक वर्ष के मासों की संख्या बारह रह जाती है। परन्तु, साहित्य में लौंद का मास अधिमास कहलाता है।

वह मास दो बार लाया जाता है जिसमें (क्योंकि यह सौर मास समझा जाता है) दो चान्द्र मास समाप्त होते हैं। यदि उस चान्द्र मास का अन्त सौर मास के आरम्भ के साथ मिल जाता है, यदि वास्तव में, सौर मास के किसी अंश के व्यतीत होने के पूर्व ही चान्द्र मास समाप्त हो जाता है, तो इस मास को दुबारा लाया जाता है, क्योंकि चान्द्र मास का अन्त, यद्यपि यह अभी तक नये सौर मास में नहीं घुसा फिर भी, पूर्ववर्ती मास का कोई भाग नहीं।

यदि किसी मास की पुनरावृत्ति की जाती है, तो पहली बार इसका साधारण नाम होता है, परन्तु दूसरी बार वे इसके नाम के पहले दुसरा मल शब्द जोड़ देते हैं ताकि उनमें पहचान हो सके। यदि, उदाहरणार्थ आषाढ़ मास दुबारा लाया गया है, तो पहला आषाढ़ कहलाता है और दूसरा दुराषाढ़। पहला मास वह है जिसे गणना में छोड़ दिया जाता है। हिन्दू इसे अशुभ समझते हैं; और जो त्योहार वे दूसरे मासों में मनाते हैं उनमें से कोई एक भी इस मास में नहीं मनाते। इस मास में सबसे अशुभ दिन वह होता है जिस दिन चान्द्र-परिवर्तनकाल समाप्त हो जाता हैं।

विष्णु-धर्म के कर्त्ता के अनुसार—" चान्द्र (मान) सावन से छोटा होता है, अर्थात् ऊनरात्र छोटा होता है। ऊन का अर्थ है कमी, घाटा। सौर चान्द्र से सात दिन बड़ा होता है, जिस से दो वर्ष और सात मास में संख्यातिरिक्त अधिमास उत्पन्न हो जाता है। यह सारा मास अशुभ है और इस में कुछ भी नहीं करना चाहिये।" इस विषय का यह स्थूल वर्णन है। अब हम इसका सम्यक् रूप से वर्णन करते हैं।

चान्द्र वर्ष में ३६० चान्द्र दिन और सौर वर्ष में ३७१ १३ बटा ४८० चान्द्र दिन होते हैं। पर अन्तर इकट्ठा होकर ९७६ ४१ बटा ४७ चान्द्र दिनों में, अर्थात ३२ मास में, या २ वर्ष, ८ मास, १६ दिन, योग अपूर्णाङ्क: ४१–४७ चान्द्र दिन में, जो कि लगभग = ५ कला, १५ विपल (सेकॅड) है, है, एक अधिमास के तीस दिनों के बराबर हो जाता है।*

वेद का अवतरण : उसकी आलोचना

बीच में बढ़ा देने की इस कल्पना के धार्मिक कारण के रूप में हिन्दू लोग वेद के एक विचन का उल्लेख करते हैं। यह बचन उन्होंने हमें पढ़कर सुनाया। इसका भाव यह है यदि, ग्रहयुति का दिस अर्थात मास का पहला चान्द्र दिन, सूर्य के एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश किये बिना ही व्यतीत हो जाय, और यह बात अगले दिन हो, तो पूर्ववर्ती मास गिनती में छोड़ दिया जाता है।

इस वचन का अर्थ नहीं, इसमें अपराध अवश्य उस मनुष्य का है जिसने यह वचन मुझे सुनाया और उसका अनुवाद किया क्योंकि एक मास में तीस चान्द्र दिन होते हैं, और सौर वर्ष के

---

* एक चतुर्युग या ४,३२०,००० सौर वर्षों के ५३,४३३,३०० चान्द्र मास या १, ६०, ०२०, ०००-चान्द्र दिन होते हैं। इसलिए एक सौर वर्ष में $३७१\frac{३१}{४८०}$ चान्द्र दिन ए, और वर्ष के सौर और चान्द्र दिनों के बीच $११\frac{३१}{४८०}$ का अन्तर है। ३६० चान्द्र दिन : $११\frac{३१}{४८०}$ दिन = क्ष चान्द्र दन : ३० दिन, इस समानुपात से क्ष के लिए। $९७६\frac{४६४}{३५१}$ संख्या निकलती है, और यह $९७६\frac{४१७६}{४७७९९}$ के बराबर है

बारहवें भाग में ३०$\frac{५३११}{५७००}$ चान्द्र दिन होते हैं। यह अपूर्णाङ्क, दिन को कलाओं (मिनटों) में गिनने से, ५५i १९ii, २२iii, ३०iiii के बराबर हैं। उदाहरणार्थ, अब यदि हम किसी राशि के ०° पर ग्रहयुक्ति या अमावस्या का होना मान लें, तो हम इस अपूर्णाङ्क को ग्रहयुति के समय के साथ जोड़ देते हैं, और उस से हमें राशियों में सूर्य के क्रमशः प्रवेश करने के समय मालूम हो जाते है अब क्योंकि चान्द्र और सौर मास में केवल एक दिन के एक भग्नांश का ही अन्तर है, इसलिए किसी नई राशि में सूर्य के प्रवेश करने की घटना स्वभावतः ही मास के दिनों में से किसी एक में हो सकती है। वरन यह भी हो सकता है कि सूर्य दो क्रमागत राशियों में उसी मास-दिन (उदाहरणार्थ, दो क्रमागत मासों के दूसरे या तीसरे) में प्रवेश करता है। यह अवस्था तब होती है जब एक मास में सूर्य राशि में उस समय प्रवेश करता है जब अभी उसके ४i ४०ii ३७iii३०iiii व्यतीत नहीं हो चुके होते क्योंकि राशि में उसके अगला प्रवेश ५५i १९ii २२iii ३०iiii पीछे से होता है, और ये दोनों अपूर्णाङ्क इकट्ठे करने पर (अर्थात ४i ४०ii ३७iii ३०iiii से कम योग शेषोक्तअपूर्णाङ्क) एक पूर्ण दिन बनाने के लिए अपर्याप्त हैं। इसलिए वेद का यह अवतरण ठीक नहीं।

वेद-वचन का प्रस्तावित समाधान

मैं समझता हूँ कि इसका आगे दिया अर्थ ठीक होगा :— कोई मास ऐसा बीतता है जिससे सूर्य एक राशि से दूसरी में नहीं जाता, तो इस मास को गणना में छोड़ दिया जाता है। क्योंकि यदि सूर्य किसी को २९ वीं को किसी राशि में प्रवेश करता है, जब इसके कम से कम ४i ४०ii ३७iii ३०iiii बीत चुके होते हैं, तो यह प्रवेश उत्तर मास के आरम्भ के पहले होता है, और इसलिये इस पिछले मास में सूर्य का किसी न राशि में प्रवेश नहीं होता, क्योंकि इसके आगे का अगला प्रवेश एक छोड़कर अगले या तीसरे मास की पहली को होता है। यदि आप, किसी राशि विशेष के ० अंश में होने वाली ग्रहयुति से आरम्भ करके, क्रमागत प्रवेशों का लेखा करेंगे तो आप देखेंगे कि तेंतीसवें मास में सूर्य उनतीसवें दिन के ३०i २०ii पर नई राशि में प्रवेश करता है और यह उसके आगे की राशि में पैंतीसवें मास के प्रथम दिन के २५i ३९ii २२iii ३०iiii पर प्रविष्ट होता है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों यह मास, जो गिनती में छोड़ दिया जाता है, अशुभ समझा जाता है। कारण यह है कि यह मास ठीक उस क्षण को छोड़ देता है जो इसमें दिव्य पुरस्कार उपार्जन करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है, अर्थात नई राशि में सूर्य के प्रवेश करने का क्षण।

अब अधिमास को लीजिये। इस शब्द का अर्थ है पहला मास, क्योंकि अद का अर्थ है आरम्भ (अर्थात आदि)। याकूब इब्न तारिक और अलफजारी की पुस्तकों में यह नाम पदमास ‡ लिखा है। पद का अर्थ है अन्त, और सम्भव है कि हिन्दू चांद के मास को दोनों नामों से

‡ पदमास—यह एक पुरानी भूल प्रतीत होती है जो किसी प्रकार अलफजारी और याकूब के ग्रन्थों की हस्तलिखित अरबी प्रतियों में घुस आई है।

पुकारते हों; परन्तु पाठकों को विदित होगा कि ये दोनो ग्रन्थकर्ता वारवार भारतीय शब्दों के हिज्जे अशुद्ध लिखते या उनका रूप विगाड़ते हैं, और उनके ऐतिह्य पर कोई विश्वास नहीं। मैं इसका उल्लेख केवल इसलिए करता हूँ क्योंकि पुलिस इन दो मासों में से, जो उसी नाम से पुकारे जाते हैं जिससे कि संख्यातिरिक्त मास पुकारा जाता है, पिछले की व्याख्या करता है।

सार्वत्रिक या आंशिक मासों और दिनों की व्याख्या

एक ग्रहयुति से चन्द्रमा जितनी अवधि में दूसरी ग्रहयुति पर जाता है, उसे एक मास कहते हैं। यह चन्द्रमा क्रान्तिमण्डल में से ही घूमता है, परन्तु एक ऐसे मार्ग पर जो सूय के मार्ग से दूर है। इन दो आकाशस्थ ज्योतियों की गतियों में यही अन्तर है, परन्तु घूमते वे एक ही दिशा में हैं। यदि हम सूर्य के परिभ्रमणों अर्थात कल्प के सौर चक्रों में से चांद्रचक्रों को घटावें तो अवशेष इस वात को दिखलाता है कि एक कल्प में सौर मासों की अपेक्षा चान्द्र मास कितने अधिक हैं। जिन मासों या दिनों को हम पूर्ण कल्पों के भागों के रूप में गिनते हैं उन सव को हम यहां सार्वत्रिक कहते हैं और जिन मासों या दिनों को हम कल्प के किसी भाग, उदाहरणार्थ चतुर्युग के भागों के रूप में, गिनते हैं, उन सव को हम, परिभाषा को सरल वनाने के उद्देश्य से, आंशिक कहते हैं।

सर्वत्रिक अधिमास

वर्ष में वारह सौर मास और उसी प्रकार वारह चान्द्र मास होते हैं। चान्द्र मास वारह मासों के साथ पूर्ण हो जाता है, और सौर वर्ष में, दो वर्ष-प्रकारों के अन्तर कारण, अधिमास मिलाकर, तेरह मास होते हैं। अब यह वात स्पष्ट है कि सार्वत्रिक सौर और चान्द्र मासों के वीच के अन्तर को ये संख्यातिरिक्त मास दिखलाते हैं, जिनसे वर्ष लम्बा होकर तेरह मास का हो जाता है। इसलिए ये सार्वत्रिक अधिमास हैं।

एक कल्प में सार्वत्रिक सौर मास ५१ अरव ८४ करोड़ होते हैं; एक कल्प में सार्वत्रिक चान्द्र मास ५३ अरव ३३ करोड़ ३० लाख होते हैं। उनके वीच का अन्तर या अधिमास १ अरव ५९ करोड़ ३३ लाख है।

इन संख्याओं को घटाकर छोटी संख्याएँ वनाने के लिए हम उन्हें एक सामान्य भाजक, अर्थात ९० लाख से भाग देते हैं। इस प्रकार हमें सौर मासों के दिनों की संख्या के रूप में १ लाख ७२ सहस्र ८००; चान्द्र मासों के दिनों की संख्या के रूप में १ लाख ७८ सहस्र १११ और अधिमासों के दिनों की संख्या के रूप में ५३११ मिलते हैं।

अधिमास के लिये सौर, चान्द्र और नागरिक दिन

यदि हम फिर कल्प के सार्वत्रिक सौर, नागरिक, और चन्द्र दिनों को, प्रत्येक प्रकार को अलग अलग, सार्वत्रिक अधिमासों पर विभाजित करें तो भाग-फल दिनों की उस संख्या को प्रदर्शित करेगा जिनमें एक समग्र अधिमास पूरा हो जाता है, अर्थात $९७६\frac{४६४}{५३११}$ सौर दिनों में; $१००६\frac{४६४}{५३११}$ चान्द्र दिनों में, और $९९०\frac{३६६३}{१०६२२}$ नागरिक दिनों में।

यह समग्र परिसंख्यान उन मानों पर आश्रित है जिनको ब्रह्मगुप्त ने कल्प और कल्प में होनेवाले ग्रहों के कालचक्रों के विषय में ग्रहण किया है।

अधिमास पर पुलिस का परिसंख्यान

चतुर्युग के विषय में पुलिश के सिद्धान्त के अनुसार, एक चतुर्युग में ५ करोड़ १८ लाख ४० सहस्र सौर मास, ५ करोड़ ३४ लाख ३३ सहस्र ३३६ चान्द्र मास, और १५ लाख ९३ सहस्र ३३६ अधिमास होते हैं। इसके अनुसार एक चतुर्युग में १ अरब ५५ करोड़ ५२ लाख सौर दिन, १ अरब ६० करोड़ ३ लाख ८० चान्द्र दिन, और अधिमासों के ४७ करोड़ ८० लाख ८० दिन होते हैं।

यदि हम मासों की संख्याओं को २४ के सामान्य भाजक के द्वारा भाग दें तो हमें २१ लाख ६० सहस्र सौर मास, २२ लाख २६ सहस्र ३८९ चान्द्र मास, ६६ सहस्र ३८९ अधिमास मिलते हैं। यदि हम दिन की संख्याओं को ७२० के सामान्य भाजक पर बाँटें, तो २१ लाख ६० सहस्र सौर दिन, २२ लाख २६ सहस्र ३८९ चान्द्र दिन, अधिमासों के ६६,३८९ दिन निकलते हैं। अन्ततः, यदि हम एक चतुर्युग के सार्वत्रिक सौर, चान्द्र, और नागरिक दिनों को, प्रत्येक प्रकार को अलग-अलग, चतुर्युग के सार्वत्रिक अधिमासों पर बाँटें, तो भागफल दिनों की उस संख्या को दिखाता है जिसमें एक समग्र अधिमास पूर्णता को प्राप्त होता है, अर्थात $९७६\frac{४३३६}{६६३८९}$ सौर दिनों में, $१००६\frac{४३३६}{६६३८९}$ चान्द्र दिनों में, और $९९०\frac{२१४६}{६६३८९}$ नागरिक दिनों में।

अधिमास की गिनती के ये मूल सूत्र हैं। इनको हमने अगले अन्वेषणों के लाभार्थ निकाला है।

ऊनरात्र की व्याख्या

जिस कारण से ऊनरात्र, (ह्रास के दिन) की आवश्यकता होती है, उसके विषय में हमें आगे विचार करना है।

यदि हमारे पास एक वर्ष या वर्षों की एक विशेष संख्या हो, और हम उनमें से प्रत्येक के लिए बारह-बारह मास गिनें; तो हमें सौर मासों की अनुरूप संख्या मिल जाती है, और फिर इन सौर मासों को ३० से गुणा करने से सौर दिनों की अनुरूप संख्या, निकल आती है। यह स्पष्ट है कि एक अवधि के चान्द्र मासों या दिनों की संख्या वही होगी जो एक या अनेक अधिमासों को सौर मास या दिनों में जोड़ने से निकलेगी। यदि हम, सार्वत्रिक सौर मासों और सार्वत्रिक अधिमास महीनों के बीच के संबंध के अनुसार, इस वृद्धि के, प्रस्तुत कालावधि के योग्य अधिमास महीने बनायें, और इनको प्रस्तुत वर्षों के मासों या दिनों में जोड़ दें, तो सर्वयोग आंशिक चान्द्र दिनों को प्रदर्शित करता है और वे दिन वर्षों की दी हुई संख्या के अनुरूप हैं।

परन्तु इससे तो हमारा काम नहीं चलने का। हमें तो आवश्यकता है दिये हुए वर्षों के नागरिक दिनों की संख्या की, जो चान्द्र दिनों की संख्या से कम है; क्योंकि एक नागरिक दिन एक चान्द्र दिन से बड़ा होता है। इसलिए, जिस चीज की हमें आवश्यकता है उसे पाने के लिए, हमें चान्द्र दिनों की संख्या में से अवश्य कुछ घटाना चाहिए और जो कुछ घटाया जाता है उसे ही ऊनरात्रि कहते हैं।

आंशिक चान्द्र दिनों के ऊनरात्र का सार्वत्रिक चान्द्र दिनों के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि सार्वत्रिक नागरिक दिन सार्वत्रिक चान्द्र दिनों से कम हैं। एक कल्प के सार्वत्रिक चान्द्रदिन १६ खरब २ अरब ९९ करोड़ ९० लाख होते हैं। यह संख्या सार्वत्रिक नागरिक दिनों की संख्या से २५ अरब ८ करोड़ २५ लाख ५० सहस्त्र अधिक है, जो कि सार्वत्रिक ऊनरात्र को प्रदर्शित करती है।

ये दोनों संख्याएँ ४ लाख ५० सहस्त्र के सामान्य भाजक द्वारा छोटी की जा सकती हैं। इस प्रकार हमें ३५ लाख ६२ सहस्त्र २२० सार्वत्रिक चान्द्र दिन, और ५५ सहस्त्र ७३९ सार्वत्रिक ऊन-रात्र दिन प्राप्त होते हैं।

पुलिस के अनुसार ऊनरात्र

पुलिस के अनुसार, एक चतुर्युग में १ अरब ६० करोड़ ३० लाख चान्द्र दिन, और २ करोड़ ५० लाख ८२ सहस्त्र २८० ऊनरात्र दिन होते हैं। वह सामान्य भाजक, जिससे ये दोनों संखयाएँ छोटी की जा सकती हैं, ३६० है। इस प्रकार हमें ४४ लाख ५२ सहस्त्र ७७८ चान्द्र दिन और ६९ सहस्त्र ६७३ ऊनरात्र दिन प्राप्त होते हैं।

ऊनरात्र के गिनने के लिए यही नियम हैं। इनको अवश्यकता हमें पीछे से अहर्गण के गणित के लिए पड़ेगी। इस शब्द का अर्थ है दिनों का समूह; क्योंकि अह का अर्थ है दिन, और गण का समूह है।

याकूब इब्न तारिक पर आलोचना

याकूब इब्न तारिक * ने सौर दिनों के गणित में एक भूल की है; क्योंकि उसका मत है कि उन्हें कल्प के सौर चक्रों को कल्प के नागरिक दिनों, अर्थात सार्वत्रिक नागरिक दिनों में से घटाकर प्राप्त किया जाता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। कल्प के सौर चक्रों को, उनके मास बनाने के लिए, १२ से गुणा करते हैं और मासों को दिन में परिवर्तित करने के लिए, गुणनफल को ३० से गुणा करके अथवा चक्रों की संख्या को ३६० से गुणा करके हमें सौर दिन प्राप्त हो जाता है।

चान्द्र दिनों की गिनती में उसने, कल्प के चान्द्र मासों को ३० से गुणा करके, पहले तो ठीक मार्ग पकड़ा है; परन्तु पीछे से वह फिर ऊनरात्र के दिनों के गिनने में भूल कर गया क्योंकि वह कहता है कि तुम उन्हें चाद्र दिनों में से सौर दिन घटाकर प्राप्त कर सकते हो, परन्तु ठीक बात यह है कि चान्द्र दिनों में से नागरिक दिन घटाया जाता है।

---
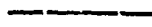
* याकूब इब्न तारिक—यह भारतीय आधार पर ज्योतिष, कालगणना, और गणित भूगोल के क्षेत्र में माना हुआ विद्वान था। अलबेरूनी ने इसके काफी अवतरण दिये हैं, तथा इसकी काफी आलोचना भी की है।

बावनवाँ परिच्छेद

अहर्गण की गणना तथा वर्ष और मासों के दिन

सावनाहर्गण निकालने का नियम

वर्षों और मासों को दिन में परिवर्तित करने की साधारण रीति यह है—पूरे वर्षों को १२ से गुणन किया जाता है; गुणन-फल में प्रचलित वर्ष के बीते हुए मास जोड़ दिये जाते हैं, और योग-फल को ३० से गुणा किया जाता है, इस फल में वर्तमान मास के गत दिन जोड़ दिये जाते हैं परिणाम सौराहर्गण, अर्थात आंशिक सौर दिनों की संख्या होती है।

आप संख्या को दो स्थानों में लिखें, एक स्थान में आप इसे ५३११ से (सार्वत्रिक अधिमासों को दिखलाने वाली) संख्या से गुणा करें, गुणफल को आप एक लाख ७२ सहस्र ८०० से (सार्वत्रिक सौरमासों को दिखलानेवाली संख्या से) भाग देते हैं। भाग-फल में जितने पूरे दिन होते हैं वे दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में जोड़ दें और यह राशि चन्द्राहर्गण, अर्थात आंशिक चान्द्र दिनों की संख्या को प्रदर्शित करती है।*

यह पिछली संख्या फिर दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिख दें एक स्थान में आप इसे ५५ सहस्र ७३९; अर्थात सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों को प्रदर्शित करने वाली संख्या से गुणन करें और गुणनफल को ३५ लाख ६२ सहस्र २२० अर्थात सार्वत्रिक चान्द्र दिनों को दिखलाने वाली संख्या से भाग दें। भजन-फल के पूर्णांक को दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटा दें तो शेष-फल सावनाहर्गण, होता है यह नागरिक दिनों की वह संख्या है जिसे हम मालूम करना चाहते थे।

---

* यहां दिया हुआ नियम बिलकुल गलत है, और फलतः इस नियम के अनुसार जिस उदाहरण की गणना की गई है वह भी गलत है। ठीक रीति से यह होगा —"पूर्ण वर्षों को १२ से गुणा किया जाता है; गुणन-फल में वर्तमान वर्ष के व्यतीत हुए मास जोड़ दिये जाते हैं। इनका योगफल आंशिक सौर मासों को दिखलाता है। आप इस संख्या को दो स्थानों में लिखते हैं; एक स्थान में आप इसे ५३११ से अर्थात सार्वत्रिक अधिमासों को दिखलाने वाली संख्या से गुणा करते हैं। गुणन-फल को आप १७२,८०० पर अर्थात सार्वत्रिक सौर मासों को दिखलाने वाली संख्या पर भाग देते हैं। इससे जो भाग-फल आपको मिलता है उसे, जहां तक उसमें पूर्ण मास होते हैं, दूसरे स्थान में लिखी संख्या में जोड़ दिया जाता है; और इस प्रकार प्राप्त हुए योग-फल को ३० से गुणा किया जाता है, गुणन-फल में वे दिन जोड़ दिये जाते हैं जो वर्तमान मास के बीत चुके हैं। योग-फल चान्द्राहर्गण अर्थात आंशिक चान्द्र दिनों के समाहार को दिखलाता है।" यदि हम अपूर्णाङ्कों को न छोड़ दें; तो ये दोनों क्रियायें अभिन्न होंगी, परन्तु अधिमास का अन्तर्निवेश केवल उसी समय होता है जब वह पूर्ण हो; इसलिए यह आवश्यक है कि हम पहले अधिमासों की संख्या का निश्चय कर लें, और, अपूर्णाङ्कों को छोड़कर, उनको दिनों में बदल दें; जब हम पहले ३० से गुणा करते हैं तो अधिमास के अपूर्णाङ्क भी गुणित हो जाते हैं, जो कि शुद्ध नहीं। यह बात उस उदाहरण में स्पष्ट देख पड़ती है, जिसे वह इस नियम के अनुसार हल करता है। हमें आश्चर्य है कि पण्डितों ने इस भूल को क्यों नहीं देखा।

सावनाहर्गण के लिए अधिक सविस्तार नियम

परन्तु पाठक को ध्यान रखना चाहिए कि यह गणित उन्हीं तिथियों पर लागू है जिनमें, केवल पूर्ण अधिमास और ऊनरात्र दिन हैं। अतएव, यदि वर्षों की किसी दी हुई संख्या का उपक्रम किसी कल्प, या चतुर्युग या कलियुग के आरम्भ के साथ होता है, तो यह गणित ठीक है। परन्तु यदि दिये हुए वर्षों का उपक्रम किसी दूसरे समय से होता हो, तो सुयोग से यह गणित भले ही ठीक निकल आये, परन्तु सम्भवतः इसका परिणाम अधिमास-काल के अस्तित्व की सिद्धि होगा, और उस अवस्था में यह गणित ठीक न होगा। इसके अतिरिक्त, इन दो अन्तिम बातों का उलटा भी हो सकता है। फिर भी, यदि इस बात का ज्ञान हो कि कल्प, चतुर्युग, या कलियुग में किस निर्दिष्ट समय से वर्षों की दी हुई संख्या का आरम्भ होता है, तो हमें गणित की एक विशेष विधि का उपयोग करना चाहिये इसकी व्याख्या हम आगे चलकर उदाहरणों द्वारा करेंगे।

शककाल ९५३ के लिए काममें लाई गई विधि

इस विधि को हम भारतीय संवत् शक काल ९५३ के आरम्भ के लिए काम में लायेंगे। यह वही वर्ष है जिसका उपयोग हम इन सब गणित में मान-वर्ष के रूप में करते हैं।

पहले हम, ब्रह्मगुप्त के नियमों के अनुसार, ब्रह्मा की आयु के आरम्भ से काल की गिनती करते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि वर्तमान कल्प के पहले ६०६८ कल्प बीत चुके हैं। इसको कल्प के दिनों की सुप्रसिद्ध संख्या (१,५७७,९१६,४५०,००० नागरिक दिन) के साथ गुणा करने से ६०६८ कल्पों के दिनों की संख्या के रूप में ९,५७४,५९७,०१८, ६००,००० निकलते हैं।

इस संख्या को ७ पर भाग देने से ५ अवशेष रहता है, और शनिवार से, जो पूर्ववर्ती कल्प का अन्तिम दिवस है, पाँच दिन पीछे की ओर गिनने से ब्रह्मा की आयु का पहला दिन मङ्गलवार निकलता है।

हम चतुर्युग के दिनों की संख्या (१,५७७,९१६,४५० दिन) का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं, और यह भी दिखला चुके हैं कि कृतयुग इसके चार-दसवें भाग अर्थात ६३१,१६६,५८० दिनों के बराबर होता है। एक मन्वन्तर में इससे इकहत्तर गुना अधिक, अर्थात ११२,०३२,०६७,९५० दिन होते हैं। छः मन्वन्तरों और उनकी सन्धि के दिन, जिनमें सात कृतयुग होते हैं, ६७६,६१०,५७१ ७६० होते है। यदि हम इस संख्या को ७ पर बाँटें तो २ अवशेष रहता है। इसलिए ६ मन्वन्तर सोमवार को समाप्त होते हैं, और सातवें का आरम्भ मङ्गलवार से होता है।

सातवें मन्वन्तर के सत्ताईस चतुर्युग अर्थात ४२,६०३,७४४,१५० दिन, पहले ही बीत चुके हैं। यदि हम इस संख्या को ७ पर बाँटें तो २ अवशेष रहता है। इसलिए अट्ठाईसवाँ चतुर्युग मङ्गलवार से आरम्भ होता है।

इस चतुर्युग के बीते हुए युगों के दिनों की संख्या , १४२०,१२४,८०५ है। इसे ७ पर बांटने से १ अवशेष रहता है। इसलिए कृतयुग शुक्र वार सेआरम्भ होता है।

अब हम फिर मान-वर्ष की ओर आते हैं। हम कहते हैं कि उस वर्ष तक कल्प के जितने वर्ष बीत चुके हैं उनकी संख्या १,९७२,९४८,१३२ है। उनको १२ से गुणा करने से उनके मासों

की संख्या २३, ७५,३७७,५८४ निकलती है। जिस तिथि को हमने मान-वर्ष के रूप में ग्रहण किया है, उसमें कोई मास नहीं, केवल पूर्ण वर्ष ही हैं; इसलिए इस संख्या में हमें और कुछ वढ़ाना नहीं।

इस संख्या को ३० के साथ गुणा करने से, ७१०,२६१,३०७,५२० दिन निकलते हैं। हमें इस संख्या में और दिन वढ़ाने की अवश्यकता नहीं, क्योंकि नियमित तिथि में दिन नहीं हैं। इसलिए, यदि हम वर्षों की संख्या को ३६० से गुणा करते, तो हमें वही फल, अर्थात आंशिक सौर दिवस प्राप्त होते हैं।

इस संख्या को ५३११ से गुणा करो, फिर गुणन फल को १७२,८०० पर वांटो। भाग-फल अधिमास दिनों की संख्या, अर्थात २१,८२६,८४६,०१८ $\frac{१०३}{१२०}$ निकलेगा। यदि गुणन और विभाजन में हम मासों का उपयोग करते, तो हमें अधिमास-मास मिलते। फिर उनको ३० से गुणा करने से वे यहाँ लिखी अधिमास-दिवसो की संख्या के वरावर हो जाते। *

फिर यदि हम अधिमास-दिवसों को आंशिक सौर-दिवसों में जोड़ दें तो ७३२,०९१,१७६, ५३८ वन जाते हैं। ये आंशिक चान्द्र-दिन हैं। इनको ५५,७३९ से गुणा करने, और गुणन-फल को ३,५६२,२२० पर भाग देने से ११,४५५,२२४,५७५ $\frac{१,७४७,५४१}{१,७८१,११०}$ आंशिक ऊनरात्र दिन निकल आते हैं।

दिनों की यह संख्या, अपूर्णाङ्क के विना, आंशिक चान्द्र-दिनों में से घटाई जाती है, फिर अवशेष, ७२०,६३५,९५१,९६३ हमारी मानतिथि के नागरिक दिनों को दिखलाता है।

इसको ७ पर वांटने से ४ अवशेष रहता है, जिसका अर्थ यह है कि इन दिनों में अन्तिम बुधवार है। इसलिए भारतीय वर्ष वृहस्पतिवार से † आरम्भ होता है।

यदि हम फिर आगे अधिमास-काल मालूम करना चाहते हों, तो हम अधिमास दिनों को ३० पर वांटते हैं, और भागफल उन अधिमासों की संख्या होता है जो वीत चुके हैं, अर्थात ७२७,

---

* अधिमास-महीनों के वनाये हुए दिनों के सिवा अधिमास दिन और कोई चीज नहीं। क्योंकि अधिमासों की संख्या अवश्य पूरी होती है, इसलिए अधिमास दिनों की संख्या ३० पर विभाज्य होनी चाहिये। इसके अनुसार, इस पृष्ठ पर लिखी संख्या ३० पर विभाज्य न होने से, भूल मालूम पड़ती है, और जब वह निम्नलिखित पंक्तियों में कहता है कि "यदि, गुणन और विभाजन में, हमने अधिमास महीनों का उपयोग किया था, तो अधिमास महीने निकलने चाहियें और इनको ३० से गुणा करने से वे यहाँ उल्लिखित अधिमास दिनों की संख्या के वरावर होंगे" तो हमें वड़ा आश्चर्य होता है। इस दशा में संख्या अवश्य ही ३० पर विभाज्य होनी चाहिये। कदाचित उसे इस दोष का पता लग जाता, यदि, विचित्र दैवयोग से, ठीक और गलत संख्या के वीच का अन्तर ठीक २८ दिन या चार पूरा सप्ताह न होता, इसलिए, यद्यपि विचारित संख्या गलत है, तथापि वह अगले पृष्ठ पर सप्ताह का ठीक दिन पा लेता है।

† वृहस्पतिवार—अरवी हस्तलिखित प्रति में मंगलवार है।

६६१,६३३, योग, वर्तमान वर्ष के लिए, २८ दिन, ५१ कला, ३० विपल का अवशेष। यह वह समय है जो वर्तमान वर्ष के अधिमास महीने में से पहले ही बीत चुका है। एक पूरा मास बनने के लिए इसमें केवल १ दिन, ८ कला, ३० विपल की कमी है। *

पुलिस द्वारा चतुर्युग की गणना

कल्प का एक विशेष अतीत अंश मालूम करने के लिए, हमने यहाँ सौर और चान्द्र दिनों, अधिमास और ऊनरात्र दिनों का उपयोग किया है। अब चतुर्युग का अतीत अंश जानने के लिए भी हम वही काम करेंगे। चतुर्युग के परिसंख्या के लिए हम उन्हीं तत्त्वों का उपयोग कर सकते हैं जिनका हमने कल्प के लिए किया है, क्योंकि, जब तक हम उस एक ही सिद्धान्त (अर्थात ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त) का अवलम्ब करते हैं और कालगणना की भिन्न-भिन्न पद्धतियों को आपस में मिला नहीं देते, और जब तक प्रत्येक गुणाकार और उसका भागभार, जिनका हम यहाँ इकट्ठा उल्लेख करते हैं, दोनों परिसंख्याओं में एक दूसरे के समान हैं, दोनों विधियाँ एक ही परिणाम पर पहुँचा देती हैं।

गुणाकार का अर्थ, सब प्रकार की गणनाओं में, गुणक है। हमारी (अरबी) तथा फारसी वालों का ज्योतिर्विद्या की पुस्तकों में यह शब्द 'गुण चार' रूप में मिलता है। दूसरी परिभाषा का अर्थ है प्रत्येक विभाजक। ज्योतिर्विद्या के गुटकों में यह 'बहचार' रूप में मिलती है।

ब्रह्मपुत्र के सिद्धान्तानुसार चतुर्युग पर इस परिसंख्यान को दृष्टान्त देकर समझाना व्यर्थ है, क्योंकि उसके मतानुसार चतुर्युग कल्प का केवल एक सहस्रवाँ भाग है, उपर्युक्त संख्याओं में से तीन शून्य निकालकर केवल उनको छोटा कर देना चाहिए; और अन्य सब प्रकार से हमें वही परिणाम मिलते हैं। इसलिए अब हम पुलिस के सिद्धान्तानुसार यह परिसंख्यान देंगे। यह यद्यपि चतुर्युग के लिए लगाया गया है, पर कल्प के लिए प्रयुक्त परिसंख्या की विधि के सदृश है।

पुलिस के अनुसार, मान-संवत के आरम्भ की घड़ी में, चतुर्युग के वर्षों में से ३,२४४,१३२ बीत चुके हैं, जो १,१६७,८८७,५२० सौर दिनों के बराबर हैं। यदि हम मासों की उस संख्या को जो दिनों की इस संख्या के बराबर हो एक चतुर्युग के अधिमास-मासों की संख्या से अथवा उसके अनुरूप गुणक से, गुणा करें, और गुणनफल को चतुर्युग के सौर मासों की संख्या पर, अथवा उसके अनुरूप विभाजक पर, विभक्त करें, तो अधिमास-मासों की संख्या के रूप में हमें १, १६६, ५२५$\frac{४४८३७}{४५०००}$ प्राप्त होंगे।

---

* यह इस प्रकार होना चाहिये—अधिमास मासों के लिये हमने ऊपर ७२७,६६१, ६३३$\frac{३४६५}{३६००}$ पाये हैं; पूर्णांक बीते हुए अधिमासों की संख्या अर्थात ७२७,६६१,६६३ को दिखलाते हैं और अपूर्णांक वह समय है जो कि वर्तमान अधिमास महीने का पहले ही बीत चुका है। इस अपूर्णांक को ३० से गुणा करने से हम इसे दिनों में प्रकट कर देते हैं, अर्थात २८ दिन ५१ कला ३० विपल। इसलिए वर्तमान अधिमास को पूरा मास बनने के लिए १ दिन ८ कला ३० विपल और चाहिये।

फिर चतुर्युग के ३,२४४,१३२ अतीत वर्ष १,२०३,७८३,२७२ * चान्द्र दिनों के बराबर हैं। इनको चतुर्युग के ऊनरात्र दिनों की संख्या के साथ गुणा करने, और गुणनफल को चतुर्युग के चान्द्र दिनों पर विभक्त करने से १८,८३५,७०० $\frac{५९८,०५}{२,२२०३८९}$ ऊनरात्र दिन निकलते हैं। इसके अनुसार चतुर्युग के आरम्भ से बीतनेवाले नागरिक दिनों की संख्या १,१८४,९४७,५७० † होतीहै, और यही हम मालूम करना चाहते थे।

पुलिस-सिद्धान्त की विधि

इस सारे विषय को पाठकों के मन पर अधिक स्पष्ट और अधिक सम्पूर्ण रूप से स्थिर करने के उद्देश्य से, हम यहाँ पुलिस-सिद्धान्त का एक वचन देते हैं जिसमें परिसंख्यान की एक वैसी ही विधि लिखी है। पुलिस कहता है—"हम पहले उन कल्पों पर ध्यान देते हैं जो वर्तमान कल्प के पहले ब्रह्मा के जीवन के बीत चुके हैं, अर्थात ६०६८ कल्प। हम इस संख्या को कल्प के चतुर्युगों की संख्या, अर्थात १००८ से गुनते हैं। इस प्रकार गुणन-फल ६,११६,५४४ निकलता है। इस संख्या को हम एक चतुर्युग के युगों की संख्या, अर्थात ४, से गुनते हैं। इसका गुणन-फल २४, ४६६, १७६ होता है। इस संख्या को हम एक युग के वर्षों की संख्या, अर्थात १,०८०,००० से गुनते हैं। इसका गुणन-फल २६, ४२३,४७०,०८०,००० होता है। ये वर्तमान कल्प के पहले बीते हुए वर्ष हैं।

हम इस शेषोक्त संख्या को १२ से गुनते हैं, जिससे ३१७,०८१,६४०,९६०,००० मास निकल आते हैं। हम इस संख्या को दो भिन्न भिन्न स्थानों में लिखते हैं।

एक स्थान में, हम इसे एक चतुर्युग के अधिमास मासों की संख्या, अर्थात १,५९३,३३६ से, अथवा किसी अनुकूल संख्या से, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती उदाहरण में हो चुका है, गुनते हैं, और गुणनफल को एक चतुर्युग के सौर मासों की संख्या, अर्थात ५१,८४०,००० पर भाग देते हैं। भागफल, अर्थात ९,७४५,७०६,७५०,७८४ अधिमास मासों की संख्या है।

इस संख्या को हम दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में जोड़ देते हैं। इनका योगफल ३२६, ८२७, ३५०,७१०,७८४ होता है। इस संख्या को ३० से गुनने से ९,८०४,८२०,५२१,३२३,५२० चान्द्र दिन निकलते हैं।

यह संख्या अब फिर दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिखी जाती है। एक स्थान पर हम इसे चतुर्युग के ऊनरात्र से, अर्थात नागरिक और चान्द्र दिनों के अन्तर से, गुनते हैं, और गुणनफल को चतुर्युग के चान्द्र दिनों पर बांटते हैं। इस प्रकार भागफल के रूप में हमें १५३,४१६,८९६,२४०, ३२० ऊनरात्र दिन मिल जाते हैं।

---

* संख्या १,२०३,७८३,२७० को पाने के लिए १,१६७,८८७,५२० सौर दिनों में ३० × १ १९६,५२५ या ३५,८९५,७५० अधिमास दिन बढ़ाने पड़ते हैं।

† चतुर्युग के आरम्भ से लेकर मान-तिथि तक दिनों की संख्या पुलिस की विधि से यहाँ ११८४९४७५७० पाई गई है, परन्तु अगले पृष्ठ में चतुर्युग के आदि से लेकर कलियुग के आदि दिनों की संख्या १,१८३,४३८,३५० पाई गई है। दोनों संख्याओं के बीच का अन्तर (जैसा कि होना चाहिये) १,०५९,२२० दिन है।

इस संख्या को हम दूसरे स्थान पर लिखी हुई, संख्या में से घटाते हैं। तब अवशेष ६,६५१; ४९३,६५२,०८३,२०० रह जाता है। यह वर्तमान कल्प के पहले ब्रह्मा की आयु के बीते हुए दिनों की, अथवा ६०६८ कल्पों के दिनों की संख्या है, क्योंकि प्रत्येक कल्प में, १,५६०,५४१,१४२, ४०० दिन होते हैं। दिनों की इस संख्या को ७ पर बाँटने से अवशेष कुछ नहीं बचता। यह कालावधि शनिवार को समाप्त होती है, और वर्तमान कल्प का आरम्भ रविवार से होता है। इससे प्रकट होता है कि ब्रह्मा की आयु का आरम्भ भी रविवार से हुआ था।

इस वर्तमान कल्प के छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। एक मन्वन्तर में ७२ चतुर्युग और एक चतुर्युग में ४,३२०,००० वर्ष होते हैं। इसलिए छः मन्वन्तरों में १,८६६,२४०,००० वर्ष होते हैं। इस संख्या की गिनती हम उसी विधि से करते हैं जिससे कि हमने पूर्ववर्ती उदाहरण में की है। इससे हम छः पूर्ण मन्वन्तरों के दिनों की संख्या ६८१,६६०,४८६,६०० पाते हैं। इस संख्या को ७ पर बाँटने से ६ अवशेष रहता है। इसलिए बीते हुए मन्वन्तरों की समाप्ति शुक्रवार को होती है, और सातवाँ मन्वन्तर शनिवार को आरम्भ होता है।

वर्तमान मन्वन्तर के २७ चतुर्युग बीत चुके हैं, जो, परिसंख्यान की पूर्ववर्ती विधि के अनुसार, ४२,६०३,७८०,६००, दिनों की संख्या को दिखलाते हैं। सत्ताईसवाँ चतुर्युग सोमवार को समाप्त, और अट्ठाईसवाँ मङ्गलवार को आरम्भ होता है।

वर्तमान चतुर्युग के तीन युग या ३,२४०,००० वर्ष बीत चुके हैं। ये, परिसंख्यान की पूर्ववर्ती विधि के अनुसार, १,१८३,४३८,३५० दिनों की संख्या को दिखलाते हैं। इसलिए ये तीन युग बुधवार को समाप्त होते हैं, और कलियुग शुक्रवार को आरम्भ होता है।

इसके अनुसार, इस कल्प के बीते हुए दिनों की संख्या ७२५,४४७,७०८,५५० है, और उन दिनो की संख्या जो ब्रह्मा की आयु के आरम्भ और वर्तमान कलियुग के आरम्भ के बीच बीत चुकी है ६,६५२,१२६,०६६,७६१,७५० है।

आर्यभट्ट की अहर्गगण की विधि

आर्यभट के उद्धरणों पर, क्योंकि हमने उसकी पुस्तक नहीं देखी, विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि वह आगे दिये ढंग से गिनती करता था :—

एक चतुर्युग के दिनों की संख्या १,५७७,९१७,५०० है। कल्प के आरम्भ और कलियुग के आरम्भ के बीच का समय ७२५,४४७,५७०,६२५दिन है। कल्प के आरम्भ और हमारी मान-तिथि के बीच का काल ७२५,४४६,०७६,८४५ है। वर्तमान कल्प के पहले बीते हुए ब्रह्मा की आयु के दिनों की संख्या ६,६५१,४०१,८१७,१२०,००० है।

वर्षों के दिन बनाने की यही शुद्ध विधि है, और काल के शेष सब मानों के साथ भी इसी के अनुसार व्यवहार होना चाहिए।

हम पहले ही सार्वत्रिक सौर और ऊनरात्र दिनों की गणना में याकूब इब्न तारिक की एक भूल दिखला चुके हैं। उसने एक गणना का अनुवाद भारतीय भाषा से किया था।

पर उस गणना की युक्तियों को वह नहीं समझता था। इसलिए उसका यह कर्तव्य था कि वह इसकी परीक्षा करता, और इसकी विविध संख्याओं की एक दूसरे से पड़ताल करता। वह अपनी पुस्तक में अहर्गण का, अर्थात वर्षा के दिन बनाने की विधि का भी उल्लेख करता है, परन्तु उसका वर्णन शुद्ध नहीं; क्य क्योंकिवहकहताहै:—

"वर्षों की दी हुई संख्या के मासों को उन अधिमास-मासों की संख्या से गुणा करो जो, अधिमास के प्रसिद्ध नियमों के अनुसार, प्रस्तुत समय तक बीत चुके हैं। गुणनफल को सौर मासों पर बांटो। तब भागफल उन सम्पूर्ण अधिमास मासों की संख्या योग इसके अपूर्णाङ्क है जो प्रस्तुत तिथि तक बीत चुके हैं।"

यहां अशुद्धि इतनी प्रत्यक्ष है कि एक प्रतिलिपिकार भी इसे देख लेगा; फिर गणितज्ञ का तो कहना ही क्या जो इस विधि के अनुसार परिसंख्यान करता है; क्योंकि वह सार्वत्रिक के स्थान में आंशिक अधिमास से गुणन करता है।

इसके अतिरिक्त, याकूब अपनी पुस्तक में राशिविश्लेष की एक दूसरी और पूर्ण रूप से शुद्ध विधि का उल्लेख करता है। वह विधि यह है—"जब तुम वर्षों के मासों की संख्या मालूम कर चुको तब उनको चान्द्र मासों की संख्या से गुणन करो, और गुणनफल को सौर मासों पर विभक्त करो। भागफल अधिमास मासों की संख्या साथ ही साथ प्रस्तुत वर्षों के मासों की संख्या है।

"इस संख्या को तुम ३० से गुणन करते और गुणन-फल में वर्तमान मास के बीते हुए दिनों को जोड़ देते हो। इनका योगफल चान्द्र दिनों को दिखलाता है।

शेषोक्त विधि की व्याख्या

"यदि, इसके स्थान में, मासों की प्रथम संख्या को ३० से गुणा * किया जाय, और मास के अतीत भाग को गुणनफल में जोड़ दिया जाय, तो योगफल आंशिक सौर दिन को दिखलायेगा; और यदि इस संख्या का आगे परिसंख्यान पूर्ववर्ती विधि के अनुसार किया जाय, तो हमें अधिमास दिनों के साथ ही साथ सौर दिन प्राप्त होंगे।" इस गणना की कारणविवृति यह है—यदि हम सार्वत्रिक अधिमास मासों की संख्या से गुणन करें, जैसा कि हमने किया है, और गुणनफल को सार्वत्रिक सौर मासों पर विभक्त करें, तो भागफल अधिमास काल के उस भाग को दिखलाता है जिससे कि हमने गुणन किया है। अब, क्योंकि, चान्द्र मास सौर और अधिमास मासों का योगफल हैं, इसलिए, हम उनसे (चन्द्र मासों से) गुणन करते हैं, और विभाजन वही रहता है। भागफल गुणित संख्या तथा उसी संख्या का अर्थात (चन्द्र दिनों का) योग-फल है। इसे ही हम ढूंढ़ रहे हैं। पूर्ववर्ती भाग में हम पहले ही कह चुके हैं कि चान्द्र दिनों को सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों से गुणन करने, और गुणनफल को सार्वत्रिक चान्द्र दिनों पर विभक्त करने से हमें ऊनरात्र दिनों का वह भाग मिलता है जिसका सम्बन्ध चान्द्र दिनों की प्रस्तुत संख्या से होता है। तथापि, कल्प के नागरिक दिन चान्द्र दिनों से ऊनरात्र दिनों की संख्या के बराबर कम हैं। अब हमारे पास जो चान्द्र दिन हैं उनका चान्द्र दिनों ऋण उनके ऊनरात्र दिनों के अनुरूप अंश के साथ वही सम्बन्ध है जो (कल्प के) चान्द्र दिनों की सम्पूर्ण संख्या का (कल्प के) चान्द्र दिनों की सम्पूर्ण संख्या ऋण (कल्प के) ऊनरात्र दिनों की पूर्ण संख्या से है; और शेषोक्त संख्या सार्वत्रिक नागरिक दिन हैं। इसलिए,

---

* यहां पर भी अलबेरूनी ने वही ३० से गुणा करने वाली भूल की है। उसे गुणन, अधिमास महीनों के अपूर्णांक को छोड़ देने के पश्चात करना चाहिये न कि पूर्व, जैसा कि उसने किया है।

हमारे पास चान्द्र दिनों की जो संख्या है यदि हम उसे सार्वत्रिक नागरिक दिनों से गुणन करें और गुणनफल को सार्वत्रिक चान्द्र दिनों पर विभक्त करें, तो भागफल के रूप में प्रस्तुत तिथि के नागरिक दिनों की संख्या प्राप्त होगी, और इसे ही हम मालूम करना चाहते थे। (एक कल्प के) नागरिक दिनों की सम्पूर्ण संख्या से गुणन करने के स्थान में, हम ३,५०६,४८१ से गुणा करते हैं, और (एक कल्प के) चान्द्र दिनों की सम्पूर्ण संख्या पर भाग देने के स्थान में हम ३,५६२,२२० पर भाग देते हैं।

हिन्दुओं के अहर्गण की एक और विधि

हिन्दूओं की गणना की एक और भी विधि है। वह आगे दी जाती है—"वे कल्प के बीते हुए वर्षों को १२ से गुणन करते हैं, और गुणन-फल में वर्तमान वर्ष के बीते हुए पूर्ण मास जोड़ देते हैं। योगफल को वे ६६,१२० की संख्या के ऊपर लिखते हैं,

(दीमक चाट गई) *

और जो संख्या उन्हें प्राप्त होती है उसको मध्य स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटाया जाता है। अवशेष के दुगने को वे ६५ पर बाँटते हैं। तब भागफल आंशिक अधिमासों को दिखलाता है। संख्या को वे उस संख्या में जोड़ते हैं जो उच्चतम स्थान में लिखी हुई है। योगफल को वे ३० से गुणा करते हैं, और गुणनफल में वर्तमान मास के बीते हुए दिन बढ़ा देते हैं। योगफल आंशिक सौर दिनों को दिखलाता है इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में, एक दूसरे के नीचे, लिखा जाता है। वे निचली संख्या को ११ से गुणा करते हैं, और गुणनफल को इसके नीचे लिखते हैं। तब वे इसे ४०३,६६३ पर भाग देते, और भागफल को मध्यवर्ती ‡ संख्या में जोड़ते हैं। इस योगफल कों वे ७०३ पर बाँटते हैं, और भागफल आंशिक ऊनरात्र दिनों को दिखाता है। इस संख्या को वे उच्चतम स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटाते हैं। अवशेष उन नारिगक दिनों की संख्या है जिन्हें हम मालूम करना चाहते हैं।

इस परिसंख्यान की कारणविवृति यह है—यदि हम सार्वत्रिक सौर मासों को सार्वत्रिक अधिमास मासों पर विभक्त करें तो हमें एक अधिमास मास के मान रूप में $३२\frac{८५४४}{१५६३३}$ सौर

---

* दीमक चाटगई—इस जगह पर इस प्रकार का कोई वाक्यांश होना चाहिए—"तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में, सब से निचले स्थान की संख्या को वे ७७ से गुणा कर के गुणनफल का ६६,१२० पर भाग देते हैं। आगे जो व्याख्या दी गई है उससे यह बात स्पष्ट होती है।

‡ शब्दरचना बहुत ही संक्षिप्त है, इसलिए यह स्पष्ट नहीं कि "मध्यवर्ती संख्या" से अभिप्राय क्या है। इसको इस प्रकार समझना चाहिए; आंशिक चान्द्र दिनों की यह संख्या दो भिन्न-भिन्न स्थानों में एक दूसरे के नीचे, लिखी जाती है। इनमें से एक "सबसे ऊपर के स्थान में" में है, वे निचली संख्या को ११ से गुणा करते हैं और गुणन-फल को इसके नीचे लिख देते हैं। तब वे इसे ४०३,६६३ पर भाग देते हैं, और भाग-फल को मध्यवर्ती संख्या में, अर्थात आंशिक चान्द्र दिनों के ग्यारह गुना घात में, बढ़ा देते हैं।

मास मिल जाते हैं। इसका दुगना ६५ $\frac{११५५}{१५६३३}$ सौर मास होते हैं। यदि हम दिये हुए वर्षों के मासों के दुगने को इस संख्या पर भाग दें तो भागफल आंशिक अधिमासों की संख्या होता है। तथापि यदि पूर्णाङ्कों के योग को एक अपूर्णाङ्क पर भाग दें और विभक्त संख्या में से एक विशेष भाग को निकालना चाहें, अवशेष केवल पूर्णाङ्कों पर विभक्त हो और दोनों व्यवकलित अंश उन पूर्णाङ्कों के समान अंश हों जिनके साथ उनका सम्बन्ध है तो पूर्ण विभाजक का इसके अपुर्णांश के साथ वही सम्बन्ध संख्या का व्यवकलित अंश के साथ है।

मान संवत पर शेषोक्त विधि का प्रयोग

यदि हम यह परिसंख्यान अपने मान-सम्वत के लिए करें तो हमें $\frac{११,५०५}{१०,०३६,८००}$ का अपूर्णाङ्क मिलता है और दोनों संख्याओं को १३ पर बांटने से हमें $\frac{७७}{६६१२०}$ प्राप्त होते हैं। *

दुहरे अधिमासों के स्थानों में यहां इकहरे अधिमासों से भी गिनती करना सम्भव होगा और उस अवस्था में अवशेष को दुगना करने की आवश्यकता न होगी। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस विधि के आविष्कारक ने छोटी संख्याएँ प्राप्त करने के लिए आम्रेडन को अधिक पसन्द किया है क्योंकि यदि हम इकहरे अधिमासों के साथ गिनती करें तो हमें $\frac{८५४४}{५१८४००}$ अपूर्णाङ्क का प्राप्त होता है जो सामान्य विभाजक के रूप में ९६ द्वारा घटाया जा सकता है। इससे गुणक के रूप में ८९ और विभाजक के रूप में ५४०० प्राप्त होते हैं। इसमें इस विधि के निकालने वाले ने अपना चातुर्य दिखलाया है क्योंकि उसके गणित का हेतु आंशिक चान्द्र दिनों और लघुतर गुणकों को प्राप्त करने का सङ्कल्प है।

ऊनरात्र दिनों के गणित की विधि

उस (अर्थात ब्रह्मगुप्त) की ऊनरात्र दिनों के गणित की विधि यह है—

यदि हम सार्वत्रिक चान्द्र दिनों को सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों पर भाग दें तो भागफल ६३ और एक अपूर्णांक निकलता है, जो सामान्य विभाजन ४५०,००० द्वारा घटाया जा सकता है। इस प्रकार वह कालविधि जिसके अन्दर एक ऊनरात्र दिन पूरा होता है ६३ $\frac{५०६६३}{५५७३९}$ चान्द्र-दिन निकलते हैं। यदि हम इस अपूर्णांक को ग्यारहवें भागों में परिवर्तित कर दें तो हमें $\frac{९}{११}$ और $\frac{५५६४२}{५५७३९}$ का अवशेष प्राप्त होता है, जिसको यदि कलाओं में प्रकट किया जाय तो वह ०'५९" ५४"' के बराबर है।

---

* अलबेरूनी ने ऊपर दी हुई गणना साधारण रीति से नहीं, वरन एक विशेष अवस्था के लिये, मान-तिथि के लिये की है।

इस अपूर्णांक के एक पूर्णांक के बहुत निकट होने के कारण लोग इसे तुच्छ समझ कर छोड़ देते हैं, और इसके स्थान में, मोटे तौर पर, $\frac{१०}{११}$ का उपयोग करते हैं। इसलिए, हिन्दुओं के अनुसार, एक ऊनरात्र दिन ६३$\frac{१०}{११}$ अथवा $\frac{७०३}{११}$ चान्द्र दिनों में पूर्ण होता है।

अब यदि हम ऊनरात्र दिनों की सख्या को, जो चान्द्र दिनों की संख्या के अनुरूप है, ६३$\frac{५०६३३}{५५७३६}$ से गुणन करें, तो गुणनफल उस संख्या से कम होगा जो हम, यह मानकर कि भागफल प्रथम संख्या के समान है, चान्द्र दिनों को $\frac{७०३}{११}$ पर विभक्त करना चाहते हैं, तो चान्द्र दिनों में एक विशेषांश अवश्य हो बढ़ा लेना चाहिये, और इस अंश का परिसंख्यान उस (पुलिस-सिद्धान्त के रचयिता) ने शुद्ध रूप से नहीं वरन केवल लगभग तौर से किया था। क्योंकि यदि हम सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों को ७०३ से गुणन करें, तो गुणनफल १७,६३३,०३२,६५०,००० निकलता है, जो सार्वत्रिक चान्द्र दिनों से ग्यारह गुना से भी अधिक है। और यदि हम सार्वत्रिक चान्द्र दिनों को ११ से गुणन करें, तो गुणनफल १७,६३२,६८६,०००,००० निकलता है। दोनों सख्याओं में ४३,६५०,००० का अन्तर है। यदि हम सार्वत्रिक चान्द्र दिनों के ग्यारह गुना का गुणनफल इस संख्या पर विभक्त करें, तो ४०३,६६३ भागफल प्राप्त होता है।

यह वह संख्या है जिसका उपयोग इस रीति के अविष्कारक ने किया है। यदि शेषोक्त भागफल (४०३,६६३ + एक अपूर्णांक) के आगे छोटा सा अवशेष न हो तो उसकी रीति बिलकुल ठीक होती। परन्तु $\frac{४०५}{४३६५}$ अथवा $\frac{६}{६७}$ का अपूर्णांक शेष रहता है, और यह वह संख्या है जिसे छोड़ दिया जाता है। यदि वह अपूर्णांक के बिना इस विभाजक का उपयोग करता है। और आंशिक चान्द्र दिनों के ग्यारह गुना घात को इस पर भाग देता है, तो भागफल उतना ही अधिक बड़ा होगा जितना कि भाज्य बढ़ गया है। इस गणना की दूसरी बातों पर टीका-टिप्पणी का प्रयोजन नहीं है।

कल्प, चतुर्युग या कलियुग के अधिमास

अधिकांश हिन्दुओं को, अपने वर्षों की गिनती में, अधिमास का प्रयोजन होता है, इसलिए वे इस रीति को अच्छा समझते हैं। वे ऊनरात्र दिनों के परिसंख्यान और दिनों (अहर्गण) के योग की विधियों की परवा न करके, अधिमास के परिसंख्यान की विधियों का विशेष रूप से परिश्रम-पूर्वक वर्णन करते हैं। कल्प; चतुर्युग, या कलियुग के वर्षों के अधिमास मालूम करने की उनकी एक विधि यह है :—

वे वर्षों को तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखते हैं। वे ऊपर की संख्या को १० से, मध्यवर्ती को २४८१ से, और निचली को ७७३६ * से गुणा करते हैं। तब वे मध्यवर्ती और नीचे की

---

* अरबी हस्तलिखित प्रति में ७७३६ की जगह ७७१३६ है।

संख्याओं को ६६०० पर भाग देते हैं। तब भागफल मध्यवर्ती संख्या के दिन, और नीचे की संख्या से अवम होते हैं।

इन दोनों भागफलों का योग ऊपर के स्थान में लिखी हुई संख्या में जोड़ दिया जाता है। तब यह योगफल उन पूर्ण अधिमास दिनों को दिखलाता है जो व्यतीत हो चुके हैं, और जो दूसरे दो स्थानों में रहता है उसकी संख्या वर्तमान अधिमास का अपूर्णांक है। दिनों को ३० पर बाँटने से वे मास निकाल लेते हैं।

मान-वर्ष पर लगाई गई विधि

याक़ूब इब्न तारिक ने इस विधि का वर्णन नितान्त शुद्ध रूप से किया है। उदाहरणार्थ, हम अपने मान वर्ष के लिए इस परिसंख्यान को लगाते हैं। मान-तिथि की घड़ी से लेकर कल्प के जितने वर्ष व्यतीत हुए हैं उनकी संख्या १,६७२,६४८,१३२ है। इस संख्या को हम तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखते हैं। ऊपर की संख्या को हम दस से गुणा करते हैं। इससे दायीं ओर इसमें एक शून्य और बढ़ जाता है। मध्यवर्ती संख्या को हम २४८१ से गुणा करते हैं और गुणनफल ४,८६४,८८४,३१५,४६२ निकालता है। नीचे की संख्या को हम ७७३६ से गुणा करते हैं, जिसमें १५,२६८,६४५,५६३,५४८ गुणनफल निकलता है। पिछली दो संख्याओं को ६६०० पर बाँटा जाता है, इससे मध्यवर्ती संख्या के लिए भागफल के रूप में ५०६८८३७८२ निकलते हैं, और ८२६२ अवशेष रहता है, और निचली संख्या के लिए १,५६०,४८३,६१५ लब्धि और ६५४८ अवशेष रहता है। इन दोनों अवशेषों का योग का योग १७८४० है। इस अपूर्णांक (अर्थात $१\frac{७८४०}{६६००}$) को एक पूर्णांक गिन लिया जाता है। इससे तीनों स्थानों में संख्याओं का योगफल २१,८२६,८४६,०१८ अर्थात अधिमास दिन, योग वर्तमान अधिमास दिन (अर्थात जो अब पूरा होने वाला है) का $\frac{१०३}{१२०}$ दिन, हो जाता है।

इन दिनों के मास बनाने से हमें ७२७,६६१,६३३ महीने और अट्ठाइस दिन का अवशेष प्राप्त होता है, जिसको श-द-द कहते हैं। यह चैत्रमास (जिसको मासों के अनुक्रम में छोड़ नहीं दिया जाता) के आरम्भ के बीच, और महाविषुव के क्षण के बीच का अन्तर है।

फिर, जो लब्धि हमें मध्यवर्ती संख्या के लिए मिली है उसको कल्प के वर्षों में जोड़ देने से २,४८२,८३१,६१४ योगफल निकलता है। इस संख्या को ७ पर बाँटने से ३ अवशेष रहता है। इसलिए, प्रस्तुत वर्ष में, सूर्य मेषराशि में मङ्गलवार को प्रविष्ट हुआ है।

शेषोक्त विधि का स्पष्टीकरण

मध्यवर्ती और निचले स्थानों की संख्याओं के लिए जिन संख्याओं का गुणकों के रूप में उपयोग किया जाता है उनकी व्याख्या निम्नलिखित रीति से की जाती है :—

कल्प के नागरिक दिनों को कल्प के सौर-चक्रों पर भाग देने से, हमें लब्धि रूप में दिनों की वह संख्या मिलती है जिससे एक वर्ष बनता है, अर्थात $३६५\frac{१,११६,४५०,०००}{४,३२०,०००,०००}$ इस अपूर्णाङ्क को

४५०,००० के सामान्य भाजक द्वारा छोटा करने से $३६५\frac{२४८१}{९६००}$ वन जाता है। इस अपूर्णांक को ३ पर बांटकर और भी छोटा किया जा सकता है, परन्तु लोग इसको ऐसा ही रहने देते हैं, जिससे इस पूर्णांक का और इस अपूर्णांक को अगली क्रिया में आनेवाले दूसरे अपूर्णांकों का भाजक एक ही रहे।

सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों को कल्प के सौर वर्षों पर बांटने से, लब्धि ऊनरात्र दिनों की संख्या निकलती है जिनका सम्बन्ध एक सौर वर्ष से होता है, अर्थात $५\frac{३४८२५५००००}{४,३२०,०००,०००}$ इस अपूर्णांक को ४५०,००० के सामान्य भाजक द्वारा छोटा करने से $५\frac{७७३९}{९६००}$ दिन निकलते हैं। यह अपूर्णांक ६ पर भाग देने से और भी छोटा किया जा सकता है।

सौर और चान्द्र वर्षों के मान लगभग ३६० दिन हैं। यही वात सूर्य और चन्द्र के नागरिक वर्षों की है। पहला कुछ बड़ा होता है और दूसरा कुछ छोटा। इन मानों में से एक, चान्द्र वर्ष का इस परिसंख्यान में प्रयोग किया गया है, और दूसरे मान, सौर वर्ष, को तलाश की जाती है। (मध्यवर्ती और निचली संख्या की) दो लब्धियों का योगफल दोनों प्रकार के वर्षों के बीच का अन्तर है। ऊपर की संख्या का पूर्ण दिनों की संख्या से गुणन किया जाता है, और मध्यवर्ती तथा निचली संख्याओं को अपूर्णांकों में से प्रत्येक के साथ गुणा किया जाता है।

यदि हम इस परिसंख्यान का संक्षेप करना चाहें, और हिन्दुओं की तरह, हमारी इच्छा सूर्य और चांद की मध्य गतियों को मालूम करने की न हो, तो हम मध्यवर्ती तथा निचली संख्याओं के गुणकों का आपस में योग कर देते हैं। इससे १०,२२० योगफल प्राप्त होता है।

ऊपर के स्थान के लिए हम इस संख्या में भाजक × १० = ९६,००० का घात जोड़ देते हैं। इससे $\frac{१०६,२२०}{९६००}$ प्राप्त होता है। इस अपूर्णांक को छोटा करके आधा करने पर $\frac{५३११}{४८०}$ प्राप्त होते हैं।

इस परिच्छेद में हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि दिनों को ५३११ से गुणा करने से, और गुणनफल को १७२,८०० पर भाग देने से, अधिमासों की संख्या प्राप्त होती है। अब यदि हम दिनों के स्थान में वर्षों की संख्या से गुणा करें, तो गुणनफल उस गुणनफल का $\frac{१}{३६०}$ होगा जो दिनों की संख्या के साथ गुणा करने से प्राप्त होता। इसलिए, यदि हम वही लब्धि प्राप्त करना चाहते हैं जो पहले विभाजन से प्राप्त होती है, तो यह आवश्यक है कि हम उस भाजक के $\frac{१}{३६०}$ पर भाग दें जिस पर हमने पहली अवस्था में भाग दिया था, अर्थात ४८० (क्योंकि ३६० × ४८० = १७२,८००)।

अधिमास निकालने की दूसरी रीति पर पुलिस का मत

वह रीति भी उसी के सदृश है जिसका पुलिस ने निर्देश किया है; "आंशिक मासों की संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक स्थान में इसे ११११ से गुणा करो, और गुणनफल

को ६७,५०० पर भाग दो। लब्धि को दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटाओ, और अवशेष को ३२ पर भाग दो। लब्धि अधिमास मासों की संख्या है, और लब्धि में यदि कोई अपूर्णांक हो तो वह अधिमास मास के उस अंश को दिखलाता है जो अभी बन रहा है। इस संख्या को ३० से गुणा करने और घात को ३२ पर भाग देने से, लब्धि वर्तमान अधिमास मास के पूरे दिनों के अपूर्णांकों को दिखलाता है।"

इस रीति की कारणविवृति आगे लिखी जाती है:—

यदि आप एक चतुर्युग के सौर मासों पर, पुलिस के सिद्धान्तानुसार, चतुर्युग के अधिमास महीनों को भाग देंगे तो आपको लब्धि के रूप में ३२$\frac{३५,५५२}{६६,३८९}$ मिलेगा। यदि आप मासों को इस संख्या पर भाग देंगे, तो आपको चतुर्युग या कल्प के अतीतांश के पूर्ण अधिमास प्राप्त होंगे। परन्तु पुलिस, किन्हीं अपूर्णांकों के बिना, केवल पूर्णांकों पर ही भाग देना चाहता था। इसलिए, जैसा कि ऐसी ही एक दशा में पहले स्पष्ट किया जा चुका है, उसे भाज्य में से कुछ घटाना पड़ा था। अपने मान-वर्ष पर परिसंख्यान को लगाते समय, भाजक के रूप में, हमें $\frac{३५,५५२}{२,१६०,०००}$ प्राप्त हुआ है। इसको ३२ पर भाग देने से छोटा किया जा सकता है। इससे यह $\frac{११११}{६७,५००}$ बन जाता है।

इस गणना में, पुलिस ने मासों के स्थान में, सौर दिनों से गिनती की है जिनमें कि तिथि निकाली जाती है। क्योंकि वह कहता है—"इस संख्या को तुम दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक स्थान में इसे २७१ से गुणा करो, और गुणनफल को ४,०५०,००० पर भाग दो, लब्धि को दूसरे स्थान की संख्या में से घटाओ और अवशेष को ९७६ पर भाग दो। तब लब्धि अधिमास महीनों, दिनों, और दिन के भगांशों की संख्या है।

वह और कहता है:—"इसका कारण यह है, कि चतुर्युग के दिनों को अधिमास मासों पर भाग देने से, तुम्हें लब्धि के रूप में ९७६ दिन और १०४, ०६४ का अवशेष प्राप्त होगा। इस संख्या के लिए और भाजक के लिए सामान्य हार ३८४ हैं। उससे अपूर्णांक को छोटा करके हमें $\frac{२७१}{२,०५०,०००}$ दिन प्राप्त होते हैं।

परन्तु, यहाँ मुझे प्रतिलिपिकार या अनुवादक पर सन्देह होता है, क्योंकि पुलिस जैसा विद्वान् ऐसी भूलें नहीं कर सकता था। बात यों है—

जो दिन अधिमास मासों पर बाँटे जाते हैं वे आवश्यकता के तौर पर सौर दिन हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, लब्धि में पूर्णांक और अपूर्ण अंक हैं। हारकांक और अंशांक दोनों का सामान्य भाजक २४ ही संख्या है। उससे अपूर्णांक को छोटा करके हमें $\frac{४३३६}{६६३८९}$ प्राप्त होते हैं।

यदि हम इस नियम को मासों पर लगायें, और अधिमास महीनों की संख्या को छोटा करके अपूर्णांकों तक ले आवें तो हार ४०,९००;००० निकलता है। इस हार और इसके अंश दोनों का सामान्य भाजक १६ है। उससे अपूर्णांक को छोटा करने पर $\frac{२७१}{२८००,०००}$ निकलता है।

अब यदि हम पुलिस की भाजक के रूप में ग्रहण की हुई संख्या को अभी ऊपर कहे सामान्य भाजक, अर्थात २८४ से गुणा करें, तो हमें गुणनफल १,५५५,२००,०००, अर्थात चतुर्युग के सौर दिन प्राप्त होंगे। परन्तु यह सर्वथा असम्भव है कि इस संख्या का, गणना के इस भाग में, भाजक के तौर पर उपयोग किया जाय। यदि हम; सार्वत्रिक सौर मासों को अधिमास महीनों पर भाग देकर, इस रीति का आधार ब्रह्मगुप्त के नियमों को बनाना चाहते हैं तो, उसके द्वारा प्रयुक्त रीति के अनुसार, फल अधिमास की गिनती से दुगना होगा। *

ऊनरात्र दिनों के गणना की रीति

फिर, ऊनरात्र दिनों के परिसंख्यान के लिए एक वैसी ही रीति का प्रयोग किया जा सकता है।

आंशिक चान्द्र दिनों को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक स्थान में, इस संख्या को ५०,६६३, से गुणा करो और गुणनफल को ३,५६२,२२० पर भाग दो। लब्धि को दूसरे स्थान में लिखी संख्या में से घटाओ; और अवशेष को किसी अपूर्णांक के बिना ६३ पर भाग दो।

हिन्दुओं के और अधिक लम्बे विमर्श में कुछ भी लाभ नहीं, विशेषतः क्योंकि उन्हें अवम का अर्थात आंशिक ऊनरात्र के अवशेष का, प्रयोजन है, क्योंकि दो विभाजनों से जो अवशेष हमें प्राप्त होते हैं उनके दो भिन्न-भिन्न हार हैं।

कालक्रमानुगत तिथि बनाने का नियम

जो राशिविश्लेष के पूर्ववर्ती नियमों को पूर्णतया जानता है वह, यदि कल्प या चतुर्युग के अतीत दिनों की एक निश्चित संख्या दी हुई हो तो, विपरीत क्रिया—संयोग—को भी पूरा कर सकेगा। परन्तु, निश्चयात्मक होने के लिए, हम यहां आवश्यक नियमों को पुनरावृत्ति करते हैं।

यदि दिन दिये हुए हों और हम वर्ष मालूम करना चाहें, तो दिन आवश्यक रूप से नागरिक दिन होंगे, अर्थात चान्द्र दिनों और ऊनरात्र दिनों के बीच का अन्तर होगा। इस अन्तर (अर्थात नागरिक दिनों) का उनके ऊनरात्र दिनों के बीच के अन्तर, अर्थात १,५७७,९१६,४५०,०००

---

* ऐसा जान पड़ता है कि अलबेरूनी ने पुलिस की गणना को नहीं समझा। यह गणना दुरुस्त है; यद्यपि इसकी व्याख्या में किसी जगह से कोई अक्षर कीड़ा खा गया प्रतीत होता है। पुलिस के सिद्धान्त के अनुसार एक चतुर्युग में १ ५५५,२००,०८० सौर दिन और १,५९३,३३६ अधिमास महीने होते हैं। पहली संख्या को दूसरा भाग देने से हम उस समय के रूप में जिसमें एक अधिमास पूरा होता है $९७६\frac{१०४०६४}{१९५९३३६}$ दिन पाते हैं। अतएव सौर दिनों की दी हुई संख्या $९६६\frac{१०४०६४}{१५९,३३६}$ पर भाग देने से अधिमासों की संख्या प्राप्त हो जाती है, परन्तु पुलिस अपूर्णांक को न गिनना ही अच्छा समझता है। इसलिए वह दिये हुए दिनों की संख्या में से एक विशेष राशि कम करके केवल ९०० पर ही भाग देता है।

का सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों के साथ है। शेषोक्त संख्या (अर्थात १,५७७,९१६,४५०,०००) को ३,५०६,४८१, द्वारा दिखलाया गया है। यदि हम दिये हुए दिनों को ५५,७३९, से गुणा करें और गुणनफल को ३,५०६ पर भाग दें, तो लब्धि आंशिक ऊनरात्र दिनों को दिखलायेगी। इसमें नागरिक दिनों को जोड़ने से, चान्द्र दिनों की संख्या, अर्थात आंशिक सौर और आंशिक अधिमास दिनों का योगफल निकल आता है। इन चान्द्र दिनों का इनसे संबंध रखने वाले अधिमास दिनों से वही सम्बन्ध है जो सार्वत्रिक सौर और अधिमास दिनों के योग, अर्थात १६०,२९९,९००,००० का सार्वत्रिक अधिमास दिनों के साथ है। इस संख्या (अर्थात १६०/२९९,९००,०००) को १७८,१११ की संख्या दिखलाती है।

यदि तुम फिर, आंशिक चान्द्र दिनों को ५३११ से गुणा करो, और गुणनफल को १७८, १११, पर भाग दो, तो लब्धि आंशिक अधिमास दिनों की संख्या होगी। इनको चान्द्र दिनों में से घटाओ, तो अवशेष सौर दिनों की संख्या है। इस पर तुम दिनों को ३० पर भाग देकर उनके मास बनाओ, और मासों को १२ पर भाग देकर वर्ष बनाओ। यही हम मालूम करना चाहते हैं।

उदाहरणार्थ, आंशिक नागरिक दिन जो हमारे मान-वर्ष तक व्यतीत हो चुके हैं ७२०, ६३५, ९५१, ९६३, हैं। यह संख्या दी हुई है और जो कुछ हम मालूम करना चाहते हैं वह यह है कि कितने भारतीय वर्ष और मास दिनों की इस संख्या के बराबर हैं।

पहले, हम इस संख्या को ५५,७३९ से गुणा करते हैं, और गुणनफल को ३,५०६,४८१ पर भाग देते हैं। लब्धि ११,४५५,२२४,५७५ ऊनरात्र दिन हैं।

हम इस संख्या को नागरिक दिनों में जोड़ देते हैं। योगफल ७३२,०९१,१७६ चान्द्र दिन हैं। हम उनको ५३११ से गुणा करते है, और गुणनफल को १७८,१११ पर भाग देते हैं। लब्धि अधिमास दिनों की संख्या है, अर्थात २१,८२९,८४९,०१८।

हम उनको चान्द्र दिनों में से घटाते हैं। इससे ७१०;२६१,३२७;५२० अवशेष अर्थात आंशिक सौर दिन प्राप्त होते हैं। हम इनको ३० पर भाग देते हैं। इसकी लब्धि २३,६७५,३७७,५८४ अर्थात सौर मास निकलते हैं। इनको १२ पर भाग देने से भारतीय वर्ष अर्थात १,९७२,९४८,१३२ निकलते हैं। जैसा कि हम किसी पूर्ववर्ती अनुच्छेद में पहले ही कह आये हैं, यह वर्षों की वही संख्या है जिससे हमारी मानतिथि बनती है।

याकूब इब्न तारिक की गणना

याकूब इब्न तारिक ने इसी विषय में एक टिप्पणी लिखी है—

"दिये हुए नागरिक दिनों को सार्वत्रिक चान्द्र दिनों पर गुणा करो और गुणनफल को सार्वत्रिक नागरिक दिनों पर भाग दो। लब्धि को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक स्थान में संख्या को सार्वत्रिक अधिमास दिनों से गुणा करो और गुणनफल को सार्वत्रिक चान्द्र दिनों पर भाग दो। लब्धि अधिमास महीने होगा। इनको ३० से गुणा करो और गुणनफल को दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटाओ। अवशेष आंशिक सौर दिनों की संख्या है। तुम इनको आगे मासों और वर्षों में बदल दो।"

इस गणना की कारण-विवृति निम्नलिखित है—

हम पहले कह चुके हैं कि दिनों की दी हुई संख्या चान्द्र दिनों और उनके ऊनरात्र के बीच का अन्तर है, जैसा कि सार्वत्रिक नागरिक दिन सार्वत्रिक चान्द्र दिनों और उनके सार्वत्रिक ऊनरात्र के बीच का अन्तर हैं। इन दोनों मानों का एक दूसरे के साथ एक रूप सम्बन्ध है। इसलिए हमें आंशिक चान्द्र दिन प्राप्त होते है जो दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखे हुए हैं। अब, ये सौर और अधिमास दिनों के योग-फल के बराबर हैं, जिस प्रकार कि साधारण चान्द्र दिन सार्वत्रिक सौर दिनों और सार्वत्रिक अधिमास दिनों के योग-फल के बराबर होते हैं। इसलिए आंशिक और सार्वत्रिक अधिमास दिनों का एक दूसरे के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखी हुई उन दो संख्याओं का। उन दोनों से अभिप्राय चाहे मासों से हो या दिनों से, अन्तर कुछ नहीं पड़ता।

आंशिक अधिमास महीनों के द्वारा आंशिक ऊनरात्र दिनों के परिसंख्यान के लिए याकूब का आगे लिखा नियम * उसकी पुस्तक के सभी हस्तलेखों में पाया जाता है—

"अतीत अधिमास को, वर्तमान अधिमास के भग्नांशों सहित, सार्वत्रिक ऊनरात्र दिनों से गुणा किया जाता है, और गुणनफल को सार्वत्रिक सौर मासों पर भाग दिया जाता है। लब्धि को अधिमास में जोड़ दिया जाता है। योगफल अतीत ऊनरात्रों की संख्या है।

मैं समझता हूँ, इस नियम से यह बात प्रकट नहीं होती कि इसके बनानेवाले को इस विषय का पूर्ण ज्ञान था, और न यही कि उसे उपमिति या परीक्षण में बहुत विश्वास था। क्योंकि, हमारी मान-तिथि तक चतुर्युग के जितने अधिमास महीने बीत चुके हैं उनकी संख्या, पुलिस के सिद्धान्तानुसार०,१६६,५२५ $\frac{४४८३७}{४५०००}$ है। इस संख्या को चतुर्युग के ऊनरात्र से गुणा करने से गुणनफल ३०,०११६००,०६८,४२६ $\frac{५१}{१२५}$ प्राप्त होता है। इस संख्या को सौर मासों पर भाग देने से ५७८, ६२७ लब्धि प्राप्त होती है। इसको अधिमास में जोड़ने से योगफल १,७७५,४५२ होता है। और यह वह नहीं जो हम मालूम करना चाहते थे। इसके विपरीत, ऊनरात्र दिनों की संख्या १८ ८३५,७·० है। इस संख्या का ३० से गुणन का गुणनफल भी वह नहीं जिसे हम मालूम करना चाहते थे। इसके विपरीत, यह ५३,२६३,५६० है। दोनों संख्याएँ सत्य से बहुत दूर हैं।

---

* वास्तव में इस नियम का आधार अवश्य ही कोई पूर्ण भ्रम है, क्योंकि यह जैसा कि अलबेरूनी ठीक ही कहता है, सर्वथा सत्येतर है।

तिरपनवाँ परिच्छेद

अहर्गण अथवा समय की विशेष तिथियां

अहर्गण की प्रयुक्त रीति

जिन शाकों के पंचांगों में दिन बनाये जाते हैं उन सब में ऐसे अब्दारम्भ नहीं होते जो समय के ऐसे क्षणों पर आते हों जब अधिमास या ऊनरात्र दैवयोग से ठीक पूरा होता है। इसलिए पंचांगों के रचयिताओं को अधिमास और ऊनरात्र की गणना के लिए § ऐसी विशेष संख्याओं का प्रयोजन होता है जिनका, यदि गणना को सुव्यवस्थित रूप से आगे चलाना है, जोड़ना या घटाना आवश्यक होता है। उनके पंचांगों या ज्योतिष के गुटकों के अध्ययन से इन नियमों के विषय में जो कुछ भी हम सीख पाये हैं वह पाठकों की भेंट किया जाता है।

खण्डखाद्यक की रीति

पहले, हम खण्डखाद्यक के नियम का उल्लेख करते हैं, क्योंकि यह पंचांग सबसे अधिक विख्यात है और ज्योतिषी लोग इसको सबसे उत्तम समझते हैं।

ब्रह्मगुप्त कहता है "शककाल का वर्ष लो, उनमें से ५८७ घटाओ, अवशेष को १२ से गुणा करो, और गुणनफल में प्रस्तुत वर्ष के वे पूर्ण मास जोड़ दो जो व्यतीत हो चुके हैं। योगफल को ३० से गुणा करो, और गुणनफल में वे दिन जोड़ दो जो वर्तमान मास के बीत चुके हैं। योगफल आंशिक सौर दिनों को दिखलाता है।

"इस संख्या को तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। मध्यवर्ती और निचली संख्याओं में ५ जोड़ दो, और सबसे निचली को १४, ९४५ पर भाग दो। लब्धि को मध्यवर्ती संख्या में से घटाओ, और भाग देने से जो अवशेष तुम्हें मिला है उसे छोड़ दो। मध्यवर्ती संख्या को ९७६ पर भाग दो। लब्धि पूर्ण अधिमास महीनों की संख्या है, और अवशेष वह है जो वर्तमान अधिमास महीने का व्यतीत हो चुका है।

"इन मासों को ३० से गुणा करो, और गुणन-फल को ऊपर की संख्या में जोड़ दो। योगफल आंशिक चान्द्र दिनों की संख्या है। इनको ऊपर के स्थान में रहने दो, और इसी संख्या के मध्य स्थान में लिखो। इसको ११ से गुणा करो और इसमें ४९७ जोड़ दो। इस योगफल को

---

§ यदि हम कल्प या चतुर्युग के आरम्भ से गणना करें, तो इस काल विशेष में न तो अधिमासों के और न ऊनरात्र दिनों के अपूर्णांक हैं, परन्तु क्योंकि ऐसी दीर्घ अवधियों में दिनों की बहुत बड़ी संख्या का सन्निवेश होता है जिससे गणना श्रमकर हो जाती है, इसलिए इस परिच्छेद में बताई हुई विधियाँ न तो कल्प के आरम्भ से और न चतुर्युग के आरम्भ से परन्तु उन यथारुचि चुनी हुई तिथियों से शुरू होती हैं, जो उस समय के निकट हों जिनके लिए उनका प्रयोग किया जायेगा। क्योंकि ऐसी कालावधियाँ अधिमासों और ऊनरात्र दिनों के अपूर्णांकों से खाली नहीं इसलिए इन अपूर्णांकों को हिसाब में जरूर गिनना चाहिए।

निचले स्थान में लिखो। तब इस संख्या को १११,५७३ पर भाग दो। लब्धि को मध्यवर्ती संख्या में से घटाओ और (भाग देने से) जो अवशेष निकला है उसे छोड़ दो, फिर मध्यवर्ती संख्या को ७०३ पर भाग दो; तब लब्धि ऊनरात्र दिनों को, और अवशेष अवमों को दिखलायेगा। ऊनरात्र दिनों को ऊपर की संख्या में से घटाओ। अवशेष नागरिक दिनों की संख्या है।"

यह खण्डखाद्यक का अहर्गण है। इस संख्या को ७ पर भाग देने से, अवशेष सप्ताह के उस दिन को प्रकट करेगा जिस दिन प्रकृत तिथि होगी।

हम इस नियम का उदाहरण अपने मान-वर्ष की अवस्था में देते हैं। शककाल का अनुरूप वर्ष ९५३ है। हम उसमें से ५८७ घटाते हैं और शेष ३३६ बचते हैं। हम इसका १२×३० के गुणन फल से गुणा करते हैं, क्योंकि तिथि मासों और दिनों से रहित है। गुणनफल १२१,७६० अर्थात् सौर दिन हैं।

मान-वर्ष पर इस रीति का प्रयोग

हम इस संख्या को तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखते हैं। मध्यवर्ती और निचली संख्याओं में हम ५ जोड़ देते हैं, जिससे दोनों स्थानों में हमें १२१,७६५ प्राप्त होते हैं। निचली संख्या को हम १४,९४५ से भाग देते हैं। लब्धि ८ होती है, जिसको हम मध्यवर्ती संख्या में से घटाते हैं, और यहाँ हमें १२१,७५० अवशेष प्राप्त होता है। तब हम उस अवशेष की उपेक्षा कर देते हैं जो विभाजन का परिणाम स्वरूप है।

फिर, हम मध्यवर्ती संख्या को ९९६ पर भाग देते हैं। लब्धि १३४ मासों की संख्या को दिखलाती है। इसके अतिरिक्त ५७३/९७६ अवशेष रहता है। मासों को ३० से गुणा करने से ४०२० गुणनफल निफलता है। इसको हम सौर दिनों में जोड़ देते हैं। इससे हमें चान्द्र दिन, अर्थात् १३५'७८० प्राप्त होते हैं। हम इस संख्या को तीनों संख्याओं के नीचे लिखते हैं, इसको ११ से गुणा करते हैं, और गुणनफल में ४९७ जोड़ देते हैं। इस प्रकार हमें १,४९४,०७७ की संख्या प्राप्त होती है। हम इस संख्या को चारों संख्याओं के नीचे लिखते हैं, और इसको १११,५७३ पर भाग देते हैं। लब्धि १३ निकलती है, और अवशेष, अर्थात् ४३, ६२८ को छोड़ दिया जाता है। हम लब्धि को मध्यवर्ती संख्या में से घटाते हैं। इस प्रकार हमें १,४९४,०६४ अवशेष प्राप्त होता है। हम इसको ७०३ पर भाग देते हैं। लब्धि २१२५ होती है, और अवशेष अर्थात अवम ३८९/७०३। हम भागफल को चान्द्र दिनों में से घटाते हैं, और अवशेष १३३,२५५ निकलता है। ये नागरिक दिन हैं जिनको हम मालूम करना चाहते हैं। इनको ७ पर भाग देने से, ४ अवशेष रहता है। इसलिए मान-वर्ष के चैत्र मास की पहली बुधवार को होती है।

यज्दजिर्द के संवत का अब्दारम्भ इस शाके के गणनारम्भ से११,९६८ दिन पहले होता है। इसलिए यज्दजिर्द के संवत के दिनों को हमारी मान-तिथि तक जोड़ १४५,६२३ दिन है। इनको फारसी वर्ष और मासों पर भाग देने से हमें अनुरूप फारसी तिथि के रूप में यज्दजिर्द का संवत ३९९ और १८ वीं इसफन्दारमंज मिलती है। अधिमास महीने के ३० दिनों के साथ पूर्ण होने के पहले यह आवश्यक है कि अब तक पाँच घटी, अर्थात दो घन्टे बीत जायें। फलतः, वर्ष लौंद का वर्ष है, और चैत्र वह मास है जो इसमें दो बार गिना जाता है।

अल अर्कन्द नामक अरबी पुस्तक का तरीका

एक बुरे अनुवाद के अनुसार अलअर्कन्द पंचांग की रीति यह है—"यदि आप अर्कन्द अर्थात अहर्गण, जानना चाहते हैं, तो ९० लो, इनको ६ से गुणा करो, गुणनफल में ८ और सिंध के राज्य के वर्ष, अर्थात सफर मास सन् ११७ हिजरी तक का समय जोड़ो। यह सफर मास सन् १०६ के चैत्र मास के अनुरूप है। उस योगफल में से ५८७ घटाओ, तब अवशेष शक के वर्षों को दिखलाता है।

एक सुगमतर रीति आगे लिखी जाती है—"यज्दजिर्दी संवत् को लेकर उसमें से ३३ घटा दो। अवशेष शख के वर्षों को दिखलाता है। अथवा आप अर्कन्द के मूल नब्बे वर्षों के साथ भी आरम्भ कर सकते हैं। उनको ६ से गुणा करो, और गुणनफल में १४ जोड़ दो। योगफल में यज्दजिर्दी संवत् के वर्ष जोड़ दो, और उसमें से ५८७ घटा दो। अवशेष शख के वर्षों को दिखलाता है।"

मेरा विश्वास है कि जिस शख का उल्लेख यहाँ है वह शक से अभिन्न है। परन्तु, इस गणना का परिणाम हमें शक-संवत् तक नहीं, वरन् गुप्त-संवत तक पहुँचाता है, जिसके यहाँ दिन बनाये गये हैं। यदि अर्कन्द का कर्त्ता ९० से आरम्भ करता, उनको ६ से गुणा करता, उनमें ८ जोड़ता, जिससे उसे ५४८ प्राप्त होते, और वर्षों की बढ़ती से इस संख्या को परिवर्तित न करता, तो बात उसी परिणाम पर पहुँच जाती, और अधिक सुगम और सरल होती।

सफर मास की पहली, जिसका उल्लेख शेषोक्त रीति का लेखक करता है, यज्दजिर्द के संवत् १०३ की आठवीं दैमाह के अनुरूप है। इसलिए वह चैत्रमास को दैमाह की अमावास्या पर निर्भर ठहराता है। परन्तु, उस समय में फारसी मास वास्तविक काल से आगे रहे हैं, क्योंकि (३६५ पूर्ण दिनों के पश्चात्) दिन-चतुर्थांश नहीं जोड़े गये। रचयिता के अनुसार, सिंध-राज्य के जिस संवत का वह उल्लेख करता है वह अवश्य ही यज्दजिर्द के संवत के छः वर्ष पहले होना चाहिए। तदनुसार, हमारे मान-वर्ष के लिए इस संवत के वर्ष ४०५ होंगे। ये, अर्कन्द के वर्षों अर्थात ५४८, समेत, जिनके साथ ग्रन्थकार आरम्भ करता है, ९५३ वर्षों को शककाल का संवत दिखलाते हैं। जिस परिमाण का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है उसको घटा देने से, यह गुप्तकाल के अनुरूप संवत में परिवर्तित हो जाता है।

वियोजन या अहर्गण की इस रीति की अन्य बातें खण्डखाद्यक की रीति की बातों से, जैसा कि हमने इसका वर्णन किया है, अभिन्न हैं। कभी-कभी आपको हस्तलेख में ऐसा पाठ मिलेगा जो ९७६ के स्थान में १००० पर भाग देने का निर्देश करता है, परन्तु यह केवल हस्तलेखों की भूल है, क्योंकि ऐसी रीति का कोई आधार नहीं।

इसके आगे विजयनन्दिन् की अपने करणतिलक नामक पञ्चाङ्ग में दी हुई रीति है।

करणतिलक पंचांग की रीति

शककाल के वर्ष लो, उनमें से ८८८ घटाओ, अवशेष को १२ से गुणा करो, और गुणनफल में वर्तमान वर्ष के बीते हुए पूर्ण मासों को जोड़ दो। योगफल को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक संख्या को ९०० से गुणा करो, गुणनफल में ६६१ जोड़ दो, और योगफल को २६,२८२ पर भाग दो। लब्धि अधिमास मासों को दिखलाती। इसको दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या

में जोड़ दो, योगफल को ३० से गुणा करो, और गुणनफल में वर्तमान मास के बीते हुए दिन जोड़ दो। योगफल चान्द्र दिनों को दिखलायगा। इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक संख्या को ३३०० से गुणा करो, गुणनफल में ६४,१०६ जोड़ो, योगफल को २१०,६०२ से भाग दो। लब्धि ऊनरात्र दिनों को, और अवशेष अवमों को दिखलाता है। ऊनरात्र दिनों को चान्द्र दिनों में से घटाओ। मध्य रात्रि को आरम्भ मानकर गिनने से, अवशेष अहर्गण है।

अपने मान-वर्ष के उपयोग में हम इस रीति को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। हम शककाल के अनुरूप वर्ष ६५३ में से ८८८ घटाते हैं, जिससे शेष ६५ रह जाते हैं। वर्षों की यह संख्या ७८० वर्षों के बराबर है। हम इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखते हैं। एक स्थान में हम इसे ६०० से गुणा करते हैं, उसमें ६६१ जोड़ देते हैं, और योगफल को २६,२८२ पर भाग देते हैं। लब्धि २३ $\frac{२६१७५}{२६२८२}$ अधिमास देती है।

गुणक ३० है। इससे गुणित होने से, मास दिनों में परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु, गुणनफल को पुनः ३० से गुणा किया जाता है। भाजक ६७६ के गुणन योग्य अगला अपूर्णांक गुणित ३० का योगफल है, जिसका फल यह है कि दोनों संख्याओं का संबंध एक ही प्रकार से है (अर्थात दोनों दिनों को दिखलाते हैं)। फिर, इसके फल-स्वरूप मासों की जो संख्या निकलती है उसको हम उन मासों में जोड़ते हैं जिनको हम पहले मालूम कर चुके हैं। योगफल को ३० से गुणा करने से, हमें गुणनफल २४,०६० † (२४, ०६० पढ़िए) अर्थात चान्द्र दिन प्राप्त होते हैं।

हम इनको दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखते हैं। एक संख्या को हम ३३०० से गुणा करते हैं जिससे गुणनफल ७६,३६८,००० (७६,४६७,००० पढ़िये) प्राप्त होता है। इसमें ६४,१०६ (६६,६०१ पढ़िए) बढ़ाने से योग-फल ७६,४६२, १०४ (७६,५६६,६०१ पढ़िए) प्राप्त होता है। इसको २१०,६०२ पर भाग देने से भागफल ३७६ (३०७ पढ़िए) अर्थात ऊनरात्र दिन, और अवशेष $\frac{१६२६५२}{२१०६०२}$ ($\frac{५६५४७}{२१०६०२}$ पढ़िए) अर्थात अवम निकलते हैं। हम ऊनरात्र दिनों को दूसरे स्थान में लिखे हुए चान्द्र दिनों में से घटाते हैं, और अवशेष नागरिक दिनों की संख्या है, अर्थात २३,६८४ (२३,७१३ पढ़िए)।

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका की रीति यह है—"शककाल के वर्ष लो, उनमें से ४२७ घटाओ। अवशेष को १२ से गुणा करके मासों में परिवर्तित कर दो। उस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक संख्या को ७ से गुणा करो और गुणन-फल को २२८ पर भाग दो। लब्धि अधिमास महीनों की संख्या है। इनको दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में जोड़ दो, योगफल को ३० से गुणा करो, और गुणनफल में वर्तमान मास के वे दिन जोड़ दो जो बीत चुके हैं। योगफल को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। निचली संख्या को ११ से गुणा करो, गुणनफल में ५१४ जोड़ो,

---

† हमारे पास ७८० मास थे। उनमें २३ अधिमास महीने जोड़ने से ८०३ मास हो जाते हैं। जिनको ३० से गुणा करने से २४०६० नहीं बल्कि २४०९० दिन होते हैं। इसके बाद की गल्तियों का कारण भी यही भूल है।

और योगफल को ७०३ पर भाग दो। भाग-फल को ऊपर के स्थान में लिखी हुई संख्या में से घटाओ। जो अवशेष होगा वह नागरिक दिनों की संख्या है।"

वराहमिहिर कहता है कि यह यवनों के सिद्धान्त ‡ की रीति है।

अपने मान-वर्षों में से एक पर हम इस रीति का निदर्शन करते हैं। शककाल के वर्षों में से ४२७ घटाओ। अवशेष, अर्थात ५२६ वर्ष, ६३११ रमासों के बराबर हैं। अधिमासों की अनुरूप संख्या १९३ है, और अवशेष $\frac{१५}{१९}$ इन मासों की संख्या दूसरे मासों समेत ६५०५ है, जो १९५,१५० चान्द्र दिनों के बराबर हैं।

इस रीति में जो संयोजन होते हैं उनका प्रयोजन समय के उन भग्नांशों के कारण है जो प्रस्तुत संवत के गणनारम्भ से सटे रहते हैं। ७ से गुणन का प्रयोजन संख्या को सप्तम अंशों तक कम करना है।

भाजक एक अधिमास के समय के सप्तमों की संख्या है, जिसको वह ३२ मास, १७ दिन, ८ घटी, और लगभग ३४ चपक गिनता है †।

फिर, हम चान्द्र दिनों को दो भिन्न-भिन्न स्थनों में लिखते हैं। निचली संख्या को हम ११ से गुणा करते हैं, और गुणनफल में ५१४ जोड़ते हैं। योगफल २,१४७,१६४ होता है। इसको ७०३ से भाग देने से ३०५४ भागफल, अर्थात ऊनरात्र दिन, और अवशेष $\frac{२०२}{७०३}$ प्राप्त होता है। हम दिनों को दूसरे स्थान में लिखी संख्या में से घटाते हैं, जिससे अवशेष १९२,०९६, अर्थात उस तिथि के नागरिक दिन प्राप्त होते हैं जिस पर हम इस पुस्तक के काल-गणना-सम्बन्धी परिसंख्यानों को आश्रित करते हैं। *

वराहमिहिर का सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त के बहुत निकट पहुँचता है; क्योंकि यहाँ मान-तिथि के अधिमास दिनों की संख्या के अन्त का अपूर्णांक $\frac{१५}{१९}$ है, परन्तु, कल्प के आदि से

---

‡ यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि यह रीति यवन- सिद्धान्त क्यों कहलाती है। यह मान लिया गया है कि एक अधिमास ३२ $\frac{४}{७}$ या $\frac{२२८}{७}$ सौर मासों में पूरा होता है। अब $\frac{२२८}{७}$ सौर मास $\frac{१९}{७}$ सौर वर्षों के बराबर हैं। इसलिए यह रीति यवनों (यूनानीयों) के उन्नीस वर्षों के कालचक्र का प्रयोग बताती है।

† ३२ मास १७ दिन ८ घटी और ३४ चपक और कुछ नहीं, केवल ३२ $\frac{४}{७}$ मासों को कहने का एक दूसरा तरीका है।

* नागरिक दिनों की संख्या १९२०९६ है; ७ पर भाग देने से २ अवशेष रहता है। क्योंकि इस रीति में शुक्रवार को १ गिना जाता है, इसलिए यह हमारी मान-तिथि के पूर्व अन्तिम दिन गुरुवार ठहरा देती है। १९२,०९६ को १,९०४,५०९ में जोड़ने से पहली मेंत के तौर पर हम ९५३ पाते हैं, जो कि, जैसा कि होना ही चाहिए, कुनियन काल का दिन २,०९७,६८६ है।

आरम्भ करके, जो गणनाएँ हमने की हैं, उनमें हमने इसे $\frac{१०३}{१०२}$ पाया है, जोकि $\frac{१५}{१७}$ के प्रायः बराबर है।

अरबी पंचांग अलहर्कन की रीति

अल-हर्कन नाम * के मुसलमानी गुटके या पञ्चाङ्ग में हम गणना की वही रीति पाते हैं, परन्तु इसका प्रयोग एक दूसरे संवत पर और आरम्भ भी एक दूसरे संवत से किया गया है। उस संवत का गणनारम्भ अवश्य ही यज्दजिर्द के संवत के ४०,०८१ (दिन) पीछे होता है। इस पुस्तक के अनुसार, भारतीय वर्ष का आरम्भ यज्दजिर्द के संवत ११० की २१ वीं दैमाह को रविवार के दिन होता है। †इस रीति की परीक्षा आगे लिखे ढंग से हो सकती है—

बहत्तर वर्ष लो, उनको १२ से गुणा करके मासों में बदल दो, जिससे गुणनफल ८६४ निकलता है। इनमें वे मास जोड़ दो जो सन् १०७ के शैबान को १ ली और उस मास की १ ली के बीच व्यतीत हुए हैं ‡ जिसमें तुम दैवयोग से हो। योगफल को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। निचली संख्या को ७ से गुणा करो और गुणनफल को २८८ पर भाग दो। लब्धि को ऊपर की संख्या में जोड़ो और योगफल को ३० से गुणा करो। गुणनफल में उन दिनों की संख्या बढ़ा दो जो उस मास के व्यतीत हो चुके हैं जिसमें कि तुम हो। इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। निचली संख्या में ३८ बढ़ाओ और योगफल को ११ से गुणा करो।

---

* अल-हरकन—इस पुस्तक का उल्लेख केवल इसी वाक्य में हुआ है। ग्रन्थकार इसे पञ्चाङ्ग अर्थात नक्षत्र -विद्या, फलित ज्योतिष, और काल-गणना-सम्बन्धी तालिकाओं का संग्रह कहता है। यह कोई मौलिक अरबी पुस्तक थी, या संस्कृत से अनूदित थी, या इसका मूल क्या था, इसका हमें ग्रन्थकर्त्ता से कुछ भी पता नहीं चलता। यह शब्द अहर्गण का अरबी रूपान्तर प्रतीत होता है। अलबेरूनी इस पुस्तक से एक संवत का परिसंख्यान उद्धृत करता है जिसका गणनारम्भ फारसी संवत के गणनारम्भ से ४०,०८१ दिन पीछे होता है, और इसकी तुलना मान-तिथि के साथ करता है।

† यदि यह गणनारम्भ संवत यज्दजिर्द के गणनारम्भ से ४०,०८१ दिन बाद आया तो यह संवत ६६४ शककाल की पहली चैत्र को आयेगा; परन्तु बात ऐसी नहीं। सन् १९७ के शाबान मास की पहली वैशाख ७३ के आरम्भ के अनुरूप है। क्योंकि ७२ वर्षों को घटाना है, इसलिए हम बैशाख ६६३ पर, आयँगे, और वर्ष के आदि से आरम्भ करने के लिए, गणनारम्भ को चैत्र ६६४ तक स्थगित कर देना आवश्यक है। परन्तु इसका कुछ महत्व नहीं क्योंकि हम दिखायेंगे कि अलबेरूनी यहाँ फिर इस रीति को ठीक तौर पर नहीं समझा।

‡ ये दोनों तिथियाँ दिनों तक नहीं मिलतीं। पहली फरवरी दिन माह यज्दजिर्द १६ वीं जून ६३२ के अनुरूप है; ४०,०८१ दिन पीछे सोमवार, १२ वीं मार्च ७४२ था। इधर यज्दजिर्द के सन् ११० की २१ वीं दैमाह रविवार, वीं ११ मार्च ७४२ के अनुरूप है। परन्तु स्वयं तिथि के अशुद्ध होने के कारण इसका कुछ महत्व नहीं।

गुणनफल को ७०३ पर भाग दो, और लब्धि को ऊपर की संख्या में से घटाओ। ऊपर के स्थान में अवशेष नागरिक दिनों की संख्या है और निचले स्थान का अवशेष अवमों की संख्या है। दिनों की संख्या में १ बढ़ा दो और योगफल को ७ पर भाग दो। अवशेष सप्ताह के उस दिन को दिखलाता है जिस दिन प्रस्तुत तिथि होती है।"

यह रीति तब ठीक हो सकती है जब उन बहत्तर वर्षों के मास चान्द्र होते जिनके साथ गणना आरम्भ होती है। परन्तु, वे सौर मास हैं, जिनमें लगभग सत्ताईस मास अवश्य जोड़ देने चाहिए; जिससे ये बहत्तर वर्ष ८६४ मासों से अधिक हो जाते हैं।

हम पुन. अपनी मान-तिथि की, अर्थात् सन् ४२२ हिजरी के प्रथम रब्बी के आरम्भ की, दशा में इस रीति का निदर्शन करते हैं। उपर्युक्त शाबान की १ ली और शेषोक्त तिथि के बीच २६९५ मास व्यतीत हो चुके हैं। इनको इस रीति के बनानेवाले के ग्रहण किये हुए मासों की संख्या ८६४ में बढ़ाने से योगफल ३५५९ निकलता है। इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक को ७ से गुणा और गुणनफल को २२८ पर भाग दो। लब्धि अधिमासों, अर्थात् १०९, को दिखलाती है। इनको दूसरे स्थान की संख्या में बढ़ा दो, तुम्हें ३६६८ योगफल प्राप्त होगा। इसे ३० से गुणा करो, और तुम्हें गुणनफल ११०,०४० मिलेगा। इस संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। निचली संख्या में ३८ बढ़ाओ। इससे तुम्हें ११०,०७८ प्राप्त होंगे। इसे ११ से गुणा करो और गुणनफल को ७०३ पर भाग दो। लब्धि १७२२ और अवशेष २९२, अर्थात् अवम हैं। ऊपर की संख्या में से लब्धि घटाओ, और अवशेष, १०८, ३१८ नागरिक दिनों को दिखलाता है।

इस रीति का आगे लिखे प्रकार से संशोधन होना चाहिए—तुम्हें जानना चाहिए कि यहाँ प्रयुक्त संवत् के गणनारम्भ और तिथि के रूप यहाँ ग्रहण की हुई शाबान की पहली के बीच, २५,९५८ दिन; अर्थात् ८७६ अरबी मास, अथवा तिहत्तर वर्ष और दो मास व्यतीत हो चुके हैं। फिर यदि हम इस संख्या में वे मास बढ़ा दें जो उस पहली शैबान और मान-वर्ष के प्रथम रब्बी की पहली के बीच व्यतीत हुए हैं, तो योगफल ३५७१ प्राप्त होता है, और ये अधिमासों के साथ ३६८० मास, अर्थात ११०,४०० दिन होते हैं।
ऊपरान्त दिनों की अनुरूप संख्या १२२७ है, और अवशेष ३१९ अवम हैं। इन दिनों को घटाने से अवशेष १०८,६०३ प्राप्त होता है। यदि हम १ घटायें और अवशेष को ४ पर भाग दें, तो परि-संख्यान शुद्ध है, क्योंकि अवशेष ४ है, अर्थात, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, मान-तिथि का दिन बुधवार है।

मुलतान के दुर्लभ की रीति

मुलतान-निवासी दुर्लभ की रीति आगे लिखी जाती है—वह ८४ वर्ष लेता है, और उनमें लौकिक काल बढ़ा देता है। योगफल शककाल है। वह उनमें से ८४५४ घटाता है, और अवशिष्ट वर्षों को मासों में बदल देता है। वह उनको वर्तमान वर्ष के अतीत मासों सहित तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखता है। निचली संख्या को वह ७७ से गुणा करता है, और गुणनफल को ६६,१९ पर भाग देता है। लब्धि को वह मध्यवर्ती संख्या में से घटाता है, अवशेष को दुगना करता है, और

उसमें २६ बढ़ा देता है। योगफल को वह ६५ पर भाग देता है, जिससे अधिमास प्राप्त हो। वह उनको ऊपर की संख्या में बढ़ाता है और योगफल को ३० से गुणा करता है। वह गुणनफल को वर्तमान मास के अतीत दिनों सहित दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखता है। वह निचली संख्या को ११ से गुणा करता है और गुणनफल में ६८६ बढ़ा देता है। योगफल को वह नीचे लिखता है। वह इसको ४०३,६६३ पर भाग देता और लब्धि को मध्यवर्ती संख्या में बढ़ाता है। वह योगफल को ७०३ पर भाग देता है। भागफल ऊनरात्र दिनों को प्रकट करता है। वह उनको ऊपर की संख्या में से घटाता है। अवशेष नागरिक अहर्गण, अर्थात प्रस्तुत तिथि के नागरिक दिनों का योगफल है।

हम ऊपर किसी स्थल पर पहले ही इस रीति का स्थूल वर्णन कर चुके हैं। जब इसका कर्त्ता, दुर्लभ, एक विशेष तिथि के लिए इसे ग्रहण कर चुका, तब उसने कुछ परिवर्धन किया परन्तु इसका प्रधान भाग अपरिवर्तित ही है। किन्तु करणसार ऐसे प्रत्येक नवाचार को घुसेड़ने का निषेध करता है जो अहर्गण की रीति में किसी दूसरी क्रिया की ओर भटक जाता है। दुर्भाग्य से पुस्तक का जो कुछ हमारे पास है वह बुरी तरह से अनुवादित है। उसमें से जो उद्धरण हम दे सकते हैं वह यह है—

वह शककाल के वर्षों में से ८२१ घटाता है। अवशेष आधार है। यह हमारे मान-वर्ष के लिए संवत १३२ होगा। वह इस संख्या को तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखता है। वह पहली संख्या को १३२ अंशों (डिग्रियों) से गुणा करता है। गुणनफल हमारी मानतिथि के लिए १७,४२४ की संख्या देता है। वह दूसरी संख्या को ४० कलाओं (मिनिटों) से गुणा करता है, और गुणनफल ६०७२ प्राप्त करता है। वह तीसरी संख्या को ३४ से गुणा करता है, और गुणनफल ४४८८ प्राप्त करता है। वह इसको ५० पर भाग देता है, और लब्धि कलाओं विपलों (सैकंडों) इत्यादि को, अर्थात ८६,४६ को दिखलाती है। तब वह ऊपर के स्थान में अंशों के योगफल में ११२ बढ़ाता, और विपलों को कलाओं में, कलाओं को अंशों में, और अंशो को चक्रों में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार वह ४८ चक्र ३५८° ४१' ४६" प्राप्त करता है। सूर्य के मेष राशि में प्रविष्ट होने के समय यह चन्द्र की मध्यम स्थिति है।

फिर, वह चन्द्र की मध्यम स्थिति के अंशो को १२ पर भाग देता है। भागफल दिनों को दिखलाता है। भाजन के अवशेष को वह ६० से गुणा करता है और उसमें चन्द्र के मध्यम स्थान की कलाएँ जोड़ता है। योगफल को वह १२ पर भाग देता है, और भागफल घटियों और काल के क्षुद्रतर अंशो को दिखलाता है। इस प्रकार हमें २७,२३,२६ अर्थात अधिमास दिन; प्राप्त होते हैं। निस्सन्देह यह संख्या उस अधिमास के अतीत अंश को प्रकट करती है जो इस समय बन रहा है।

जिस ढंग से अधिमास का मान मालूम किया जाता है उसके विषय में ग्रन्थकार आगे लिखी टिप्पणी करता है—

वह उस चान्द्र संख्या को जिसका उल्लेख हमने किया है, अर्थात १३२°४६'३४"को १२ पर भाग देता है। इससे वह वर्षांश के रूप में ११° ३' ५२ ५०" और मासांश के रूप में ०,५५'१६" २४"१० प्राप्त करता है। शेषोक्त मासांश के द्वारा वह उस काल की संस्थिति का परिसंख्यान करता है जिसमें ३० दिन, दो वर्ष ८ मास, १६ दिन ४ घटी, ४५ चषक हो जाते हैं। तब वह

आधार को २९ से गुणा करता है जिससे गुणनफल ३८२८ प्राप्त होता है। वह उसमें २० बढ़ा देता है और योगफल को ३६ पर भाग देता है। भागफल १०६$\frac{८}{९}$ ऊनरात्र दिनों को दिखलाता है।

परन्तु क्योंकि मैं इस रीति का कोई उचित समाधान नहीं मालूम कर सका, इसलिए मैं इसे जैसी पाता हूँ वैसी ही ज्यों की त्यों दे देता हूँ, परन्तु मैं इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि ऊनरात्र दिनों की वह संख्या जो एक अकेले अधिमास के अनुरूप १५ $\frac{७८८७}{१०६२२}$ है।

चौवनवाँ परिच्छेद

नक्षत्रों के मध्यम स्थानों की गिनती

मध्यम स्थान का निश्चय करने की रीति

यदि हमें एक कल्प या चतुर्युग में नक्षत्रों के चक्रों की संख्या ज्ञात हो, और फिर हमें मालूम हो कि काल के विशेष क्षण तक कितने चक्र व्यतीत हो चुके हैं, तो हम यह भी जानते हैं कि कल्प या चतुर्युग के दिनों के सारे योगफल का चक्रों के सम्पूर्ण योगफल से वही सम्बन्ध है जो कल्प या चतुर्युग के अतीत दिनों का नाक्षत्रिक चक्रों की अनुरूप संख्या से है। सबसे अधिक प्रचलित रीति यह है—

कल्प या चतुर्युग के अतीत दिनों को नक्षत्र के, या इसके उच्च स्थान के, या इसके पात के उन चक्रों से गुणा किया जाता है जो यह एक कल्प या चतुर्युग में पूरे करता है। यदि आप कल्प से गिनती करते हैं तो गुणनफल को कल्प के दिनों के सम्पूर्ण योगफल पर, और यदि आप चतुर्युग से गिनती करते हैं तो उसके दिनों के योगफल पर भाग दिया जाता है। भागफल पूर्ण काल चक्रों को दिखलाता है। परन्तु इनका प्रयोजन न होने के कारण इनको छोड़ दिया जाता है। भाग देने से जो अवशेष प्राप्त होता है उसको १२ से गुणा किया जाता है और गुणनफल को कल्प या चतुर्युग के दिनों के सम्पूर्ण योगफल पर, जिस पर कि हम पहले एक बार भाग दे चुके हैं, भाग दिया जाता है। भागफल क्रान्तिमण्डल की राशियों को दिखलाता है। इस विभाजन के अवशेष को ३० से गुणा किया जाता है और गुणनफल को उसी भाजक पर भाग दिया जाता है। भागफल अंशों को दिखलाता है। इस विभाजन के अवशेष को ६० से गुणा किया जाता है, और उसी भाजक पर भाग दिया जाता है। लब्धि कलाओं को दिखलाती है।

यदि हम विपल और सूक्ष्मतर मूल्य मालूम करना चाहते हैं तो इस प्रकार के परिसंख्यान को आगे जारी रखा जा सकता है। भागफल उस नक्षत्र के स्थान को उसकी मध्यम गति के अनुसार, या उस उच्च स्थान या उस पात के स्थान को दिखलाता है जिसको हम मालूम करना चाहते थे।

पुलिस ने भी इसी का उल्लेख किया है, परन्तु उसकी रीति; जैसा कि आगे लिखा जाता है, भिन्न है—काल के नियत क्षण तक व्यतीत हुए पूर्ण कालचक्रों को मालूम करने के पश्चात्, वह

अवशेष को १३१,४९३,१५० पर भाग देता है। भागफल क्रान्तिमण्डल की मध्यम राशियों को दिखलाता है।

'अवशेष को ४,३८३,१०५ पर भाग दिया जाता है। लब्धि अंशों को दिखलाती है। अवशेष के चौगुने को २९२,२०७ पर भाग दिया जाता है। भागफल कलाओं को प्रकट करता है। अवशेष को ६० से गुणा किया जाता है और गुणफल को शेषोक्त भाजक पर भाग दिया जाता है। लब्धि विपलों को दिखलाती है।

"इस गणना को आगे जारी रक्खा जा सकता है जिससे तृतीयांश, चतुर्थांश; और क्षुद्र मूल्य प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार मालूम किया हुआ भागफल उस नक्षत्र का मध्यम स्थान है जिसको हम मालूम करना चाहते हैं।"

सत्य तो यह है कि पुलिस कालचक्रों के अवशेष को १२ से गुणा करने और गुणनफल को चतुर्युग के दिनों पर भाग देने पर विवश था क्योंकि उसका सारा परिसंख्यान चतुर्युग पर अवलम्बित है परन्तु ऐसा करने के स्थान में, उसने उस भागफल पर भाग दिया जो आपको उस दशा में प्राप्त होता है यदि आप चतुर्युग के दिनों की संख्या को १२ पर भाग देते हैं। यह भागफल वह प्रथम संख्या है जिसका वह उल्लेख करता है, अर्थात १३१,४९३,१५० फिर वह क्रान्तिमण्डल की राशियों के अवशेष को ३० से गुणा करने, और गुणनफल को प्रथम भाजक से भाग देने पर विवश था; परन्तु ऐसा करने के स्थान में, उसने उस लब्धि पर भाग दिया जो आपको उस दशा में प्राप्त होगी यदि आप प्रथम संख्या को ३० पर भाग देंगे। यह भागफल दूसरी संख्या अर्थात ४,३८३, १०५ है।

उसी उपमा के अनुसार, वह अंशों के अवशेष को उस लब्धि पर भाग देना चाहता था जो आपको उस दशा में प्राप्त होगी। यदि आप दूसरी संख्या को ६० पर भाग देंगे। परन्तु, यह भाग देकर उसने भागफल के रूप में ७३,०५१ और अवशेष ¾ प्राप्त किया। इसलिए उसने सारे को ४ गुणा किया, ताकि अपूर्णांकों के पूर्णांक बन जायँ। इसी कारण वह अगले अवशेष को ४ से गुणा करता है; परन्तु, जैसा कि दिखलाया जा चुका है, जब उसे पूर्णांक प्राप्त न हुए, तब उसने फिर ६० से गुणा कर दिया। यदि हम ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्तानुसार इस रीति का प्रयोग कल्प पर करें, तो प्रथम संख्या, जिस पर कालचक्रों के अवशेष को भाग दिया जाता है; १३१,४९३,०३७,५०० होती है। दूसरी संख्या, जिस पर क्रान्तिमण्डल की राशियों के अवशेष को भाग दिया जाता है, ४,३८३, १०१,२५० है। तीसरा संख्या, जिस पर अंशों के अवशेष को भाग दिया जाता है, ७३,०५१,६८७ है। जो अवशेष इस भाग देने से हमें प्राप्त होता है उसमें ½ का अपूर्णांक है। इसलिए हम इस संख्या का दुगना, अर्थात १४६,१०३,३७५ लेते हैं और इस पर कलाओं के अवशेष के दुगने को भाग देते हैं।

अल्पतर संख्याएँ प्राप्त करने के लिए ब्रह्मगुप्त की रीति

परन्तु ब्रह्मगुप्त कल्प और चतुर्युग के द्वारा गिनती नहीं करता, क्योंकि उनके दिनों की संख्याएँ बहुत बड़ी हैं, किन्तु गिनती में सुभीते के लिए वह कलियुग से गिनना उनसे अच्छा समझता है। कलियुग की निश्चित तिथि पर अहर्गण की पूर्ववर्ती रीति का प्रयोन करते हुए, हम इसके दिनों की संख्या को कल्प के नक्षत्र-चक्रों से गुणा करते हैं। गुणनफल में हम आधार अर्थात बाकी के वे कालचक्र बढ़ा देते हैं जो कलियुग के आरम्भ में उस नक्षत्र के थे। हम योगफल को कलियुग के

नागरिक दिनों पर, अर्थात १५७,७९१,६४५ पर भाग देते हैं। भागफल नक्षत्र के उन अपूर्ण चक्रों को दिखलाता है जो छोड़ दिये जाते हैं।

शेष का परिसंख्यान हम उपर्युक्त रीति से करते हैं, और उससे हमें नक्षत्र की मध्य स्थिति मालूम हो जाती है।

एकहरे नक्षत्रों के लिए अन्न-निर्दिष्ट आधार ये हैं—

मङ्गल के लिए, ४,३०८,७६८,०००

बुध के लिए, ४२८८,८६६,०००

बृहस्पति के लिए, ४, ३१३,५२०,०००

शुक्र के लिए, ४,३०४,४४८,०००

शनि के लिए, ४,३०५,३१२,०००

सूर्य के स्थान के लिए, ६३३,१२०,०००

चान्द्र के उच्च स्थान के लिए, १.२०५,६५२,०००

राहु के लिए,१,८३८,५६२,०००

उसी क्षण, अर्थात कलियुग के आरम्भ में, सूर्य और चन्द्र अपनी मध्यम गति के अनुसार मेषराशि के ०° में थे, और अधिमास का या ऊनरात्र दिनों का बना न कोई योग था और न कोई ऋण।

खण्डखाद्यक करणतिलक और करणसार की रीतियाँ

उपर्युक्त पञ्चाङ्गों में हम आगे लिखी रीति पाते हैं—अहर्गण को, अर्थात तिथि के दिनों के योगफल को, प्रत्येक नक्षत्र के लिए यथाक्रमेण, एक निश्चित संख्या से गुणा किया जाता है, और गुणन-फल को दूसरी संख्या पर भाग दिया जाता है। भागफल, मध्यम गति के अनुसार, पूर्ण चक्रों और चक्रों के अपूर्णांकों को दिखलाता है। कभी-कभी केवल इसी गुणन और विभाजन से परिसंख्यान पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी पूर्ण फल प्राप्त करने के लिए, आप तिथि के दिनों को, या तो ज्यों के त्यों, या किसी दूसरी संख्या से गुणित होकर, एक बार फिर एक निर्दिष्ट संख्या पर भाग देने पर विवश होते हैं। तब भागफल को पहले स्थान में प्राप्त किये फल के साथ अवश्य जोड़ देना चाहिए। कभी-कभी, नियत संख्याओं को, उदाहरणार्थ, आधार के रूप में, ग्रहण किया जाता है, जिनका इस प्रयोजन के लिए जोड़ना या घटाना आवश्यक होता है, ताकि संवत के आरम्भ के समय मध्यम गति मेष राशि के ०° के साथ आरम्भ होती गिनी जाय। यह खण्डखाद्यक और करणतिलक नामक पुस्कों की रीति है। परन्तु करणसार का रचयिता महाविषुव के लिए नक्षत्रों के मध्यम स्थानों का परिसंख्यान करता है, और इसी घड़ी से अहर्गण को गिनता है। परन्तु ये रीतियाँ बड़ी सूक्ष्म हैं, और वे इतनी बहुसंख्यक है कि उनमें से कोई एक भी विशेष रूप से प्रामाण्य नहीं हो पाई। इसलिए हम उनको यहाँ देने से बचते हैं, क्योंकि इसमें समय बहुत लगेगा और लाभ कुछ भी न होगा।

नक्षत्रों के मध्यम स्थानों के परिसंख्यान और ऐसी ही गणनाओं की दूसरी रीतियों का प्रस्तुत पुस्तक के विषय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

पचपनवाँ परिच्छेद

नक्षत्रों के क्रम उनकी दूरियाँ और परिणाम

सूर्य के चन्द्रमा के नीचे होने पर परम्परागत मत

लोकों का वर्णन करते समय, हम विष्णुपुराण से और पंतजलि के भाष्य से एक अवतरण दे चुके हैं, जिसके अनुसार सूर्य का स्थान नक्षत्रों के क्रम में चन्द्र के स्थान के नीचे है। यह हिन्दुओं का परम्परागत मत है। मत्स्यपुराण के आगे लिखे वचन की विशेष रूप से तुलना कीजिए—

"पृथ्वी से आकाश का अन्तर पृथ्वी के व्यासार्ध के बराबर है। सूर्य सब नक्षत्रों से नीचे है। उसके ऊपर चन्द्रमा है, और चन्द्रमा के ऊपर चान्द्र स्थान (राशियाँ) और उनकी तारिकाएँ हैं। उनके ऊपर बुध है; फिर आगे शुक्र, मंगल, बृहस्पति; शनि, सप्तर्षि, और उनके ऊपर ध्रुव है। ध्रुव आकाश से सम्बद्ध है। मनुष्य तारकाओं की गिनती नहीं कर सकता। जो लोग इस मत का खंडन करते हैं वे यह मानते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार ग्रहयुति के समय चन्द्रमा को सूर्य छिपा लेता है और जितना वह सूर्य से अधिक दूर हटता है उतना ही अधिक वह दृश्य होता जाता है।"

अब हम सूर्य, चन्द्र, और तारकाओं के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय की पुस्तकों से कुछ अवतरण देते हैं और हम इसके साथ ज्योतिषियों के मतों को जोड़ देंगे, यद्यपि इन मतों का हमें बहुत ही निर्बल सा ज्ञान है।

वायुपुराण के अवतरण

वायुपुराण कहता है—"सूर्य का आकार वर्तुल और प्रकृति अग्निमय है। उसकी १००० किरणें हैं जिनके द्वारा वह जल को आकर्षित करता है। इनमें से ४०० वर्षा के लिए, ३०० हिम के लिए; और ३०० वायु के लिए हैं।"

एक दूसरे वचन में वह पुस्तक कहती है—"उन (किरणों) में से कुछ का प्रयोजन यह है कि देवगण परमानन्द में रहें, दूसरी इस प्रयोजन के लिए हैं कि मनुष्य सुख से रहे, और तीसरी पितरों के लिए नियत हैं।"

एक दूसरे वचन में वायुपुराण के रचयिता सूर्य की किरणों को वर्ष की छः ऋतुओं पर बाँटता है और कहता है—"सूर्य पृथ्वी को वर्ष के उस तृतीयांश में ३०० किरणों से प्रकाशित करता है जो मीन राशि के ० से आरम्भ होता है, वह उसके अगले तृतीयांश में ४०० किरणों से वर्षा करता है, और वह अवशिष्ट तृतीय में ३०० किरणों से शीत और हिम उत्पन्न करता है।"

उसी पुस्तक का एक दूसरा वचन इस प्रकार है—"सूर्य की किरणें और वायु समुद्र से पानी उठाकर सूर्य में ले जाती हैं। अब, यदि सूर्य से पानी गिरता तो यह उष्ण होता। इसलिए सूर्य पानी को चांद के सुपुर्द कर देता है, ताकि यह ठंडा होकर चांद से गिरे, और इस प्रकार संसार में नवजीवन का संचार करें।"

एक और वचन—"सूर्य का ताप और उसका प्रकाश अग्नि के ताप और प्रकाश का चतुर्थांश है। उत्तर में, सूर्य रात्रि के समय जल में गिर पड़ता है, इसलिए वह लाल हो जाता है।"

एक और वचन—"आदि में पृथ्वी, जल, वायु, और आकाश था। तब ब्रह्मा ने पृथ्वी के नीचे चिनगारियाँ देखीं। उसने उनको लाकर तीन भागों में विभक्त किया। उनका तृतीयांश साधारण अग्नि है, जिसको लकड़ी का प्रयोजन होता है और जो पानी से बुझ जाती है। दूसरा तृतीयांश सूर्य है, और अन्तिम तृतीयांश बिजली है। जन्तुओं में भी आग है जो पानी से नहीं बुझ सकती। सूर्य जल को आकर्षित करता है, बिजली वर्षा में चमकती है, परन्तु जन्तुओं के भीतर की अग्नि उन आर्द्र पदार्थों में बँटी हुई है जिनसे वे पालन-पोषण करते हैं।

हिन्दुओं का ऐसा विश्वास जान पड़ता है कि आकाशस्थ पिण्ड भाप से अपना पालन-पोषण करते हैं। इसको अरस्तू भी कुछ लोगों का सिद्धान्त बताता है। इस प्रकार वायुपुराण का रचयिता व्याख्या करता है कि "सूर्य, चन्द्रमा और तारकाओं का पोषण करता है। यदि सूर्य न होता, तो न कोई तारका होती, न कोई देवदूत होता और न कोई मनुष्य होता।

तारकाओं के स्वरूप

सभी तारकाओं के पिण्डों के विषय में हिन्दुओं का विश्वास है कि उनका आकार वर्तुल और तत्व जलमय है, और वे चमकते नहीं, ऊपर सूर्य अग्निमय तत्व का है; स्वतः प्रकाशमान है, और केवल उस दशा में जब दूसरे तारे उसके सामने होते हैं वह उनको प्रकाशित करता है। वे, चक्षु की दृष्टि के अनुसार, तारकाओं में ऐसे तेजोमय पिण्डों को भी गिनते हैं जो वास्तव में तारकाएँ नहीं, परन्तु ऐसे प्रकाश हैं जिनमें उन मनुष्यों का रूपान्तर हो गया है जिनको ईश्वर से शाश्वत पुरस्कार मिला है, और जो बिल्लौरी सिंहासनों पर आकाश की ऊँचाई में रहते हैं।

विष्णुधर्म से अवतरण

विष्णुधर्म कहता है—तारकाएँ अग्निमय हैं और सूर्य की रश्मियाँ रात्रि के समय उन्हें प्रकाशित करती हैं। जिन लोगों ने अपने पुण्य कर्मों से उस ऊँचाई में स्थान प्राप्त किया है वे वहाँ अपने सिंहासनों पर बैठते हैं, और, जब वे चमक रहे होते हैं तब वे तारकाओं में गिने जाते हैं।

सब नक्षत्र 'तारा' कहलाते हैं। यह शब्द 'तरण' अर्थात पार उतरना से व्युत्पन्न हुआ है। भाव यह है कि वे महात्मा इस पामर जगत से पार उतर गये हैं और अपवर्ग को प्राप्त हुए हैं, और तारकाएँ वर्तुलाकार गति से आकाश में से लाँघती हैं। नक्षत्र शब्द केवल चान्द्र स्थानों के तारों के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु ये सब स्थिर तारे कहलाते हैं, इसलिए नक्षत्र शब्द का प्रयोग सभी स्थिर तारों के लिए भी होता है; क्योंकि इनका अर्थ है न बढ़ना हुआ और न घटना हुआ। मैं अपने तौर पर तो यह समझता हूँ कि इस बढ़ने और घटने का संकेत उनकी संख्या और एक के दूसरे से अन्तरों की ओर है, परन्तु गेयोक्त पुस्तक (विष्णुधर्म) का रचयिता इसको उनके प्रकाश के साथ जोड़ता है। क्योंकि वह कहता है कि "ज्यों-ज्यों चन्द्रमा बढ़ता और घटता है।"

फिर, उसी पुस्तक में एक वचन है जिसमें मार्कण्डेय कहता है—"जो तारे कल्प की समाप्ति के पूर्व नष्ट नहीं हो जाते वे एक निखर्व अर्थात १००,०००,०००,००० के बराबर हैं। जो तारे

कल्प की समाप्ति के पहले ही गिर पड़ते हैं उनकी संख्या अज्ञात है। इसे केवल वही जान सकता है जो कल्प भर ऊँचाई में रहता है।

वज्र बोला—हे मार्कण्डेय तू छः कल्प जीता रहा है। यह तेरा सातवाँ कल्प है। इसलिए तू उनको क्यों नहीं जानता?

उसने उत्तर दिया—"यदि वे एक ही अवस्था में रहते अर्थात जब तक उनका अस्तित्व है तब तक वे न बदलते, तो मैं उनसे अनभिज्ञ न होता। परन्तु वे सतत रूप से किसी एक धर्मात्मा पुरुष को ऊपर उठाते और दूसरे को नीचे पृथ्वी पर लाते हैं। इसलिए मैं उनको अपनी स्मृति में नहीं रखता।"

लोकों के व्यास

सूर्य और चन्द्र और उनकी छायाओं के प्रतिबिम्बों के विषय में मत्स्यपुराण कहता है—"सूर्य के पिण्ड का व्यास ९००० योजन है; चन्द्रमा का व्यास इससे दुगना है, और उच्च-स्थान इतना है जितने कि ये दोनों मिलकर होते हैं"।

वायुपुराण में भी यही बात है, सिवाय इसके कि उच्च स्थान के विषय में यह पुराण कहता है कि जब यह सूर्य के साथ होता है तब यह सूर्य के बराबर होता है, और जब यह चन्द्रमा के साथ होता है तब यह चन्द्रमा के बराबर होता है।

एक दूसरा ग्रन्थकार कहता है—"उच्चस्थान ५०,००० योजन है।"

लोकों के व्यासों के विषय में मत्स्यपुराण कहता है—"शुक्र की परिधि चन्द्र की परिधि का सोलहवाँ भाग है, बृहस्पति की परिधि शुक्र की परिधि की तीन-चौथाई; शनि या मङ्गल की परिधि बृहस्पति की तीन-चौथाई, और बुध की मङ्गल की परिधि की तीन-चौथाई है।"

यही कथन वायुपुराण में भी मिलती है।

स्थिर तारकाओं की परिधि

वही दोनों पुस्तकें बड़े-बड़े स्थिर तारों की परिधि बुध की परिधि के समान ठहराती हैं। इससे अगली छोटी श्रेणी की परिधि ५०० योजन, और अगली श्रेणियों की ४००, ३०० और २०० हैं। परन्तु १५० योजन से कम परिधिवाला कोई भी स्थिर तारा नहीं है।

यह तो हुआ वायुपुराण का कथन। परन्तु मत्स्यपुराण कहता है—"अगली श्रेणियों की परिधियाँ ४००, ३००, २००, और १०० योजन हैं। परन्तु आधे योजन से कम परिधिवाला कोई स्थिर तारा नहीं है।"

परन्तु शेषोक्त कथन मुझे सन्दिग्ध देख पड़ता है, और कदाचित् हस्तलेख में दोष है।

विष्णुधर्म का रचयीता, मार्कंडेय के शब्द सुनाता हुआ, कहता है—"अभिजित, गिरता हुआ गरुड़; आर्द्रा; रोहिणी या अलदबरान; पुनर्वसु, यमजों के दो सिर; पुष्य; खेती, अगस्त्य, सप्तर्षि, वायु का स्वामी, अहिर्बुध्न्य का स्वामी, और वसिष्ठ का स्वामी, इनमें से प्रत्येक तारे की परिधि पाँच योजन है। शेष सब तारकाओं में से प्रत्येक की परिधि केवल चार योजन है। मुझे उन तारों का ज्ञान नहीं जिनका अन्तर अपरिमेय है। उनकी परिधि चार योजन और दो कुरोह अर्थात दो मीलों के बीच है। जिनकी परिधि दो कुरोह से कम है उनको केवल देव ही देखते हैं मनुष्य नहीं।"

तारकाओं के आयतन के विषय में हिन्दुओं का आगे लिखा सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त किसी प्रामाण्य पुस्तक या व्यक्ति का है, इसका पता नहीं चलता; "सूर्य और चन्द्रमा के व्यासों में से प्रत्येक ६७ योजन हैं; उच्च स्थान का व्यास १००, शुक्र का १०, बृहस्पति का ९, शनि का ८, मङ्गल का ७, बुध का ७ है।"

इन विषयों के सम्बन्ध में हिन्दुओं के गड़बड़ मतों का हम केवल इतना ही ज्ञान प्राप्त कर सके हैं। अब हम हिन्दू ज्योतिषियों के मतों को लेते हैं जिनके साथ तारकाओं के क्रम तथा अन्य बातों में हम सहमत हैं; अर्थात् सूर्य लोकों का मध्य है, शनि और चन्द्रमा उनके दो सिरे हैं, और स्थिर तारे लोकों के ऊपर हैं। इनमें से कुछ बातों का उल्लेख पूर्ववर्ती परिच्छेदों में पहले ही हो चुका है।

वराहमिहिर-संहिता से अवतरण

वराहमिहिर संहिता नामक पुस्तक में कहता है—"चन्द्रमा सदा सूर्य के नीचे होता है। सूर्य उस पर रश्मियाँ डालता है और उसके आधे पिण्ड को आलोकित करता है, उसका दूसरा अर्द्ध-भाग, धूप में रक्खी हुई बटलोही के सदृश, अन्धकार और छाया से ढँका रहता है। जो अर्धभाग सूर्य के सामने होता है वह प्रकाशमान, और जो अर्धभाग उसके सामने नहीं होता वह अन्धकारावृत रहता है। चन्द्रमा अपने तत्त्व में जलमय है, इसलिए उस पर जो किरणें पड़ती हैं वे इस प्रकार-प्रतिबिम्बित होती हैं मानों जल और दर्पण से दीवार की ओर प्रतिबिम्बित हो रही हों। यदि चन्द्रमा की सूर्य के साथ युति (अमावास्या) हो, तो उसका शुक्ल भाग सूर्य की ओर और कृष्ण भाग हमारी ओर होता है। तब ज्यों ज्यों सूर्य चन्द्रमा से दूर होता जाता है, शुक्ल भाग धीरे-धीरे हमारी ओर नीचे डूबता जाता है।"

हिन्दू धर्म-पण्डितों में से, और इससे भी अधिक उनके ज्योतिषियों में से प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का वास्तव में यह विश्वास है कि चन्द्रमा सूर्य के ही नहीं, वरन् सभी लोकों के नीचे है।

तारकाओं के अन्तरों पर इब्नतारिक की सम्मति

तारकाओं के अन्तरों के विषय में हमारे पास केवल वही ऐतिह्य हैं जिनका उल्लेख याक़ूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक "मण्डलों की रचना" में किया है। उसने अपनी यह जानकारी उस सुविख्यात हिन्दू विद्वान से प्राप्त की थी जो सन् १६१ हिजरी में एक दूतसमूह के साथ बगदाद आया था। पहले वह एक माप-सम्बन्धी आवेदन देता है—"एक उँगली एक दूसरे के पार्श्व में रक्खे हुए जौ के छः दानों के बराबर है। एक बाँह (गज) चौबीस उँगलियों के बराबर है। एक फर्सख १६, ००० गजों के बराबर है।"

यहाँ हमें यह जानना चाहिए कि हिन्दू नहीं जानते कि फर्सख, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, आधे योजन के बराबर है।

फिर याक़ूब कहता है, 'पृथ्वी का व्यास २१०० फर्सख, इसकी परिधि ६५९६ ९/२५ फर्सख है।'

परन्तु, पृथ्वी के व्यास के विषय में इस कथन के साथ सामान्यतः सभी हिन्दू सहमत नहीं। इस प्रकार, उदाहरणार्थ पुलिस इसका व्यास १६०० योजन, और इसकी परिधि ५०२६ १/५ योजन गिनता है, परन्तु ब्रह्मगुप्त व्यास को १५८१ योजन और परिधि को ५००० योजन गिनता है।

यदि हम इन संख्याओं को दुगना करें तो वे याक़ूब की संख्याओं के बराबर होनी चाहिएँ, परन्तु ऐसा नहीं होता। अब गज और मील, हिन्दुओं के और हमारे, दोनों के, माप के अनुसार, यथाक्रम अभिन्न हैं। हमारे परिसंख्यान के अनुसार पृथ्वी का व्यासार्ध ३१८४ मील है। अपने देश की रीति के अनुसार १ फर्सख=३ मील गिनते हुए, हमें ६७२८ फर्सख प्राप्त होते हैं; और याक़ूब के उल्लेखानुसार, १ फर्सख=१६००० गज गिनते हुए, हमें ५०४६ फर्सख प्राप्त होते हैं। १ योजन-=३२,००० गज गिनकर, हमें २५२३ योजन प्राप्त होते हैं।

ग्रहों के अन्तरों पर टोलमी

यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त से भिन्न है जिसको टोलमी ने किताब-अलमंसूरात नामक पुस्तक में ग्रहों के अन्तरों के परिसंख्यान का आधार बनाया है, और जिसमें प्राचीन और वर्तमान दोनों ज्योतिषियों ने उसका अनुकरण किया है। उनका यह सिद्धान्त है कि ग्रह का महत्तम अन्तर अगले उच्चतर ग्रह से उसके लघुतम अन्तर के बराबर है, और दो गोलों के बीच कोई ऐसा शून्य देश नहीं जो चेष्टा से रहित हो।

इस सिद्धान्त के अनुसार, दो गोलों के बीच एक शून्य देश ऐसा है जिसमें धुरे के समान कोई वस्तु है जिसके गिर्द कि भ्रमण होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ईथर में कुछ गुरुता मानते थे, जिसके कारण उनको किसी ऐसी वस्तु के ग्रहण करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो भीतरी गोले (ग्रह) को बाहरी गोले (ईथर) के मध्य में रखती या थामती है।

समागम और स्थान भेदांश

सभी ज्योतिषियों में यह बात भली भाँति प्रसिद्ध है कि दो ग्रहों में से उच्चतर और निम्नतर ग्रह को, समागम या लम्बन की वृद्धि के सिवा, पहचानने की कोई सम्भावना नहीं। परन्तु, समागम केवल बहुत ही क्वचित होता है, और केवल एक ही ग्रह का, अर्थात चन्द्रमा का, लम्बन ही देखा जा सकता है। अब हिन्दुओं का यह विश्वास है कि गतियाँ समान हैं, परन्तु अन्तर भिन्न-भिन्न हैं। उच्चतर ग्रह के निम्नतर ग्रह की अपेक्षा मन्द गति से चलने का कारण उसके मण्डल (ग्रहपथ) का अधिक विस्तार है; और निम्नतर ग्रह के अधिक तीव्र गति से घूमने का कारण यह है कि इसका मण्डल या ग्रहपथ कम विस्तृत होता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, शनि के मण्डल में एक कला चन्द्रमा के मण्डल में २६२ कलाओं के बराबर है। इसलिए वे समय जिनमें शनि और चन्द्रमा उसी शून्य देश को पार करते हैं भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उनकी गतियाँ बराबर हैं।

मुझे इस विषय पर कभी कोई हिन्दू पुस्तक नहीं मिली, परन्तु इससे सम्बन्ध रखनेवाली केवल संख्याएँ ही विविध पुस्तकों में बिखरी हुई मिली हैं—ये संख्याएँ भ्रष्ट हैं। किसी व्यक्ति ने पुलिस पर आपत्ति की कि उसने प्रत्येक ग्रह के मण्डल की परिधि २१,६०० और व्यासार्ध ३४३८ गिना है, परन्तु वराहमिहिर पृथ्वी से सूर्य का अन्तर २,५९८,९०० और स्थिर तारकाओं का अन्तर ३२१,३६२,६८३ गिनता है। इस पर पुलिस ने उत्तर दिया कि पूर्वोक्त संख्याएँ कला और शेषोक्त योजन थीं; परन्तु एक और वचन में वह कहता है कि पृथ्वी से स्थिर तारकाओं का अन्तर सूर्य के अन्तर की अपेक्षा साठ गुना अधिक है। तदनुसार उसे स्थिर तारकाओं का अन्तर १५५,९३४,००० गिनना चाहिए था।

ग्रहों के अन्तरों के परिसंख्यान की हिन्दू विधि

ग्रहों के अन्तरों के परिसंख्यान की हिन्दू विधि, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है, एक ऐसे सिद्धान्त पर अवलम्बित है जो मेरे ज्ञान की वर्तमान दशा में, और जब तक मुझे हिन्दुओं की पुस्तकों का अनुवाद करने का कोई सुभीता नहीं, मुझको ज्ञात नहीं। सिद्धान्त यह है कि चन्द्रमा के पथ में एक कला का विस्तार पन्द्रह योजन के बराबर है। बलभद्र ने चाहे जितना भी यत्न किया है परन्तु उसकी टीकाओं से इसे सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। क्योंकि वह कहता है—"लोगों ने दिङ्मण्डल में से चन्द्रमा के लांघने का समय, अर्थात उसके पिण्ड के प्रथम भाग के चमकने और सारे के उदय होने के बीच का समय, या उसके अस्त होना आरम्भ होने और अस्त होने की क्रिया की पूर्ति के बीच का समय अवलोकन द्वारा स्थिर करने का यत्न किया है। लोगों ने मालूम किया है कि यह क्रिया मण्डल की परिधि की बत्तीस कला तक रहती है।" परन्तु, यदि अवलोकन द्वारा अंशों का स्थिर करना कठिन है, तो कलाओं का स्थिर करना तो उससे भी कहीं अधिक कठिन है।

फिर, हिन्दुओं ने चन्द्रमा के व्यास के योजनों को अवलोकन द्वारा निश्चित करने का यत्न किया है, और उन्हें ४८० पाया है। यदि आप उन्हें उसके पिण्ड की कलाओं पर भाग दें, तो, एक कला के अनुरूप के तौर पर, भागफल १५ योजन होता है। यदि आप इसे परिधि की कलाओं से गुणा करें, गुणनफल ३२४,००० होता है। यह चन्द्रमा के मण्डल का वह माप है जो वह प्रत्येक परिभ्रमण में पार करता है। यदि आप इस संख्या को एक कल्प या चतुर्युग में चन्द्रमा के चक्रों से गुणा करें, तो गुणनफल वह अन्तर है जो चन्द्रमा उनमें से एक में तय करता है। ब्रह्मगुप्त के मतानुसार, एक कल्प में यह १८,७१२,०६९,२००,०००,००० योजन है। ब्रह्मगुप्त इस संख्या को क्रान्तिमण्डल के योजन कहता है।

यह बात स्पष्ट है कि यदि आप इस संख्या को एक कल्प में प्रत्येक ग्रह के चक्रों पर भाग देंगे, तो भागफल एक परिभ्रमण के योजनों को प्रकट करेगा। परन्तु, हिन्दुओं के मतानुसार, जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, ग्रहों की गति प्रत्येक अन्तर में एक सी है। इसलिए भागफल प्रस्तुत ग्रह के मण्डल के पथ के माप को प्रकट करता है।

क्योंकि आगे, ब्रह्मगुप्त के मतानुसार, व्यास का परिधि के साथ सम्बन्ध लगभग १२,९५९ अनुपाते ४०,९८० के बराबर है, आप ग्रह के मण्डल के पथ के मान को १२,९५९ से गुणा करते और गुणनफल को ८१,९६० पर भाग देते हैं। भागफल त्रिज्या, या पृथ्वी के मध्य से ग्रह का अन्तर है।

हमने यह परिसंख्यान, ब्रह्मगुप्त के सिद्धांतानुसार सभी ग्रहों के लिए किया है।

पुलिस के सिद्धान्तानुसार परिसंख्यान

क्योंकि पुलिस कल्पों से नहीं वरन चतुर्युगों से गिनती करता है, इसलिए वह चन्द्रमा के मंडल के पथ के अन्तर को चतुर्युग के चान्द्र चक्रों से गुणा करता है, और गुणनफल १८,७११, १८०,८६४,००० योजन प्राप्त करता है, जिनको वह आकाश के योजन कहता है। यह वह अन्तर है जो चन्द्रमा प्रत्येक चतुर्युग में चलता है।

पुलिस व्यास का परिधि के साथ सम्बन्ध १२५० : ३९२७ गिनता है। अब, यदि आप प्रत्येक ग्रह के मंडल की परिधि को ६२५ से गुणा करें और गुणनफल को ३९२७ पर भाग दें, तो

भागफल पृथ्वी के मध्य से ग्रह का अन्तर है। हमने पिछले जैसा ही परिसंख्यान पुलिस के मतानुसार किया है, और उसके परिणाम अगली पंक्तियों में उपस्थित करते हैं। त्रिज्याओं के परिसंख्यान में हमने ½ में छोटे अपूर्णाङ्कों को छोड़ दिया है और उससे बड़े अपूर्णांकों के पूर्णांक बना लिये हैं। परन्तु परिधियों की गणना में हमने उसी स्वच्छन्दता का उपयोग नहीं किया; वरन नितान्त यथार्थता के साथ गिनती की है, क्योंकि परिभ्रमणों के परिसंख्यानों में उनकी आवश्यकता है। यदि आप एक कल्प या एक चतुर्युग में आकाश के योजनों के कल्प या चतुर्युग के नागरिक दिनों पर भाग दें, तो आपको भागफल ११;८५८ योग एक अवशेष प्राप्त होता है, जो ब्रह्मगुप्त के अनुसार $\frac{२५,४९८}{३५,४१९}$ और पुलिस के अनुसार $\frac{२०६,५५४}{२९२,२०७}$ है। यह वह अन्तर है जिसे चन्द्रमा प्रति दिन तय करता है, और क्योंकि सभी ग्रहों की गति एक ही है, इसलिए यह वह अन्तर है जो प्रत्येक ग्रह एक दिन में तय करता है। इसका इसके मंडल की परिधि के योजनों के साथ वही सम्बन्ध है जो इसकी गति का जिसे हम मालूम करना चाहते हैं, परिधि के साथ है, जबकि परिधि ३६० के बराबर भागों में बँटी हुई है। इसलिए यदि आप सभी ग्रहों के साझे के पथ को ३६० से गुणा करें और गुणनफल को प्रस्तुत ग्रह की परिधि के योजनों पर भाग दें तो भागफल इसकी मध्यम दैनिक गति को दिखलाता है।

ग्रहों के व्यास

अब, चन्द्रमा के व्यास की कलाओं का उसकी परिधि की कलाओं अर्थात २१,६०० से वही सम्बन्ध है जो व्यास के योजनों की संख्या, अर्थात ४८०, का सारे मंडल की परिधि के योजनों से है, इसलिए सूर्य के व्यास की कलाओं के लिए, जिनको हमने ब्रह्मगुप्त के अनुसार ६,५२२ योजनों के बराबर, और पुलिस के अनुसार ६४८० के बराबर पाया है, गणना की ठीक उसी विधि का प्रयोग किया गया है। क्योंकि पुलिस चन्द्रमा के पिंड को कलाओं की गिनती ३२, अर्थात २ का गुणा करता है, इसलिए वह ग्रहों के पिंडों की कला प्राप्त करने के लिए इस संख्या को २ पर भाग देता है। इस प्रकार वह शुक्र के पिंड के साथ ३२ कलाओं का आधा अर्थात १६, बृहस्पति के पिंड के साथ ३२ कलाओं का ¼ अर्थात ८, बुध के पिंड के साथ ३२ कलाओं का ⅛ अर्थात ४, शनि के पिंड के साथ ३२ कलाओं का $\frac{१}{१६}$ अर्थात २, मंगल के पिंड के साथ ३२ कलाओं का $\frac{१}{३२}$ अर्थात १ आरोपित करता है।

ऐसा जान पड़ता है कि इस सूक्ष्म क्रम ने उसकी भावना पर अधिकार कर लिया था, नहीं तो वह इस तथ्य की उपेक्षा न करता कि शुक्र का व्यास, अवलोकन के अनुसार, चन्द्रमा की त्रिज्या के बराबर नहीं, और न मंगल शुक्र के $\frac{१}{१६}$ वें के बराबर है।

सूर्य और चन्द्र के पिंडों के परिसंख्यान की रीति

प्रत्येक समय में सूर्य और चन्द्र के पिंडों के परिसंख्यान की विधि निम्नलिखित है। यह पृथ्वी से उनके अन्तरों पर, अर्थात उसके पथ के यथार्थ व्यास पर अवलम्बित है, जो सूर्य और चन्द्र के शोधनों के परिसंख्यानों में पाया जाता है। अ ब सूर्य के पिंड का व्यास है, च द पृथ्वी का व्यास है, च द ह छाया का शंकु है, ह ल उसका उन्नत स्थान है। फिर, च र को द ब के समान्तर

खींचो। तब अ र अ व और च द के बीच अन्तर है, और नियमित रेखा च त सूर्य का मध्यम अन्तर, अर्थात आकाश के योजनों से निकाली हुई इसके पथ की त्रिज्या, है। सूर्य का यथार्थ अन्तर इससे सदा भिन्न रहता है, कभी वह इससे बड़ा होता है और कभी छोटा। हम च क खींचते हैं, जो अवश्मेव त्रिज्या के अंशों में स्थिर की जाती है। इसका च त से, इसके त्रिजीवा (= व्यासार्ध) होने के कारण, वही सम्बन्ध है, जो च क के योजनों का च त के योजनों से है। इससे व्यास का मान योजनों में बदल दिया जाता है।

पुलिस ब्रह्मगुप्त और बलभद्र से अवतरण

अ व के योजनों का त च के योजनों के साथ वही सम्बन्ध है जो अ व की कलाओं का त च की कलाओं के साथ है, शेषोक्त त्रिजीवा है। उससे अ व मंडल की कलाओं से ज्ञात और स्थिर हो जाती है, क्योंकि त्रिजीवा का निश्चय परिधि के मान से किया जाता है। इस कारण पुलिस कहता है—"सूर्य या चन्द्र के मंडल की त्रिज्या के योजनों को यथार्थ अन्तर से गुणा करो और गुणनफल को त्रिजीवा पर भाग दो। जो भागफल सूर्य के लिए निकले उसे २२,२७८, २४० पर, और जो भागफल चन्द्रमा के लिए निकले उसे १,६५०,२४० पर भाग दो। तब भागफल सूर्य या चन्द्र में से एक के पिन्ड के व्यास की कलाओं को प्रकट करता है।"

शेषोक्त दो संख्याएँ सूर्य और चन्द्र के व्यासों के योजनों के ३४३८ से गुणनका गुणनफल हैं। यह शेषोक्त संख्या त्रिजीवा की कलाएँ हैं।

ऐसे ही ब्रह्मगुप्त कहता है—"सूर्य या चन्द्र के योजनों को ३४१६, अर्थात त्रिजीवा की कलाओं से गुणा करो, और गुणनफल को सूर्य या चन्द्र के मंडल की त्रिज्या के योजनों पर भाग दो।" परन्तु विभाजन का शेषोक्त नियम ठीक नहीं है, क्योंकि, इसके अनुसार, पिन्ड का मान रूपान्तरित न होगा। इसलिए टीकाकार बलभद्र की वही सम्मति है जो पुलिस की है अर्थात इस विभाजन से भाजक (योजनों के नाम में) परिवर्तित किया हुआ यथार्थ अन्तर होना चाहिए।

छाया के व्यास के परिसंख्यान के लिए ब्रह्मगुप्त निम्नलिखित नियम देता है। यह हमारे पंचांगों में भुजंग के सिर (राहु) और पुच्छ (केतु) के मंडल का मान कहलाता है—"पृथ्वी के व्यास के योजनों, अर्थात १५८१, को सूर्य के व्यास के योजनों, अर्थात ६५२२ में से घटाओ। शेष ४९४१ रह जाता है, जिसे भाजक के रूप में उपयोग में लाने के लिए स्मृति में रखा जाता है। आकृति में अ र इसको प्रकट करती है। फिर पृथ्वी के व्यास को, जो दुगनी त्रिजीवा है, सूर्य के यथार्थ अन्तर के योजनों से गुणा करो। यह यथार्थ अन्तर सूर्य के स्फुटन से मालूम होता है। गुणनफल को स्मृति में रखे हुए भाजक पर भाग दो। भागफल छाया के अन्त का वास्तविक अन्तर है।

"प्रत्यक्ष रूप से दोनों त्रिकोण अ र स और स द ह एक दूसरे के तुल्य हैं। परन्तु नियमित रेखा स त परिमाण में नहीं बदलती, किन्तु यथार्थ अन्तर के फल से अ व का रूप बदल जाता है, यद्यपि इसका परिणाम बराबर नहीं है। अब मान लीजिए कि यह अन्तर स क है। अ ज और र व रेखाओं को एक दूसरे के समान्तर, और ज क व को अ व के समान्तर खींचो। तब शेषोक्त स्मृति में रखे हुए भाजक के बराबर है।

"रेखा ज च म खींचो। तब उस समय के लिए म शंकु का सिर है। स्मृति में रक्खे हुए भाजक ज व का यथार्थ अन्तर; क च, के साथ वही सम्बन्ध है जो पृथ्वी के व्यास च द का म ल के साथ, जिसको वह (ब्रह्मगुप्त) (छाया के अन्त का) यथार्थ अन्तर कहता है, और इसका निश्चय त्रिज्या की कलाओं से (पृथ्वी का व्यासार्ध त्रिजीवा है) किया जाता है। क्योंकि क च—"

ब्रह्मगुप्त की हस्तलिखित प्रति में दीमक का चाटा हुआ स्थल

परन्तु अब मुझे सन्देह होता है कि निम्नलिखित में हस्तलेख से कुछ गिर पड़ा है, क्योंकि लेखक कहता है—"तब इसको (अर्थात च क के भागफल को स्मृति में रक्खे हुए भाजक से) पृथ्वी के व्यास से गुणा करो। गुणनफल पृथ्वी के मध्य और छाया के अन्त के बीच का अन्तर है। उसमें से चन्द्रमा का यथार्थ अन्तर घटाओ और अवशेष को पृथ्वी के व्यास से गुणा करो। गुणनफल को छाया के सिरे के यथार्थ अन्तर पर भाग दो। भागफल चन्द्रमा के मंडल मे छाया का व्यास है। फिर हम चन्द्रमा का यथार्थ अन्तर ल स मान लेते हैं, और फ न चन्द्र मंडल का अंश है, जिसकी त्रिज्या ल स है। क्योंकि हमने ज्या की कलाओं द्वारा निश्चित की हुई ल म मालूम कर ली है। इसलिए इसका च द से वही सम्बन्ध है, इसके त्रिजीवा से दुगना होने के कारण, जो ज्या की कलाओ में मापी हुई, म स का ज्या की कलाओं में मापी हुई क्ष य के साथ है।"

मैं समझता हूँ, यहाँ ब्रह्मगुप्त छाया के अन्त के यथार्थ अन्तर ल म को योजनों में बदलना चाहता था। यह बात इसको पृथ्वी के व्यास के योजनों से गुणा करने, और गुणनफल को दुगनी त्रिजीवा पर भाग देने से की जाती है। इस भाजन का उल्लेख हस्तलेख से गिर पड़ा है, क्योंकि इसके बिना छाया के अन्त के संस्फुट अन्तर का पृथ्वी के व्यास से गुणन पूर्णतया फालतू है, और परिसंख्यान में उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं।

फिर; यदि ल म के योजनों की संख्या मालूम हो, तो ल स को भी, जो यथार्थ अन्तर है; योजनों में बदल देना चाहिए, जिससे म स का निश्चय भी उसी मान से हो। छाया के व्यास का मान, जो इस प्रकार मालूम हुआ है, योजनों को दिखलाता है।

फिर, ब्रह्मगुप्त कहता है—"जो छाया मालूम हुई है उसको त्रिजीवा से गुणा करो, और गुणनफल को चन्द्रमा के यथार्थ अन्तर पर भाग दो। भागफल छाया की कलाओं को दिखलाता है जिनको हम मालूम करना चाहते थे।"

परन्तु यदि उसकी मालूम की हुई छाया योजनों से निश्चित की जाती तो उसे छाया की कलाओं को मालूम करने के लिए इसको दुगनी त्रिजीवा से गुणा करना, और गुणनफल को पृथ्वी के व्यास के योजनों पर भाग देना चाहिए था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि, अपने परिसंख्यान में, उससे यथार्थ व्यास को योजनों में बदले बिना ही, इसको कलाओं में निश्चित करने तक ही, अपने को परिमित रक्खा है।

ग्रन्थकार यथार्ध (स्फुट) व्यास का इसको योजनों में बदले बिना ही, उपयोग करता है। इस प्रकार वह मालूम करता है कि चक्र में, जिसका व्यासार्ध ल स है, छाया स्फुट व्यास है, और इसी का उस चक्र के परिसंख्यान के लिए प्रयोजन है, जिसका व्यासार्ध त्रिजीवा है। य क्ष का, जिसको वह पहले से मालूम कर चुका है, स्फुट अन्तर स ल। के साथ वही सम्बन्ध है जो माप में

य क्ष का, जिसको ढूँढ़ा जा रहा है। स ल के साथ है। स ल त्रिजीवा है। इस समीकरण के आधार पर (योजन) बनाने चाहिएँ।

ब्रह्मगुप्त की एक दूसरी रीति

एक दूसरे वचन में ब्रह्मगुप्त कहता है—"पृथ्वी का व्यास १५८१ चन्द्रमा का व्यास ४८०, सूर्य का व्यास ६५२२, छाया का व्यास १५८१ है। सूर्य के योजनों में से पृथ्वी के योजन घटाओ, शेष ४६४१ रह जाते हैं। इस अवशेष को चन्द्रमा के स्फुट अन्तर के योजनों से गुणा करो और गुणनफल को सूर्य के स्फुट के अन्तर के योजनों पर भाग दो। जो भागफल प्राप्त हो उसको १५८१ में से घटाओ, तब अवशेष चन्द्रमा के मंडल में छाया का मान है। इसको ३४१६ से गुणा करो, और गुणनफल को चन्द्रमा के मंडल की मध्यवर्ती त्रिज्या के योजनों पर भाग दो। भागफल छाया के व्यास की कलाओं को दिखलाता है।

"यह बात स्पष्ट है कि यदि पृथ्वी के व्यास के योजनों को सूर्य के व्यास के योजनों में से घटाया जाय, तो अवशेष अ र, अर्थात ज व है। रेखा व च फ खींचो और नियमित रेखा क च को ओ पर गिरने दो। तब फालतू ज व का सूर्य के स्फुट अन्तर क च के साथ वही सम्बन्ध है जो य फ का चन्द्रमा के स्फुट अन्तर ओ च के साथ है। इस बात का कुछ ख्याल नहीं कि इन दो मध्यम व्यासों के योजन बनाये गये हैं कि नहीं, क्योंकि, इस दशा में, य फ योजनों के मान से निश्चित हुआ मालुम किया गया है।
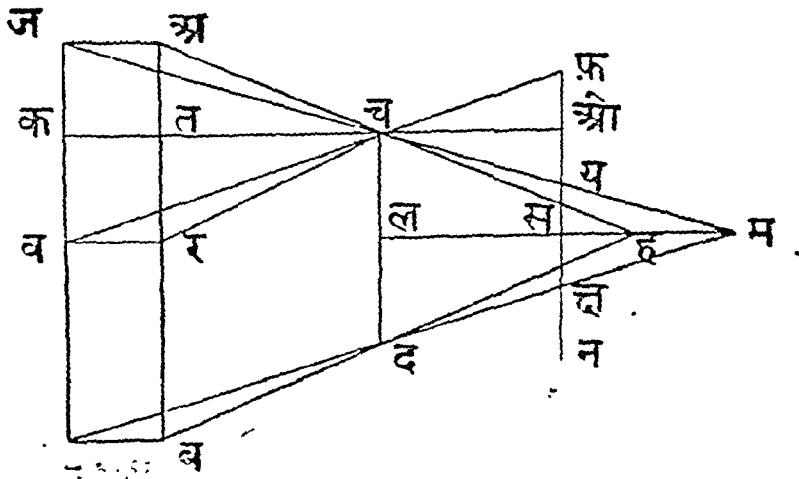
"क्ष न को ओ फ के बराबर खींचो। तब ओ न आवश्यक रूप से च द के व्यास के बराबर है, और इसके जिस भाग की तलाश की जा रही है वह ग क्ष है। इस प्रकार मालूम की हुई संख्या का पृथ्वी के व्यास में से घटाना आवश्यक है, और अवशेष म क्ष होगा।

ब्रह्मगुप्त के हस्तलेख की भ्रष्ट दशा की आलोचना

ऐसी भूलों लिए जो इस परिसंख्यान में पाई जाती हैं, ग्रन्थकार ब्रह्मगुप्त, उत्तरदाता नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु हमें सन्देह होता है कि दोष हस्तलेख का है। फिर भी, हम उस पाठ से परे नहीं जा सकते, जो हमारे पास है, क्योंकि हम नहीं जानते कि शुद्ध प्रति में यह कैसा है।

ब्रह्मगुप्त द्वारा ग्रहण किया हुआ छाया का मान जिसमें से घटाने के लिए वह पाठकों को आदेश करता है मध्यम मान नहीं हो सकता, क्योंकि मध्यम मान मध्य में, बहुत अल्प और बहुत अधिक के बीच, होता है। फिर हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि यह मान, योग (?) समेत, छाया के मानों में महत्तम होना चाहिए क्योंकि य फ जो ऋण है, एक त्रिकोण का आधो-मास है जिसकी एक भुज फ च, छाया के अन्त की दिशा में नहीं, वरन सूर्य की दिशा मेंा स ल को काटती है। इसलिए य फ का छाया के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं (अटकली अनुवाद)।

अन्ततः ऋण का सम्बन्ध चन्द्रमा के व्यास के साथ होना सम्भव है। उस दशा में य क्ष क', जो योजनों में निकाली जा चुकी है, चन्द्रमा के स्फुट अन्तर के योजनों स ल, के साथ वही सम्बन्ध है जो कलाओं में गिनी हुई य क्ष का स ल के साथ, यह त्रिजीवा है (अटकली अनुवाद)।

जो कुछ ब्रह्मगुप्त मालूम करना चाहता है वह इस रीति से बिलकुल ठीक-ठीक मालूम हो जाता है। इसमें चन्द्रमा के मंडल की मध्यम त्रिज्या पर जो आकाश के मंडल के योजनों से निकाली जाती है, भाग नहीं दिया जाता।

सूर्य और चन्द्र के व्यासों का परिसंख्यान

सूर्य और चन्द्र के व्यासों के परिसंख्यान की विधियाँ, जो खण्डखाद्यक और करणसार प्रभृति हिन्दू पंचांगों में दी गई हैं, वही हैं जो अलख्वारिज्मी के पंचांग में पाई जाती हैं। सूर्य और चन्द्र इसके अतिरिक्त खंडखाद्यक में छाया के व्यास का परिसंख्यान भी वैसा ही है जैसा कि अलख्वारिज्मी ने दिया है, परन्तु करणसार में यह रीति है—"चन्द्र की भुक्ति को ४ से और सूर्य की भुक्ति को १३ से गुणा करो। दोनों गुणनफलों के प्रभेद को ३० पर भाग दो और भागफल छाया का व्यास है।"

सूर्य के व्यास के परिसंख्यान के लिए करणतिलक आगे लिखी रीति देती है—"सूर्य की भुक्ति को २ पर भाग दो, और आधे को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। एक स्थान में इसे १० पर भाग दो, और भागफल को दूसरे स्थान में लिखी संख्या में बढ़ा दो। योगफल सूर्य के व्यास की कलाओं की संख्या है।"

चन्द्रमा के व्यास के परिसंख्यान में, वह पहले चन्द्रमा की भुक्ति लेता है, इसमें इसका $\frac{1}{90}$ वां बढ़ा देता है, और योगफल को २५ पर भाग देता है। भागफल चन्द्रमा के व्यास की कलाओं की संख्या है।

छाया के व्यास के परिसंख्यान में, वह सूर्य की भुक्ति को ३ गुणा से करता है, और गुणनफल में से वह इसका एक बटा चौबीसवाँ घटा देता है। अवशेष को वह चन्द्रमा की भुक्ति में से घटाता है, अवशेष के दुगने को वह १५ पर भाग देता है। भागफल भुजंग के सिर (राहु) और पूँछ (केतु) की कलाओं की संख्या है।

यदि हम हिन्दुओं के ज्योतिष के ग्रंथों से और अधिक अवतरण देंगे, तो हम प्रस्तुत पुस्तक के विषय से सर्वथा दूर चले जायेंगे। इसलिए हम उनमें से केवल उन्हीं विषयों के अवतरण देंगे जो इस पुस्तक के विशेष विषय के साथ थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखते हैं, जो या तो अपने अनोखेपन के कारण उल्लेखनीय हैं, या जो हमारे लोगों (मुसलमानों) में और हमारे (मुसलिम) देशों में अज्ञात हैं।

छप्पनवाँ परिच्छेद

चन्द्रमा का स्थान

सत्ताइस नक्षत्रों का ज्ञान

हिन्दू लोग चान्द्र स्थानों का ठीक राशिचक्र की राशियों के सदृश ही उपयोग करते हैं। जिस प्रकार क्रांति-मण्डल, राशियों द्वारा, बारह बराबर भागों में विभक्त है, उसी प्रकार यह, नक्षत्रों (चान्द्र स्थानों) द्वारा, सत्ताईस बराबर भागों में विभक्त है। प्रत्येक नक्षत्र क्रान्ति-मण्डल को १३⅓ अंश, या ८०० कला घेरता है। ग्रह उनमें प्रवेश करते और फिर उनको छोड़कर निकल जाते हैं, और अपने उत्तरीय तथा दक्षिणीय अक्षों में से आगे और पीछे घूमते हैं। फलित ज्योतिषी लोग प्रत्येक नक्षत्र के साथ एक विशेष प्रकृति, घटनाओं को पहले से बता देने के गुण, और अन्य विशिष्ट मुख्य लक्षणों का उसी प्रकार आरोपण करते हैं जैसे कि वे राशियों के साथ करते हैं।

अरबों के नक्षत्र

संख्या २७ का आधार यह बात है कि चन्द्रमा सारे क्रान्ति-मण्डल में से २७⅓ दिन में लांघ जाता है। इस संख्या में ⅓ का अपूर्णाङ्क छोड़ दिया जा सकता है। इसी प्रकार, अरब लोग, चन्द्रमा के पश्चिम में पहले पहल दिखाई देने से आरम्भ करके पूर्व में उसके दिखाई देने से बन्द हो जाने तक, नक्षत्रों का निश्चय करते हैं। इसमें वे आगे लिखी विधि का उपयोग करते हैं—

परिधि में एक चान्द्र मास में परिभ्रमणों की संख्या जोड़ो। योगफल में से चन्द्रमा के दो दिनों के, जिनको अलमिहाक कहते हैं (अर्थात, चान्द्र मास का २८वाँ और २९वाँ दिन), कूच को घटाओ। अवशेष को एक दिन के चन्द्रमा के कूच पर भाग दो। भागफल २७ और दो तिहाई से थोड़ा सा अधिक है। यह अपूर्णाङ्क एक पूरा दिन गिना जाना चाहिए।

परन्तु, अरब अशिक्षित लोग हैं, जो न लिख सकते हैं और न गिन सकते हैं। उनका भरोसा केवल संख्याओं और नेत्र-दृष्टि पर है। नेत्र-दृष्टि के सिवा उनके पास अनुसन्धान का और कोई माध्यम नहीं। वे नक्षत्रों का, उनमें स्थिर तारकाओं से अलग, निश्चय करने में असक्त हैं। जब हिन्दू एकहरे नक्षत्रों का वर्णन करते हैं तब किन्हीं तारकाओं के विषयों में वे अरबों से मिलते हैं और किन्हीं के विषयों में उनका उनसे मतभेद है। सर्वतोभावेन, अरब लोग चन्द्रमा के पथ के निकट-निकट रहते, और, नक्षत्रों का वर्णन करते समय, केवल उन्हीं स्थिर तारकाओं का उपयोग

करते हैं जिनके साथ विशेष समयों में चन्द्रमा की युति होती है, या जिनके बिलकुल पड़ोस में से होकर वह लांघता है।

हिन्दुओं के नक्षत्र सत्ताईस हैं या अट्ठाइस

हिन्दू लोग ठीक-ठीक इसी रीति का अनुसरण नहीं करते, परन्तु एक तारका की दूसरी के सम्बन्ध में विविध स्थितियों को, अर्थात एक तारका के दूसरी के सामने, या उसके खस्वस्तिक में स्थान को भी गिनते हैं। इसके अतिरिक्त वे गिरते हुए गरुड़ की भी नक्षत्रों में गिनती कर लेते हैं ताकि २८ हो जायें।

यही बात है जिसने हमारे ज्योतिषियों और हमारी पुस्तकों के रचयिताओं को भटका दिया है; क्योंकि वे कहते हैं कि हिन्दुओं के अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं, परन्तु वे एक को छोड़ देते हैं जो सदैव सूर्य की किरणों से ढँका रहता है। कदाचित उन्होंने यह सुना होगा कि जिस नक्षत्र में चन्द्रमा होता है उसको हिन्दू जलता हुआ नक्षत्र; जिसको यह अभी छोड़ आया है उसे आलिङ्गन के पश्चात् छोड़ा हुआ नक्षत्र; और जिसमें यह आगे जायगा उसे धुआँ छोड़ता हुआ नक्षत्र कहते हैं। हमारे कुछ मुसलमान लेखक यह समझते रहे हैं कि हिन्दू अल-जुबान नक्षत्र छोड़ देते हैं, और इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि चन्द्रमा का पथ तुला राशि के अन्त में और वृश्चिक के आरम्भ में जल रहा है।

यह सब एक ही स्रोत से लिया गया है, अर्थात उनकी यह सम्मति है कि हिन्दुओं के अट्ठाईस नक्षत्र हैं, और विशेष अवस्थाओं में वे एक को छोड़ देते हैं। परन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है; उनके सत्ताईस नक्षत्र हैं, और विशेष अवस्थाओं में वे एक बढ़ा देते हैं।

ब्रह्मगुप्त कहता है कि वेद की पुस्तक में, मेरु पर्वत के निवासियों से लिया हुआ, इस आशय का एक प्रमाण है कि वे दो सूर्य, दो चन्द्रमा, और चौवन नक्षत्र देखते हैं; और उनके दिन हमसे दूने हैं। तब वह इस सिद्धान्त का इस युक्ति से खण्डन करने का यत्न करता है कि हम ध्रुव की मछली (सारी पुस्तक में ऐसा ही लिखा है) को दिन में दो बार नहीं, वरन् केवल एक ही बार घूमती देखते हैं। मुझसे पूछो तो मेरे पास इस सत्येतर वाक्य को युक्तिसंगत रूप में सजाने का कोई साधन नहीं।

नक्षत्र के निर्दिष्ट अंश के स्थान की गणना

किसी तारका नक्षत्र के निर्दिष्ट अंश का स्थान गिनने की रीति यह है—

इसका अन्तर ०° मेष राशि से कलाओं में लो, और उनको ८०० पर भाग दो। भागफल उन सब नक्षत्रों को दिखलाता है जो उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती हैं जिसमें कि प्रस्तुत तारा खड़ा है।

तब प्रस्तुत नक्षत्र में विशेष स्थान मालूम करना शेष रह जाता है। अब तारका या अंश, नक्षत्र के ८०० भागों के अनुसार, सरलतापूर्वक ठीक किया जाता, और सामान्य भाजक से घटाया जाता है, या अंशों की कलाएँ बना ली जाती हैं, या उनको ६० से गुणा और भागफल को ८०० पर भाग दिया जाता है। इस अवस्था में भागफल नक्षत्र के उस भाग को दिखलाता है, जिसको चन्द्रमा, यदि नक्षत्र को $\frac{१}{६०}$ गिना जाय, उस क्षण में पहले से ही लांघ चुका है।

परिसंख्यान की ये रीतियां चन्द्रमा, ग्रहों और अन्य तारकाओं सबके लिए ठीक हैं। परन्तु आगे लिखी विधि एक-मात्र चन्द्रमा पर ही लागू है—अवशेष (अर्थात्, अपूर्ण नक्षत्र के भाग) के

६० से गुणन के गुणनफल को चन्द्रमा की भुक्ति पर भाग दिया जाता है। लब्धि प्रकट करती है कि चान्द्र नक्षत्र-दिन कितना बीत चुका है।

खण्डखाद्यक की नक्षत्रों की तालिका

स्थिर तारकाओं के विषय में हिन्दुओं का ज्ञान बहुत अल्प है। मुझे उनमें कभी भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं मिला जो नेत्र-दृष्टि से नक्षत्रों के एकहरे तारों को जानता हो, और जो उँगली के साथ मुझे उनको दिखला सके। मैंने इस विषय की खोज करने, और इसके अधिकांश का सब प्रकार की तुलनाओं से निश्चय करने के लिए पूरा-पूरा यत्न किया है, और अनुसन्धान के परिणाम 'नक्षत्रों के निश्चय पर' नामक पुस्तक में लिख दिये हैं। इस विषय में उनके सिद्धान्तों में से मैं केवल उतना ही दूँगा जितना मैं प्रस्तुत प्रसंग के लिए उचित समझता हूँ। परन्तु उसके पूर्व मैं अंश और द्राघिमा में नक्षत्रों की स्थितियाँ और उनकी संख्याएँ, खण्डखाद्यक के अनुसार, दूँगा। इससे आगे दिये हुए सभी ब्योरों को समझ लेने से इस विषय के अध्ययन मे सुविधा हो जायगी—

विषुवों का अयन-चलन

तारकाओं के विषय में हिन्दुओं की कल्पनाएँ भ्रम पूर्ण हैं। वे केवल क्रियात्मक पर्यवेक्षण और गणना में कम ही निपुण हैं, और उन्हें स्थिर तारकाओं की गतियों की कुछ समझ नहीं। देखिये वराहमिहिर अपनी पुस्तक संहिता मे कहता है—"रेवती से आरम्भ करके मृगशिरस् तक, छः नक्षत्रों में पर्यवेक्षण गणना के आगे रहता है, जिससे चन्द्रमा उनमें से प्रत्येक में गणना की अपेक्षा नेत्रदृष्टि के अनुसार पहले प्रवेश करता है।

"आर्द्रा से आरम्भ करके अनुराधा तक, बारह नक्षत्रों में अयन-चलन आधे नक्षत्र के बराबर है, जिससे पर्यवेक्षण के अनुसार, चांद नक्षत्र के मध्य में है, परन्तु गणना के अनुसार वह नक्षत्र के प्रथम भाग में होता है।

"ज्येष्ठा से आरम्भ करके उत्तरभाद्रपदा तक, नौ नक्षत्रों में पर्यवेक्षण गणना से पीछे रह जाता है, जिससे चन्द्रमा उनमें से प्रत्येक में पर्यवेक्षण के अनुसार प्रविष्ट होता है, जब गणना के अनुसार वह अगले में जाने के लिए इसे छोड़ता है।"

तारकाओं के सम्बन्ध में हिन्दुओं की भाँति कल्पनाओं के विषय में मेरी बात की पुष्टि प्रथमोल्लिखित छः नक्षत्रों में से एक अर्थात अश्विनी के विषय में वराहमिहिर की टिप्पणी से ही हो जाती है, यद्यपि कदाचित स्वयं हिन्दुओं को यह बात स्पष्ट नहीं; क्योंकि वह कहता है कि इसमें पर्यवेक्षण गणना से पहले है। अब अश्विनी के दो तारे, हमारे समय में मेष राशि के दो तिहाई में (अर्थात १०—२० मेष राशि के बीच) हैं और वराहमिहिर का समय हमारे समय से कोई ५२६ वर्ष पूर्व था। इसलिए आप किसी भी सिद्धान्त से स्थिर तारकाओं की गति (या विषुवों के अयन-चलन) का गणित कीजिए, यह बात निश्चित है कि उनके समय में अश्विनी मेष राशि के एक-तिहाई से कम में न थे (अर्थात वे ०°—१०° मेष राशि से आगे विषुवों की पुरोगति में न आये थे)।

मान लीजिए कि उनके समय में जैसा कि खंडखाद्यक में वर्णित है अश्विनी यथायुग मेष राशि के इस भाग में या इसके निकट थे। इस दशा में सूर्य और चन्द्र का गणित पूर्णतया शुद्ध

रूप में किया गया है। इसलिए हमें यह अवश्य कहना पड़ता है कि उस समय यह बात ज्ञात न थी जो अब ज्ञात है अर्थात आठ अंशों के अन्तर से तारे की प्रतीप गति। इसलिए, उसके समय, में, पर्यवेक्षण गणना से आगे कैसे हो सकता था ? क्योंकि चन्द्रमा दो तारकाओं के साथ समागम के समय, पहले नक्षत्र का प्रायः दो तिहाई आगे ही पार कर चुका था। इसी उपमिति के अनुसार, वराहमिहिर के दूसरे कथनों की भी जाँच की जा सकती है।

क्रांति मंडल पर प्रत्येक नक्षत्र का तुल्य स्थान

नक्षत्र (चान्द्र स्थान) अपनी आकृतियों, अर्थात तारामंडल के अनुसार, छोटी या बड़ी जगह घेरते हैं, क्योंकि सभी नक्षत्र स्वयं क्रान्तिवृत्त। पर तुल्य स्थान घेरते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं को इस बात का ज्ञान नहीं था, यद्यपि सप्तर्षि के विषय में हम उनकी इससे मिलती-जुलती कल्पनाएँ पहले ही बता चुके हैं। क्योंकि ब्रह्मगुप्त उत्तरखंड खाद्यक अर्थात खंड-खाद्यक के संशोधन में कहता है—

कुछ नक्षत्रों का मान चन्द्रमा की मध्यम दैनिक गति से आधा अधिक है। उसके अनुसार उनका मान १९° ४५' ५२" १८''' है। छः नक्षत्र हैं, अर्थात रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तरफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्रपदा। ये मिलकर ११८° ३५' १३" ४८''' का स्थान घेरते हैं। अगले छः नक्षत्र छोटे हैं। उनमें से प्रत्येक चन्द्रमा की मध्यम दैनिक गति से आधा कम घेरता है। उसके अनुसार उनका मान ६° ३५' १७" २६''' है। ये भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाती, ज्येष्ठा, शतभिषज हैं। वे मिलकर ३९° ३१' ४४" ३६''' का स्थान घेरते हैं। शेष,पन्द्रह नक्षत्रों में से, प्रत्येक मध्यम दैनिक गति के बराबर घेरता है। इसके अनुसार यह १३° १०' ३४" ५२''' का स्थान घेरता है। वे मिलकर १९७° ३८' ४३" का स्थान घेरते हैं। नक्षत्रों के ये तीन समुदाय मिलकर ३५५° ४५' ४१" २४''' का स्थान घेरते हैं जो कि पूर्ण चक्र ४° १४' १८" ३८''' का अवशेष है, और यह अभिजित, का स्थान है, जो कि छोड़ दिया गया है। मैंने इस विषय के निरूपण को नक्षत्रों पर अपने उपर्युक्त विशेष प्रबन्ध में पाठकों के लिए लाभप्रद बनाने का यत्न किया है।

संक्रांतियों पर वराहमिहिर के अवतरण

स्थिर तारों की गति के विषय में हिन्दुओं के ज्ञान की कमी वराहमिहिर की संहिता के निम्नलिखित वचन से यथेष्ट रूप से प्रकट हो जाती है—"प्राचीन विद्वानों की पुस्तकों में इस बात का उल्लेख है कि कर्कसंक्रान्ति आश्लेषा के मध्य में, और मकरसंक्रान्ति धनिष्ठा के मध्य में हुई थी। और यह बात उस समय के लिए शुद्ध है। आजकल कर्कसंक्रान्ति कर्क राशि के आरम्भ में, और मकरसंक्रान्ति मकर राशि के आरम्भ में होती है। यदि किसी को इसमें सन्देह हो, और वह मानता हो कि प्राचीनों का कथन सत्य है और हम जो कुछ कहते हैं वह ठीक नहीं, तो वह ऐसे समय में किसी समतल देश में जाय जब कि वह समझता हो कि कर्कसंक्रान्ति के निकट है। वह वहाँ एक चक्र खींचे, और उसके मध्य में किसी वस्तु को रख दे जो उस समभू में लम्बरूप खड़ी हो। वह इसकी छाया के अन्त को किसी चिह्न से चिह्नित करे, और रेखा को जारी रक्खे यहाँ तक कि वह पूर्व या पश्चिम में चक्र की परिधि तक पहुँच जाय। अगले दिन भी वह उसी समय यही क्रिया

फिर करे, और वही पर्यवेक्षण करे। तब यदि छाया का सिरा पहले चिह्न से दक्षिण की ओर को भटक गया हो तो जानना चाहिए कि सूर्य उत्तर की ओर को चला गया है और अभी अपने अयनान्तविन्दु पर नहीं पहुंचा है। परन्तु यदि वह देखे कि छाया का सिरा उत्तर की ओर को हटता है, तो उसे समझना चाहिये कि सूर्य आगे ही दक्षिणतः चलना आरम्भ हो चुका है और आगे ही अपनी क्रान्ति से गुजर चुका है। यदि मनुष्य इस प्रकार के पर्यवेक्षण को जारी रक्खे, और उससे क्रान्ति का दिन मालूम करे, तो वह देखेगा कि हमारे शब्द सत्य हैं।"

विषुवों के अयन चलन का कर्ता

इससे प्रकट होता है कि वराहमिहिर को स्थिर तारों की पूर्व की ओर की गति का कुछ ज्ञान न था। वह उनको, नाम की सदृशता से, स्थिर, अर्थात न हिलनेवाले तारे समझता है, और अयन को पश्चिम की ओर चलता हुआ दिखलाता है। इस भावना का यह फल है कि उसने,नक्षत्रों के विषय में, दो बातों को आपस में गड़बड़ कर दिया है। इन दोनों बातों पर अलग-अलग रूप से विचार करके इनका संशोधित रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

राशियों के क्रम में हम क्रान्तिमण्डल के उस बारहवें अंश से अरम्भ करते हैं जो दूसरी गति, अर्थात विषुवों के अयन-चलन के अनुसार भूमध्य रेखा और क्रान्तिवृत्त के परस्पर मिलन विन्दु के उत्तर में है। उस अवस्था में, कर्कसंक्रान्ति सदैव चौथी राशि के आरम्भ में, और मकरसंक्रान्ति दसवीं राशि के आरम्भ में होती है। नक्षत्रों के क्रम में हम क्रान्तिवृत्त के उस सत्ताईसवें अंश से आरम्भ करते हैं जिसका सम्बन्ध पहली राशि के पहले से है। उस अवस्था में कर्कसंक्रान्ति सदैव सातवें नक्षत्र के तीन-चौथाई पर (अर्थात् नक्षत्र के ६००, पर), और मकरसंक्रान्ति इक्कीसवें नक्षत्र के एक-चौथाई पर (अर्थात् नक्षत्र के २२०, पर होती है। जब तक संसार है तब तक यह क्रम इसी प्रकार रहेगा।

यदि, नक्षत्रों को विशेष राशियों द्वारा चिह्नित किया जाय, और इन राशियों के ही विशेष नामों से पुकारा जाय, तो नक्षत्र राशियों के साथ इकट्ठा घूमते हैं। राशियों के तारे, और नक्षत्रों के तारे, अतीतकाल में, क्रान्तिमण्डल के अधिक पहले (अर्थात अधिक पश्चिमी)-भागों को घेरे रहे हैं। वहां से चलकर वे उन स्थानों में आ गये हैं जिनको वे इस समय घेरे हुए हैं, और भविष्य में वे क्रान्तिमण्डल के और भी अधिक पूर्वी भागों में चले जायेंगे, यहां तक कि समय पाकर वे सारे क्रान्तिमण्डल में चक्कर लगा आवेंगे।

हिन्दुओं के मतानुसार, आश्लेषा नक्षत्र के तारे कर्क के १८° में हैं। इसलिए, प्राचीन ज्योतिषियों द्वारा ग्रहण किये हुए विषुवों के अयनचलन के वेग के अनुसार, वे हमारे समय से १८०० वर्ष पूर्व चौथी राशि के ०° में थे, जब कि कर्क का तारामण्डल तीसरी राशि में था, जिसमें कि अयन भी था। अयन ने तो अपना स्थान नहीं छोड़ा, परन्तु तारामण्डल अन्यत्र चले गये हैं, और यह बात जो कुछ वराहमिहिर ने मान लिया है उसके ठीक विपरीत है।

सत्तावनवाँ परिच्छेद

नक्षत्रों का सौर रश्मियों के नीचे से प्रकट होना

दृश्यमान होने के लिये तारों की सूर्य से दूरी

तारों और बालशशि के सौर उदय के गणित के लिए हिन्दू-रीति वही है जो 'सिन्द हिन्द' नाम के पञ्चांग में वर्णित है। वे लोग सूर्य से तारे के अन्तर के अंशों को, जो उसके सौर उदय के लिए आवश्यक समझे गये हैं, कालांशक * कहते हैं। गुर्रातुलजीजात ‡ के लेखक के मतानुसार, वे ये हैं—सुहैल, अलयमानिया, अलदाकिग्र, अलअय्यूक, अलसिमाकान, कल्ब-अलअ करब के लिए १३°; अलबुतैन, अलहकअ, अलनथरा, आश्लेषा, शतभिषज, रेवती के लिए २०°; दूसरों के लिए १४,।

यह बात प्रकट है कि, इस दृष्टि से, तारे तीन समूहों में बाँटे गये हैं। इनमें से पहले में वे तारे जान पड़ते हैं जिनको यूनानी लोगों ने पहले और दूसरे परिमाण के तारे गिना है, दूसरे समूह में तीसरे और चौथे परिमाण के तारे, और तीसरे में पांचवें और छठवें परिमाण के तारे हैं।

वराहमिहिर को यह वर्गीकरण अपने उत्तर-खण्डखाद्यक † में देना चाहिए था, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह साधारण वाक्यों में अपने आशय को प्रकट करता है और केवल इतना कहता है कि सभी नक्षत्रों के सौर उदयों के लिए सूर्य से १४° का अन्तर होना आवश्यक है।

विजयनन्दिन से अवतरण

विजयानन्दिन कहता है—"कुछ तारे ऐसे हैं जो न सूर्य की किरणों से ढाँपे जाते हैं और न सूर्य उनकी चमक को घटाता है, यथा अलअय्यूक, अलसिमाक, अलरामिह, दो गरुड़, धनिष्ठा; और उत्तरभाद्रपदा, क्योंकि उनका अधिक उत्तरीय अक्ष है, और क्योंकि (द्रष्टा का) देश भी उतना अधिक अक्ष है। कारण, अधिक उत्तरीय प्रदेशों में वे दोनों एक ही रात के आरम्भ तथा अन्त में दिखाई देते हैं, और कभी अदृश्य नहीं होते।"

अगस्त्य के सौर उदय पर

अगस्त्य अर्थात सुहैल के सौर उदय की गणना के लिए उनके पास विशेष रीतियाँ हैं। वे उसको पहले पहल उस समय देखते हैं जब सूर्य हस्त नक्षत्र में प्रवेश करता है, और जब सूर्य

---

* कालांशक—इसकी परिभाषा सूर्य सिद्धान्त ६-५ की टिप्पणी में की गई है।

‡ गुर्रातुलजीतात — इस पुस्तक का उल्लेख एक ही बार हुआ है। अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक 'कालगणना' में इसके अवतरण दिये हैं। इसके लेखक का नाम अबूमुहम्मद अलनाइब अला-मुली था। इसने भी अपने ग्रन्थ में याकूब इब्न तारिक के विवरण दिये है।

† उत्तर खण्ड खाद्यक से अभिप्राय है—खण्डखाद्यक का संशोधन, जिसका कर्ता विजय नन्दिन है।

रोहणी नक्षत्र में जाता है तब अगस्त्य उनको दृष्टि से ओझल हो जाता है। पुलिस कहता है—"सूर्य के उच्च स्थान का दूना लो। यदि यह सूर्य के स्फुट स्थान के तुल्य हो, तो यह अगस्त्य के सौर अस्त का समय है।"

सूर्य का उच्च स्थान पुलिस के अनुसार, दो और दो तिहाई राशियाँ है। इसका दूना चित्रा के १० अंश में । जा पड़ता है, जो कि हस्त नक्षत्र का आरम्भ है। आधा उच्च स्थान वृषभ राशि के १० अंश पर पड़ता है, जो कि रोहिणी नक्षत्र का आरम्भ है।

उत्तर-खण्डखाद्यक में ब्रह्मगुप्त आगे लिखी बातों का प्रतिपादन करता है—

ब्रह्मगप्त से अवतरण

"सुहैल की स्थिति २७° मृगशिर है, इसका दक्षिणी अक्ष ७१ अंश है। इसके सौर उदय के लिए सूर्य से इसके आवश्यक अन्तर के अंश १२ हैं।

"मृगव्याध का स्थान २०° मृगशिर है, इसका दक्षिणी अक्ष ४० अंश है। इसके सौर उदय के लिए आवश्यक सूर्य से इसके अन्तर के अंश १३ हैं। यदि आप उनके चढ़ने का समय मालूम करना चाहते हैं, तो सूर्य को तारे के स्थान में मान लीजिये। इस विशेष स्थान पर लग्न को स्थिर कीजिए। जब सूर्य इस लग्न के अंश पर पहुँचता है, तब तारा पहली बार दृष्टिगोचर होता है।

"किसी तारे के सौर अस्त का समय मालूम करने के लिए, तारे के अंश में छः पूरी राशियाँ जोड़ दो। योगफल में से सूर्य से इसके उस अन्तर के अंश घटा दो जो इसके सौर उदय के लिए आवश्यक है, और अवशेष पर लग्न को स्थिर करो। तब, जब सूर्य लग्न के अंशों में प्रवेश करता है, वही समय इसके डूबने का है।"

विशेष तारों के सौर उदयों पर की जानेवाली प्रक्रियाओं पर

संहिता नामक ग्रन्थ में उन विशेष यज्ञों और प्रक्रियाओं का उल्लेख है जो विविध तारों के सौर उदयों पर की जाती हैं। अब हम उनको लिखेंगे, साथ ही उसका अनुवाद भी करेंगे जो गेहूँ की अपेक्षा भूसा अधिक है, क्योंकि हमने हिन्दुओं की पुस्तकों से पूरे-पूरे और ज्यों के त्यों अवतरण देना आवश्यक माना है।

वराहमिहिर कहता है—जब आरम्भ से सूर्य उदय हुआ, और घूमते हुए अत्युच्च पर्वत विन्ध्य के उच्च स्थान में आकर ठहरा तब विन्ध्याचल ने उसके उच्च पद को स्वीकार नहीं किया, और अभिमान से प्रेरित होकर वह उसके भ्रमण में बाधा देने और उसके रथ को अपने ऊपर से लाँघने से रोकने के लिए उसकी ओर बढ़ा। विन्ध्याचल ऊँचा होकर स्वर्ग के पड़ोस और विद्याधर नामक आध्यात्मिक प्राणियों के निवास-स्थान तक जा पहुँचा। अब विद्याधर दौड़कर इस पर आ गये, क्योंकि यह सुरम्य था, और इस पर मनोहर उद्यान और गोचर-भूमियाँ थीं, और वहाँ वे आनन्द से रहने लगे, उनकी पत्नियाँ इधर-उधर घूमती फिरती थीं, और उनके बच्चे एक दूसरे के साथ खेलते थे। जब उनकी पुत्रियों के श्वेत वस्त्रों के साथ पवन का संयोग होता था तो वे लहराते हुए झंडों के समान दिखायी पड़ते थे।

इसकी घाटियों में वनैले पशु और सिंह भ्रमर नामक जीवों के समूह के कारण गहरे काले देख पड़ते हैं। ये जीव उनके साथ चिमट जाते हैं, क्योंकि वे उनके शरीरों के मल को, जब वे मैले पंजों के साथ एक दूसरे को मलते हैं, बहुत पसन्द करते हैं। जब वे मस्त हाथी पर आक्रमण करते हैं तब वह परेशान हो जाता है। बन्दर और रीछ विन्ध्य के शृंगों और उसकी ऊँची चोटियों पर चढ़े हुए देखे जाते हैं; मानों सहज ज्ञान से, उन्होंने स्वर्ग की दिशा को ग्रहण किया है। इसके जलाशयों पर तपस्वी लोग देखे जाते हैं, जो इसके फलों से ही अपना पोषण करके सन्तुष्ट हैं। विन्ध्य की और असंख्य हर्ष-दायक वस्तुएँ हैं।

अब जब वरुण के पुत्र अगस्त्य (अर्थात जल के पुत्र, सुहैल) ने विन्ध्य के इन सब व्यवहारों को देखा तब उन्होंने उसकी आकांक्षाओं में उसका साथी बनने के लिए अपने आपको समर्पित किया और उसे तब तक अपने ही स्थान में रहने के लिए कहा जब तक कि वह (अगस्त्य) लौटकर न आवें और उस (विन्ध्य) को उस अन्धकार से मुक्त न कर दें जो कि उस पर है।

श्लोक १—तब अगस्त्य समुद्र की ओर मुड़े और उसके जल को पी गये यहाँ तक कि उसका लोप हो गया। वहाँ विन्ध्याचल के निम्न भाग प्रकट हुए। मकर और अन्य जल-जन्तु इससे चिमट रहे थे। उन्होंने पर्वत को खुरच-खुरच कर उसे चीर डाला और इसमें खानें खोद दीं, जिनमें रत्न और मोती थे।

श्लोक २—उन मोती रत्नादि तथा वृक्षों से मानो समूचा सागर अलंकृत हो गया।

श्लोक ३—पर्वत ने, उस हानि के बदले में जो सुहैल ने इसकी की है वह अलंकार पाया है जिसको इसने उपार्जन किया है, जिससे देवताओं ने अपने लिए मुकुट और किरीट बनवाये हैं।

श्लोक ४—इसी प्रकार सागर ने, गहराई में उसके जल के डूब जाने के बदले में मछलियों का इसमें इधर-उधर घूमते समय चमकना, इसकी तली पर रत्नों का प्रादुर्भाव, और इसके अवशिष्ट जल में साँपों और अजगरों का आगे और पीछे दौड़ना पाया है। जब मछलियाँ और शंख तथा मोतियों की सीपियाँ, इसके ऊपर आ जाती हैं, तो आप सागर को तालाब समझेंगे, जिनके पानी का ऊपरी भाग शरद और शिशिर की ऋतुओं में श्वेत कमलों में ढँका हुआ है।

श्लोक ५—आप इस जल और आकाश में कठिनाई से भेद कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार आकाश तारों से अलंकृत है वैसे ही सागर रत्नों से वह सूर्य से निकलने वाली किरणों के धागों के सदृश अनेक सिरोंवाले साँपों से; इसके भीतर के स्फटिक से जो चन्द्रमा के पिंड के सदृश है, और श्वेत कुहरे से जिसके ऊपर आकाश के बादल उठते हैं, विभूषित है।

श्लोक ६—मैं इस महान कार्य के कर्त्ता की प्रशंसा कैसे न करूँ जिसने देवों के मुकुटों को सुन्दरता दिखलाई है, और सागर तथा विंध्याचल को उनके लिए एक धनागार बना दिया है।

श्लोक ७—वह सुहैल है; जिससे जल पार्थिव मलिनता से रहित होता है, जिसके साथ पुन्यात्मा मनुष्य के हृदय की पवित्रता संयुक्त है, अर्थात जो दुरात्माओं के संसर्ग में उसको अभिभूत करने वाले मल से रहित है।

श्लोक ८—जब कभी अगस्त्य उदय होता है और उसके समय में नदियों और उपत्यकाओं में जल बढ़ जाता है; तब आप नदियों को—जो कुछ उनके जल के उपरिभाग पर है—नाना प्रकार के श्वेत और रक्त कमल और कोई, वह सब कुछ जो उनमें तैरता है मुर्गाबियाँ और हंस (ये सब) बलि के रूप में, चन्द्रमा को अर्पण करते देखते हैं, जिस प्रकार एक युवती उन नदियों में प्रवेश करते समय गुलाब के फूल और उपहार भेंट करती है।

श्लोक ९—दों किनारों पर खड़े लाल हंसों के जोड़ों, और मध्य में कभी आगे और कभी पीछे तैरते समय गाती हुई मुर्गाबियों की उपमा किसी सुन्दरी के दो ओष्ठों से देते हैं, हर्ष से हंसते समय जिसके दांत दिखाई देते है।

श्लोक १०—और भी, हम; श्वेत कमलों के बीच खड़े, कृष्ण कमल, और इसकी सुगन्धि की महक की लालसा से मधुमक्खियों के उसकी ओर दौड़ने की उपमा सुन्दरी की आंख के मंडल की सफेदी में उसकी पुतली की कालिमा के साथ देते हैं जो भौहों के बालों से घिरी हुई चोचले और रसीलेपन से घूमती है।

श्लोक ११—तब, जब आप उन तालाबों को उस समय देखेंगे, जब उन पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पड़ रही हो, जब शशि उनके धुंधले पानी को प्रकाशित कर रहा हो; जब श्वेत कमल—जिसमें मधुमक्खियां बन्द थीं—खुल गया हो, तब आप उन्हें एक ऐसी सुन्दरी का मुखमंडल समझेंगे जो सफेद पुतली से काली आंख के साथ देखती है।

श्लोक १२—जब वर्षाकाल की जल-धाराओं का प्रवाह सांपों को विष और मैल को बहाता हुआ इनमें गिरता है, तब उनके ऊपर सुहैल के उदय होने से उनकी अपवित्रता दूर हो जाती है और वे अपक्रिया से बच जाती हैं।

श्लोक १३—क्योंकि मनुष्य के द्वार के सामने सुहैल का एक पल का चिन्तन उसके दंडनीय पापों को मिटा देता है, इसलिए उसका स्तुति-गान करने वाली जिह्वा के वचन कितने अधिक हृदयग्राही होंगे जब पाप को दूर करना और दिव्य पुरस्कार का उपार्जन ही काम हो! सुहैल के उदय होने पर कौन सा यज्ञ करना आवश्यक है इसका उल्लेख पूर्व ऋषियों ने किया है। इसका बखान करके राजाओं को एक उपहार दूंगा, और इस बखान को मैं उस (परमेश्वर) पर बलिदान कर दूंगा।

श्लोक १४—उसका उदय उस समय होता है जब सूर्य का कुछ प्रकाश पूर्व से प्रकट होता है, और रात्रि का अन्धकार पश्चिम में इकट्ठा हो जाता है उसके प्रकट होने के आरम्भ को देखना कठिन है, और देख कर पहचानना तो और भी कठिन है। इसलिए उस समय ज्योतिषी से पूछो कि वह किस दिशा से उदय होता है।

श्लोक १५, १६—इस दिशा के अभिमुख अर्घ नामक योग करो; और, सुन्दर तथा सुगन्धयुक्त पुष्प जो देश में उत्पन्न होते हैं, जो कुछ तुम्हारे पास हो उसे पृथ्वी पर बिछा दो। सोना, गहने, समुद्र के रत्न जो कुछ तुम योग्य समझो उन पर रख दो, और धूप, कुंकुम, चन्दन, कस्तुरी और कपूर, एक बैल और एक गाय, और अनेक भोजन तथा मिठाइयां भेंट करो।

श्लोक १७—विदित हो कि जो मनुष्य पुण्य संकल्प, दृढ़ विश्वास, और श्रद्धा के साथ निरन्तर सात वर्ष तक यह करता है, उनका उन वर्षों की समाप्ति पर, यदि वह क्षत्रिय है, सारी पृथ्वी और इसको चारों ओर से घेरनेवाले सागर पर अधिकार हो जाता है।

श्लोक १८—यदि वह ब्राह्मण है तो उसकी मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, वह वेद को सीख लेता है, सुन्दरी भार्या को प्राप्त करता है, और उससे सुशील संतान पाता है। यदि वह वैश्य है तो बहुत सी स्थावर सम्पत्ति और बढ़कर ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। यदि वह शूद्र है तो वह धन को प्राप्त करेगा। वे सब स्वास्थ्य और सम्भवतः परकृतियों का बंद हो जाना, और फल की सिद्धि प्राप्त करते हैं।"

रोहिणी पर वराहमिहिर का कथन

सुहैल के उपायन के विषय में वराहमिहिर का कथन यही है। इसी पुस्तक में वह रोहिणी के विषय में भी नियम देता है—

"गर्ग, वसिष्ठ, काश्यप और पराशर ने अपने शिष्यों से कहा कि मेरु पर्वत स्वर्ण के तत्त्वों का बना हुआ है। उनमें से दो वृक्ष उगे हैं जिन पर संख्यातीत मीठी सुगंधिवाले पुष्प और मुकुल हैं। मधुमक्खियाँ कर्ण सुखद भिनभिनाहट के साथ उनको घेर रही हैं, और देवों की अप्सराएँ उल्लासजनक स्वर संयोगों के साथ मधुर वाजों और अक्षय्य आनन्द के साथ, आगे-पीछे फिर रही हैं। यह पर्वत स्वर्ग के क्रीड़ावन, नंदन वन के मैदान में हैं। ऐसा ही वे कहते हैं। एक समय बृहस्पति वहाँ था, तब नारद ऋषि ने उससे रोहिणी के पूर्वचिन्हों के विषय में पूछा जिस पर बृहस्पति ने उसको उनकी व्याख्या करके समझाई। मैं यहाँ, जहाँ तक आवश्यक है, उनका बखान करूँगा।

श्लोक ४—आषाढ़ के कृष्ण पक्ष में मनुष्य पर्यवेक्षण करे कि क्या चंद्रमा रोहिणी में पहुँचता है। वह नगर के उत्तर या पूर्व में एक उच्च स्थान ढूंढ़े। इस स्थान को राजा के प्रसादों का अधिष्ठाता ब्राह्मण अवश्य जाय। वह वहाँ अग्नि प्रज्वलित करे और उसके गिर्द विविध तारों और नक्षत्रों का चित्र खींचे। वह वहाँ उनमें से प्रत्येक के लिए जो कुछ आवश्यक है उसका पाठ करे और प्रत्येक को गुलाब के फूलों, जौ और तेल में से उसका भाग दे, और इन वस्तुओं को अग्नि में डालकर प्रत्येक ग्रह को अनुकूल बनावे। अग्नि के गिर्द चारों ओर यथासम्भव बहुत से रत्न और मधुरतम जल से भरे हुए लोटे हों, और जो भी अन्य वस्तुएँ फल, बूटियाँ, वृक्षों की टहनियाँ और पेड़ों की जड़ें उस समय पास हों, रक्खी हों। फिर, वह वहाँ घास बिछावे जो उसके रात्रि चतुर्थांशों के लिए एक दरांती के साथ काटी गई हो। तब वह भिन्न-भिन्न प्रकार के बीज और अनाज ले, उनको जल के साथ धोवे, उनके मध्य में सोना रक्खे और उनको एक लोटे में डाल दे। वह उसे एक विशेष दिशा की ओर रक्खे, और होम करे अर्थात जौ और तेल आग में डाले और साथ ही वेद के विशेष मंत्र पढ़े जो भिन्न-भिन्न दिशाओं से लगाव रखते हैं, यथा वरुण-मंत्र, वायव-मंत्र और सोम-मंत्र। वह एक दंड अर्थात एक लम्बा और उंचा भाला, खड़ा करता है जिसकी चोटी से दो वद्धियाँ लटका करती हैं, एक तो भाले के बराबर लम्बी होती है और दूसरी उससे तिगुनी। उसे यह सब काम चंद्रमा के रोहिणी में पहुँचने के पूर्व ही कर लेना चाहिए इसलिए कि जब वह (चांद) उसमें पहुँचे वह पवन के चलने के समयों और साथ ही उसकी दिशाओं का निश्चय करने के लिए तैयार हो। उसे इसका पता भाले के वद्धियों के द्वारा होता है।

श्लोक १०—यदि उस दिन पवन चार दिशाओं के मध्य में से चलती है तो इसे शुभ समझा जाता है; यदि यह उनके बीच में की दिशाओं से चलती है तो यह अशुभ समझी जाती है। यदि पवन एक ही दिशा में स्थिर प्रबल और अपरिवर्तित रहती है तो यह भी शुभ ही समझा जाता है। इसके चलने का समय दिन के आठ भागों से मापा जाता है और प्रत्येक आठवां भाग एक मास के आधे के अनुरूप समझा जाता है।

श्लोक ११—जब चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र को छोड़े तुम विशेष दिशा में रक्खे हुए बीजों को देखो। उनमें से जिसमें अंकुर फूटा हुआ है वह उस वर्ष प्रचुरता से उगेगा।

श्लोक १२—जब चंद्रमा रोहिणी के निकट पहुँचे तो तुम्हें ध्यान से देखते रहना चाहिए। यदि आकाश निर्मल है, उसमें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं; यदि पवन पवित्र है और कोई विनाशक संक्षोभ उत्पन्न नहीं करतो; यदि पशुओं और पक्षियों के स्वरसंयोग रम्य हैं तो यह शुभ समझा जाता है। अब हम मेघों पर विचार करेंगे।

श्लोक १३, १४—यदि वे उपत्यका (वल्ल ?) की शाखाओं के सदृश लहराते हैं और उनमें से बिजली की कौंधें आँख के सामने प्रकट होती हैं यदि वे इस प्रकार खुलते हैं जिस प्रकार श्वेत कमल खिलता है, यदि बिजली सूर्य की किरणों के सदृश मेघ को घेरती है यदि बादल का रंग किंशुक का या मधुमक्खियों का या कुंकुम का है।

श्लोक १५—१९—यदि आकाश मेघों से आच्छादित है, और उनमें से स्वर्ण के सदृश बिजली कौंधती है, यदि इन्द्रधनुष अपने गोल रूप को सायंकाल के सन्धिप्रकाश की लालिमा के सदृश किसी वस्तु से, और दुलहिन के वस्त्रों के रंगों के सदृश रंगों से रँगा हुआ दिखलाता है, यदि मेघनाद मोर के, या उस पक्षी के चीत्कार के सदृश होता है जो बरसते हुए मेंह के सिवा और कहीं से पानी नहीं पी सकता, जो तब हर्ष से उसी प्रकार चिल्लाता है, जिस प्रकार मेंढक परिपूर्ण जलाशयों में प्रसन्नता के कारण प्रचण्डता से टर्राता है, यदि तुम आकाश को छोटे-छोटे पेड़ों के जंगल में, जिसके विविध भागों में आग धधक रही है, साथियों और भैंसों के प्रकोप के समान कोपायमान देखो, यदि बादल हाथियों के अंगों के समान हिलते हैं, यदि वे मोतियों, शंखों, हिम और वरन् चन्द्रमा की किरणों की चमक के सदृश चमकते हैं, मानो चन्द्रमा ने मेघों को दीप्ति और आभा उधार दे दी हो।,

श्लोक २०—यह सब अधिक वर्षा और प्रचुर वृद्धि द्वारा सुख को दिखलाता है।

श्लोक २५—जिस समय ब्राह्मण पानी के लोटों के मध्य में बैठा हो, तो तारों का गिरना, बिजली का कौंधना, मेघ का गर्जन, आकाश में लाल चमक, आँधी, भूकम्प, ओलों का बरसना, और वन-पशुओं का चिल्लाना, ये सब बातें अशुभ समझी जाती हैं।

श्लोक २६—यदि उत्तर दिशा में, लोटे में अपने आप, या छिद्र से, या टपकने से जल कम हो जाय, तो श्रवण मास में वर्षा नहीं होगी। यदि पूर्व दिशा में, लोटे में जल कम हो जाय, तो भाद्रपद में कोई वर्षा नहीं होगी। यदि दक्षिण दिशा में यह लोटे में कम हो जाय, तो आश्वयुज में कोई वर्षा न होगी, और यदि पश्चिम दिशा में लोटे में जल घट जाय, तो कार्तिक में कोई वृष्टि न होगी। यदि लोटों में पानी न घटे, तो ग्रीष्म-वृष्टि पूर्ण रूप से होगी।

श्लोक २७—लोटों से वे भिन्न-भिन्न वर्णों के विषय में पूर्वचिन्ह भी निकालते हैं। उत्तरी लोटे का लगाव ब्राह्मण से, पूर्वी का क्षत्रिय से, दक्षिणी का वैश्य से, और पश्चिमी का शूद्र से है। यदि लोगों के नाम और विशेष अवस्थाएं लोटों पर खोदकर लिखी हों, तो उनके साथ जो भी घटना घटे—यदि, उदाहरणार्थ, वे टूट जायें या उनमें पानी घट जाय—तो यह उन लोगों या अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाली किसी बात का पूर्वचिन्ह समझा जाता है।"

स्वाती और श्रवण पर संहिता

"स्वाती और श्रवण नक्षत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले नियम वैसे ही हैं जैसे कि रोहिणी के है। जब तुम आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में हो, जब चन्द्रमा दो आषाढ़ नक्षत्रों, अर्थात् पूर्व-आषाढ़ या उत्तर आषाढ़ा, में से किसी एक में हो, तो जैसे तुमने रोहिणी के लिए एक स्थान चुना था

वैसे ही एक स्थान चुनो, और सोने का एक तराज़ू लो। यही सबसे उत्तम है। यदि यह चाँदी का है, तो मध्यम है। यदि यह चाँदी का नहीं; तो इसे खैर नामक लकड़ी का, जो खदिरवृक्ष प्रतीत होता है, या ऐसे बाण के सिरे का जिसके साथ आगे ही एक मनुष्य मारा जा चुका है, बनाओ। इसकी डंडी की लम्बाई के लिए छोटा से छोटा मान वितस्ति है। यह जितनी अधिक लम्बी हो, उतना ही अच्छा है, जितनी यह छोटी होगी उतनी यह कम अनुकूल है।

श्लोक ६—तराज़ू की चार डोरियाँ होती हैं, जिनमें से प्रत्येक १० कला लम्बी होती है। इसके दो पलड़े ६ कला के परिमाण के पटुवे के वस्त्र के होते हैं। इसके दो बाट सोने के होते हैं।

श्लोक ७, ८—इससे प्रत्येक चीज की—कुँवों के पानी, सरोवर के पानी, नदियों के पानी, हाथी के दांतों, घोड़ों के बालों, स्वर्णमुद्राओं, जिन पर राजाओं के नाम लिखे हुए हों, और दूसरी धातु के टुकड़ों, जिन पर दूसरे लोगों के नाम, या पशुओं, बर्षों, दिनों, दिशाओं या देशों के नाम बोले गये हैं—समान मात्राएँ तोलो।

श्लोक १—तोलते समय पूर्व की ओर मुड़ो, बाट दायें पलड़े में और जो वस्तुएँ तोलनी हैं वे बायें पलड़े में रक्खो। उनके ऊपर मन्त्र पढ़ो और तुला से कहो—

श्लोक २—"तू शुद्ध है। तू देव की पत्नी है। तू ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती है, तू यथार्थ और सत्य का प्रकाश करती है। तू शुद्धता की आत्मा से भी अधिक शुद्ध है।

श्लोक ३—तू सूर्य और ग्रहों के सदृश है जो पूर्व से पश्चिम को एक ही मार्ग पर घूमते हैं।

श्लोक ४—तेरे द्वारा संसार की व्यवस्था सीधी रहती है, और सभी देवों और ब्रह्मणों का सत्य और यथार्थता तुझमें संयुक्त है।

श्लोक ५—तू ब्रह्मा की पुत्री है, और कश्यप तेरे घर का एक पुरुष है।'

श्लोक १—तोलने की यह क्रिया सायंकाल होनी चाहिए। तब वस्तुओं को अलग रख दो, और दूसरे दिन सवेरे उन्हें फिर तोलो। जिस वस्तु का भार बढ़ गया है वह उस वर्ष में पनपेगी और बढ़ेगी, जो घट गई है वह बुरी होगी और पीछे जायगी।

परन्तु तोलने का यह काम केवल अषाढ़ा में ही नहीं, वरन् रोहिणी और स्वाती में भी करना चाहिए।

श्लोक ११—यदि लौंद का वर्ष है, और तोलने की क्रिया संयोग से अधिक मास में होती है, तो उस वर्ष में तौलने का काम दुबारा किया जाता है।

श्लोक १२—यदि पूर्वलक्षण अभिन्न हैं, तो जिस बात की वे भविष्य-वाणी करते हैं वही होगा। यदि वे अभिन्न नहीं थे, तो रोहिणी के पूर्व लक्षणों का अवलोकन करो, क्योंकि इसका प्राधान्य है।"

अट्ठावनवाँ परिच्छेद

सागर में ज्वार भाटा कैसे आता है

मत्स्य पुराण से अवतरण

इस कारण के विषय में कि सागर का जल सदा ऐसा ही जैसा कि यह है क्यों रहता है, हम मत्स्यपुराण से निम्नलिखित वचन देते हैं—"आरम्भ में सोलह पर्वत थे। उनके पंख थे। परन्तु राजा इन्द्र की किरणों ने उनके पंखों को जला दिया, जिससे वे पंखहीन होकर सागर के आस-पास कहीं गिर पड़े। उनमें से चार-चार दिङ् निर्णय यन्त्र के प्रत्येक बिन्दु में गिरे—पूर्व में, ऋषभ, बलाहक; चक्र, मैनाक, उत्तर में, चन्द्र, कङ्क, द्रोण, सुह्य, पश्चिम में वक्र, वभ्र, नारद, पर्वत, दक्षिण में, जीमूत, द्रविण; मैनाक, महाशैल (?)। पूर्वी पर्वतों के तीसरे और चौथे के बीच संवर्तक अग्नि है जो सागर के जल को पीती है। यदि यह न हो तो सागर भर जाय, क्योंकि नदियाँ सदैव इसमें गिरती रहती हैं।

राजा और्व की कथा

"यह अग्नि उनके और्व नामक एक राजा की आग है। उसे राज्य अपने पिता से दाय में मिला था। उसका पिता भ्रूणावस्था में ही मार डाला गया था। जब और्व का जन्म हुआ और बड़े होकर उसने अपने पिता का इतिहास सुना, तब वह देवों से क्रुद्ध हो गया, और उनको मारने के लिए उसने अपनी तलवार निकाली, क्योंकि, यद्यपि संसार उनका पूजन करता था और यद्यपि उनका संसार के समीप का संसर्ग था, तो भी उन्होंने संसार की संरक्षकता का परित्याग किया था। इस पर देवों ने उसके सामने दीनता स्वीकार की और उसे मनाने का यत्न किया, यहाँ तक कि उसने क्रोध छोड़ दिया। तब वह उनसे बोला—'परन्तु मैं अपनी क्रोधाग्नि का क्या करूँ?, और उन्होंने उसे इसको समुद्र में फेंक देने का परामर्श दिया। यह वही आग है जो समुद्र के पानी को सुखाती है। दूसरे लोग कहते हैं—'नदियों का जल समुद्र को इसलिए नहीं बढ़ाता, क्योंकि राजा इन्द्र मेघ के रूप में सागर को ऊपर उठाता, और वर्षा के रूप में नीचे भेजता है।'

मत्स्यपुराण फिर कहता है—"चन्द्रमा का कृष्ण अंश, जो शशलक्ष अर्थात् खरगोश का आकार कहलाता है, चन्द्रमा के प्रकाश से उसके पिंड पर प्रतिबिम्बित उपर्युक्त सोलह पर्वतों के रूप की प्रतिच्छाया है।"

विष्णु-धर्म कहता है—"चन्द्रमा शशलक्ष इसलिए कहलाता है, क्योंकि उसके पिंड का गोला जलमय है, जो मुकुर के सदृश पृथ्वी का आकार प्रतिबिम्बित करता है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न रूपों के पर्वत और वृक्ष हैं जो शश के आकार के रूप में चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित होते हैं। यह मृगलाञ्छन, अर्थात् मृग का रूप भी, कहलाता है, क्योंकि कुछ लोग चन्द्रमा के मुख पर काले भाग की तुलना मृग के आकार से करते हैं।"

चन्द्रमा के कोढ़ की कथा

नक्षत्रों को वे प्रजापति की पुत्रियाँ बताते हैं, जिनके साथ कि चन्द्रमा का विवाह हुआ है।

वह रोहिणी पर विशेष प्रेम रखता था, और उसे दूसरों से अच्छा समझता था। अब उसकी बहनों ने, मत्सरता के वशीभूत होकर, चन्द्रमा की शिकायत अपने पिता प्रजापति से की। प्रजापति ने ने उनमें शान्ति बनाये रखने का यत्न किया, और चन्द्रमा को उपदेश दिया, परन्तु उसे सफलता हुई। तब उसने चन्द्रमा को शाप दिया (कृमिभुक्त), जिसके फल से उसके मुख पर कोढ़ हो गया। अब चन्द्रमा ने अपने किये पर पश्चात्ताप किया, और खिद्यमान होकर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उससे कहा—"मैं एक बात कहता हूँ, और इसको मेटा नहीं जा सकता, परन्तु मैं तेरी लज्जा को प्रत्येक मास में आधे समय के लिए ढक दिया करूँगा।" इस पर चन्द्रमा ने प्रजापति से कहा—"परन्तु अतीत के पाप का चिन्ह मुझ पर से कैसे पोंछा जायगा!" प्रजापति ने उत्तर दिया—"अपनी पूजा के लिए महादेव के लिंग की मूर्ति की स्थापना करने से।" चन्द्रमा ने ऐसा ही किया। जो लिंग उसने स्थापित किया वह सोमनाथ था, क्योंकि सोम का अर्थ चन्द्रमा और नाथ का अर्थ स्वामी है, जिससे सारे शब्द का अर्थ चन्द्रमा का स्वामी होता है। इस मूर्ति को बादशाह महमूद ने—परमात्मा उस पर दया रक्खे—सन् ४१६ हिजरी में नष्ट कर दिया था। उसने आज्ञा दी कि मूर्ति का उपरिभाग तोड़ डाला जाय, और बाकी को, उसके सभी सुनहले आच्छादनों और भूषणों, रत्नों और गुलकारीवाले परिधानों समेत उठाकर उसके निवास स्थान गजनी में ले जाया जाय। इसका कुछ अंश चक्रस्वामिन् नामक काँसे की मूर्ति सहित, जो कि थानेश्वर से लाई गई थी, नगर के घुड़दौड़ के चक्कर में फेंक दिया गया है। सोमनाथ की मूर्ति का एक दूसरा टुकड़ा गजनी की मसजिद के द्वार के आगे पड़ा है, जिस पर लोग मैल और गोपालन दूर करने के लिए अपने पैरों को मलते हैं।

लिङ्ग की उत्पत्ति

लिङ्ग महादेव की मूत्रेन्द्रिय की मूर्ति है। मैंने इसके विषय में यह कथा सुनी है—"एक ऋषि ने जब महादेव को उसकी स्त्री सहित देखा तो उसे महादेव पर संदेह हो गया और उसने उसे शाप दिया कि वह लिङ्गहीन हो जाय। तत्काल उसकी मूत्रेन्द्रिय गिर पड़ी, और ऐसा हो गया मानो पोंछ डाली हो। परन्तु तत्पश्चात ऋषि की स्थिति ऐसी हो गई जिसमें वह महादेव की निर्दोपिता के चिन्हों को प्रतिष्ठित और आवश्यक प्रमाणों द्वारा निश्चित कर सकता था। जो सन्देह उसके मन को व्यथित कर रहा था वह दूर हो गया, और वह उससे बोला—'मैं तेरे खोये हुए अंग की मूर्त्ति को मनुष्यों के लिए पूजा का विषय बनाकर तेरा बदला चुका दूँगा। वे उसके द्वारा परमेश्वर का मार्ग पायेंगे और उसके समीप आयेंगे।"

वराहमिहिर के अनुसार लिङ्ग की रचना

लिंग की बनावट के विषय में वराहमिहिर कहता है—"इसके लिए एक निर्दोष पत्थर चुनकर उसमें से उतना लम्बा ले लो जितना कि तुम मूर्त्ति को बनाने की इच्छा रखते हो। इसको तीन भागों में बाँटो। इसका सबसे निचला भाग चतुर्भुज है, मानों यह एक घन या चतुर्भुज स्तम्भ हो। बीच का भाग अष्टकोण है, जिसका पृष्ठतल चार चतुष्कोण स्तम्भों में विभक्त है, ऊपर का तीसरा भाग गोल है, इस प्रकार गोल किया हुआ है कि वह पुरुष की मूत्रेन्द्रिय की गुलथी के सदृश है।

श्लोक ५४—मूर्ति को स्थापित करने के लिए, चतुर्भुज तृतीयांश को भूमि के भीतर रख दो, और अष्टकोण तृतीयांश के लिए एक ढक्कन बनाओ, जो कि पिण्ड कहलाता है। यह बाहर से

चतुर्भुज परन्तु साथ ही ऐसा होता है कि भूमि के भीतर के चतुर्भुज तृतीयांश पर भी ठीक आ जाता है। परन्तु भीतर की ओर का अष्टकोण आकार उस मध्यवर्ती तृतीयांश पर ठीक आने के लिए है जो भूमि से बाहर निकला रहता है। गोलमोल तृतीयांश ही अकेला बिना ढक्कन के होता है।"

वह और कहता है—

श्लोक ५५—"यदि तुम गोल भाग को बहुत छोटा या बहुत पतला बनाओगे, तो इससे देश की हानि होगी और जिन प्रदेशों के अधिवासियों ने इसे बनाया था उन पर विपत्ति आयगी। यदि यह भूमि में पर्याप्त रूप से गहरा न जाय, या बहुत थोड़ा भूमि से बाहर रहे, तो इससे लोग बीमार पड़ जाते हैं। जब यह बन रहा हो, और इसे मेख से ठोका जाय, तो शासक और उसका परिवार नष्ट हो जायगा। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हुए इसे चोट लगे, और चोट का उस पर चिन्ह रह जाय, तो शिल्पी नष्ट हो जायगा और उस देश में विनाश और व्याधियाँ फैलेंगी।"

सोमनाथ की मूर्ति की पूजा

सिन्ध देश के दक्षिण-पश्चिम में यह मूर्ति हिन्दुओं की पूजा के लिए नियत मन्दिरों में बहुधा मिलती है, परन्तु सोमनाथ इन स्थानों में सबसे प्रसिद्ध था। प्रतिदिन वहाँ गंगाजल का एक लोटा और काश्मीर से फूलों की एक टोकरी आती थी। लोगों का विश्वास था कि सोमनाथ का लिंग लोगों की प्रत्येक बद्धमूल व्याधि को शान्त और प्रत्येक हताश और असाध्य रोग को चंगा कर देता है।

सोमनाथ विशेष रूप से इतना प्रसिद्ध क्यों हो गया है इसका कारण यह है कि यह मल्लाहों का बन्दर स्थान और उन लोगों के लिए ठहरने की जगह थी जो ज़ञ्ज देशान्तर्गत सुफाला और चीन के बीच आगे और पीछे जाया करते थे।

ज्वार भाटा के कारण

अब भारतीय महासागर में ज्वार और भाटा के विषय में, जिनमें से भाटा भर्ण (?) और जुआर बुहार (?) कहलाता है, हमारा कथन यह है कि, सामान्य हिन्दुओं के मतानुसार; महासागर में बड़वानल नाम की एक आग है, जो सदैव धधकती रहती है। इस आग के साँस खींचने और वायु के कारण इसके ऊपर को उड़ने से जुआर होता है; और आग के साँस बाहर निकालने और वायु के कारण इसके ऊपर का उड़ना बन्द हो जाने से भाटा होता है।

हिन्दुओं से यह सुनने के अनन्तर कि समुद्र में एक ऐसा राक्षस है जिसके श्वासोच्छ्वास से जुआर भाटा होता है, मानी इसी प्रकार के एक विश्वास पर पहुँचा है।

सुशिक्षित हिन्दू ज्वार-भाटे के दैनिक रूपों का निश्चय चन्द्रमा के उदय और अस्त होने से, और मासिक रूपों का चन्द्रमा के बढ़ने और घटने से करते हैं; परन्तु दोनों प्राकृतिक घटनाओं का भौतिक कारण वे नहीं जानते।

ज्वार-भाटे से ही सोमनाथ का यह नाम (अर्थात्, चन्द्रमा का स्वामी) हुआ है; क्योंकि सोमनाथ का पत्थर (या लिंग) पहले पहल सागर-तट पर, सरस्वती नदी के मुहाने से तीन से कुछ कम मील पर पश्चिम को, बारोई के सुवर्ण-दुर्ग के पूर्व में,—जो वासुदेव के लिए निवास-स्थान के रूप में प्रकट हुआ था, उस स्थान से बहुत दूर नहीं जहाँ वासुदेव और उनका परिवार मारा गया था, और जहाँ वे जलाये गये थे—स्थापित किया गया था। प्रत्येक बार जब चन्द्रमा उदय और

अस्त होता है, सागर का जल उमड़कर प्रस्तुत स्थान को ढक लेता है। फिर, जब चन्द्रमा मध्याह्न और मध्यरात्रि के याम्योत्तर वृत्त पर पहुँचता है, तब भाटा के कारण पानी पीछे हट जाता है, और वह स्थान पुनः व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा सतत रूप से मूर्ति की सेवा और स्नान में लगा रहता था। इसलिए वह स्थान चन्द्रमा के लिए पवित्र समझा जाता था। वह दुर्ग, जिसमें वह प्रतिमा और उसके खजाने थे, प्राचीन नहीं था परन्तु केवल कोई एक सौ वर्ष पहले बनाया गया था।

विष्णुपुराण कहता है—"ज्वार के पानी की अधिकतम उँचाई १५०० † कला है।" यह कथन कुछ अतिमात्र प्रतीत होता है; क्योंकि यदि लहरें और सागर की मध्यम उँचाई साठ और सत्तर गज के बीच तक उठती, तो किनारों और खाड़ियों में जितनी कि कभी देखी गई है उससे बहुत अधिक बाढ़ आती। फिर भी यह सर्वथा असम्भव नहीं, क्योंकि यह प्रकृति के किसी नियम के कारण अपने आप में असाध्य नहीं।

बारोई का स्वर्ण-दुर्ग

यह बात कि जिस दुर्ग का अभी उल्लेख हुआ है वह सागर से आविर्भूत हुआ है, सागर के उस विशेष भाग के लिए विस्मयजनक नहीं। दीवजात के द्वीप (मालद्वीप और लकाद्वीप), पुलिनों के रूप में सागर से निकलकर, इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं। वे बढ़ते, और उठते, और अपने को विस्तृत करते, और कुछ काल तक इस अवस्था में रहते हैं। तब वे मानो बुढ़ापे से जीर्ण हो जाते हैं; न्यारे न्यारे भाग घुल जाते हैं, वे अब इकट्ठा नहीं रहते और जल में अन्तर्धान हो जाते हैं मानों पिघल गये हों। इन द्वीपों के अधिवासी उस द्वीप को छोड़ देते हैं जो साक्षात मर जाता है, और नवयुवक और ताजा द्वीप पर जा बसते हैं जो सागर से ऊपर उठने को होता है। वे अपने नारियल के पेड़ अपने साथ ले जाते हैं, नवीन द्वीप में बस्ती बसाते हैं और उस पर रहते हैं।

हो सकता है कि प्रस्तुत दुर्ग का सुनहला कहलाना केवल एक रूढ़ उपाधि हो। परन्तु, सम्भवतः इस पदार्थ को मूलार्थतः ही लेना होगा, क्योंकि जावज के द्वीप सुनहला देश (सुवर्ण द्वीप) कहलाते हैं। कारण यह कि यदि तुम उस देश की थोड़ी सी मिट्टी को भी धोवो तो तुम्हें बहुत सा सुवर्ण तलछट के रूप में मिल जाता है।

---

† ग्रन्थकार के इस प्रकार लिखने से प्रतीत होता कि विष्णुपुराण पानी की ऊँचाई १५०० कला बताता है। पन्तु ऐसी बात नहीं है-ज्वार की वजह से अधिकतम उँचाई ५०० इंच तक होती है।

उनसठवाँ परिच्छेद

सूर्य और चन्द्र के ग्रहण

ग्रहणों की उत्पत्ति

हिन्दू ज्योतिषियों को यह बात पूर्ण रूप से ज्ञात है कि पृथ्वी की छाया से चन्द्र-ग्रहण, और चन्द्र की छाया से सूर्य-ग्रहण होता है। इस पर उन्होंने ज्योतिष के गुटकों और दूसरे ग्रन्थों में अपने परिसंख्यानों की नींव रक्खी है।

संहिता में वराहमिहिर कहता है—

श्लोक १—"कुछ विद्वानों का मत है कि शिर राहु दैत्यों का था, और उसकी माता सिंहिका थी। जब देवताओं ने सागर से अमृत बाहर निकाला, तब उन्होंने विष्णु से कहा कि इसे हममें बाँट दीजिए। जब उसने बांटा, तब राहु भी, जो आकार में देवताओं से मिलता-जुलता था, आ गया; और उनमें आकर मिल गया। जब विष्णु ने उसे अमृत का भाग दिया तब वह लेकर पी गया। परन्तु विष्णु ने उसे ताड़ लिया कि वह कौन है। उसने अपना गोल-चक्र उसे मारा, और उसका सिर काट डाला। परन्तु उसके मुख में अमृत होने के कारण राहु जीता रहा, किन्तु शरीर मर गया, क्योंकि इसको अमृत का भाग नहीं मिला था, और अमृत की शक्ति अभी इसमें नहीं फैली थी। तब राहु ने विनीत भाव से कहा—'किस अपराध के लिए यह किया गया है?' इस पर उसको ऊपर आकाशमें भेजकर, और वहाँ का अधिवासी बनाकर, उसका बदला चुकाया गया।

श्लोक २—दूसरे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्र के सदृश शिर (राहु) की देह है, परन्तु यह काली और अँधेरी है, इसलिए आकाश में देखी नहीं जा सकती। आदि-पिता, ब्रह्मा ने, आज्ञा दी कि वह ग्रहण के समय के सिवा और कभी आकाश में प्रकट न हो।

श्लोक ३—दूसरे कहते हैं कि उसका सिर साँप के सिर के समान, और पूछ साँप की पूंछ के समान है, परन्तु दूसरे कहते हैं कि काले रंग के सिवा, जो कि दिखाई देता है, उसका और कोई शरीर नहीं।"

इन असंगत बातों को सुना चुकने के पश्चात वराहमिहिर कहता है—

श्लोक ४—यदि शिर का शरीर होता, तो वह तात्कालिक संसर्ग से कार्य करता, परन्तु हम देखते हैं कि वह दूर से ग्रहण लगाता है, जब उसके और चन्द्रमा के बीच छः राशियों का अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त, उसकी गति न बढ़ती है और न घटती है, इसलिए हम उसके शरीर के चान्द्र ग्रहण के स्थान पर पहुँचने से ग्रहण के होने की कल्पना नहीं कर सकते।

श्लोक ५—और यदि कोई मनुष्य ऐसे मत को मानता है, तो वह हमें बताये कि शिर के भ्रमणों के चक्रों की किसलिए गणना की गई है, और इस बात के फल-स्वरूप कि उसका भ्रमण नियम-पूर्वक है उनके ठीक होने से क्या लाभ है? यदि शिर की कल्पना सिर और पूंछवाले साँप की की गई है, तो वह छः राशियों से अधिक या कम अन्तर से क्यों ग्रहण नहीं लगाता?

श्लोक ६—उसका शरीर वहाँ सिर और पूंछ के बीच वर्तमान है; दोनों शरीर के द्वारा इकट्ठा लटक रहे हैं। फिर भी वह न तो सूर्य को, न चन्द्रमा को और न नक्षत्रों के स्थिर तारों को ग्रहण लगाता है; वहाँ पर तभी ग्रहण होता है जब दो सिर एक दूसरे के विरुद्ध हों।

श्लोक ७—यदि शेषोक्त अवस्था हो, और चन्द्रमा उन दो में से एक के द्वारा ग्रहण लगा हुआ चढ़े, तो सूर्य दूसरे से ग्रहण लगने के कारण, अवश्यमेव अस्त हो जायगा। इसी प्रकार यदि चन्द्रमा ग्रहण लगा हुआ अस्त हो जाय, तो सूर्य-ग्रहण लगा हुआ उदय होगा। और इस प्रकार की कोई भी घटना कभी नहीं होती।

श्लोक ८—जैसा कि ईश्वरीय सहायता से सम्पन्न विद्वानों ने उल्लेख किया है, चान्द्र-ग्रहण, चन्द्रमा का पृथ्वी की छाया में प्रवेश करना है, और सूर्य का ग्रहण इस बात में है कि चन्द्रमा सूर्य को ढँकता और हमसे छिपाता है। इसलिए चान्द्र-ग्रहण पश्चिम से और सौर ग्रहण पूर्व से कभी नहीं घूमेगा।

श्लोक ९—पृथ्वी से एक लम्बी छाया दूर तक फैलती है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्ष की छाया।

श्लोक १०—सूर्य से अपने अन्तर की सातवीं राशि में ठहरे हुए चन्द्रमा का जब केवल थोड़ा सा अक्ष हो, और यदि यह उत्तर या दक्षिण में बहुत दूर न खड़ा हो, तो उस अवस्था में चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है और इससे उसे ग्रहण लग जाता है। पहला संसर्ग पूर्व के पार्श्व पर होता है।

श्लोक ११—जब सूर्य के निकट चन्द्रमा पश्चिम से पहुँचता है, तब वह सूर्य को ढक लेता है, जैसे बादल के टुकड़े ने उसे ढँक लिया हो। आच्छादन का परिमाण भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न होता है।

श्लोक १२—क्योंकि जो चन्द्रमा को आच्छादित करता है वह बड़ा है, इसलिए जब उसके आधे को ग्रहण लग जाता है तब इसका प्रकाश घट जाता है; और क्योंकि जो सूर्य को आच्छादित करता है वह बड़ा नहीं है, इसलिए ग्रहण के रहते भी किरणें प्रचण्ड होती हैं।

श्लोक १३—शिर (राहु) के स्वरूप का चान्द्र और सौर ग्रहणों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इस विषय पर विद्वान अपनी पुस्तकों में सहमत हैं।"

दोनों ग्रहणों का स्वरूप, जैसा कि वह उनको समझता है, वर्णन करने के पश्चात, वह उन लोगों की शिकायत करता है जो इसको नहीं जानते, और कहता है—"परन्तु सर्वसाधारण बड़े ऊँचे स्वर से शिर को ग्रहण का कारण विघोषित करते हैं, और वे कहते हैं, 'यदि शिर प्रकट न हो और ग्रहण न लगाये, तो ब्राह्मण उस समय आवश्यक स्नान नहीं करेंगे।"

वराहमिहिर कहता है—

श्लोक १४—"इसका कारण यह है कि काटा जा चुकने के पश्चात शिर ने अपने को विनीत बनाया, ब्रह्मा से उस नैवेद्य का एक भाग प्राप्त किया जो ब्राह्मण ग्रहण के समय अग्नि की भेंट करते हैं।

श्लोक १५—इसलिए वह अपने भाग की तलाश में ग्रहण के स्थान के निकट है। इसीलिए उस समय लोग उसका बहुत बार उल्लेख करते, और उसे ग्रहण का कारण समझते हैं, यद्यपि उसका इसके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ग्रहण का सारा निर्भर चन्द्रमा की कक्षा की एकरूपता और च्युति पर है।"

वराहमिहिर की प्रशंसा

वराहमिहिर ने; पूर्व उद्धृत वचनों में, पहले ही अपने को हमारे सामने एक ऐसा मनुष्य प्रकट किया है जो संसार का आकार यथार्थतः जानता है। अब उसके ये पिछले शब्द विलक्षण और विस्मयजनक हैं। किन्तु कभी-कभी वह ब्राह्मणों का पक्ष लेता हुआ प्रतीत होता है। वह ब्राह्मणों में से था, और उनसे अपने को अलग नहीं कर सकता था। फिर भी वह दोष देने योग्य नहीं; क्योंकि, सर्वतोभावेन, उसका पैर सत्य के आधार पर दृढ़ खड़ा है, और वह स्पष्ट रूप से सत्य कह देता है। उदाहरणार्थ सन्धि के विषय में उसके कथन की तुलना कीजिए, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है।

ब्रह्मगुप्त पर आक्षेप

परमेश्वर करे कि सभी प्रतिपन्न मनुष्य उसके उदाहरण का अनुकरण करें। परन्तु, उदाहरणार्थ ब्रह्मगुप्त * को देखिये। वह निश्चय ही उनके ज्योतिषियों में सबसे अधिक ख्यात है। वह उन ब्राह्मणों में से एक था जो पुराणों में पढ़ते हैं कि सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा नीचे है, और इस कारण जिनको एक शिर (अर्थात राहु को मानने) का प्रयोजन होता है जो सूर्य को ग्रहण लगाने के लिए उसे काटे, अतएव वह सच्चाई से बचता है और छल का समर्थन करता है। यदि उसने, उनसे तीव्र घृणा के कारण समर्थन नहीं किया—और इसको हम किसी प्रकार असम्भव नहीं समझते—तो उसका कथन ऐसा है मानो उसने उन पर केवल हँसी करने के लिए, या किसी मानसिक विभ्रम के वशीभूत होकर उन मनुष्य के सदृश कहा हो जिनको संज्ञा को मृत्यु उनसे छीननेवाली है। प्रस्तुत शब्द उसके ब्रह्मसिद्धान्त के प्रथम परिच्छेद में पाये जाते हैं :—"कुछ लोगों का विचार है कि ग्रहण का कारण शिर नहीं। परन्तु, यह मूढ़ विचार है, क्योंकि वास्तव में यह ग्रहण लगता है, और संसार के सभी अधिवासी कहते हैं कि ग्रहण लगनेवाला शिर ही है। वेद, जो ब्रह्मा के मुख से भगवद्वाणी है, कहता है कि शिर ग्रहण लगाता है, इसी प्रकार मनु-प्रणीत स्मृति और ब्रह्मा के पुत्र गर्ग-रचित संहिता कहती है। इसके विपरीत, वराहमिहिर, श्रीषेण, आर्यभट, और विष्णुचन्द्र का मत है कि ग्रहण का कारण शिर नहीं, चन्द्रमा और पृथ्वी की छाया है। यह मत सबके (सभी मनुष्यों के) सर्वथा प्रतिकूल, और जिस मत का अभी उल्लेख हुआ है उसके विरुद्ध द्वेष से है। क्योंकि यदि शिर ग्रहण नहीं लगाता तो ये सब व्यवहार, जो ग्रहण के समय ब्राह्मण लोग करते हैं, यथा, उनका अपने शरीर पर गरम तेल मलना, और निर्दिष्ट पूजन के अन्य कर्म, मायामय ठहरेंगे, और उनके फल से स्वर्गीय आनन्द प्राप्त न होगा। यदि मनुष्य इन बातों को मायामय बताता है, तो वह सामान्यतः स्वीकृत मत से बाहर ठहरता है, और इस बात की आज्ञा नहीं। मनु अपनी स्मृति में कहता है—'जब शिर सूर्य चन्द्र को ग्रहण में रखता है, तब पृथ्वी पर सब पानी पवित्र हो जाते हैं, ऐसे पवित्र जैसे कि गंगाजल।' वेद कहता है—'शिर देवों की ... की एक स्त्री का, जो सैंहिकेय (सिंहिका ?) कहलाती है, पुत्र है। इसलिए लोग भक्ति के

---

* ब्रह्मगुप्त की सरलता पर अलबेरूनी ने आक्षेप किये हैं। परन्तु उसकी जिस बात पर वह आक्षेप है उसे अलबेरूनी नहीं समझ सका। अगर ब्रह्मगुप्त के लेखों को गौर से देखें तो ... विचार है तो उसे समझना चाहिए कि ब्रह्मगुप्त ने इन विषय पर सर्व साधारण के अनुसार लिखे हैं।

प्रसिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, और इसलिए उन लेखकों को सर्व साधारण का विरोध करना छोड़ देना चाहिए, क्योंकि जो कुछ भी वेद, स्मृति और संहिता में है वह सत्य है' ।"

यदि, इस सम्बन्ध में, ब्रह्मगुप्त उनमें से एक है जिनके विषय में परमेश्वर कहता है (कुरान सूरा २७ श्लोक १४), "उन्होंने दुर्जनता और दर्प से हमारे चिन्हों से इन्कार कर दिया है, यद्यपि उनके हृदय उनको स्पष्ट रूप से जानते हैं," तो हम उसके साथ वादानुवाद न करेंगे, परन्तु उसके कान में इतना ही धीरे से कह देंगे; यदि अवस्थाओं के अधीन होकर लोगों को धर्म-शास्त्रों का विरोध करना छोड़ देना चाहिए (जैसा कि तुम्हारी अवस्था प्रतीत होती है), तो फिर लोगों को तुम धर्मात्मा बनाने का आदेश क्यों देते हो, यदि तुम स्वयं ऐसा बनना भूल जाते हो ? तब ऐसे शब्द बोलने के पश्चात्, तुम क्यों चन्द्रमा के सूर्य को ग्रहण लगाने की व्याख्या करने के लिए चन्द्रमा के व्यास की गणना, और पृथ्वी की छाया के चन्द्रमा को ग्रहण लगाने की व्याख्या करने के लिए पृथ्वी की छाया के व्यास की गणना करने लगते हो ? क्यों तुम उन नास्तिकों के सिद्धान्त के साथ सहमत होकर दोनों ग्रहणों का परिसंख्यान करते हो, और उनके विचारों के अनुसार नहीं करते जिनसे सहमत होना तुम उचित समझते हो ? यदि ग्रहण लगने पर ब्रह्मणों को पूजा का कोई कर्म अथवा कुछ करने का आदेश है, तो ग्रहण इन बातों की केवल तिथि है, उनका कारण नहीं। इस प्रकार, सूर्य के प्रकाश और उनके परिभ्रमण के विशेष समय पर, हम मुसलमानों के लिए कुछ प्रार्थनाओं का पढ़ना अनिवार्य है, और कुछ के पढ़ने का निषेध है। ये बातें उन क्रियाओं के लिए केवल कालगणना-सम्बन्धी तिथियाँ हैं, इससे बढ़कर कुछ नहीं, क्योंकि हमारी (मुसलमानों की) पूजा के साथ सूर्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

ब्रह्मगुप्त कहता है—"सर्वसाधारण का विचार है।" यदि उसका इससे अभिप्राय वास-योग्य जगत के अधिवासियों के साकल्य से है, तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वह, यथार्थ अनुसंधान से या ऐतिहासिक ऐतिह्य द्वारा, उनकी सम्मतियों का अन्वेषण करने में बहुत कम समर्थ होगा। क्योंकि स्वयं भारतवर्ष, सारे वासयोग्य जगत को तुलना में, एक छोटी सी वस्तु है, और उन लोगों की संख्या जिनका, धर्म और कानून दोनों में, हिन्दुओं से मतभेद है, उनकी संख्या से अधिक है जो उनके साथ एकमत हैं।

या यदि ब्रह्मगुप्त का तात्पर्य हिन्दुओं के सर्वसाधारण से है, तो हम इस बात में सहमत हैं कि उनमें अशिक्षितों की संख्या शिक्षितों से बहुत अधिक है, परन्तु हम यह भी बताते हैं कि हमारे ईश्वरीय ज्ञान की सभी धर्म-स्मृतियों में अशिक्षित समूह को अज्ञानी, सदैव शंका करनेवाले और कृतघ्न होने का दोष दिया गया है।

मुझसे पूछो तो मेरा मन तो यही कहता है कि जिस बात ने ब्रह्मगुप्त से उपर्युक्त शब्द (जिनमें अन्तरात्मा के विरुद्ध पाप मिला हुआ है) कहलाये वह, सुकरात के सदृश, कोई विपद-जनक मृत्यु थी, जो उनके ज्ञान की प्रचुरता और बुद्धि की कुशाग्रता के रहते भी, और जो यद्यपि वह उस समय बिलकुल युवा था, उसके शिर पर आ पड़ती। क्योंकि उसने ब्रह्मसिद्धान्त केवल तीस ही वर्ष की अवस्था में लिखा था। यदि वास्तव में यही उसका बहाना है, तो हम इसे स्वीकार करते हैं, और इसके साथ इस विषय को छोड़ देते हैं। अब उपर्युक्त लोगों (हिन्दू-धर्म-पण्डितों) को लीजिए, जिनसे तुम्हें ध्यान रखना चाहिए कि तुम्हारा मत-भेद न होने पाये। वे चन्द्रमा के सूर्य को ग्रहण लगाने के विषय में, ज्योतिष के सिद्धान्त को समझने में, कैसे समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि वे, अपने पुराणों में चन्द्रमा को सूर्य के ऊपर रखते हैं, और जो ऊपर है वह उसको जो उससे

नीचे है उन लोगों की दृष्टि में, जो उन दोनों से नीचे हैं ढँक नहीं सकता। इसलिए उनको एक ऐसी सत्ता का प्रयोजन हुआ जो चन्द्रमा और सूर्य को उसी प्रकार निगल जाती है जिस प्रकार कि मछली चारा निगल जाती है, और जो उनको उन रूपों में प्रकट करती है जिनमें कि उनके व्यवहृत भाग वास्तव में प्रकट होते हैं। परन्तु, प्रत्येक जाति में अज्ञानी लोग होते हैं, और नेता स्वयं उनसे भी अधिक अज्ञानी होते हैं, जो (जैसा कि कुरान; सूरा २६ श्लोक १२, कहता है) "अपने बोझ और उनके अतिरिक्त दूसरे बोझ उठाते हैं" और जो समझते हैं कि वे उनके मन के प्रकाश को बढ़ा सकते हैं, सच्ची बात तो यह है कि गुरु भी वैसे अज्ञानी हैं जैसे कि शिष्य।

वह बात बड़ी ही विलक्षण है जो वराहमिहिर कुछ प्राचीन लेखकों के विषय में सुनाता है, जिन (लेखकों) पर हमें कुछ ध्यान नहीं देना चाहिए यदि हम उनका विरोध नहीं करना चाहते, जैसा कि, वे चान्द्र दिनों की आठवीं को एक चिपटी तलीवाले बड़े बासन में थोड़े से पानी में उतना ही तेल मिलाकर डालने से ग्रहण के लगने की भविष्य-वाणी करने की चेष्टा करते थे। तब वे उन स्थानों की परीक्षा करते थे जहाँ तेल संयुक्त और बिखरा हुआ होता था। संयुक्त भाग को वे ग्रहण के आरम्भ का भविष्य-सूचन, और बिखरे हुए भाग को इसके अन्त का भविष्य-सूचन समझते थे।

फिर, वराहमिहिर कहता है कि कोई व्यक्ति यह समझा करता था कि ग्रहों का संयोग ग्रहण का कारण (श्लोक १६) है, जबकि दूसरे लोग अशुभ प्राकृतिक घटनाओं से जैसा कि तारों का गिरना, पुच्छल तारे, परिवेश, अन्धकार, झंझावत, भूमि का ऊँचे स्थान से टूटकर नीचे गिरना, और भूकम्प से, ग्रहण के लगने का भविष्यद्ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करते थे। ऐसे ही वह कहता है, "ये बातें सदैव ग्रहण के साथ समकालीन नहीं होतीं, और न वे इसका कारण हैं, अशुभ घटना का स्वरूप ही एक ऐसी चीज है जो ग्रहण और इन व्यापारों में साझे की है। युक्ति संगत व्याख्या ऐसी असंगतियों से सर्वथा भिन्न है।"

वही मनुष्य जो अपने देश-बन्धुओं के चरित्र को बहुत अच्छी तरह जानता है; जो मटरों को लोबिये के साथ, मोतियों को लीद के साथ मिला देना पसन्द करते हैं अपने शब्दों के लिए कोई प्रमाण दिये बिना कहता है (श्लोक ६३)—"यदि ग्रहण के समय प्रचंड वायु चलती है तो अगला ग्रहण छः मास के पश्चात होगा। यदि कोई तारा टूट पड़ता है तो अगला ग्रहण बारह मास से पश्चात होगा। यदि पवन में धूल उड़ रही है तो यह चौबीस मास के पश्चात होगा। यदि पवन गहरी है, तो यह तीस मास के पश्चात होगा। यदि ओले गिरते हैं तो यह छत्तीस मास के पश्चात होगा।"

ऐसी बातों के लिए मौन ही उचित उत्तर है।

ग्रहणों के रंग

मैं इस बात का उल्लेख करने से नहीं चूकूँगा कि जिन भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रहणों का वर्णन अलख्वारिज्मी के पंचांग में है, यद्यपि वे यथार्थतः दिखलाये गये हैं परन्तु वे वास्तविक पर्यवेक्षण के परिणामों से नहीं मिलते। हिन्दुओं का एक ऐसा ही मत अधिक ठीक है, जैसा कि यदि ग्रहण चन्द्रमा के पिंड को आधे से कम आच्छादित करता है तो इस ग्रहण का रंग धुएँ का है; यदि यह उसके अर्धभाग को पूर्ण रूप से ढँक देता है तो यह कोयले का सा काला है, यदि चन्द्रमा

का पिंड आधे से अधिक आच्छादित हो जाता है तो ग्रहण का वर्ण काले और लाल के बीच होता है और अन्ततः यदि यह चन्द्रमा के पिंड को ढंक देता है तो यह पीला-भूरा होता है।

साठवाँ परिच्छेद

पर्वन

पर्वन की परिभाषा

वे अन्तर जिनके बीच ग्रहण हो सकता है और उनके चन्द्र परिवर्तनकालों की संख्या अलमजस्त के छठे अध्याय में पर्याप्त रूप से वर्णित है। हिन्दू लोग समय की उस अवधि को जिसके आदि और अंत में चांद्र ग्रहण होते हैं पर्वन् कहते हैं। इस विषय पर आगे लिखी जानकारी संहिता से ली गई है। इसका रचयिता वराहमिहिर कहता है— प्रत्येक छः मास का एक पर्वन् होता है जिनमें कि ग्रहण लग सकता है। ये ग्रहण सात का एक काल चक्र बनाते हैं। इनमें से प्रत्येक का एक विशेष अधिष्ठाता और निमित्त होता है।

जिस पर्वन् में तुम दैवयोग से हो उसका परिसंख्यान खंडखाद्यक के अनुसार यह है—"इस पंचाग के अनुसार गिने हुये अहर्गण को दो स्थानों में लिखो। एक को ५० से गुणा करो और गुणनफल को १२९६ से भाग दो, और यदि अपूर्णांक आधे से कम न हो तो उसे एक पूरा गिन लो। भजनफल में १०६३ बढ़ाओ। इस संख्या को दूसरे स्थान में लिखी हुई संख्या में जोड़ दो और योगफल को १८० पर भाग दो। भजनफल के पूर्णांक पूर्ण पर्वनों की संख्या हैं। इसको ७ पर भाग दो और जो ७ से कम अवशेष प्राप्त होता है उसका अर्थ पहले पर्वन् से अर्थात ब्रह्मा के पर्वन् से निर्दिष्ट पर्वन् का अन्तर है। परन्तु भाग देने से १८० से कम जो अवशेष तुम्हें प्राप्त होता है वह जिस पर्वन् में तुम हो उसका अतीतांश है। तुम इसे १८० में से घटाते हो। यदि अवशेष १५ से कम है तो एक चांद्र गहण सम्भव या आवश्यक है यदि अवशेष उससे बड़ा है, तो यह असम्भव है। इसलिए तुम सदैव वैसी ही रीति से उस काल का परिसंख्यान करो जो उस निर्दिष्ट पर्वन् से पहले बीत चुका है जिसमें कि तुम दैवयोग से हो।"

उस पुस्तक के एक दूसरे वचन में हम आगे लिखा नियम पाते हैं—"कल्प अहर्गण, अर्थात एक कल्प के दिनों का अतीतांश लो। उसमें से ९६,०३१ घटाओ, और अवशेष को दो भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखो। निचली संख्या में से ८४ घटाओ, और उस राशि को ५६१ पर भाग दो। भजनफल को ऊपर की संख्या में से घटाओ, और अवशेष को १७३ पर भाग दो। भजनफल को छोड़ दो, परन्तु अवशेष को ७ पर भाग दो। भजनफल, ब्रह्मादि से आरम्भ करके, पर्वन् देता है।"

ये दो रीतियां एक दूसरे से मिलती नहीं। हमें यह संस्कार है कि दूसरे वचन में से या तो कोई बात गिर पड़ी है या प्रतिलिपि करनेवालों ने बदल दी है।

पर्वनों के ज्योतिष-सम्बन्धी पूर्वलक्षणों के विषय में वराहमिहिर जो कुछ कहता है वह उसकी गम्भीर विद्वत्ता के उपयुक्त नहीं। वह कहता है—"यदि किसी पर्वन् में कोई ग्रहण न हो, किन्तु दूसरे कालचक्र में एक हो, तो वर्षा नहीं होगी, भूख और मृत्यु बहुत होगी।" यदि इस वचन में अनुवादक ने भारी भूल नहीं की, तो हम इतना ही कह सकते हैं कि यह वर्णन ऐसे पर्वन् के पूर्ववर्ती प्रत्येक पर्वन् पर लागू होता है जिसमें कोई ग्रहण होता है।

उसकी यह टिप्पणी (श्लोक २४) और भी अधिक विचित्र है—"गणना से जो समय निकाला गया है यदि उससे पूर्व ग्रहण लग जाता है, तो वर्षा बहुत कम होगी और तलवार निकलेगी। यदि यह गणना से निकाले हुए समय के पीछे लगता है, तो महामारी, और मृत्यु, और अन्न, फल और फूलों में विनाश होगा। (श्लोक २५) यह उसका एक अंश है जो मैंने प्राचीन पुस्तकों में पाया है और इस स्थल में स्थानान्तरित कर दिया है। यदि मनुष्य को यथार्थ रूप से गणना करना आता है, तो उसकी गणनाओं में उसके साथ यह बात कभी न होगी कि ग्रहण बहुत पहले अथवा बहुत पीछे आ जाय। यदि पर्वन् के बाहर सूर्य को ग्रहण लग जाता और वह काला हो जाता है, तो तुम्हें जानाना चाहिए कि त्वष्टृ नामक देवता ने उसे ग्रहण लगाया है।"

जो कुछ वह एक दूसरे वचन में कहता है वह भी इसी के सदृश है—"यदि मकर राशि में प्रवेश करने के पूर्व, सूर्य उत्तर की ओर मुड़ जाय, तो दक्षिण और पश्चिम का ध्वंस होगा। यदि कर्क राशि में सूर्य के प्रवेश के पूर्व वह दक्षिण की ओर मुड़ जाय, तो पूर्व और उत्तर का नाश होगा। यदि सूर्य का मुड़ना उसके इन दो राशियों के पहले अंशों में प्रवेश के साथ ही साथ, या इसके पीछे होता है, तो चारों दिशाओं में सुख सामान्य होगा, और उनमें आनन्द बढ़ेगा।"

ऐसे वाक्य, यदि समझे जायँ, क्योंकि वे समझे जाने के लिए प्रतीत होते हैं, तो कान को वे एक पागल मनुष्य के बकवाद के सदृश जान पड़ते हैं, परन्तु कदाचित उनके पीछे कोई गूढ़ अर्थ छिपे हुए हैं जिनको हम नहीं जानते।

इसके पश्चात हमें समय के स्वामियों (कालाधिपतियों) का वर्णन करते रहना चाहिए, क्योंकि इन दो का स्वरूप कालचक्र का सा है, और ऐसी बातें कहनी चाहिएँ जो उनके साथ सम्बन्ध रखती हैं।

इकसठवाँ परिच्छेद

धर्म तथा नक्षत्र विद्या की दृष्टि से काल निर्णय

काल के अधिष्ठाता

संस्थिति, या व्यापक समय, उसकी आयु होने से केवल स्रष्टा पर ही लागू होता है, और आदि और अन्त से उसका निश्चय नहीं हो सकता। वास्तव में वह उसका नित्यत्व है। वे इसको बहुधा आत्मा, अर्थात पुरुष कहते हैं। परन्तु साधारण समय गति द्वारा निर्णेय है। इसके कुछ-

जुदा अंश स्रष्टा के सिवा दूसरे प्राणियों पर, और पुरुष के सिवा दूसरे प्राकृतिक चमत्कारों पर लागू होते हैं। इस प्रकार कल्प का उपयोग सदा ब्रह्मा के सम्बन्ध में होता है, क्योंकि यह उसका दिन और रात है, और उसकी आयु इससे निश्चित होती है।

प्रत्येक मन्वन्तर का एक विशेष अधिष्ठाता है, जिसे मनु कहते हैं। मनु का वर्णन विशेष गुणों से किया जाता है, जिनका उल्लेख किसी पूर्ववर्ती परिच्छेद में पहले ही हो चुका है। इसके विपरीत, मैंने चतुर्युगों अथवा युगों के अधिष्ठाताओं के विषय में कभी कुछ नहीं सुना।

वराहमिहिर अपने बृहज्जातकम् में कहता है—

"अब्द, अर्थात् वर्ष, का सम्बन्ध शनि से; अयन, अर्थात् आधे वर्ष, का सूर्य से; ऋतु अर्थात् वर्ष के छठवें भाग का बुध से; मास का बृहस्पति से; पक्ष, अर्थात् आधे मास का शुक्र से, दिन का मङ्गल से, मुहूर्त का चन्द्रमा से है।"

उसी पुस्तक में वह वर्ष के छठवें भागों का लक्षण इस प्रकार करता है—"मकरसंक्रान्ति से आरम्भ होनेवाला, पहला, शनि का; दूसरा, शुक्र का; तीसरा, मङ्गल का; चौथा, चन्द्रमा का; पांचवां, बुध का; छठवां, बृहस्पति का है।"

हम आगे ही, पहले परिच्छेदों में, घण्टों, मुहूर्तों, अर्धचान्द्र दिनों, मास के शुक्ल और कृष्ण पक्षों में एकहरे दिनों, ग्रहणों के पर्वनों, और एकहरे मन्वन्तरों के अधिष्ठाताओं का वर्णन कर चुके हैं। उसी प्रकार का जो कुछ और है वह हम इस स्थान में देंगे।

वर्षाधिपति का परिसंख्यान

वर्ष के अधिष्ठाता के परिसंख्यान में, हिन्दू लोग पाश्चात्य जातियों से भिन्न रीति का उपयोग करते हैं। पाश्चात्य जातियां, कुछ विख्यात नियमों के अनुसार, वर्ष की जन्मपत्रिका लग्नराशि के अनुसार, इसको गिनती हैं। वर्ष का अधिपति तथा मास का अधिपति नियत समय में पुनः लौटकर आनेवाले काल के विशेष भागों के अधीश हैं, और एक विशेष गणना से घंटों के अधिपतियों और दिनों के अधिपतियों से निकाले जाते हैं।

यदि तुम वर्ष का अधिपति मालूम करना चाहते हो, तो प्रस्तुत तिथि के दिनों की संख्या का खण्डखाद्यक के नियमों के अनुसार परिसंख्यान करो। इस पुस्तक का उनमें सबसे अधिक व्यापक उपयोग होता है। दिनों की उस संख्या में से २२०१ घटाओ, और अवशेष को ३६० पर भाग दो। भजनफल को ३ से गुणा करो, और गुणनफल में सदा ३ बढ़ा दो। योगफल को ७ पर भाग दो। अवशेष को, जो ७ से कम संख्या है, रविवार से आरम्भ करके, सप्ताह के दिनों पर गिनो। उस दिन का अधिपति, जिस पर तुम पहुँचे हो, साथ ही वर्ष का अधिपति भी है। भाग देने से जो अवशेष प्राप्त होते हैं वे उसके शासन के वे दिन है जो आगे ही बीत चुके हैं। ये, और उसके शासन के वे दिन जो अभी नहीं बीते, मिलकर ३६० की संख्या देते हैं।

चाहे हम इस प्रकार गिनें जैसा कि हमने अभी बताया, चाहे दिनों की उस संख्या में, जिसका उल्लेख अभी हुआ है, घटाने के स्थान में, ३१९ बढ़ा दें, बात एक ही है।

मास का अधिपति मालूम करने की विधि

यदि तुम मास का अधिपति मालूम करना चाहते हो, तो प्रस्तुत तिथि के दिनों की संख्या में से ७१ घटाओ और अवशेष को ३० पर भाग दो। भजनफल को दुगना करके उसमें १ जोड़ दो।

योगफल को ७ पर भाग दो, और जो शेष बचे उसे, रविवार से आरम्भ करके, सप्ताह के दिनों पर गिनो। दिन का अधिपति जिस पर तुम पहुँचते हो साथ ही मास का अधिपति भी है। भजन से जो अवशेष तुम्हें प्राप्त होता है वह उसके शासन का वह भाग है जो पहले ही बीत चुका है। यह, और उसके शासन का वह भाग जो अभी व्यतीत नहीं हुआ, मिलकर ३० दिन की संख्या देते हैं। चाहे तुम उस प्रकार गिनो जिस प्रकार हमने अभी बताया है, और चाहे तिथि के दिनों में, उनमें से घटाने के स्थान में, १९ बढ़ा दो, और फिर जो जोड़ हो उसके दुगने में १ के स्थान में २ बढ़ा दो, बात एक ही है।

यहाँ दिन के अधिपति की बात करना व्यर्थ है, क्योंकि तुम इसे तिथि के दिनों की संख्या को ७ पर भाग देने से प्राप्त करते हो; या घण्टे के अधिपति की बात करना निरर्थक है, क्योंकि तुम इसे विवर्तमान गोले को १५ पर भाग देने से पाते हो परन्तु, जो लोग वक्रहोरा का उपयोग करते हैं, वे सूर्य के अंश और लग्नराशि के अंश के बीच के अन्तर को १५ पर भाग देते हैं। यह अन्तर समान अंशों द्वारा मापा जाता है।

महादेव के अवतरण

महादेव की पुस्तक स्त्रुधव, कहती है—"दिन और रात के तीसरों में से प्रत्येक का एक अधिपति है। दिन-रात के प्रथम तृतीयांश का अधिपति ब्रह्मा है, दूसरे का विष्णु, और तीसरे का रुद्र है।" यह विभाग तीन सनातन शक्तियों (सत्व, रजस्, तमस्) के क्रम पर अवलम्बित है।

हिन्दुओं की एक और भी रीति है, जैसा कि, वर्ष के अधिपति के साथ-साथ नागों में से एक का उल्लेख करना। उस ग्रह के अनुसार जिसके सम्बन्ध में इन नागों का उपयोग किया जाता है, इनके विशेष नाम होते हैं।

हिन्दू लोग ग्रहों को सूर्य के साथ जोड़ते हैं क्योंकि वे सूर्य पर आश्रित हैं, और स्थिर तारों को वे चन्द्रमा के साथ जोड़ते हैं क्योंकि उसके नक्षत्रों के तारों का सम्बन्ध उनके साथ है। यह बात हिन्दू और मुसलिम गणकों को मालूम है कि ग्रह राशियों पर शासन करते हैं। इसलिए वे विशेष दिव्य सत्ताओं को ग्रहों के अधिपति मान लेते हैं। वे दिव्य सत्ताएँ, विष्णुधर्म से ली हुई, इस तालिका में दिखाई गई हैं—

ग्रह	अधिपति	ग्रह	अधिपति
सूर्य	अग्नि	चन्द्र	,व्यान (?)
मङ्गल	कल्माष (?)	बुध	विष्णु
बृहस्पति	शुक्र	शुक्र	गौरी
शनि	प्रजापति	राहु	(गणपति
केतु	विश्वकर्मन		

नक्षत्रों के अधिपति

यही पुस्तक ग्रहों की तरह नक्षत्रों के साथ भी विशेष अधिपति आरोपित करती है। वे अधिपति अगले पृष्ठ पर एक तालिका में दिये गये हैं।

नक्षत्र और उनके अधिपति की तालिका :—

नक्षत्र	अधिपति	नक्षत्र	अधिपति
कृत्तिका	अग्नि	रोहिणी	केश्वर
मृगशीर्ष	इन्दु, अर्थात चाँद	आर्द्रा	रुद्र
पुनर्वसु	अदिति	पुष्य	गुरु, अर्थात वृहस्पति
आश्लेषा	सर्पास्	मघा	पितरस्
पूर्वफल्गुनी	भग	उत्तरफल्गुनी	अर्यमन्
हस्त	सवितृ, अर्थात सविता	चित्रा	त्वष्टृ
स्वाती	वायु	विशाखा	इन्द्राग्नि
अनुराधा	मित्र	ज्येष्ठा	शुक्र
मूल	निऋति	पूर्वाषाढ़ा	आपस्
उत्तराषाढ़ा	विश्वे [देवास]	अभिजित	ब्रह्मा
श्रवण	विष्णु	धनिष्ठा	वसवस्
शतभिषज	वरुण	पूर्वभाद्रपदा	[अज एकपाद]
उत्तरभाद्रपदा	अहिर्वुधन्य	रेवती	पूषन्
अश्विनी	अश्विन् (?)	भरणी	यम

बासठवाँ परिच्छेद

साठ वर्ष का सम्वत्सर

संवत्सर की परिभाषा

संवत्सर शब्द, जिसका अर्थ वर्ष है, सूर्य और वृहस्पति के परिभ्रमणों के आधार पर बनाये हुए वर्षों के चक्रों के लिए एक वैज्ञानिक परिभाषा है। इसमें वृहस्पति के सौर लग्न को आरम्भ गिना जाता है। संवत्सर साठ वर्ष में घूमता है; और इसलिए इसे षष्ट्यब्द, अर्थात् साठ वर्ष कहते हैं।

वर्ष का प्रधान मास

हम पहले ही कह चुके हैं कि नक्षत्रों के नाम, मासों के नामों से, समूहों में विभक्त हैं, प्रत्येक मास का नक्षत्रों के अनुरूप समूह में एक-एक समनामधारी है। इस विषय को सरल बनाने के लिए, हमने इन बातों को आगे दिखला दिया है। उस नक्षत्र को जानकर जिसमें वृहस्पति का सौर लग्न होता है, उस मास का नाम पता लगाओ जो प्रस्तुत वर्ष पर शासन करता है। तुम वर्ष को मास के सम्बन्ध में लाते हो, और कहते हो, उदाहरणार्थ, चैत्र का वर्ष, वैशाख का वर्ष, इत्यादि।

इन वर्षों में से प्रत्येक के लिए फलितज्योतिष-सम्बन्धी नियम मौजूद हैं। ये उनके साहित्य में विख्यात हैं।

बृहस्पति के सौर लग्न का पता लगाना

जिस नक्षत्र में बृहस्पत का सौर लग्न होता है उसके परिसंख्यान के लिए वराहमिहिर अपनी संहिता में यह नियम देता है—

"शककाल लो, उसको ११ से गुणा करो, और गुणनफल में ४ का गुणा करो। चाहे आप यह करें, या चाहे शककाल में ही ४४ का गुणा कर दें। गुणन-फल में ८५८६ बढ़ा दो, और जोड़ को ३७५० पर भाग दो। भजनफल वर्षों, मासों, दिनों आदि को दिखलाता है।

"उनको शककाल में जोड़ दो, और योगफल को ६० पर भाग दो। भजनफल बड़े साठ वर्षों के युगों, अर्थात् पूर्ण षष्ट्यब्दों को दिखलाता है, जो, आवश्यक न होने के कारण, छोड़ दिये जाते हैं। अवशेष को ५ पर भाग दो, और भजनफल छोटे, पूर्ण पञ्चवर्षीय युगों को दिखलायेगा। जो कुछ शेष रह जाता है वह, एक युग से कम होने के कारण, संवत्सर, अर्थात् वर्ष कहलाता है।

"श्लोक २२—शेषोक्त संख्या को दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिखो। एक को ९ से गुणा करो, और गुणनफल में दूसरे स्थान की संख्या का $\frac{1}{12}$ बढ़ा दो। योगफल में से चतुर्थांश ले लो। यह संख्या पूर्ण नक्षत्रों को, और इसके अपूर्णांक इसके बाद आनेवाले अगले प्रचलित नक्षत्र के भाग को दिखलाते हैं। धनिष्ठा से आरम्भ करके, नक्षत्रों की यह संख्या गिन डालो। जिस नक्षत्र पर तुम पहुंचते हो वह वह नक्षत्र है जिसमें बृहस्पति का सौर लग्न होता है।" इससे तुम, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वर्षों का मास जान लेते हो।

षष्ट्यब्द के अन्तर्गत छोटे कालचक्र

बड़े युग धनिष्ठा नक्षत्र के आरम्भ और माघ मास के आरम्भ में बृहस्पति के सौर लग्न के साथ आरम्भ होते हैं। छोटे युगों का बड़े युगों के भीतर एक विशेष क्रम है। वे समूहों में बँटे हुए हैं। इन समूहों में वर्षों की विशेष संख्याएँ सम्मिलित हैं, और इनमें से प्रत्येक का एक विशेष अधिपति है। यह विभाग आगे दिखलाया गया है।

यदि तुम्हें मालूम है कि बड़े युग में प्रस्तुत वर्ष की कौन सी संख्या है; और तुम उस संख्या के हिसाब से उपरिभाग में वर्षों की संख्याओं में ढूंढ़ लेते हो, फिर इसके नीचे, अनुरूप स्तम्भों में, वर्ष का नाम और इसके अधिपति का नाम पाओगे।

फिर, साठ वर्षों में से प्रत्येक एकहरे वर्ष का अपना एक नाम है, और युग के भी ऐसे नाम हैं जो उनके अधिपतियों के नाम हैं। (साठ वर्षों के) सारे कालचक्र के प्रत्येक वर्ष का नाम उसकी अनुरूप संख्या के नीचे होते हैं। एकहरे नामों के अर्थों और उनके पूर्व लक्षणों की व्याख्या करना एक बहुत लम्बा काम है। यह सब संहिता नाम की पुस्तक में मिलता है।

यह रीति जो उनकी पुस्तकों में षष्ट्यब्द के वर्षों का निश्चय करने के लिए लिखी हुई है। परन्तु, मैंने ऐसे भी हिन्दू देखे हैं जो विक्रमादित्य के संवत् में से ३ घटाते, और अवशेष को ये महायुग के आरम्भ से गिन लेते हैं। यह रीति किसी काम की नहीं। अच्छा, चाहे तुम उक्त रीति से गिनो, या शककाल में १२ बढ़ाओ, बात एक ही है।

कन्नौज के लोगों का संवत्सर

मुझे कनौज देश के कुछ लोग मिले हैं, जिन्होंने मुझे बताया है कि वे संवत्सरों के चक्र में १२४८ वर्ष मानते हैं, बारह संवत्सरों में से प्रत्येक एकहरे संवत्सो में १०४ वर्ष हैं।

जब संवत्सरों के इन कल्पित नामों में मैंने जातियों, वृक्षों और पर्वतों के नाम सुने, तो मुझे अपने संवाददाताओं पर सन्देह हुआ; विशेषतः इसलिए कि उनका मुख्य कर्म (मदारियों के सदृश ?) तन्त्र-मन्त्र और प्रतारणा करना था; और रंगी हुई दाढ़ी अपने धारण करनेवाले को मिथ्यावादी सिद्ध करती है। मैंने उनमें से एक-एक की बड़ी सावधानता-पूर्वक परीक्षा की। मैंने उनसे वही प्रश्न भिन्न-भिन्न समयों पर, भिन्न-भिन्न क्रम और पूर्वापर में पूछे। परन्तु देखिए, मुझे कैसे भिन्न-भिन्न उत्तर मिले! परमात्मा सर्वज्ञ है!

तिरसठवाँ परिच्छेद

ब्राह्मणों से सम्बन्ध रखने वाली बातें

ब्राह्मण के जीवन का प्रथम आश्रम

ब्राह्मण का जीवन, सात वर्ष की आयु के पश्चात्, चार आश्रमों में विभक्त है। पहला भाग आठवें वर्ष के साथ आरम्भ होता है, जब कि ब्राह्मण उसे शिक्षा देने, उसको उसके कर्तव्य-कर्म सिखलाने, उन पर दृढ़ रहने और यावज्जीवन उनको धारण करने की ताकीद करते आते हैं। तब वे उसकी कमर के गिर्द एक कटिबन्ध बांधते और उसे यज्ञोपवीतों का एक जोड़ा, अर्थात नौ एकहरे तारों को इकट्ठा बटकर बनाई हुई एक सुदृढ़ रस्सी, और एक तीसरा यज्ञोपवीत, जो कपड़े का बना हुआ एकहरा होता है, देते हैं। यह बायें कन्धे से दायें कूले तक जाता है। फिर, उसे धारण करने के लिए एक दण्ड, और दर्भ नामक विशेष घास की एक अंगूठी (पैंती) दी जाती है, जिसको वह दायें हाथ की अनामिका उँगली में पहनता है। यह छाप अंगूठी-पवित्र भी कहलाती है। दायें हाथ की अनामिका उँगली में इस छल्ले को पहनने से उसका उद्देश्य यह होता है कि यह उन सबके लिए, जो उस हाथ से दान प्राप्त करें, शुभ शकुन और सुखदायक हो। इस अंगूठी को पहनने की कर्तव्यता उतनी कठिन नहीं जितनी कि यज्ञोपवीत धारण करने की है, क्योंकि यज्ञोपवीत से उसे अपने को किसी भी अवस्था में अलग नहीं करना होता। यदि खाते समय या किसी प्राकृतिक हाजत को पूरा करते समय वह इसे उतार देता है, तो वह एक ऐसा पाप करता है जो प्रायश्चित्त के किसी कर्म, उपवास या दान के बिना धुल नहीं सकता।

ब्राह्मण के जीवन की यह पहली अवस्था उसकी आयु के पच्चीसवें वर्ष तक, या, विष्णु-पुराण के अनुसार, उसके अड़तालीसवें वर्ष तक रहती है। उसका कर्तव्य ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि को अपना बिछौना बनाना, वेद और उसके भाष्य का, तथा ब्रह्म-विद्या और धर्म-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ करना है। यह सब उसको एक गुरु पढ़ाता है जिसकी वह दिन-रात सेवा करता है। वह दिन में तीन बार स्नान, और दिन के आदि और अन्त में अग्नि में होम करता है। होम के पश्चात्

वह अपने गुरु का पूजन करता है। वह एक दिन उपवास करता और एक दिन उसे तोड़ता है, परन्तु उसे मांस-भक्षण की कभी आज्ञा नहीं। वह गुरु-गृह में ही निवास करता है। वह केवल भिक्षा लाने के लिए ही वहाँ से अनुपस्थित होता है और दिन में एक बार, दोपहर को या साँझ को, पाँच से अधिक घरों से नहीं माँगता। जो कुछ भिक्षा उसे मिलती है वह उसको गुरु के सामने रख देता हैं ताकि वह जो कुछ चाहे उसमें से ले ले। तब गुरु उसे अवशेष को खाने की आज्ञा देता है। इस प्रकार शिष्य अपने गुरु के बचे-खुचे भोजन से अपना पोषण करता है। इसके अतिरिक्त, वह अग्नि के लिए समिधा, दो प्रकार के वृक्षों—पलाश और दर्भ—की लकड़ी, हवन करने के लिए, लाता है; क्योंकि हिन्दू लोग अग्नि का बहुत पूजन करते और उसको फूल चढ़ाते हैं। दूसरी सब जातियों की भी ऐसी ही अवस्था है। वे सदा यही समझती थीं कि देवता द्वारा बलि तभी स्वीकृत होती है जब उस पर आग उतरती है, और कोई भी दूसरा पूजन,—न प्रतिमा-पूजन, न तारकाओं, न गउओं, न गधों, और न मूर्तियों का पूजन—उनको इससे हटाने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए बश्शार इब्न बुर्द कहता है—"क्योंकि वह आग है, इसलिए इसका पूजन होता है।" [इस अवस्था को ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं।]

ब्राह्मण के जीवन की दूसरी अवस्था

उनके जीवन की दूसरी अवस्था पच्चीसवें वर्ष से आरम्भ होकर पचासवें तक, या, विष्णु-पुराण के अनुसार, सत्तरवें वर्ष तक है। गुरु उसे विवाह करने की आज्ञा देता है। वह विवाह करके, एक परिवार की स्थापना और वंशजों की इच्छा करता है, परन्तु वह मास में एक ही बार स्त्री के रजस्वला हो चुकने के पश्चात उससे सम्भोग करता है। उसे बारह वर्ष से बड़ी आयु की स्त्री के साथ विवाह करने की आज्ञा नहीं। वह अपनी आजीविका या तो उस दक्षिणा से करता है जो उसे ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पढ़ाने से प्राप्त होती है, वेतन के तौर पर नहीं वरन् उपहार के रूप में, या उन उपहारों से जो वह किसी ऐसे व्यक्ति से पाता है जिसके लिए कि वह होम करता है, या राजाओं और रईसों से भिक्षा माँगकर, परन्तु शर्त यह है कि वह हठ-पूर्वक न माँगे, और देने वाले में कोई अनिच्छुकता न हो। उन लोगों के घरों में सदा एक ब्राह्मण रहता है, जो वहाँ धर्म के कृत्य और पुण्यशीलता के काम कराता है। वह पुरोहित कहलाता है। अन्ततः, ब्राह्मण उस पर निर्वाह करता है जो वह पृथ्वी पर या वृक्षों से एकत्र करता है। वह कपड़ों और सुपारियों के व्यापार में अपने भाग्य की परीक्षा कर सकता है, परन्तु अच्छा यही है कि वह आप व्यापार न करे, और एक वैश्य उसके लिए व्यापार करे, क्योंकि वस्तुतः वाणिज्य, धोखा देने और झूठ बोलने के कारण, जो इसके साथ मिले हुए हैं, निषिद्ध है। वाणिज्य की आज्ञा उसे केवल घोर आवश्यकता की अवस्था में ही है, जब उसके पास आजीविका का और कोई साधन न हो। दूसरे वर्णों के सदृश, ब्राह्मण के लिए कर देना और राजाओं की सेवा करना अनिवार्य नहीं। फिर, उसे निरन्तर गउओं और घोड़ों में, पशुओं की देख रेख में, या अधिक सूद से धन कमाने में लीन रहने की आज्ञा नहीं। उसके लिए नीला रङ्ग अपवित्र है, यहाँ तक कि यदि यह उसके शरीर से लग जाय, तो उसे स्नान करना पड़ता है। अन्ततः, उसे सदा अग्नि के सामने ढोल बजाना, और इसके लिए निर्दिष्ट पवित्र मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

यह अवस्था गृहस्थाश्रम कहलाती है।

ब्राह्मण-जीवन की तीसरी अवस्था

ब्राह्मण के जीवन की तीसरी अवस्था पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष तक, या, विष्णुपुराण के अनुसार, नब्वेवें वर्ष तक है। वह ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहता है, अपनी गृहस्थी को छोड़ देता है, और इसको तथा अपनी भार्या को अपनी सन्तान के सिपुर्द कर देता है, यदि उसकी स्त्री वानप्रस्थाश्रम में उसके साथ रहना पसन्द नहीं करती। वह वस्ती से वाहर रहता है, और वही जीवन फिर व्यतीत करता है जो उसने पहले आश्रम में किया था। वह छत के नीचे शरण नहीं लेता, और न वृक्ष की छाल के सिवा और कोई वस्त्र पहनता है, वह भी केवल उतना जो उसके कटिभाग को ढँकने के लिए पर्याप्त हो। वह पृथ्वी पर विना विछौने के सोता है, और केवल फल, वनस्पतियाँ, और मूल खाकर अपना पोषण करता है। वह वालों को वढ़ा लेता है, और तैल की मालिश नहीं करता।

ब्राह्मण-जीवन की चौथी अवस्था

चौथा आश्रम जीवन के अन्त तक जाता है। वह गेरुवे वस्त्र पहनता और हाथ में एक छड़ी रखता है। वह सदा ध्यान में मग्न रहता है; वह मन को मित्रता और शत्रुता से रहित कर देता, और काम, क्रोध, और लालसा का उन्मूलन कर डालता है। वह किसी के साथ वात विलकुल नहीं करता। स्वर्गीय पुरस्कार की प्राप्ति के उद्देश्य से जव वह किसी विशेष पुण्यस्थान की यात्रा करता है, तव मार्ग में वह गाँव में एक दिन से अधिक, या नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं ठहरता। यदि उसे कोई कुछ देता है, तो वह उसमें से अगले दिन के लिए शेष कुछ नहीं रखता। मुक्ति-मार्ग की चिन्ता करने और उस मोक्ष तक पहुँचने के सिवा, जहाँ से इस संसार में फिर लौटना नहीं होता, उसका और कोई काम नहीं।

ब्राह्मणों के सामान्य धर्म

ब्राह्मण के सारे जीवन में उसका सामान्य धर्म पुण्यशीलता के काम, दान देना और दान लेना हैं। क्योंकि जो कुछ ब्राह्मण देते हैं वह पितरों के पास लौट जाता है (वास्तव में पितरों के लिए लाभ है)। उसे अनवरत रूप से पढ़ना, यज्ञ करना, उस आग की रक्षा करना जिसको वह सुलगाता है, उस पर नैवेद्य चढ़ाना, उसकी पूजा करना, और बुझाने से इसे वचाना चाहिए, ताकि वह मृत्यु के पश्चात इससे जलाया जाय। इसे होम कहते है।

प्रति दिन वह तीन वार अवश्य स्नान करे; उदयकाल की सन्धि में, अर्थात सवेरे तड़के, अस्तकाल की सन्धि में, अर्थात गोधूलि समय, और इन दोनों के वीच मध्याह्न में। पहला स्नान निद्रा के कारण है, क्योंकि शरीर के छिद्र इस काल में शिथिल हो गये हैं। स्नान नैमित्तिक मल से शुद्धि और भगवत्-प्रार्थना के लिए तैयारी है।

उनकी प्रार्थना में स्तुति, कीर्तन, और अपनी विशेष रीति के अनुसार प्रणिपात होता है, अर्थात वे अपने दोनों अँगूठों पर साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं, जव कि हाथों की दोनों हथेलियाँ जुड़ी हुई होती हैं, और वे अपने मुख सूर्य की ओर फेरते हैं। कारण सूर्य, दक्षिण के सिवा और चाहे वह कहीं भी हो, उनका किवला है। क्योंकि वे दक्षिणाभिमुख होकर पुण्यशीलता का कोई भी काम नहीं करते; जव वे किसी वुरी और अशुभ वात में लगे हों तभी वे दक्षिणाभिमुख होते हैं।

जिस समय सूर्य याम्योत्तरवृत्त (मध्याह्न) से झुक जाता है वह समय स्वर्गीय पुरस्कार प्राप्त करने के लिए बहुत उपयुक्त है। इसलिए इस समय ब्राह्मण को अवश्य शुद्ध होना चाहिए।

सायङ्काल रात के खाने और प्रार्थना का समय है। ब्राह्मण स्नान किये बिना ही रात का भोजन और प्रार्थना कर सकता है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि तीसरे स्नान के विषय में नियम उतना कड़ा नहीं जितना कि पहले और दूसरे स्नान के सम्बन्ध में है।

रात्रि-स्नान ब्राह्मण के लिए केवल ग्रहणों के समयों में ही आवश्यक है, ताकि वह उस अवसर के लिए निर्दिष्ट नियमों और यज्ञों को करने के लिए तैयार हो।

ब्राह्मण जब तक जीता है, दिन में केवल दो ही बार, मध्याह्न और प्रदोष को, खाता है; और जब वह भोजन करने लगता है, तब पहले वह उतना भोजन जितना कि एक-दो मनुष्यों के लिए पर्याप्त हो, भिक्षा के रूप के में अलग रख लेता है, विशेषतः उन अपरिचित ब्राह्मणों के लिए जो सायङ्काल कुछ माँगने के लिए अचानक आ निकलें। उनके प्रतिपालन की उपेक्षा करना भारी पाप है। फिर, वह कुछ गउओं, पंछियों और अग्नि के लिए अलग रख लेता है। जो शेष बचता है उस पर मन्त्र पढ़कर वह उसको खाता है। उसकी थाली में जो कुछ बच रहता है उसे वह अपने घर के बाहर रख देता है, और फिर उसके निकट नहीं जाता, क्योंकि अब वह उसके लिए ग्राह्य नहीं रहा। यह संयोगवश पास लाँघनेवाले उस प्राणी के लिए निरूपित है जिसको इसकी आवश्यकता हो, चाहे वह मनुष्य हो, पक्षी हो, कुत्ता हो, या कुछ और हो।

ब्राह्मण के पास पानी के लिए पात्र अवश्य होना चाहिए। यदि कोई दूसरा उसका उपयोग कर ले, तो इसे तोड़ दिया जाता है। यही बात उसके खाने की चीजों पर लागू होती है। मैंने ऐसे ब्राह्मण देखे हैं जो अपने सम्बन्धियों को अपने साथ एक ही थाली में खाने देते थे, परन्तु उनमें से बहुत से इसे पसन्द नहीं करते।

उसे उत्तर में सिन्धु नदी और दक्षिण में चर्मण्वती नदी के बीच-बीच निवास करना होता है। उसे इन सीमान्त में से किसी एक को पार करके तुर्कों या कर्णाटक देशमें प्रवेश करने की आज्ञा नहीं। इसके अतिरिक्त, उसके लिए पूर्व और पश्चिम में महासागर के बीचों बीच रहना आवश्यक है। लोग कहते हैं कि उसको ऐसे देश में रहने की आज्ञा नहीं जिसमें वह घास नहीं उगती जिसको वह अनामिका उँगली पर पहनता है, और जहाँ काले बालोंवाले मृग नहीं चरते। यह वर्णन उस सारे देश के लिए है जो उन सीमाओं के अन्दर है जिनका अभी उल्लेख हुआ है। यदि वह उनके पार चला जाता है तो वह पाप करता है।

ऐसे देश में जहाँ घर में वह सारे का सारा स्थान जो इसलिए बनाया जाता है कि उस पर बैठकर लोग भोजन करें चिकनी मिट्टी से लीपा नहीं जाता, जहाँ लोग, इसके विपरीत, प्रत्येक भोजन करनेवाले व्यक्ति के लिए एक स्थान पर जल डालकर और इसे गउओं के गोबर के साथ लीपकर अलग-अलग खाना खाने की जगह तैयार करते हैं, वहाँ ब्राह्मण के खाना खाने की जगह का आकार वर्ग होना चाहिए। जिन लोगों में ऐसी खाना खाने की जगहें तैयार करने की रीति है वे इस रीति का कारण यह देते हैं—खाने का स्थान भोजन करने से मैला हो जाता है। यदि खाने की क्रिया समाप्त हो चुकी है, तो स्थान को धो और लीप दिया जाता है ताकि वह पुनः पवित्र हो जाय। अब, यदि, मैले स्थान को एक अलग चिन्ह द्वारा जुदा नहीं किया गया, तो भाप दूसरे स्थानों को भी जूठा ही मान लेंगे, क्योंकि वे एक दूसरे सदृश हैं और उनकी आपस में पहचान नहीं हो सकती।

धर्म-शास्त्र में उनके लिए पांच वस्तुओं का निषेध है—प्याज, लहसुन, एक प्रकार का कद्दू; गाजरों की तरह के एक पेड़ की जड़ जो कि कञ्चन (?) कहलाता है, और एक और तरकारी जो उनके पोखरों के गिर्द; जिन्हें नाली कहते हैं; उगती है।

चौसठवाँ परिच्छेद

जातियों के अनुष्ठान और रीति-रिवाज

अन्य वर्णों के कर्तव्य

क्षत्रिय वेद को पढ़ता और सीखता है, परन्तु इसे पढ़ाता नहीं। वह आग में या अग्नि में नैवेद्य चढ़ाता है, और पुराणों के नियमों के अनुसार आचरण करता है। जिन स्थानों में, जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, भोजन करने के लिए चौका बनाया जाता है, वहां वह इस चौके को नुकीला बनाता है। वह प्रजा पर शासन करता और उसकी रक्षा करता है, क्योंकि वह इस काम के लिए उत्पन्न किया गया है। वह तीसरे यज्ञोपवीत की एक रस्सी से और सूत को एकहरी एक दूसरी रस्सी से अपने को लपेटता है। यह काम तब किया जाता है जब उसकी आयु का बारहवां वर्ष समाप्त हो चुकता है।

वैश्य का यह धर्म है कि वह कृषि करे और भूमि को जोते; पशु पाले, और ब्रह्मणों की आवश्यकताओं को निवृत्त करे। उसे केवल एकहरा यज्ञोपवीत धारण करने की आज्ञा है जो कि दो तारों का बना होता है।

शूद्र ब्रह्मण के नौकर के सदृश है, जो उसके काम-काज की देख-भाल और उसकी सेवा करता है। यदि, परले दर्जे का निर्धन होने पर भी, वह यज्ञोपवीत के बिना नहीं रहना चाहता; तो वह केवल सन का यज्ञोपवीत पहन लेता है। प्रत्येक ऐसा काम जो ब्रह्मण का विशेषाधिकार समझा जाता है, जैसा कि ईश्वर प्रार्थना करना; वेद-पाठ, और होम, उसके लिए यहाँ तक निषिद्ध है कि जब उदाहरणार्थ, यह प्रमाणित हो जाय कि शूद्र या वैश्य ने वेद का उच्चारण किया है, तब ब्रह्मण लोग राजा के सम्मुख उस पर दोष लगाते हैं, और राजा उसकी जीभ काट डालने की आज्ञा दे देता है। परन्तु, भगवान का चिन्तन, धर्मशीलता के काम, और दान देने का उसके लिए निषेध नहीं।

जो मनुष्य कोई ऐसा व्यवसाय करने लगता है जिसके करने का उसके वर्ण को अधिकार नहीं, जैसा कि, उदाहरणार्थ, ब्रह्मण का वाणिज्य, या शूद्र का कृषि करना, तो वह एक ऐसा पाप या अपराध करता है, जिसे वे चोरी के अपराध से कुछ ही कम समझते हैं।

राजा राम, चाण्डाल और ब्राह्मण की कथा

हिन्दुओं की कथाओं में से एक यह है—

राजा रामचन्द्रजी के समय में मानवी आयु बहुत लम्बी, सदा सुनिश्चित और सुविख्यात

लम्बाई की, होती थी। यहाँ तक कि कभी कोई बच्चा अपने पिता के सामने न मरता था। किन्तु, तब एक बार ऐसा हुआ कि एक ब्रह्मण का पुत्र पिता के जीवन काल में ही मर गया। अब ब्राह्मण बच्चे को राजा के द्वार पर लाकर कहने लगा—"यह नई बात तेरे समय में केवल इसी कारण से हुई है, कि देश की अवस्था में कोई वस्तु विगलित है, और एक वजीर तेरे राज्य में कोई उपद्रव की बात करता है।" तब राम इसका कारण मालूम करने लगा; और अन्ततः लोगों ने उसे एक चाण्डाल दिखलाया जो भगवतपूजा और आत्म-पीड़ा में अत्यन्त परिश्रम कर रहा था। राजा सवार होकर उसके पास गया। उसने देखा कि वह गंगा के किनारे, नीचे को सिर किये, किसी चीज पर लटक रहा है। राजा ने अपना धनुष झुकाया, और बाण मारकर उसकी अंतड़ियाँ चीर डालीं। तब वह बोला—"यह लो! मैं तुझे एक ऐसे कर्म के लिए मारता हूँ, जिसके करने का तुझे अधिकार नहीं।" जब राजा लौटकर घर पहुँचा तब उसने ब्रह्मण के पुत्र को, जो उसके दरवाजे के सामने रक्खा हुआ था; जीता पाया।

चाण्डाल के सिवा शेष सब लोग, जहाँ तक वे हिन्दू नहीं, म्लेच्छ अर्थात अपवित्र कहलाते हैं, वे सब जो मनुष्यों को मारते और पशुओं का वध करते और गउओं का मांस खाते हैं।

समानता के विषय में दार्शनिक मत

इन सब चीजों का मूल वर्णों या श्रेणियों का भेद है। एक जन-समुदाय दूसरों को मूर्ख समझता है। इस बात को अलग रखकर, सब मनुष्य एक दूसरे के बराबर हैं, जैसा कि वासुदेव उस मनुष्य के विषय में कहता है जो मोक्ष का इच्छुक है—"ज्ञानी पुरुष के विचार में ब्रह्मण और चाण्डाल, मित्र और शत्रु, विश्वासपात्र और कपटी, ऐसे ही, साँप और छछूँदर एक बराबर हैं। यदि बुद्धिमान की दृष्टि में सब बराबर हैं, तो अज्ञानी को वे एक दूसरे से अलग और भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं।"

वासुदेव अर्जुन को कहता है—"यदि संसार की सम्पता यह है जो कि अभिप्रेत है, और यदि इसका अधिकार तब तक आगे नहीं बढ़ सकता जब तक की बुराई को दबाने के लिए हम युद्ध नहीं करते, तो हम जो विज्ञ हैं हमारा कर्तव्य है कि कर्म करें और युद्ध करें, जो चीज हमारे भीतर न्यून है उसका अंत करने के लिए नहीं, किन्तु इसलिए की यह जो कुछ अस्वस्थ है उसको निरामय करने और विनाशक तत्वों को निर्वासित करने के लिए आवश्यक है। तब, जिस प्रकार बच्चे अपने बड़ों का अनुकरण करते हैं उसी प्रकार अज्ञानी लोग, कर्मों का वास्तविक आशय और तात्पर्य जाने बिना, कर्म करने में हमारा अनुकरण करते हैं। क्योंकि उनकी प्रकृति को बौद्धिक रीतियों से विरक्ति है और वे काम और क्रोध के प्रभावों के अनुसार कर्म करने के लिए अपनी इन्द्रियों पर केवल बल का प्रयोग करते हैं। इन सबमें, ज्ञानवान और शिक्षित मनुष्य उनके बिलकुल विपरीत हैं।"

———

पेंसठवाँ परिच्छेद

यज्ञों के सम्बन्ध में

अश्वमेध यज्ञ

वेद के अधिकांश में यज्ञों का वर्णन है और वह प्रत्येक यज्ञ का वर्णन करता है। यज्ञ विस्तार में भिन्न-भिन्न हैं, यहाँ तक कि उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनको उनके राजाओं में से सबसे बड़ा ही कर सकता है। ऐसा; उदाहरणार्थ, अश्वमेघ है। एक घोड़ी देश में चरने के लिए खुली छोड़ दी जाती है, उसे हांकते हैं, और उसके आगे उच्च स्वर से कहते हैं—"यह (घोड़ी) जगत का राजा है। जो इसे नहीं मानता; वह सामने आवे।" ब्राह्मण उसके पीछे चलते हैं और जहाँ-जहाँ वह लीद करती है वहाँ वे होम करते हैं। इस प्रकार जब वह संसार के सभी भागों में से घूम चुकती है तब वह ब्राह्मणों पर और उस पर जिसकी कि वह सम्पत्ति है अनुरक्त हो जाती है।

फिर; यज्ञ संस्थिति को दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं, जिससे उनमें से विशेष यज्ञों को केवल वही कर सकता है जीसका जीवन बहुत लम्बा हो, और ऐसे लम्बे जीवन इस हमारे युग में अब नहीं होते। इसलिए उनमें से बहुत से उठा दिये गये हैं, और केवल थोड़े से ही रह गये हैं और आजकल किये जाते हैं।

सामान्य यज्ञ

हिन्दुओं के मतानुसार, अग्नि सब कुछ खा लेती है। इसलिए; यदि कोई अपवित्र वस्तु—जैसा कि जल—इसके साथ मिला दी जाय, तो यह अपवित्र हो जाती है। इसलिए वह आग और पानी के विषय में, यदि वे अहिन्दुओं में हों, बहुत ही सूक्ष्माचारनिष्ठ हैं, क्योंकि ये वस्तुएँ उनके स्पर्श से अपवित्र हो जाती हैं।

अग्नि अपने भाग के लिए जो कुछ खाती है, वह देवों के पास लौट जाता है, क्योंकि अग्नि उनके मुखों से निकलती है। ब्राह्मण जो चीजें खाने के लिए अग्नि को भेंट करते हैं वे तेल और भिन्न-भिन्न अन्न—गेहूँ, जौ और चावल—हैं जिनको वे आग में फेंकते हैं। फिर यदि वे अपने लिए यज्ञ कर रहे हों तो वे वेद के निर्दिष्ट मंत्रों का पाठ करते हैं। परन्तु यदि वे किसी दूसरे के नाम पर बलि दें, तो वे कुछ नहीं पढ़ते।

अग्नि के कोढ़ी होने की कथा

विष्णुधर्म आगे लिखे ऐतिह्य का उल्लेख करता है—"एक समय की बात है कि दैत्य-जाति का हिरण्याक्ष नामक एक शक्तिशाली और वीर मनुष्य एक विस्तृत देश पर राज्य करता था। उसके द्कीष (?) नाम की एक पुत्री थी, जो सदा पूजा में लगी रहती और उपवास तथा संयम के द्वारा अपनी जांच करती रहती थी। इससे पुरस्कार के रूप में उसने स्वर्ग में एक स्थान उपार्जित किया था। उसका महादेव के साथ विवाह हुआ था। जब महादेव उसके साथ एकांत में हुए और देवों की रीति के अनुसार उसका साथ किया' अर्थात बहुत लम्बा मैथुन और वीर्य को बहुत धीरे धीरे डालना तब अग्नि को इसका पता लग गया और उसे शंका हुई कि कहीं दोनों

अपने सदृश एक अग्नि न उत्पन्न कर लें। इसलिए उसने उनको अपवित्र और नष्ट करने का निश्चय किया।

जब महादेव ने अग्नि को देखा तो क्रोध की प्रचण्डता से उसका मस्तक स्वेद से भर गया, यहां तक कि उसका कुछ अंश पृथ्वी पर गिर पड़ा पृथ्वी उसे पी गई, और इसका फल यह हुआ कि उसके गर्भ में मंगल, अर्थात स्कन्द, या देवों की सेना का नायक उत्पन्न हो गया।

नाश करनेवाले रुद्र ने महादेव के वीर्य का एक विन्दु पकड़ लिया, और लेकर फेंक दिया। यह पृथ्वी के भीतरी भाग में बिखर गया, और सब परमाणु-सदृश पदार्थों (?) को दिखलाता है।

परन्तु अग्नि को कोढ़ हो गया, और वह इतना लज्जित हुआ और घबराया कि वह डुबकी मारकर पाताल, अर्थात सबसे निचली पृथ्वी में चला गया। अब, क्योंकि देवों के पास आग न रही, वे इसे ढूंढ़ने निकले।

पहले, मेंडकों ने उनको आग दिखाई। आग ने, देवों को देखकर, अपना स्थान छोड़ दिया और अपने को अश्वत्थ वृक्ष में छिपा लिया। उसने साथ ही मेंडकों को शाप दिया कि उनकी घिनौनी टरटर होगी और वे शेष सबके लिए गर्ह्य होंगे।

फिर, तोतों ने आग के छिपने का स्थान देवों को बता दिया। इस पर आग ने उन्हें शाप दे दिया, कि उनकी जीभें उलट-पुलट मुड़ेंगी, और उनकी जड़ वहां होगी जहां उनकी नोक होनी चाहिए। परन्तु देव उनसे बोले—यदि तुम्हारी जीभ उलट पुलट मुड़ जायगी, तो तुम मनुष्य के आवासों में बोलोगे और स्वादिष्ट पदार्थ खाओगे।

आग अश्वत्थ वृक्ष से दौड़कर शमी वृक्ष में चली गई। इस पर हाथी ने देवों को संकेत से उसके छिपने का स्थान बता दिया। अब इसने हाथी को शाप दिया कि उसकी जीभ उलट-पुलट हो जाय। परन्तु तब देव उससे बोले—"यदि तुम्हारी जिह्वा उलट पुलट हो जायगी, तो खाद्य द्रव्यों में मनुष्य के साझी होगे और उसकी बोली को समझोगे।"

अन्ततः वे आग के पास जा पहुँचे, परन्तु आग ने उनके साथ रहने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह कोढ़ी थी। अब देवों ने आग को निरोग और कोढ़ से मुक्त कर दिया। देवगण बड़े सम्मान के साथ आग को अपने साथ लिवा आये और उसे, मनुष्यों से उन भागों को लेकर जो वे देवों को भेंट करें उन तक पहुँचाने के लिए, अपने तथा मानवों के बीच मध्यस्थ बनाया।

छाछठवाँ परिच्छेद

पवित्र स्थानों के दर्शन और तीर्थ यात्रा

यात्रा के विषय में पौराणिक विचार

हिन्दुओं के लिए यात्राएँ आवश्यक ही नहीं, अनुमत और श्लाघ्य हैं। एक मनुष्य किसी पवित्र प्रदेश को, किसी बहुत ही पूज्य मूर्ति को या किसी पवित्र नदी को जाने के लिए चल पड़ता

है। वह उनमें पूजा करता है, मूर्ति की पूजा करता है, उसको भेंट चढ़ाता है, स्तुति और प्रार्थना करता है, उपवास करता है, और ब्राह्मणों, पुरोहित, और दूसरों को दान देता है। वह अपना सिर और दाढ़ी मुड़ा देता है, और घर को लौट आता है।

बहुत पूज्य पवित्र सरोवर मेरु के गिर्द ठंडे पर्वतों में हैं। उनके विषय में आगे लिखी जानकारी वायु और मत्स्य दोनों पुराणों में मिलती है—

"मेरु के पैर पर अर्हत (?) एक बहुत बड़ा सरोवर है, जो चन्द्रमा के सदृश चमकता हुआ बताया जाता है। इसमें से जम्वा (? जंबु) नदी निकलती है, जो बहुत शुद्ध है, और शुद्धतम स्वर्ण पर से बहती है।

"श्वेत पर्वत के निकट उत्तरमानस सरोवर है, और इसके गिर्द बारह और सरोवर हैं, जिनमें से प्रत्येक एक झील के सदृश है। वहां से दो नदियां, साण्डी (?) और मद्ध्यन्दा (?), निकलती हैं, जो बहती हुई किम्पुरुष को जाती हैं।

"नील पर्वत के समीप कमलों से अलंकृत प य व द (पितन्द ?) सरोवर है।

"निषध पर्वत के समीप विष्णुपद सरोवर है, जहां से सरस्वती, अर्थात सरसुती, नदी आती है। इसके अतिरिक्त गन्धर्वी नदी वहां से आती है।

"कैलास पर्वत में, समुद्र के समान विशाल, मन्द नाम का सरोवर है, जहां से मन्दाकिनी नदी आती है।

"कैलास के उत्तर-पूर्व में चन्द्रपर्वत है, और उसके पैर पर आचूद (?) सरोवर है, जहां से आचूद नदी आती है।

"कैलास के दक्षिण-पूर्व में लोहित पर्वत है, और उसके पैर पर लोहित नाम का एक सरोवर है। वहां से लोहित नदी आती है।

"कैलास के दक्षिण में सरयुशती (?) पर्वत है, और इसके पैर पर मानस सरोवर है। वहां से सरयू नदी आती है।

"कैलास के पश्चिम में, हिम से सदा आच्छादित, अरुण पर्वत है, जिस पर चढ़ा नहीं जा सकता। उसके पैर पर शैलोदा सरोवर है, जहां से शैलोदा नदी आती है।

"कैलास के उत्तर में गौर (?) पर्वत है, और इसके पैर पर च-न-द-सर (?) अर्थात सुवर्ण को रेतवाला सरोवर है। इस सरोवर के निकट राजा भगीरथ ने तपस्या की थी।

भगीरथ की कथा

"उसकी कथा यों है—हिन्दुओं के सगर नाम के एक राजा के ६०,००० पुत्र थे, जो सबके सब दुरात्मा और नीच थे। एक बार उनका एक घोड़ा खो गया। वे तत्काल उसे ढूंढ़ने लगे, और ढूंढ़ते समय वे सतत रूप से इधर उधर इतनी प्रचण्डता से दौड़े कि उसके फल से पृथ्वी का पृष्ठतल टूट गया। उन्होंने पृथ्वी के अभ्यंतर में घोड़े को एक मनुष्य के सामने खड़ा पाया। वह मनुष्य भीतर को घुसी हुई आंखों के साथ नीचे की ओर देख रहा था। जब वे उसके निकट पहुंचे तब उसने उन पर एक ऐसी दृष्टि डाली कि उसके फल से वे वहीं जल गये और अपने दुष्कर्मों के कारण नरक में चले गये।

"पृथ्वी का बैठा हुआ भाग समुद्र एक महासागर, बन गया। उस राजा के वंशजों में से भगीरथ नाम का एक राजा, अपने पूर्वजों का इतिहास सुनकर, बड़ा प्रभावित हुआ। वह

उपर्युक्त सरोवर पर गया, जिसकी तली परिष्कृत स्वर्ण की थी, और वहां ठहर कर दिन को उपवास तथा रातों को पूजा करने लगा। अन्ततः महादेव ने उससे पूछा कि क्या चाहते हो, इस पर उसने उत्तर दिया, "मैं गंगा नदी चाहता हूँ, जो स्वर्ग में बहती है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि जिसके ऊपर से इसका पानी बहता है उसके सब पाप क्षमा कर दिये जाते हैं।" महादेव ने उसकी कामना स्वीकार कर ली। किन्तु, मन्दाकिनी गंगा का पात्र थी, और गंगा बड़ी गर्विता थी, क्योंकि कोई भी मनुष्य कभी उसके सामने खड़ा नहीं हो सका था अब महादेव ने गंगा को लेकर सिर पर रख लिया। जब गंगा वहां से बाहर न जा सकी, तो वह बड़े क्रोध में भयंकर कोलाहल करने लगी। किन्तु महादेव उसे दृढ़ता पूर्वक थामे रहे, जिससे किसी व्यक्ति के लिए उसमें डुबकी लगाना सम्भव न था। तब उसने गंगा का भाग लेकर भगीरथ को दे दिया, और इस राजा ने इसकी सात शाखाओं में से मध्यवर्ती को अपने पूर्वजों की अस्थियों पर से बहाया, जिससे वे दण्ड से छूट गये। इसलिए हिन्दू लोग अपने मृतकों की जली हुई हड्डियां गंगा में डालते हैं। गंगा भी उस राजा के, अर्थात भगीरथ के नाम से जो उसे मर्त्यलोक में लाया था, पुकारी जाने लगी।

पवित्रों सरोवर की रचना

हम आगे ही इस सम्बन्ध में हिन्दू ऐतिह्य उद्धृत कर चुके हैं कि द्वीपों में ऐसी नदियां हैं जो गंगा के समान पवित्र हैं। प्रत्येक ऐसे स्थान में जिसके साथ कोई विशेष पवित्रता लगाई जाती है, हिन्दू स्नान के लिए सरोवर बनाते हैं। इसमें उन्होंने शिल्प की पराकाष्ठा को प्राप्त किया है; यहां तक कि हमारे लोग (मुसलिम) जब उनको देखते हैं, तो उन पर आश्चर्य करते हैं, और उनके समान कोई चीज बनाना तो दूर की बात रही, वे उनका वर्णन तक नहीं कर सकते। वे उनको बृहत् डील के बड़े बड़े पत्थरों का बनाते है। ये पत्थर, बहुत से पर्तों के सदृश पैड़ियों (या चौंतरों) के रूप में तीखी और सुदृढ़ लोहशृंखलाओं द्वारा, एक दूसरे के साथ जोड़े हुए होते हैं; और ये चौंतरे मनुष्य के कद से भी अधिक ऊँचाई तक, तालाब के चारों ओर जाते हैं। वे दो चौंतरों के बीच पत्थरों के बहिर्भाग पर कंगूरों के सदृश ऊपर को उठती हुई सीढ़ियां बनाते हैं, इस प्रकार पहली पैड़ियां या चौंतरे (तालाब के गिर्दागिर्द जाने वाली) सड़कों के सदृश हैं और कंगूरे (ऊपर और नीचे जाने वाली) पैड़ियां हैं। यदि कभी बहुत से लोग तालाब के नीचे उतरते और बहुत से ऊपर चढ़ते हैं, तो वे एक दूसरे से मिलते नहीं, और सड़क कभी भीड़ से बन्द नहीं हो जाती, क्योंकि चौंतरे बहुत से होते हैं, और ऊपर चढ़नेवाला व्यक्ति उस चौंतरे को छोड़कर जिस पर कि उतरनेवाले लोग जाते हैं सदा किसी दूसरे चौंतरे की ओर मुड़कर एक ओर हो सकता है। इस व्यवस्था से कष्टदायक भीड़ नहीं होने पाती।

एकहरे पवित्र ताल

मुलतान में एक ताल है जिसमें हिन्दू, यदि उन्हें रोका न जाय, स्नान करके पूजन करते हैं।

वराहमिहिर की संहिता कहती है कि तानेशर में एक ताल है जिसके जल में स्नान करने के लिए हिन्दू दूर दूर से आते हैं। इस रीति के कारण के विषय में वे यों कहते हैं—ग्रहण के समय दूसरे सब पवित्र तालों का पानी इस विशेष ताल में आता है। इसलिए, यदि मनुष्य इसमें स्नान करता है, तो यह ऐसी ही बात हो जाती है मानों उसने उन सब में से प्रत्येक में स्नान कर लिया। तब वराहमिहिर फिर कहता है—"लोग कहते हैं कि यदि सूर्य और चन्द्र के

ग्रहण का कारण सिर (उच्चस्थान) न होता, तो दूसरे ताल इस ताल के पास न आते।"

जलाशय पवित्रता के लिए विशेष रूप से इसलिए प्रसिद्ध हो जाते हैं कि या तो वहां कोई महत्वपूर्ण घटना घटी है, या धर्म-ग्रन्थ में कोई ऐसा वचन या ऐतिह्य है जो उनके साथ सम्बन्ध रखता है। हम शौनक के कहे हुए शब्द आगे ही उद्धृत कर चुके हैं। ये शुक्र ने उनको ब्रह्मा के प्रमाण पर सुनाये थे। इस पाठ में राजा बलि का, और जो कुछ वह उस समय तक करेगा जब कि नारायण उसको डुबाकर पाताल में भेज देगा उसका भी उल्लेख है। उसी पुस्तक में आगे लिखा वचन मिलता है—मैं उसको केवल इसी प्रयोजन से करता हूं कि मनुष्यों में समता, जिसका अनुभव वह करना चाहता है, नष्ट हो जायगी, जीवन की अवस्थाओं में मनुष्य भिन्न-भिन्न होंगे, और इस भिन्नता को संसार की व्यवस्था का आधार बनाया जायगा; फिर, लोग उसके पूजन से मुड़कर मेरा पूजन और मुझ में विश्वास करेंगे। सभ्य लोगों की पारस्परिक सहायता पहले से यह मान लेती है कि उनके बीच एक विशेष भेद है, जिसके फल से एक को दूसरे का प्रयोजन है। उसी सिद्धान्त के अनुसार, परमेश्वर ने जगत् को अपने में अनेक भिन्नताएँ रखनेवाला बनाया है। इस प्रकार एक हरे देश एक दूसरे से भिन्न हैं, एक ठण्डा है, तो दूसरा गरम, एक की भूमि, जल और वायु अच्छी है, पानी गन्दा और दुर्गन्धयुक्त, और वायु अस्वास्थ्यकर। इस प्रकार की अभी और भी भिन्नताएं हैं, कुछ अवस्थाओं में सब प्रकार के लाभ असंख्य और दूसरी में अल्प होते हैं। कुछ भागों में विशेष अवधि के पश्चात बार बार लौट आनेवाले भौतिक विनिपात होते हैं। दूसरों में उनको कोई जानता भी नहीं। ये सब बातें सभ्य जनता को उन स्थानों को सावधानीपूर्वक चुनने के लिए प्रेरित करती हैं जहा वे नगर बनाना चाहते हैं।

"जो चीज जनता से ये बातें कराती है वह रीति और लोकाचार है। किन्तु धार्मिक आज्ञाएं लोकाचारों और रीतियो से बहुत अधिक शक्तिशालिनी हैं और मनुष्य की प्रकृति को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। लोकाचारों और रीतियों के आधारों का अन्वेषण और निरूपण किया जाता है, और उसके अनुसार वे त्याग या रख लिये जाते हैं। परन्तु धार्मिक आज्ञाओं के आधार को ज्यों का त्यों रहने दिया जाता है। उनकी पूछताछ नहीं की जाती। अधिकांश लोग केवल निष्ठा से ही उन पर दृढ़ रहते हैं। वे उन पर तर्क-वितर्क नहीं करते, जिस प्रकार किसी अनुत्पादक प्रदेश के अधिवासी उस पर तर्क नहीं करते, क्योंकि वे उसमें उत्पन्न हुए हैं और उनको और किसी चीज का ज्ञान नहीं क्योंकि वे उस देश पर, उसे अपनी पितृभूमि समझकर, प्रेम करते हैं और उसको छोड़ना उन्हें कठिन जान पड़ता है। अब, यदि, भौतिक भिन्नताओं के अतिरिक्त, राजनियम और धर्म में भी देश एक दूसरे से भिन्न हैं तो उन लोगों के हृदयों में, जो उनमें रहते हैं, इसके प्रति इतना अधिक अनुराग होता है कि इसका उन्मूलन कभी नहीं हो सकता।"

बनारस की महत्ता

हिन्दुओं के कुछ स्थान ऐसे हैं जो उनके राजनियम और धर्म के सम्बद्ध कारणों से पूजित हैं, उदाहरणार्थ, बनारस (वाराणसी)। क्योंकि उनके तपस्वी वहां जाते और सदा के लिए वहीं ठहर जाते हैं, जिस प्रकार काबा के रहनेवाले सदा मक्के में ठहरे रहते हैं। वे अपने जीवनों की समाप्ति तक वहां रहना चाहते हैं, ताकि मृत्यु के पश्चात उनका पुरस्कार इसके कारण अच्छा हो जाय। वे कहते हैं कि घातक अपने अपराध के लिए उत्तरदाता ठहराया और अपनी दुष्कृति के लिए दण्डित किया जाता है, सिवा उस अवस्था के जब कि वह बनारस के नगर में प्रवेश

करता है, जहाँ कि वह क्षमा प्राप्त करता है। इस संश्रय की पवित्रता के विषय में वे आगे लिखी कथा सुनाते हैं—

"ब्रह्मा आकार में चार-सिरवाला था। अब उसमें और शंकर में, अर्थात महादेव में, कुछ झगड़ा हो गया, और इसके पश्चात जो युद्ध हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा का एक सिर कट गया। उस समय यह रिवाज था कि विजयी निहत शत्रु के सिर को अपने हाथ में लेकर मृतक के लिए अवमान के कर्म और अपनी वीरता के चिह्न के रूप में उसे हाथ से नीचे लटका देता था। फिर मुँह में एक लगाम डाली गई। इस प्रकार ब्रह्मा का सिर महादेव के हाथ से अवमानित हुआ। महादेव जहाँ जाता और जो कुछ भी करता सदा सिर को अपने साथ रखता। नगरों में प्रवेश करते समय उसने एक बार भी कभी उसको अपने से अलग नहीं किया, यहाँ तक कि अन्त को वह बनारस में आया बनारस में प्रवेश करने के पश्चात सिर उसके हाथ से गिरकर अन्तर्धान हो गया।"

पवित्र सरोवरों के बारे में

इसी प्रकार का स्थान पूकर है, जिसकी कथा यह है—ब्रह्मा वहाँ एक बार यज्ञ कर रहा था, जब कि आग में से एक सूअर निकला। इसलिए वे वहाँ उसकी मूर्ति को सूअर की मूर्ति सी दिखलाते हैं। नगर के बाहर, तीन स्थानों में, उन्होंने तालाब बना रक्खे हैं जो बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं, और पूजा के स्थान हैं।

इस प्रकार का एक दूसरा स्थान तानेशर है; जो कुरुक्षेत्र, अर्थात कुरु की भूमि भी कहलाता है। कुरु एक किसान और धर्मपरायण, पुण्यात्मा मनुष्य था। वह दिव्य शक्ति से लोकोत्तर कर्म करता था। इसलिए देश उसके नाम पर कहलाता और उसके कारण पूजा जाता था। इसके अतिरिक्त, तानेशर भारत और दुष्टों के विनाश के युद्धों में वासुदेव के विक्रमों का रङ्गमञ्च है। इसी कारण से लोग वहाँ जाते हैं।

माहूर भी, ब्राह्मणों से भरा हुआ, एक पवित्र स्थान है। इसका सम्मान इसलिए होता है कि वहाँ पड़ोस में नन्दगोल नामक स्थान में वासुदेव का जन्म और पालन-पोषण हुआ था।

आजकल हिन्दू काश्मीर की भी यात्रा करते हैं। अन्ततः, जब तक मुलतान का मूर्ति-मन्दिर नष्ट नहीं किया गया था वे वहाँ जाया करते थे।

सड़सठवाँ परिच्छेद

कमाई के खर्च का तरीका

दान, कर तथा उचित व्यय

प्रति दिन जितना भी सम्भव हो दान देना उनके लिए आवश्यक ठहराया गया है। वे रुपये को एक वर्ष, वरन् एक मास भी पुराना नहीं होने देते, क्योंकि यह अज्ञात भविष्य पर एक हुण्डी

होगी, जिसके विषय में मनुष्य नहीं जानता कि वह उस (भविष्य) तक पहुंचेगा या नहीं।

जो कुछ वह फसलों से या पशुओं से कमाता है उसके विषय में वह सबसे पहले देश के शासक को कर देने के लिए बाध्य है जो कृषि-भूमि या गोचारण भूमि के साथ लगा रहता है। फिर, वह उसको आय का छठवां भाग उस रक्षा का स्वीकार करते हुए देता है जो वह अपनी प्रजा, उनकी सम्पत्ति, और उनके परिवारों की करता है। यही कर्तव्यता साधारण जनता के सिर पर भी है, परन्तु वे अपनी सम्पत्ति के विषय में घोषणाएँ करते हुए सदा झूठ बोलते और छल करते हैं। इसके अतिरिक्त, व्यापारी लोग भी उसी कारण से राजस्व देते हैं। केवल ब्राह्मण ही इन सब करों से मुक्त हैं।

करों को निकाल लेने के बाद बच रहनेवाले आय के शेषांश को किस प्रकार काम में लाना चाहिए, इस विषय में भिन्न-भिन्न सम्मतियां हैं। कुछ लोग उसका नवां भाग दान के लिए नियत करते हैं। क्योंकि वे इसको तीन भागों में बाँटते हैं। उनमें से एक भाग हृदय को चिन्ता से बचाये रखने के लिए सञ्चित रक्खा जाता है। दूसरा भाग लाभ की प्राप्ति के लिए व्यापार में लगाया जाता है, और तीसरे भाग का तृतीयांश (अर्थात, सारे का नवां भाग) दान में व्यय किया जाता है, जब कि दो दूसरे तृतीयांश उसी नियम के अनुसार व्यय किये जाते हैं।

दूसरे लोग इस आय को चार भागों में बाँटते हैं। एक चौथाई सामान्य व्ययों के लिए नियत किया जाता है, दूसरा चौथाई उदार मन के उदात्त कार्यों के लिए, तीसरा दान के लिए और चौथा सञ्चय में रखने के लिए, अर्थात इसका उतना भाग जो तीन वर्षों के लिए सामान्य ख़र्चों से अधिक न हो। यदि वह चतुर्थांश जो सञ्चित रक्खा जायगा इस परिमाण से बढ़ता हो, तो केवल इसी परिमाण को सञ्चित रक्खा जाता है, और शेष को दान में व्यय कर दिया जाता है।

अर्थप्रयोग या प्रति सैकड़ा शुल्क लेने का निषेध है। ऐसा करने से मनुष्य को जो पाप होता है वह उस परिमाण के अनुरूप होता है जिससे कि शतोत्तर परिमाण मूल धन से अधिक बढ़ गये हैं। केवल शूद्र को ही प्रतिशतक लेने की आज्ञा है, (और वह भी तब तक) जब तक उसका लाभ मूलधन के पचासवें भाग से अधिक नहीं होता (अर्थात वह दो प्रति सैकड़ा से अधिक न ले)।

अड़सठवाँ परिच्छेद

खान पान के पदार्थ

मांसाहार

आदि में प्रायः वध करने का उनके लिए निषेध था, जैसा कि ईसाइयों और मनीचियों के लिए है। परन्तु, लोगों में मांस की चाह है, और वे इसके विपरीत प्रत्येक आज्ञा को सदा एक ओर फेंक देते हैं। इसलिए अग्रोल्लिखित नियम विशेष रूप से केवल ब्राह्मणों पर ही लागू होता है, क्योंकि वे धर्म के रक्षक हैं, और धर्म उनको लालसाओं के सामने झुकने का निषेध करता है। यही नियम ईसाई पुरोहितवर्ग के उन सदस्यों पर लागू होता है जो पद में बिशपों से ऊपर हैं, यथा मेट्रोपॉलीटन,

उदार, और कुलपति; निचले पदों पर, जैसे कि प्रसवाईटर (पुरोहित) और डीकन (कलीसिया के सांसारिक काम का प्रबन्धकर्त्ता), यह लागू नहीं होता, सिवा उस अवस्था के जब कि मनुष्य जिसके पास इनमें से कोई पद है वह साथ ही मंक (यति) भी हो।

गोश्त के लिये पशु-वध

क्योंकि अवस्था ऐसी है, इसलिए जन्तुओं को गला दबाकर मारने की आज्ञा है, परन्तु केवल विशेष-विशेष जन्तुओं को ही, दूसरों को छोड़ दिया गया है। ऐसे जन्तुओं का मांस, जिनके मारने की आज्ञा है, उस अवस्था में निषिद्ध है जब उनकी मृत्यु अकस्मात हो जाय। जिन जन्तुओं को मारने की आज्ञा है वे ये हैं—भेड़ें, बकरियां, हिरण, शश, गैंडे (गन्ध), भैंसे, मछलियां, जल और स्थल-पक्षी, जैसा कि चिड़ियां, पंडुकियां, तीतर, मोर और दूसरे ऐसे जन्तु जो मनुष्य के लिए बीभत्स और हिंस्र नहीं।

जिनका निषेध है वे ये हैं—गउएँ, घोड़े, खच्चर, गधे, ऊँट, हाथी, पालतू कुक्कुट, तोते, बुलबुलें, सब प्रकार के अण्डे और मदिरा। मदिरा की शूद्र को आज्ञा है। वह उसे पी सकता है, परन्तु इसे बेचने का उसे मजाल नहीं, क्योंकि उसे मांस बेचने की आज्ञा नहीं।

गो मांस का निषेध

कुछ हिन्दू कहते हैं कि भारत के पूर्व के समय में गो-मांस-भक्षण की आज्ञा थी, और उस समय ऐसे यज्ञ होते थे जिनका गो-वध भाग था। परन्तु, उस समयके पश्चात मनुष्यों की निर्बलता के कारण इसका निषेध कर दिया गया था, क्योंकि वे इतने दुर्बल थे कि अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकते थे, जैसा कि वेद भी, जो मूलतः केवल एक था, बाद को, मनुष्यों के लिए इसका अध्ययन सुगम करने के उद्देश्य से ही, चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। परन्तु यह कल्पना बहुत कम उपपादित है, क्योंकि गउओं के मांस का निषेध हलका करनेवाला या कम कड़ा उपाय नहीं, वरन्, इसके विपरीत, वह पहले नियम की अपेक्षा अधिक कठिन और अधिक व्यावर्तक है।

दूसरे हिन्दुओं ने मुझे बताया कि ब्राह्मण गो-मांस-भक्षण से दुःख पाया करते थे। क्योंकि उनका देश गरम है, शरीरों के भीतरी भाग ठण्डे हैं, इसलिए नैसर्गिक उष्णता उनमें मन्द हो जाती है, और पाचन-शक्ति इतनी निर्बल है कि भोजन के पश्चात पान के पत्ते खाकर और सुपारी चबाकर उन्हें उसको तेज करना आवश्यक है। गरम पान शरीर के ताप को भड़काता है, पान के पत्ते के ऊपर का चूना प्रत्येक गीली वस्तु को सुखा देता है, और सुपारी दाँतों, मसूड़ों, और आमाशय पर सङ्कोचनशील औषध के रूप में क्रिया करती है। ऐसी अवस्था होने से ही उन्होंने गो-मांस के खाने का निषेध कर दिया, क्योंकि यह सारतः मोटा और ठण्डा होता है।

मैं, अपनी ओर से, अनिश्चित हूँ, और दो भिन्न-भिन्न मतों के बीच इस रीति की उत्पत्ति के विषय में सन्देह करता हूँ।

(हस्तलेख में दीमक चाट गई)

आर्थिक हेतु के विषय में, हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गौ वह जन्तु है जो यात्रा में मनुष्य का बोझ उठाकर, कृषि में हल चलाने और बोने के कामों में, गृहस्थी में दूध और उससे बननेवाली चीजों से मनुष्य की सेवा करता है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य इसके गोबर का, और शीत-काल में इसके श्वास का भी उपयोग करता है। इसलिए गो-मांस खाने का निषेध किया गया था; जैसा कि जब लोगों ने अलहज्जाज के पास शिकायत की कि बाबल अधिकाधिक उजाड़ होता जा रहा है, तो उसने भी गोमांस-भक्षण का निषेध कर दिया था।

दार्शनिक दृष्टि से वस्तुओं की समानता

मुझे बताया गया है कि आगे लिखा वचन किसी भारतीय पुस्तक से है—"सब वस्तुएँ एक हैं, चाहे उनकी आज्ञा हो या निषेध, वे बराबर हैं। उनका भेद केवल दुर्बलता और शक्ति में है। भेड़िये में भेड़ को चीरने की शक्ति है; इसलिए भेड़ भेड़िये का आहार है, क्योंकि भेड़ भेड़िये का विरोध नहीं कर सकती, और उसका अहेर है।" मैंने हिन्दू पुस्तकों में इसी आशय के वचन पाये हैं। परन्तु, ऐसी बुद्धि समझदार मनुष्य को केवल ज्ञान से ही आती है, जब इसमें उसकी गति इतनी हो जाती है कि ब्राह्मण और चण्डाल उसके लिए एक समान होते हैं। यदि वह इस अवस्था पर पहुँच चुका है, तो दूसरी चीजें भी, जहाँ तक वह उनसे परहेज करता है, उसके लिए बराबर हैं। उसके लिए एक ही बात है, चाहे उन सबकी उसके लिए आज्ञा है, क्योंकि वह उनके बिना निर्वाह कर सकता है, या चाहे उनका उसके लिए निषेध है, क्योंकि उसको उनकी चाह नहीं। परन्तु, उन लोगों के लिए जो अविद्या के जूए में जकड़े होने से, इन वस्तुओं की आवश्यकता रखते हैं, कुछ चीजों की आज्ञा है और कुछ का निषेध, और इससे दोनों प्रकार की वस्तुओं में एक दीवार खड़ी की गई है।

उनहत्तरवाँ परिच्छेद

विवाह, स्त्रियों के मासिक धर्म और प्रसूतावस्था

विवाह की आवश्यकता

किसी भी जाति का अस्तित्व नियमित विवाहित जीवन के बिना नहीं रह सकता, क्योंकि यह उन मनोविकारों के तुमुल को रोकता है जिनसे संस्कृत मन घृणा करता है; और यह उन सब कारणों को दूर करता है जो जन्तु में उस संकोप को भड़काते हैं जिसका परिणाम सदा अपहार होता है। जोड़ों में जन्तुओं के जीवन का विचार करने से, जोड़े का एक सदस्य दूसरे को किस प्रकार सहायता करता है, और उसी वर्ग के दूसरे जन्तुओं की कामुकता उनसे किस प्रकार अलग रक्खी जाती है, आप विवाह को एक आवश्यक संस्था विघोषित किये बिना नहीं रह सकते;

परन्तु मनुष्य के लिए अव्यवस्थित संभोग या वेश्यापन एक लज्जाजनक क्रिया है, जो उन जन्तुओं के विकास की स्थिति को भी नहीं पहुंचती जो प्रत्येक दूसरी दृष्टिसे मनुष्य से बहुत नीचे हैं।

विवाह का नियम

प्रत्येक जाति के यहाँ, और विशेषतः उन जातियों के यहाँ, जो ईश्वर-मूलक धर्म और नियम रखने का दावा करती हैं, विवाह की विशेष रीतियाँ होती हैं। हिन्दू बहुत छोटी आयु में विवाह करते हैं, इसलिए माता-पिता अपने पुत्रों के लिए विवाह की व्यवस्था करते हैं। उस अवसर पर ब्राह्मण यज्ञों के अनुष्ठान करते हैं और उनको तथा दूसरों को दान मिलता है। विवाहोत्सव के उपकरण आगे लाये जाते हैं। उनमें कोई उपायन नहीं ठहराया जाता। पुरुष भार्या को केवल एक उपहार, जैसा वह उचित समझे, और एक विवाह-उपायन अग्रिम देता है, जिसको वापस मांगने का उसे कोई अधिकार नहीं, परन्तु स्त्री चाहे तो अपनी इच्छा से उसे वापस दे सकती है। पति-पत्नी का वियोग केवल मृत्यु द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि उनमें विवाह-संबंध भेद (तलाक) की प्रथा नहीं है।

पुरुष एक से चार तक स्त्रियां कर सकता है। उसे चार से अधिक लेने की आज्ञा नहीं, परन्तु यदि उसकी स्त्रियों में से कोई एक मर जाय, तो वह धर्म संख्या को पूर्ण करने के लिए एक दूसरी ले सकता है। किन्तु उसको इससे आगे न जाना चाहिए।

विधवा

यदि मृत्यु के कारण स्त्री का पति न रहे, तो वह दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती। उसे केवल दो बातों में से एक चुननी पड़ती है—या तो वह यावज्जीवन विधवा रहे या अपने को जला डाले, और पिछली घटना को ही अच्छा समझा जाता है, क्योंकि विधवा के रूप में वह जब तक जीती है उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। राजाओं की भार्याओं के विषय में, चाहे उनकी इच्छा हो या न हो, उनके यहाँ अपने को जला देने की रीति है, जिससे वे यह चाहते हैं कि उनमें से कोई स्त्री दैवात् कोई ऐसी बात न कर सके जो विश्रुत पति के अनुपयुक्त हो। इसमें अपवाद वे केवल प्रौढ़ अवस्था की या बच्चोंवाली स्त्रियों को ही बनाते हैं, क्योंकि पुत्र अपनी माता का जिम्मेदार रक्षक है।

विवाह की निषिद्ध दशायें

उनके विवाह के नियमानुसार एक संबन्धी की अपेक्षा एक अपरिचित से विवाह करना अच्छा है। पति के विषय में स्त्री का सम्बन्ध जितना दूर का हो उतना ही अच्छा है। अपनी वंशज, जैसा कि पोती या परपोती, अपनी पूर्वज, जैसा कि माता, दादी, या परदादी, दोनों प्रकार की प्रत्यक्ष सम्बन्धिनी स्त्रियों के साथ विवाह का सर्वथा निषेध है। सपिण्ड सम्बन्धियों के साथ भी, जैसा कि बहिन, भतीजी, मौसी या फूफी और उनकी पुत्रियां, से विवाह निषेध है, सिवा उस दशा के जब कि संबन्धियों का जोड़ा, जो आपस में विवाह करना चाहता है, पांच क्रमागत पीढ़ियों द्वारा एक दूसरे से दूर हो चुका हो। उस अवस्था में निषेध हटा दिया जाता है, परन्तु, इतना होने पर भी, ऐसा विवाह उनमें पसन्द नहीं किया जाता।

भार्याओं की संख्या

कुछ हिन्दुओं का विचार है कि भार्याओं की संख्या वर्ण पर अवलम्बित है, इसके अनुसार, ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो स्त्रियां, और शूद्र एक स्त्री ले सकता है। एक वर्ण का पुरुष अपने वर्ण को या अपने से निचले वर्ण या वर्णों की स्त्री से विवाह कर सकता है, परन्तु किसी मनुष्य को अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री से विवाह करने की आज्ञा नहीं।

बच्चा माता के वर्ण का होता है, न कि पिता के वर्ण का। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, यदि ब्राह्मण की स्त्री ब्राह्मण है, तो उसका बच्चा भी ब्राह्मण है, यदि वह शूद्र है तो उसका बच्चा भी शूद्र है। परन्तु, हमारे समय में, ब्राह्मण लोग, यद्यपि उनको आज्ञा है, अपने वर्ण की स्त्री के के सिवा दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करते।

रजःस्राव की संस्थिति

रजःस्राव की जो लम्बी से लम्बी मुद्दत देखी गई है वह सोलह दिन है, परन्तु वास्तव में वह केवल पहले चार दिन रहता है, और तब पति को अपनी पत्नी के साथ संभोग करने, वरन् घर में उसके समीप आने की भी आज्ञा नहीं होती, क्योंकि इस काल में वह अपवित्र होती है। चार दिन बीत जाने के पश्चात् स्नान करने पर वह पुनः शुद्ध होती है, और चाहे रक्त अभी सर्वथा अन्तर्धान न भी हुआ हो, पति उसके साथ संभोग कर सकता है, क्योंकि यह रक्त रजःस्राव का रक्त नहीं, वरन् वही सार-द्रव्य समझा जाता है जिसके कि भ्रूण बनते हैं।

गर्भ और प्रसव

(ब्राह्मण का) यह कर्तव्य है कि यदि वह सन्तान की प्राप्ति के लिए भार्या के साथ सम्भोग करना चाहता है, तो वह गर्भाधान नामक यज्ञ करे, परन्तु वह इसे नहीं करता, क्योंकि इसमें स्त्री की उपस्थिति का प्रयोजन है, और इसलिये उसे इसको करते लज्जा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह इस संस्कार को स्थगित करके, इसके अगले संस्कार सीमन्तोन्नयम्, * के साथ मिला देता है, जो गर्भ के चौथे मास में होता है। जब भार्या बच्चा जन चुकती है, तब जन्म और उस समय के बीच जब माँ बच्चे का पोषण आरम्भ करती है एक तीसरा यज्ञ किया जाता है। यह जात-कर्मन् कहलाता है।

प्रसूति के दिनों के बीत जाने के पश्चात् बच्चे का नाम रक्खा जाता है। नाम रखने के अवसर का यज्ञ नामकर्मन् कहलाता है।

जब तक स्त्री प्रसूतावस्था में होती है, वह किसी बर्तन का स्पर्श नहीं करती, और उसके घर में कुछ नहीं खाया जाता, न वहाँ ब्राह्मण आग जलाता है। ये दिन ब्राह्मण के लिये आठ, क्षत्रिय के लिए बारह, वैश्य के लिए पन्द्रह; और शूद्र के लिए तीस हैं। नीच जातियों के लोगों के लिए, जिनकी गिनती किसी वर्ण में नहीं होती, कोई अवधि निश्चित नहीं।

---

* गर्भाधान, सीमन्तोन्नयनम्, इत्यादि के सम्बन्ध में विस्तार से जानने के लिए गौतम का धर्मशास्त्र देखें।

बच्चे को स्तन से दूध पिलाने का लम्बे से लम्बा समय तीन वर्ष है, परन्तु इस विषय में कोई नियम नहीं है। बच्चे के बालों के पहली बार काटे जाने के अवसर का यज्ञ तीसरे वर्ष में किया जाता है, कानों का छेदन सातवें और आठवें वर्ष में होता है।

वेश्यावृत्ति के कारण

वेश्यापन के विषय में लोगों का विचार है कि इसकी उनके लिए आज्ञा है। इस प्रकार जब काबुल के मुसलमानों ने विजय किया और काबुल के इस्पाहबाद ने इसलाम धर्म ग्रहण किया तो उसने यह शर्त की कि उसे गोमांस खाने और अस्वाभाविक मैथुन करने के लिए विवश न किया जायगा। (जिससे सिद्ध होता है कि उसे दोनों बातों से एक सी घृणा थी)। वास्तव में, जैसा लोग समझते हैं बात वैसी नहीं परन्तु यों है कि वेश्यावृत्ति को दण्डित करने में हिन्दू उतनी कड़ाई से काम नहीं लेते। परन्तु, इसमें दोष राजा का है, जाति का नहीं। यदि ऐसा न हो, तो कोई भी ब्राह्मण या पुरोहित अपने मूर्त्ति-मन्दिरों में उन स्त्रियों को सहन न करे, जो गाती, नाचती, और क्रीड़ा करती हैं। राजा लोग उनको, केवल आर्थिक कारणों से, अपने नगरों के लिए आकर्षण, और अपनी प्रजा के लिए प्रमोद का प्रलोभन बनाते हैं। वे इस व्यापार से, अर्थदण्ड और राजस्व दोनों के रूप में, जो आय प्राप्त करते हैं; उससे वे उन व्ययों को पूरा करना चाहते हैं जो उनके कोष को सेना पर व्यय करने पड़ते हैं।

इसी रीति पर बूइया राजा अज़ुदुद्दौला काम करता था। इसके अतिरिक्त उसका एक दूसरा उद्देश्य भी था, अर्थात अपने अविवाहित सैनिकों की कामुकता से अपनी प्रजा की रक्षा करना।

सत्तरवाँ परिच्छेद

व्यवहार-पद

विधि

न्यायाधीश वादी से अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध एक ऐसी प्रचलित लिपि में लिखा हुआ निदर्शन-पत्र माँगता है जो इस प्रकार के लेखों के लिए उपयुक्त समझा जाता है, और निदर्शन-पत्र में उसकी प्रार्थना की यथार्थता का सुप्रतिपादित प्रमाण चाहता है। यदि कोई लिखित निदर्श-नपत्र न हो, तो लिखित-दोष के बिना ही साक्षियों द्वारा विवाद का निश्चय कर दिया जाता है।

साक्षियों की संख्या

साक्षी चार से कम नहीं होने चाहिएँ, किन्तु वे अधिक हो सकते हैं। केवल उसी अवस्था में ही जब कि किसी साक्षी का साक्षित्व विचारपति के सामने पूर्णरूप से स्थापित और निश्चित

हो, वह उसे स्वीकार कर सकता, और प्रश्न का निर्णय केवल इसी साक्षी के साक्षित्व के आधार पर कर सकता है। परन्तु, वह गुप्तरूप से भेद लेने, प्रकाश्य में संकेत या लक्षण मात्र से युक्तियां निकालने, एक बात से जो किसी दूसरे के विषय में निश्चित प्रतीत होती है निर्णय करने, और सचाई को निकालने के लिए सब प्रकार की ठग-विद्या करने को, जैसा कि इयास इब्न मुआविया किया करता था, स्वीकार नहीं करता।

यदि वादि अपना अधिकार सिद्ध नहीं कर सकता; तो प्रतिवादी को प्रतिज्ञा :करनी पड़ती है, परन्तु वह यह कहकर वादी को शपथ भी दे सकता है कि "तू शपथ ले कि तेरा अधिकार सच्चा है और जिस चीज के लिए तू दावा करता है वह मैं तुझे दे दूंगा।"

शपथ और परीक्षायें

अधिकार के विषय के अनुसार, शपथ के अनेक प्रकार हैं। यदि विषय कोई बड़े महत्व का नहीं होता और वादी इस बात पर सहमत हो जाता है कि अभियुक्त व्यक्ति शपथ खा ले, तो प्रतिवादी पांच विद्वान ब्राह्मणों के सामने इन शब्दों में केवल शपथ लेता है, "यदि मैं झूठ बोलूं तो उसे हानि मूल्य के रूप में मैं अपने माल का उतना दूंगा जितना कि उसकी प्रतिज्ञा के परिमाण के आठ गुना के बराबर होगा।"

एक उच्च प्रकार का शपथ यह है, अभियुक्त व्यक्ति को ब्राह्मण (?) नामक बीष (विष) पीने के लिए बुलाया जाता है। यह सत्य कह देता है, तो इस पान से उसकी कुछ हानि नही होती।

इससे भी उच्चतर प्रकार की परीक्षा यह है—वे मनुष्य को एक गहरी और वेगवती नदी, या बहुत पानी वाले गहरे कुएं के पास ले जाते हैं। तब वह जल से कहता है—"क्योंकि तेरा सम्बन्ध निष्कलङ्क देवों से है, और तू गुप्त और प्रकट सब कुछ जानता है यदि मै झूठ कहता हूं तो मेरी रक्षा कर।" तब पांच मनुष्य उसको उठाकर जल में फेंक देते हैं। यदि उसने सत्य कहा है तो वह डूबे और मरेगा नहीं।

इससे भी उच्चतर प्रकार यह है—विचारपति वादी और प्रतिबादी दोनों को नगर या देश की सबसे अधिक मान्य प्रतिमा के मन्दिर में भेजता है। वहां प्रतिवादी को उस दिन उपवास करना होता है। दूसरे दिन वह नवीन वस्त्र धारण करता है, और वादी के साथ उसी मन्दिर में चौकी पर रहता है। तब पुजारी लोग प्रतिमा पर जल डालते और वह जल उसे पीने के लिए देते हैं। तब, यदि उसने सत्य नहीं कहा होता, तो तत्काल उसे रक्त का वमन हो जाता है।

इससे भी उच्चतर प्रकार यह है—प्रतिवादी को तराजू के पलड़े पर रखकर तोला जाता है; इस पर उसे तराजू पर से उतार लिया जाता, और तराजू को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। तब वह अपने साक्षित्व की सचाई के लिए साक्षियों के रूप में अमूर्त प्राणियों, देवों, दिव्य, सत्ताओं को, एक दूसरे के पश्चात् आह्वान करता है, और जो कुछ वह बोलता जाता है उसको है वह सब एक कागज के टुकड़े पर लिखकर अपने सिर के साथ बांध लेता है। उसे एक बार फिर तराजू के पलड़े पर रक्खा जाता है। यदि उसने सत्य कहा है तो उसका वजन पहली बार की अपेक्षा बढ़ जाता है।

इससे भी बढ़कर एक प्रकार है। वह यह है—वे मक्खन और तिलों का तेल बराबर लेकर एक देगची में उबालते हैं। तब वे उसमें एक पत्ता डालते हैं, जो पिलपिला और दग्ध हो जाने से

उनके लिए मिश्रण के उबलने का लक्षण है। जब उबलने की क्रिया खूब जोरों पर होती है, तब वे एक सुवर्ण-मुद्रा देगची में फेंकते हैं, और प्रतिवादी को हाथ से उसे बाहर निकालने की आज्ञा देते हैं। यदि उसने सत्य कहा है, तो वह उसे निकाल लेता है।

उच्चतम प्रकार की परीक्षा यह है—वे लोहे के एक टुकड़े को इतना गरम करते हैं कि वह पिघलने के निकट पहुंच जाता है। तब उसे चिमटे से पकड़कर प्रतिवादी के हाथ पर रख दिया जाता है। लोहे और उसके हाथ के बीच किसी पेड़ के एक चौड़े पत्ते, और उसके नीचे कुछ थोड़े से और बिखरे हुए चावलों के धानों के सिवा और कुछ नहीं होता। वे उसे इसको सात पग ले जाने की आज्ञा देते हैं, और इसके पश्चात् चाहे वह इसको भूमि पर गिरा दे।

इकहत्तरवाँ परिच्छेद

दंड और प्रायश्चित

शासन में कड़ाई

इस विषय में हिन्दुओं की रीति-नीति ईसाइयों से मिलती है, क्योंकि वह, ईसाइयों की रीति-नीति के सदृश, पुण्य और पाप से निवृत्ति के सिद्धान्त पर अवलम्बित है, जैसा कि किसी भी अवस्था में हत्या न करना, जिसने तुम्हारा कोट उतार लिया है उसे कमीज भी दे देना, जिसने तुम्हारे एक गाल पर मारा है उसके सामने दूसरा गाल भी कर देना; अपने शत्रु को आशीर्वाद देना और उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना। मुझे अपने प्राणों का शपथ, यह एक श्रेष्ठ तत्वज्ञान है, परन्तु इस संसार के लोग सभी तत्वज्ञानी नहीं उनमें से बहुत से अज्ञानी और भूल करनेवाले हैं जो खंग और कोड़े के बिना सन्मार्ग पर रक्खे नहीं जा सकते। और, वास्तव में, जब से विजयी कान्स्टंटायन ईसाई हुआ, तब से खंग और कोड़े का सदा प्रयोग होता रहा है, क्योंकि उनके बिना शासन करना असम्भव होगा।

आदि में ब्राह्मण शासक

भारत का विकास इसी ढंग से हुआ है। क्योंकि हिन्दू बताते हैं कि आदि में शासन और युद्ध के कार्य ब्राह्मणों के हाथ में थे, परन्तु देश की व्यवस्था बिगड़ गई, क्योंकि वे अपने धर्म शास्त्रों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार शासन करते थे, जो प्रजा के अनिष्टशील और उच्छृंखल तत्वों के सामने असम्भव सिद्ध हुआ। उनसे धर्म-कार्यों का शासन भी छिन जाने को था। इसलिए वे अपने धर्म के स्वामी के पास गिड़गिड़ाये। इस पर ब्रह्मा ने उनके सिपुर्द केवल वही काम कर दिये जो अब उनके पास हैं, और शासन तथा युद्ध के कर्तव्य क्षत्रियों को दिये। तब से ब्राह्मण माँगकर और भिक्षा से अपना निर्वाह करते हैं, और दण्डनीति का प्रयोग विद्वानों के अधिकार में नहीं, राजाओं के अधिकार में किया जाता है।

हत्या के विषय में राजनियम यह है—यदि हत्यारा ब्राह्मण, और निहत व्यक्ति किसी दूसरे वर्ण का हो, तो उसे उपवास, प्रार्थना, और दान के रूप में केवल प्रायश्चित ही करना पड़ता है।

यदि निहत व्यक्ति ब्राह्मण है, तो ब्राह्मण हत्यारे को अगले जन्म में इसका उत्तर देना होगा, कारण यह कि उसे प्रायश्चित करने की आज्ञा नहीं दी जाती, क्योंकि प्रायश्चित पापी से पाप को पोंछ डालता है, किन्तु कोई भी चीज ब्राह्मण से किसी मर्त्य अपराध को नहीं पोंछ सकती। इन अपराधों में सब से बड़े ये हैं—ब्राह्मण को मारना, जो वज्रब्राह्महत्या कहलाता है, फिर, गो-हत्या, सुरापान, व्यभिचार, विशेषतः अपने पिता की और गुरु की पत्नी के साथ। किन्तु, राजा लोग इन अपराधों में से किसी के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं मारते, परन्तु उसकी सम्पत्ति का अपहरण करके उसे अपने देश से निर्वासित कर देते हैं।

यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय से नीचे के किसी वर्ण का मनुष्य उसी वर्ण के किसी मनुष्य की हत्या कर दे, तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है, परन्तु इसके अतिरिक्त उदाहरण प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से राजा लोग उसे दण्ड देते हैं।

चोरी का कानून आज्ञा देता है कि चोर का दण्ड चुराई हुई वस्तु के मूल्य के अनुसार होना चाहिए। तदनुसार, कभी तो अत्यन्त या मध्यम कड़ाई का दण्ड आवश्यक होता है, कभी तोड़न और शोधन लगाना, और कभी केवल सबके सामने लज्जित करना और हँसी उड़ाना ही। यदि वस्तु बहुत बड़ी हो, तो राजा लोग ब्राह्मण को अन्धा और उसका अंगच्छेदन कर देते हैं। वे उसका बायाँ हाथ और दायाँ पैर, या दायाँ हाथ और बायाँ पैर काट डालते हैं। किन्तु वे क्षत्रिय का अंगछेदन, उसको अन्धा किये बिना ही, कर देते हैं; और अन्य वर्णों के चोरों को मार डालते हैं।

व्यभिचारिणी को पति के घर से बाहर निकालकर निष्कासित कर दिया जाता है।

मैंने यह कई बार सुना है कि जब (मुसलिम देशों से) हिन्दू दास भागकर अपने देश और धर्म में वापस जाते हैं, तब हिन्दू उन्हें प्रायश्चित के रूप में उपवास करने का आदेश करते हैं। फिर वे उन्हें गउओं के गोबर, मूत्र और दूध में दिनों की नियत संख्या तक दबाये रखते हैं, यहाँ तक कि उनका खमीर उठ आता है। तब वे उनको खींचकर उस मैल में से बाहर निकाल लेते हैं। और वैसा ही मैल खाने को देते हैं, और ऐसा ही और अधिक।

मैंने ब्राह्मणों से पूछा है कि क्या यह सत्य है, परन्तु वे इससे इन्कार करते हैं, और कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त सम्भव नहीं, और उसको जीवन की उन स्थितियों में लौट आने की कभी आज्ञा नहीं दी जाती जिनमें वह बन्दी के रूप में ले जाने के पहले था। और वह सम्भव कैसे हो सकता है? यदि ब्राह्मण शूद्र के घर में कई एक दिन तक खाता है, तो वह अपने वर्ण से निकाल दिया जाता है, और फिर कभी उसे लाभ नहीं कर सकता।

वहत्तरवाँ परिच्छेद

दाय और मृत व्यक्ति पर उसका अधिकार

दाय का कानून

उनके रिक्थलाभ के कानून का मुख्य नियम यह है कि स्त्रियाँ सिवा पुत्री के, दायाद नहीं हो सकतीं। मनु-पुस्तक के एक वचन के अनुसार, पुत्री पुत्र के भाग का चतुर्थांश पाती है। यदि वह विवाहिता नहीं, तो यह धन उसके विवाह के समय तक उस पर व्यय किया जाता है, और उसका दहेज उसके भाग के द्वारा क्रय किया जाता है। तदनन्तर उसको अपने पिता के घर से और आय नहीं होती।

यदि विधवा अपने को जला नहीं डालती, परन्तु जीवित रहना पसन्द करती है, तो उसके मृत पति के उत्तराधिकारी को उसे आमरण भोजन और वस्त्र देना पड़ता है।

मृत व्यक्ति के ऋण उसके उत्तराधिकारी को या तो अपने भाग में से या अपनी सम्पत्ति के सञ्चय में से अवश्य चुकाने चाहिएँ, इसमें इस बात का कोई विचार नहीं होगा कि मृत कोई सम्पत्ति छोड़ गया है या नहीं। इसी प्रकार, वह, कुछ भी अवस्था में हो, विधवा के लिए उन सब व्ययों को सहन करे जिनका अभी उल्लेख हुआ है।

नर-उत्तराधिकारियों से सम्बन्ध रखनेवाले नियम के विषय में, यह बात स्पष्ट है कि पूर्वजों, अर्थात पिता और पितामह की अपेक्षा वंशज, अर्थात पुत्र और पौत्र, दाय पर निकटतर अधिकार रखते हैं। फिर, पूर्वजों और वंशजों में एकहरे सम्बन्धियों के विषय में, जिस मनुष्य का सम्बन्ध जितना अधिक निकट का है उतना ही अधिक उसका दाय पर अधिकार है। इस प्रकार पौत्र की अपेक्षा पुत्र का, और पितामह की अपेक्षा पिता का अधिकार निकटतर है।

सपिण्ड सम्बन्धियों, यथा, उदाहरणार्थ, भाइयों का अधिकार कम है, और उनको केवल उसी अवस्था में दाय मिलता है जब उनसे अच्छा अधिकार रखनेवाला कोई न हो। अतएव यह स्पष्ट है कि बहिन के पुत्र की अपेक्षा पुत्री के पुत्र का अधिकार अधिक है, और भाई का पुत्र इन दोनों से बढ़कर अधिकार रखता है।

यदि एक सी आत्मीयतावाले जैसा कि, उदाहरणार्थ, पुत्र या भाई, अनेक अभियोक्ता हों, तो वे सब बराबर बराबर भाग पाते हैं। हिजड़ा नर-प्राणी समझा जाता है।

यदि मृत कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ जाता, तो दाय राजा के कोष में चला जाता है, सिवा उस अवस्था के जब कि मृत व्यक्ति ब्राह्मण हो। उस दशा में राजा को दाय में हाथ डालने का कोई अधिकार नहीं, किन्तु यह केवल दान-पुण्य में व्यय कर दिया जाता है।

मृतक के प्रति उत्तराधिकारी के कर्तव्य

पहले वर्ष में मृतक के प्रति उत्तराधिकारी का कर्तव्य सोलह भोज देना है, जहाँ प्रत्येक अभ्यागत को उसके भोजन के अतिरिक्त दान भी मिलता है, अर्थात मृत्यु के पश्चात पन्द्रहवें और सोलहवें दिन; फिर, बारे वर्ष मास में एक बार। छठे मास का भोज दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रचुर और बहुमूल्य होना चाहिए। फिर, वर्ष के एक छोड़कर अन्तिम दिन; यह भोज मृतक और उसके

पूर्वजों की भेंट किया जाता है; और अन्ततः, वर्ष के अन्तिम दिन। वर्ष की समाप्ति के साथ ही मृतक के प्रति कर्तव्य पूरे हो जाते हैं।

यदि उत्तराधिकारी पुत्र है, तो उसे वर्ष भर शोक-परिच्छद धारण करना चाहिए; यदि वह औरस सन्तान और अच्छे वंश में से है, तो उसे शोक करना और स्त्रियों के साथ संसर्ग न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त; आपको यह जानना चाहिए कि शोक के वर्ष के प्रथम भाग में उत्तराधिकारियों को एक दिन के लिए आहार का निषेध है।

जिन सोलह भोजों का अभी उल्लेख हुआ है उन पर दान देने के अतिरिक्त, उत्तराधिकारियों को चाहिए कि, घर के द्वार के ऊपर, खुले आकाश में दीवार से बाहर निकली हुई काष्ठफल जैसी कोई वस्तु बनावें, जिस पर उन्हें मत्यु के पश्चात दस दिन के अन्त तक, प्रतिदिन किसी पकाई हुई चीज की एक थाली और पानी का एक बासन रखना होता है। क्योंकि सम्भव है कि मृतक की आत्मा को अभी विश्राम न मिला हो, और वह, भूखी और प्यासी, अभी तक घर के इर्द गिर्द आगे पीछे फिर रही हो।

अफलातूँ का समान मत

ऐसा ही मत अफलातू ने फीडो में दिखलाया है, जहाँ वह आत्मा को कब्रों के गिर्द चक्कर लगाती हुई बताता है, क्योंकि सम्भवतः अभी तक उसमें शरीर के प्रति प्रेम के कुछ चिन्ह शेष हैं। आगे वह कहता है—"लोगों ने आत्मा के विषय में कहा है कि जब यह शरीर को छोड़ती है, और शरीर की मृत्यु से इससे पृथक् हो जाती है, तब शरीर के, जो कि इस और दूसरे लोक में इसका निवासस्थान है, अकेले अकेले अंगों में से, कोई संलग्न वस्तु लेकर मिला देने का इसका स्वभाव है।"

शेषोक्त दिनों में से दसवें दिन, उत्तराधिकारी, मृतक के नाम पर, बहुत सा भोजन और शीतल जल व्यय करता है। ग्यारहवें दिन के पश्चात, उत्तराधिकारी प्रति दिन एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन और एक दिर्हम ब्राह्मण के घर भेजता है, और शोक के वर्ष के अन्त तक इसके सभी दिनों में बिना किसी व्याघात के इस क्रिया को जारी रखता है।

तिहत्तरवाँ परिच्छेद

मृतकों तथा सजीवों के अधिकार

शव को गाड़ने की प्रथा

बहुत प्राचीन समयों में मृतकों के शरीर बिना किसी आच्छादन के खेतों में वायु में खुले फेंक दिये जाते थे; रोगियों को भी खेतों और पर्वतों में खुले रखकर वहीं छोड़ दिया जाता था। यदि वे वहां मर जाते थे तो उनकी वही गति होती थी जिसका अभी उल्लेख हुआ; परन्तु यदि वे नीरोग हो जाते थे, तो वे अपने घरों में लौट आते थे।

इस पर एक व्यवस्थापक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने लोगों को अपने मृतकों को वायु में खुला रखने की आज्ञा दी। फलतः लोगों ने लोहे की छड़ों की दीवारोंवाली छतदार इमारतें बनाईं, जिनमें से पवन बहकर शवों के ऊपर से गुजरता था, जैसा कि जर्दुश्तो लोगों की समाधिलाटों में कुछ कुछ वैसी ही दशा है।

जब वे चिरकाल तक इस रीति पर आचरण कर चुके, तब नारायण ने उन्हें शवों को अग्नि के सिपुर्द करने की आज्ञा दी, और तभी से उन्हें उनको जलाने का स्वभाव चला आ रहा है, यहाँ तक कि उनका कुछ भी शेष नहीं रह जाता, और प्रत्येक अशुचिता, मैल, और गन्ध तत्काल नष्ट हो जाती है, यहाँ तक कि मुश्किल से ही कोई चिह्न पीछे रहता है।

यूनानी समानता

आजकल स्लेवोनियन लोग अपने शवों को जलाते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन यूनानीयों में जलाने की और गाड़ने की, दोनों ही, रीतियाँ थीं। जब क्राईटो ने सुकरात से पूछा कि आप किस रीति से अपने को गड़वाना चाहते हैं, तब फीडो नाम की पुस्तक में वह कहता है—"जैसे तुम्हारी इच्छा, जब तुम मेरे लिए तैयारी कर लो। मैं तुमसे भाग नहीं जाऊँगा।" तब वह उन लोगों से जो उसके इर्द-गिर्द थे बोला—"मेरे विषय में क्राईटो को उसके विपरीत प्रत्यय दो जो उसने मेरे विषय में विचारपतियों को दिया है; क्योंकि इसने उनको निश्चय दिलाया है कि मैं ठहरूँगा, किन्तु तुम अब इस बात का अवश्य प्रत्यय दो कि मृत्यु के पश्चात मैं नहीं ठहरूँगा। मैं चला जाऊँगा, मेरे शरीर के जलाये जाने या गाड़े जाने के पश्चात उसका रूप क्राईटो को सहनीय हो सके, उसे वेदना न हो, और वह यह न कहे—'सुकरात को ले गये हैं, या वह जलाया या गाड़ा गया है। हे क्राईटो, तू मेरे शरीर को गाड़ने के विषय में निश्चिन्त रह। जैसा तू चाहता है वैसा, और विशेषतः नियमों के अनुसार, कर।"

हिप्पोक्रेटस के प्रवादों की टीका में जालीनूस कहता है—"इस बात को लोग प्रायः जानते हैं कि एस्क्लेपियस अग्नि के स्तम्भ में उठाया जाकर देवों के पास ले जाया गया था। इसी प्रकार की बात डायोनिसोस, हेरेक्लस, और दूसरों के विषय में भी, जिन्होने मनुष्य-जाति के हित के लिए परिश्रम किया था, कही जाती है। लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने उनके मर्त्य और पार्थिव अंश को आग से नष्ट करने, और तदनन्तर उनके अमर भाग को अपने पास आकर्षित करने, और उनकी आत्माओं को उठाकर स्वर्ग में ले जाने के अभिप्राय से उनके साथ ऐसा किया।"

इन शब्दों में भी एक यूनानी रीति के रूप में जलाने का उल्लेख है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग उनके केवल महापुरुषों के लिए ही होता रहा है।

इसी प्रकार से हिन्दू अपने भाव को प्रकट करते हैं। मनुष्य में एक बिन्दु है। जो कुछ मनुष्य है उसी से है। जब शरीर के मिश्रित तत्त्व दाह के द्वारा घुल और बिखर जाते हैं, तब यह बिन्दु मुक्त हो जाता है।

अग्नि और रवि की रश्मि

(अमर आत्मा के परमात्मा के पास) इस प्रत्यागमन के विषय में हिन्दुओं का विचार है कि यह काम कुछ तो रवि की रश्मियों द्वारा किया जाता है, आत्मा आने को उनके साथ जोड़कर

ऊपर चढ़ जाती है, और कुछ अग्नि की ज्वाला द्वारा, जो इसे उठाकर (परमात्मा के पास) ले जाती है। कोई कोई हिन्दू यह प्रार्थना किया करता था कि परमात्मा उसके मार्ग को उसके लिए सीधी रेखा की तरह बना दे, क्योंकि यही निकटतम मार्ग है और अग्नि अथवा रश्मि के सिवा ऊपर की ओर को और कोई मार्ग नहीं।

एक डूबे हुए व्यक्ति के सम्बन्ध में गुज तुर्कों का व्यवहार इसके सदृश है; क्योंकि वे शव को नदी में एक चिता पर रखते और उसके पैर से एक रस्सी नीचे लटकाकर रस्सी के सिरे को पानी में डाल देते हैं। इस रस्सी के द्वारा मृतक की आत्मा को पुनरुत्थान के लिए अपने को उठाना होता है।

इस विषय में हिन्दुओं का विश्वास वासुदेव के उन शब्दों द्वारा दृढ़ किया गया था, जो उसने उस मनुष्य के लक्षण के विषय में कहे थे जो (कायिक अस्तित्व की) बेड़ियों से मुक्त हो चुका है। "उसकी मृत्यु उत्तरायण (अर्थात, मकरसंक्रान्ति से लेकर कर्कसंक्रान्ति तक सूर्य के उत्तरीय परिभ्रमण) में, शुक्ल पक्ष में, जलाये हुए दीपकों के बीच, शरद् और वसन्त की ऋतुओं में होती है।"

मानी के विचार

मानी के आगे लिखे शब्दों में ऐसा ही एक मत स्वीकार किया गया है—"दूसरी धार्म्मिक संस्थाएँ हमें दोष देती हैं कि हम सूर्य और चन्द्र का पूजन करते और उनको प्रतिमा के रूप में दिखलाते हैं। परन्तु वे उनके वास्तविक स्वरूपों को नहीं जानते; वे नहीं जानते कि सूर्य और चन्द्र हमारा द्वार हैं जहां से हम अपने अस्तित्व के संसार में (स्वर्ग में) कूच करते हैं, जैसा कि यह यसू ने विघोषित किया है"। इस प्रकार वह दृढ़तापूर्वक कहता है।

लोग बताते हैं कि बुद्ध ने मृतकों की देहों को बहते जल में फेंकने की आज्ञा दी थी। इसलिए उसके अनुयायी, शमन लोग, अपने मृतकों को नदियों में फेंकते हैं।

अन्त्येष्टि-क्रिया की हिन्दू विधि

हिन्दुओं के अनुसार, मृतक की देह का उसके उत्तराधिकारियों पर अधिकार है कि वे उसको स्नान करावें, उसमें सुगन्धयुक्त द्रव्य लगावें, एक कफन में लपेटें, और तब चन्दन और दूसरी लकड़ी जितनी मिल सके उसके साथ उसको जला दें। उसकी जली हुई हड्डियों का अंश गङ्गा में लाकर फेंका जाता है, ताकि गङ्गा उन पर बहे, जिस प्रकार कि वह सगर की सन्तान की जली हुई अस्थियों पर बह चुकी है, और इससे उनको नरक से निकालकर स्वर्ग में ले जाय। भस्म का शेषांश बहते पानी के किसी नाले में फेंक दिया जाता है। जिस स्थान पर लोथ जलाई गई है वहां वे गच्च (जिपसम) से पोता हुआ मील के निशानवाले पत्थर के सदृश एक स्मृतिस्तम्भ बनाते हैं।

तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों के शरीर नहीं जलाये जाते।

जो लोग मृतकों के प्रति इन कर्तव्यों को पूरा करते हैं वे पीछे से दो दिनों में स्नान करते और अपने वस्त्र धोते हैं, क्योंकि शव का स्पर्श करने से वे अपवित्र हो गये हैं।

जिन लोगों में अपने मृतकों का दाह करने का सामर्थ्य नहीं वे उनको कहीं या तो खुले खेत में या बहते जल में फेंक देते हैं।

आत्महत्या के प्रकार

अब सजीव के शरीर के अविकार के विषय में सुनिए। हिन्दुओं को कभी इसको जलाने का विचार नहीं होता, सिवा उस विधवा के में जो अपने पति का अनुगमन करना पसन्द करती है, या उन लोगों की दशा में जो अपने जीवन से तंग आ गये हैं, जो अपने शरीर के किसी ऐसे शारीरिक दोष से जो दूर नहीं हो सकता, या बुढ़ापे और विकलता से दुःखी हैं। किन्तु, कोई प्रतिष्ठित मनुष्य यह नहीं करता, केवल वैश्य और शूद्र ही करते हैं, विशेषतः उन समयों पर जो, जीवन की भावी पुनरावृत्ति के लिए, जिस रूप और अवस्था में मनुष्य अत्र उत्पन्न हुआ है और रहता है उससे उत्तम आकार और दशा प्राप्त करने के लिए बहुत ही उपयुक्त माने जाते हैं। एक विशेष राजनियम द्वारा ब्राह्मणों और क्षत्रियो के लिए अपने को जलाने का निषेध किया गया है। इसलिए यदि ये अपने आपको मार डालना चाहते हैं, तो वे ग्रहण के समय में यह काम किसी दूसरे ढंग से करते हैं, या वे किसी व्यक्ति को भाड़े पर ले लेते हैं ताकि वह उन्हें गंगा में डुबा दे, और पानी के नीचे इतनी देर तक रखे कि वे मर जायँ।

प्रयाग का वट वृक्ष

दो नदियों, गंगा और जमुना, के संगम पर प्रयाग में एक अति विशाल वृक्ष है। यह वृक्ष वट कहलानेवाली जाति का है। इस प्रकार के वृक्ष की यह विशेषता है कि इसकी शाखाओं में से दो प्रकार की उपशाखाएँ निकलती हैं, कुछ तो ऊपर की ओर जाती हैं, जैसा कि दूसरे सब वृक्षों की अवस्था में होता है, और दूसरी जड़ों के सदृश नीचे की ओर जाती हैं, परन्तु उन पर पत्ते नहीं होते। यदि ऐसी कोई उपशाखा भूमि में घुस जाती है, तो जिस शाखा से यह उगी है उसके लिए यह आधारभूत स्तम्भ के सदृश हो जाती है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था जान बूझकर की है, क्योंकि इस वृक्ष की शाखाओं का विस्तार बहुत अधिक होता है (और उनके लिए सहारेका प्रयोजन रहता है)। यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय, इस वृक्ष पर चढ़कर और अपने आपको गंगा में फेंककर, आत्म-हत्या किया करते हैं।

यूनानी समतायें

वैयाकरण जोहन्नस बताता है कि प्राचीन प्रतिमा-पूजक यूनानियों में कुछ लोग, "जिनका नाम मैं पापात्मा के उपासक रखता हूँ"—वह ऐसा ही कहता है—अपने अवयवों को खड्गों से पीड़ा पहुँचाते और बिना किसी पीड़ा का अनुभव किये, अपने को आग में फेंक दिया करते थे।

जिस प्राकर हमने इसको आत्मा-हत्या न करने के लिए हिन्दुओं के मत के रूप में बताया है, उसी प्रकार सुकरात भी कहता है—"एवं जब तक देवगण मनुष्य को किसी बरजोरी या दारुण आवश्यकता के रूप में, उसके सदृश जिसमें कि हम अब हैं, कोई कारण न दें उसके लिए अपनी हत्या करना उचित नहीं।"

वह फिर कहता है—"हम मनुष्य, मानों, एक बन्दी-गृह में हैं। भाग जाना या इससे अपने को मुक्त कर लेना हमारे लिए उचित नहीं, क्योंकि देवगण इसके लिए हम पर तुहमत लगायेंगे क्योंकि हम, मानव, उनके भृत्य हैं।"

चौहत्तरवाँ परिच्छेद

नाना प्रकार के उपवास

लंघन करने की रीति

उपवास करना हिन्दुओं के लिए ऐच्छिक और नियमातिरिक्त है। उपवास समय की एक नियत लम्बाई के लिए आहार न करना है। यह संस्थिति में और इसके करने की रीति में भिन्न भिन्न हो सकता है।

साधारण मध्यवर्ती क्रिया, जिससे लंघन की सभी अवस्थाओं का अनुभव हो जाता है, यह है—मनुष्य उस दिन का निश्चय कर लेता है जिस दिन वह उपवास करेगा, और मन में उस सत्ता का नाम रखता है जिसकी निमित्त वह अनशन करेगा, चाहे वह देवता हो, या देवदूत हो, या कोई और प्राणी हो। तब वह आगे चलता है, उपवास के दिन से एक दिन पूर्व दोपहर को वह अपना भोजन तैयार करता (और खाता) है, रगड़कर अपने दाँतों को साफ करता है; और अगले दिन के उपवास पर अपने विचारों को स्थिर करता है। उस घड़ी से वह भोजन नहीं करता। उपवास के दिन प्रातः काल वह पुनः अपने दाँतों को मांजता ,स्नान करता, और उस दिन के कर्त्तव्यों को पूरा करता है। वह अपने हाथ में जल लेकर चारों दिशाओं में छिड़कता है, तथा वह अपनी जिह्वा के साथ उस देवता का नाम उच्चारण करता है जिसके लिए कि वह उपवास करता है, और उपवास-दिवस के बाद के दिन तक इस अवस्था में रहता है। सूर्योदय के पश्चात, यदि वह चाहे तो उसी क्षण उपवास को खोलने की छुट्टी है, अथवा, यदि वह अच्छा समझे, तो वह इसको मध्याह्न तक स्थगित सकता है।

इस प्रकार को उपवास, अर्थात् अनशन कहते हैं, क्योंकि एक मध्याह्न से अगले मध्याह्न तक न खाना एकनक्त अर्थात उपवास न करना कहलाता है।

दूसरा प्रकार, जो कृच्छ कहलाता है, यह है—मनुष्य किसी दिन दोपहर को, और उसके अगले दिन सांझ को भोजन करता है। तीसरे दिन वह सिवा उस चीज के और कुछ नहीं खाता जो उसे विना माँगे संयोगवश दी जाय। चौथे दिन वह लंघन करता है।

एक और प्रकार, जो पराक कहलाता है, यह है—मनुष्य लगातार तीन दिन मध्याह्न को भोजन करता है। फिर अगले लगातार तीन दिन वह अपने भोजन का समय सायंकाल कर देता है। तब वह तीन क्रमागत दिनों में लंघन को तोड़े विना निर्विघ्नता पूर्वक अनशन करता है।

एक और प्रकार, जो चान्द्रायण कहलाता है, यह है—मनुष्य पूर्णिमा के दिन उपवास करता है, अगले दिन वह केवल एक ग्रास खाता है; तीसरे दिन वह इससे दुगनी मात्रा लेता है, चौथे दिन इससे तिगुनी; इत्यादि इत्यादि इस प्रकार अमावास्या के दिन तक चला जाता है। उस दिन वह फिर निराहार रहता है, अगले दिनों में एक कवल प्रति दिन अपना आहार घटाता जाता है, यहाँ तक कि वह पूर्णिमा के दिन फिर लंघन करता है।

एक और प्रकार; जिसे मासवास (मासोपवास) कहते हैं, यह है—मनुष्य निर्विघ्नपूर्वक मास के सभी दिन कभी लंघन को तोड़े विना उपवास करता है।

उपवास के फल

प्रत्येक अकेले मास में शेषोक्त उपवास के करने से मनुष्य के मर जाने के पश्चात उसके नवीन जीवन के लिये क्या फल मिलेगा, इसकी हिन्दू ठीक-ठीक व्याख्या करते है। वे कहते हैं—

यदि मनुष्य चैत्र के सारे दिन लंघन करता है, तो वह अपनी सन्तान की सत्कुलीनता के अतिरिक्त धन और आनन्द प्राप्त करता है।

यदि वह वैशाख भर उपवास करता है, तो अपनी जाति का अधीश और अपनी सेना में महान होगा।

यदि वह ज्येष्ठ का उपवास करता है तो स्त्रियों का प्रिय होगा।

यदि वह आषाढ़ का उपवास करता है, तो सम्पत्ति लाभ करेगा।

यदि वह श्रावण का उपवास करता है, तो प्रज्ञा लाभ करता है।

यदि वह भाद्रपद का उपवास करता है, तो स्वास्थ्य और शौर्य, धन और पशु को प्राप्त करता है।

यदि वह आश्वयुज का उपवास करता है, तो अपने शत्रुओं पर सदा विजयी रहेगा।

यदि वह कार्तिक का उपवास करता है, तो जनता की आंखों में बड़ा होगा और अपने मनोरथ लाभ करेगा।

यदि वह मार्गशीर्ष का उपवास करता है, तो उसका जन्म बहुत ही सुन्दर और उर्वर देश में होगा।

यदि वह पौष का उपवास करता है, तो श्रेष्ठ कीर्ति लाभ करता है।

यदि वह माघ का उपवास करता है, तो असंख्य सम्पत्ति लाभ करता है।

यदि वह फाल्गुन का उपवास करता है। तो प्रियतम होगा।

किन्तु जो वर्ष के सभी मासों में लंघन करता और केवल बारह बार ही उपवास करता है वह १०,००० वर्ष स्वर्ग में रहेगा और वहां से कुलीन श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित परिवार के सदस्य के रूप में पुनः जन्म लेगा।

विष्णु-धर्म नामक पुस्तक बताती है कि याज्ञवल्क्य की भार्या, मैत्रेयी, ने अपने पति से पूछा कि अपनी सन्तान को दैव-दुर्विपाकों और शारीरिक दोषों से बचाये रखने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए, जिस पर उसने उत्तर दिया—"यदि मनुष्य पौष मास में, दुवी के दिन से, अर्थात मांस के दो अर्धों में से प्रत्येक के दूसरे दिन से आरम्भ करता है, और चौथे दिन विविध वृक्ष निर्यासों के मिश्रण के साथ स्नान करता है, इसके अतिरिक्त यदि वह प्रत्येक दिन दान देता और देवदूतों के नामों पर स्तुति-अनुवाद करता है, यदि वह इन सब क्रियाओं को वर्ष के अन्त तक प्रत्येक मास में बराबर करता है, तो अगले जन्म में उसकी सन्तान दैव-दुर्विपाकों और दोषों रहित होगी, और उसकी कामनाएं पूर्ण होंगी, क्योंकि दिलीप, दुष्यन्त और ययाति ने भी इस प्रकार आचरण करके अपनी मनोकामनाएं पूर्ण की थीं।

पचहत्तरवाँ परिच्छेद

उपवास दिवस का निश्चय

पक्षों के उपवास के दिन

पाठकों को साधारण रूप से जानना चाहिए कि प्रत्येक मास के शुक्ल अर्ध के आठवें और ग्यारहवें दिन उपवास के दिन हैं, सिवाय लौंद के मास की अवस्था में; क्योंकि, अशुभ समझा जाने के कारण, यह छोड़ दिया जाता है।

ग्यारहवाँ विशेष रूप से वासुदेव को पवित्र है, क्योंकि माहूर पर अधिकार कर लेने पर, जिसके अधिवासी पहले प्रत्येक मास में एक दिन इन्द्र का पूजन किया करते थे, उसने उन्हें इस पूजा को बदलकर ग्यारहवें दिन कर देने की, और अपने नाम पर करने की प्रेरणा की। ज्यों ही लोगों ने ऐसा किया, इन्द्र ने क्रुद्ध होकर जल-प्रलय के सदृश उन पर वर्षा करना आरम्भ कर दिया, ताकि उनको और उनकी गउओं को, दोनों को, नष्ट कर डाले। किन्तु वासुदेव ने अपने हाथ से एक पर्वत उठाया और उससे उनकी रक्षा की। पानी उनके चारों ओर इकट्ठा हो गया, परन्तु उनके ऊपर नहीं, और इन्द्र की प्रतिमा दौड़ गई। लोगों ने इस घटना को माहूर के पड़ोस में एक पर्वत पर स्मृति-चिह्न बनाकर मनाया। इसलिए वे इस दिन बहुत ही सूक्ष्म शुचिता की अवस्था में उपवास करते हैं, और रात भर बाहर रहते हैं। इसको वे एक आवश्यक क्रिया समझते हैं, यद्यपि वास्तव में यह आवश्यक नहीं।

वर्ष के अकेले-अकेले उपवास दिवस

विष्णु-धर्म नामक पुस्तक कहती है—"जब चन्द्रमा अपने चौथे नक्षत्र, रोहिणी, में, कृष्ण अर्ध के आठवें दिन, होता है तो यह जयन्ती नाम का उपवास-दिन होता है। इस दिन दान देने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है।"

यह बात स्पष्ट है कि उपवास-दिवस की यह अवस्था साधारण रूप से सब मासों पर नहीं, किन्तु विशेष रूप से भाद्रपद पर ही लागू होती है, क्योंकि वासुदेव इस मास में और इस दिन उत्पन्न हुआ था, और उस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में था। दोनों अवस्थाएँ—अर्थात, चन्द्रमा का रोहिणी में होना और दिन का कृष्ण अर्ध का आठवाँ होना, विविध कारणों से, उदाहरणार्थ, वर्ष को अधिक कर देने से, और इस कारण से कि नागरिक वर्ष चान्द्र समय के साथ साथ नहीं चलते, या तो इससे आगे बढ़ जाते हैं या पीछे रह जाते हैं—बहुत से वर्षों में केवल एक ही बार हो सकती हैं।

वही पुस्तक कहती है—"जब चन्द्रमा अपने सातवें नक्षत्र, पुनर्वसु, में, मास के शुक्ल अर्ध के ग्यारहवें दिन, हो तो यह अत्ज (? अट्टाटज) नाम का उपवास-दिन होता है। यदि मनुष्य इस दिन ईश्वर-भक्ति के काम करेगा तो जो कुछ वह चाहता है उसको प्राप्त करने में वह समर्थ हो जायगा, जैसा कि सगर, ककुत्स्थ, और दन्दहमार (!) की अवस्था में हो चुका है, जिनको राजपद इसलिए प्राप्त हुआ था कि उन्होंने ऐसा किया था।

चैत्र का छठवाँ दिन सूर्य के लिए पवित्र उपवास-दिन है।

आषाढ़ के मास में, जब चन्द्रमा अपनी सत्रहवीं राशि, अनुराधा, में होता है, तब वासुदेव के लिए एक पवित्र उपवास-दिवस होता है जिसे देवसीनो (?), अर्थात देव सो रहा है, कहते हैं; क्योंकि यह उन चार मासों का प्रारम्भ है जिनमें वासुदेव सोया था। दूसरे लोग यह शर्त लगाते हैं, कि दिन मास का ग्यारहवां होना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि ऐसा दिन प्रत्येक वर्ष नहीं आता। वासुदेव के उपासक इस दिन मांस, मछली, मिठाई, और स्त्री-समागम से परहेज करते हैं, और दिन में केवल एक ही वार खाते हैं। वे भूमि पर, विना कुछ बिछाये ही, सोते हैं और पृथ्वी से ऊपर उठी हुई खाट का उपयोग नहीं करते।

लोग कहते हैं कि ये चार मास देवों की रात्रि हैं, जिनमें एक मास आदि में सांझ की सन्ध्या के रूप में, और एक मास अन्त में सवेरे के उषाकाल के रूप में जोड़ देना चाहिए। किन्तु, तब सूर्य कर्क के ०° के निकट होता है, जो देवों के दिन में मध्यान है, और मुझे पता नहीं लगता कि यह चन्द्रमा दो सन्धियों के साथ किस प्रकार से सम्बद्ध है।

श्रावण मास में पूर्णिमा का दिन सोमनाथ के लिए पवित्र उपवास का दिन है।

जब आश्वयुज के मास में चन्द्रमा अलसरतान (नक्षत्र) में और सूर्य कन्याराशि में हो तो यह उपवास का दिन होता है।

उसी मास का आठवां दिन उपावस-दिन है, जो कि भागवती को पवित्र है। जब चन्द्रमा उदय होता है तब उपवास खोला जाता है।

भाद्रपद का पाँचवां दिन सूर्य के लिए पवित्र उपवास-दिन है, जो षट् कहलाता है। वे सौर रश्मियों का, विशेषतः उन रश्मियों का जो खिड़कियों में से भीतर आती हैं, अनेक प्रकार के बलसाम के तेल के अनुलेपों के साथ, विलेपन करते हैं, और उन पर सुगन्धित पौधे और फूल रखते हैं।

जब इस मास में चन्द्रमा रोहिणी में हो तो यह वासुदेव के जन्म के लिए उपवास का दिन होता है। दूसरे लोग, इसके अतिरिक्त, यह भी नियम लगाते हैं कि दिन कृष्णपक्ष का आठवां होना चाहिए। हम पहले ही यह दिखा चुके हैं कि ऐसा दिन प्रत्येक वर्ष में नहीं आता, किन्तु वर्षों की अधिक बड़ी संख्या के केवल विशेष वर्षों में ही।

जब कार्तिक मास में चन्द्रमा अपने अन्तिम नक्षत्र, रेवती, में हो तो यह वासुदेव के जागने के स्मरणोत्सव में उपवास का दिन होता है। यह देवोत्थोनी, अर्थात देव का उठना कहलाता है। दूसरे लोग, इसके अतिरिक्त, यह नियम जोड़ते हैं कि यह शुक्ल पक्ष का ग्यारहवां दिन होना चाहिए। उस दिन वे अपने को गऊओं के गोवर के साथ मैला करते, और गाय के दूध; मूत्र; और गोवर का मिश्रण खाकर उपवास खोलते हैं। यह दिन उन पांच दिनों का पहला है; जो भीष्म पञ्चरात्रि कहलाते हैं। वे उन दिनों में वासुदेव की पूजा के लिए लङ्घन करते हैं। उनमें से दूसरे को ब्राह्मण उपवास खोलते हैं; और उनके पश्चात दूसरे लोग।

पौष के छठवें दिन सूर्य के सम्मान में उपवास होता है।

माघ के तीसरे दिन पुरुषों के लिए नहीं, स्त्रियों के लिए उपवास होता है। यह गौर-त-र (गौरी-तृतीया ?) कहलाता है, और सारे दिन और सारी रात रहता है। अगले दिन सवेरे वे अपने पतियों के निकटतम सम्बन्धियों को उपहार देती हैं।

छिहत्तरवाँ परिच्छेद

त्योहार और आमोद प्रमोद के दिन

शुभ यात्रायें और पर्व

यात्रा का अर्थ है शुभ अवस्थाओं में सफर करना। इसलिए यह भोज यात्रा कहलाता है। हिन्दुओं के बहुत से पर्व केवल स्त्रियाँ और बच्चे ही मानते हैं।

चैत्र मास की २री काश्मीर के लोगों के लिए अगदूस (?) नाम का पर्व है और उनके राजा मुत्ते के तुर्कों पर विजय-लाभ करने के कारण मनाया जाता है। उनके वृत्तान्त के अनुसार वह सारे संसार पर राज्य करता था। परन्तु ठीक यही बात वे अपने अधिकांश राजाओं के विषय में कहते हैं। किन्तु, वे असावधानता के कारण उसको एक ऐसे समय का ठहराते हैं जो हमारे समय से बहुत अधिक पहले न था। इससे उनके झूठ का पता लग जाता है। अवश्य ही किसी हिन्दू का (एक विशाल साम्राज्य पर) शासन करना कोई असम्भव बात नहीं, जैसा कि यूनानी, रोमन, बेबीलोनियम, और ईरानी लोगों ने किया है। परन्तु वे सब समय, जो हमारे अपने समय से बहुत अधिक पहले न थे, भली भाँति ज्ञात है। (इसलिये, यदि ऐसी बात हुई होती तो ज्ञात होनी चाहिए थी।) जिस राजा का यहाँ उल्लेख है, कदाचित् वह सारे भारत पर शासन करता था, और उन्हें सिवा भारत के और किसी देश का और सिवा अपने और दूसरी जातियों का ज्ञान नहीं।

११ वीं को हिण्डोली-चैत्र नाम का त्योहार होता है। तब वे देवगृह, या वासुदेव के मन्दिर, में एकत्र होकर उसकी मूर्त्ति को आगे और पीछे उसी प्रकार झुलाते हैं जिस प्रकार कि शैशवकाल में बच्चे को झूला में झुलाया जाता था। यही बात वे दिन भर अपने घरों में करते और आनन्द मनाते हैं।

चैत्र की पूर्णिमा को बहन्द (वसन्त ?) का उत्सव होता है। यह स्त्रियों का त्योंहार है। इस समय वे आभूषण धारण करतीं और अपने पतियों से उपहार माँगती हैं।

२२ वीं चैत्र चपति नाम का पर्व है। यह उल्लास का दिन भगवती के लिए पवित्र है। इस दिन लोग स्नान किया करते और दान दिया करते हैं।

३ री वैशाख स्त्रियों का पर्व है। यह गौर-त-र (गौरी तृतीया) कहलाता है और हिमवन्त पर्वत की पुत्री, महादेव की भार्या, गौरी के लिए पवित्र है। वे स्नान करतीं और हर्ष-पूर्वक वस्त्र पहनती हैं, वे गौरी की प्रतिमा का पूजन करती और उसके सामने दीपक जलाती हैं। वे धूप देती हैं, भोजन नहीं करती, और झूलों के साथ खेलती हैं। दूसरे दिन वे दान देकर भोजन करती हैं।

१० वीं वैशाख को वे सब ब्राह्मण, जिनको राजाओं ने निमन्त्रित किया है, खुले खेतों में जाते हैं और वहाँ वे पूर्णिमा तक पाँच दिन आग जलाकर बृहद् हवन करते हैं। वे सोलह भिन्न-भिन्न स्थानों में और चार भिन्न-भिन्न समूहों में आग जलाते हैं। प्रत्येक समूह में एक ब्राह्मण होम करता है। इससे जैसे चार वेद हैं वैसे चार होत्री पुरोहित होते हैं। १६ वीं को वे घर लौट आते हैं।

इस मास में महाविषुव होता है। इसे वसन्त कहते हैं। वे गणना द्वारा इस दिन का निश्चय करते और पर्व मनाते हैं। इस समय लोग ब्राह्मणों को निमन्त्रण देते हैं।

१ ली ज्येष्ठ, या अमावस्या, को वे एक पर्व मनाते और सब चीजों के जेठे फलों को, उससे अनुकूल पूर्व-लक्षण पाने के लिए, जल में फेंकते हैं।

इस मास की पूर्णिमा स्त्रियों का पर्व है। यह रूप-पंच (?) कहलाता है।

आसाढ़ मास के सभी दिन पुण्य-दान करने में लगाये जाते हैं। यह आहारी भी कहलाता है। इस काल में घर में नये वर्तन लाये जाते हैं।

श्रावण की पौर्णमासी को वे ब्राह्मणों को मिष्ठान्न भोजन देते हैं।

८ वीं आश्वयुज को, जब चन्द्रमा उन्नीसवें नक्षत्र, मूल, में होता है, ईख का चूसना आरम्भ होता है। यह त्योहार महादेव की बहिन, महानवमी, को पवित्र है। उस समय वे चीनी और दूसरी सब वस्तुओं के पहले-फल उसकी मूर्त्ति पर, जो भगवती कहलाती है, चढ़ाते हैं। वे इसके सामने बहुत सा दान देते और बकरी के बच्चे मारते हैं। जिसके पास चढ़ाने के लिए कुछ नहीं होता, वह मूर्त्ति के पार्श्व में बिना कभी बैठने के, सीधा खड़ा रहता है, और कभी-कभी जो भी उसे मिले उस पर झपटकर उसे मार डालता है।

१५ वीं को जब चन्द्रमा अपने अन्तिम नक्षत्र, रेवती, में होता है, तब पुहाई (?) त्योहार होता है। उस समय वे एक दूसरे के साथ झगड़ते और जन्तुओं के साथ खेलते हैं। यह वासुदेव को पवित्र है, क्योंकि उसके मामा कंस ने झगड़ने के अभिप्राय से उसको अपने सामने आने का आदेश किया था।

१६ वीं को एक पर्व होता है, जब वे ब्राह्मणों को दान देते हैं।

२३ वीं को अशोक का त्योहार होता है। यह अाहोई भी कहलाता है। इस समय चन्द्रमा सातवें नक्षत्र, पुनर्वसु, में होता है। यह आमोद और झगड़ने का दिन है।

भाद्रपदा के मास में, जब चन्द्रमा दसवें नक्षत्र, मघा, में होता है, वे एक पर्व मनाते हैं; जिसे वे पितृपक्ष, अर्थात, पितरों का आधा मास, कहते हैं; क्योंकि चन्द्रमा के इस नक्षत्र में प्रवेश करने की घटना अमावस्या के समय के समीप होती है। वे पितरों के नाम पर पन्द्रह दिन भिक्षा वितरण करते हैं।

३ री भाद्रपदा को, स्त्रियों के लिए, हर्वाली (?) का पर्व होता है। उनके यहाँ रीति है कि कुछ दिन पहले वे टोकरियों में सब प्रकार के बीज बो देती हैं, और जब वे बढ़ना आरम्भ कर देते हैं तब इस दिन उन टोकरियों को सामने ले आती हैं। वे उन पर गुलाब के फूल और सुगन्धियाँ फेंकती हैं और रात भर एक दूसरे के साथ खेलती हैं। दूसरे दिन सवेरे वे उनको पुष्करिणियों पर ले जाकर धोती; स्वयं स्नान करती, और दान देती हैं।

इस मास की ६ ठीं को, जो गाइहत (?) कहलाती है, लोग उन लोगों को भोजन देते हैं जो कारावास में हैं।

८ वीं को जब चन्द्रकला का आधा विकास हो चुकता है तब ध्रुवगृह (?) नाम की उनकी एक यात्रा होती है, वे स्नान करते और भली भाँति उगनेवाला अन्न-फल खाते हैं ताकि उनकी संतान नीरोग हो। स्त्रियाँ जब गर्भवती और सन्तान की कामना करनेवाली होती हैं, तब वे यह पर्व मनाती हैं।

११ वीं भाद्रपदा पर्वती (?) कहलाती है। यह एक धागे का नाम है जो पुरोहित उन सामग्रियों से बनाता है जो इस प्रयोजन के लिए उसे दी जाती हैं। इसका एक भाग वह केसर के साथ रंग देता, और दूसरा वैसे का वैसा रहने देता है। वह धागे को उतना लम्बा बनाता

है जितनी कि वासुदेव की मूर्ति ऊँची होती है। तब वह उसे अपनी गर्दन पर फेंकता है, जिससे यह उसके पैरों तक लटकता है। यह बहुत ही पूजनीय पर्व है।

१६ वीं, जो कृष्ण अर्ध का पहला दिन है, उन सात दिनों में से पहला है, जो करार (?) कहलाते हैं। इस समय वे बच्चों को ललित रूप से विभूषित करते और उनको उत्तम अन्न-भोजन देते हैं। वे नाना प्रकार के जन्तुओं के साथ खेलते हैं। सातवें दिन पुरुष अपने को सिंगारते और पर्व मनाते हैं। और मास के शेषांश में वे सदा दिनके अन्त के करीब बच्चों को सिंगारते, ब्राह्मणों को दान देते, और पुण्य शीलता के काम करते हैं।

जब चन्द्रमा अपने चौथे नक्षत्र, रोहिणी, में होता है, तब वे इस समय को गूनालहीद (?) कहते हैं। वे वासुदेव के जन्म पर हर्ष से, तीन दिन उत्सव मनाते और एक दूसरे के साथ खेलकर आनन्द करते हैं।

जीवशर्मन् बताता है कि कश्मीर के लोग इस मास की २६ वीं और २७ वीं को, लकड़ी के विशेष टुकड़ों के कारण, जो गन (?) कहलाते हैं, और जिनको वितस्ता नदी (जैलम) का जल, उन दो दिनों में, राजधानी, अधिष्ठान, में से ले जाता है, एक पर्व मनाते हैं। लोग कहते हैं कि महादेव इन टुकड़ों को भेजता है। इन काष्ठ-खण्डों की यह विशेषता है कि मनुष्य कितना ही क्यों न चाहे वह इनको पकड़ नहीं सकता। ये सदा उसकी पकड़ से बचकर आगे चले जाते हैं। लोगों का ऐसा ही कथन है।

किन्तु कश्मीर के लोग, जिनके साथ इस विषय पर मैंने बात चीत की है, स्थान और समय के विषय में एक भिन्न वृत्तान्त सुनाते हैं। वे कहते हैं कि जिस नदी (विस्तस्ता = जैलम) का अभी उल्लेख हुआ है उसके निकासस्थान की बांई ओर, कूदैशर (?) नाम के तालाब में, वैशाख मास के मध्य में, यह बात होती है। यह पिछला कथन अधिक संभाव्य है, क्योंकि इस काल के लगभग पानी बढ़ने लगता है। यह बात जुर्जान नदी में लकड़ी का स्मरण करती है, जो उस समय प्रकट होती है जब पानी इसके निकासस्थान में बढ़ने लगता है।

वही जीवशर्मन् कहता है कि कीरी (?) जिले के सम्मुख, स्वात के देश में एक उपत्यका है जिसमें तिरपन धाराएँ मिलती हैं। यह तरंजाई (तुलना कीजिए, सिंधी तबेवज्जाह) कहलाती है। उन दो दिनों में इस उपत्यका का जल, जैसा कि लोगों का विश्वास है, महादेव के उसमें स्नान करने के कारण सफेद हो जाता है।

कार्त्तिक की १ ली; या अमावस्या का दिन, जब सूर्य तुलाराशि में जाता है, दीवाली कहलाती है। तब लोग स्नान करते, आमोद के वस्त्र पहनते; एक दूसरे को पान और सुपारी उपहार देते हैं; वे सवार होकर दान देने के लिए मन्दिरों को जाते और दोपहर तक एक दूसरे के साथ हर्ष से खेलते हैं। रात को वे प्रत्येक स्थान में बहुत बड़ी संख्या में दीपक जलाते हैं, जिससे वायु पूर्ण रूप से निर्मल हो जाती है। इस पर्व का कारण यह है कि वासुदेव की स्त्री, लक्ष्मी, विरोचन के पुत्र, बलि, को—जो सातवें पाताल में बन्दी है—वर्ष में एक बार बन्धन-मुक्त करती और संसार में जाने की आज्ञा देती हैं। इसलिए यह त्योहार बलिराज्य, अर्थात बलि का अधिपत्य कहलाता है। हिन्दू कहते हैं कि कृतयुग में यह समय सौभाग्य का समय था, और वे प्रसन्न होते हैं, क्योंकि प्रस्तुत उत्सव का दिन कृतयुग के उस समय के सदृश है।

उसी मास में, जब पूर्णचन्द्र निर्दोष हो, वे कृष्ण पक्ष के सभी दिन अपनी स्त्रियों को सिंगारते और जेवनार देते हैं।

३ री मार्गशीर्ष, जो गुवान-वात्रीज (—तृतीया ?) कहलाती है, स्त्रियों का त्योहार है, और गौरी को पवित्र है। ये अपने में से धनाढ्यों के घर इकट्ठी होती हैं, वे देवी की कई रजत-मूर्त्तियां एक सिंहासन पर रखकर उन्हें धूप देती और दिन भर एक दूसरे के साथ खेलती हैं। दूसरे दिन सवेरे वे दान करती हैं।

उसी मास की पूर्णिमा को स्त्रियों का एक दूसरा त्योहार होता है।

पौष मास के अधिकांश दिनों में वे पूहवल (?), एक मीठा भोजन जो वे खाती हैं; बहुत बड़े परिमाण में तैयार करती हैं।

पौष के शुक्ल पक्ष के आठवें दिन, जो अष्टक कहलाता है, वे ब्राह्मणों को इकट्ठा करते, बथुआ के पेड़, अर्थात् अरबी में सरमक, से तैयार किया हुआ भोजन उनको देते, और उनकी टहल सेवा करते हैं।

कृष्ण पक्ष के आठवें दिन, जो साकार्तम् कहलाता है, वे शलजम खाते हैं।

३ री माघ, जो माहत्रीज (माघ-तृतीया ?) कहलाती है, स्त्रियों का त्योहार है, और गौरी को प्यारा है। वे अपने में से प्रमुखतमों के घरों में गौरी की मूर्ति के सम्मुख इकट्ठी होती, उसके आगे अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र, रम्य सुगन्धियां, और मिष्ट भोजन रखती हैं। प्रत्येक सम्मेलन-स्थान में वे पानी से भरे हुए १०८ लोटे रखती हैं, और जब पानी ठण्डा हो जाता है, तब वे उसके साथ उस रात के चार प्रहरों में चार बार स्नान करती हैं। दूसरे दिन वे दान करती, मिष्ट भोजन देती और अतिथि-सत्कार करती हैं। स्त्रियों का ठण्डे पानी से स्नान करना इस मास के सभी दिनों के लिए सामान्य है।

इस मास के अन्तिम दिन, अर्थात २९ वीं को, जब केवल ३ दिन-कला अर्थात १$\frac{1}{5}$ घण्टे, अवशेष होते हैं, सब हिन्दू पानी में बैठकर उसमें सात बार डुबकी लगाते हैं।

इस मास की पूर्णिमा के दिन, जो चामाह (?) कहलाता है, सब ऊंचे स्थानों पर दीपक जलाये जाते हैं।

२३ वीं को, जो मांसर्तकु, और महातन भी, कहलाती है, अभ्यागतों को मांस और बड़े काले मटर खिलाते हैं।

८ वीं फाल्गुन, जो पूरार्तकु कहलाती है, ब्राह्मणों के लिए आटे और घी से विविध भोजन तैयार किया जाता है।

फाल्गुन की पूर्णिमा स्त्रियों का पर्व है। यह ओदाद (?), या धोल (अर्थात दोल) भी, कहलाता है। इन दिनों उन स्थानों में आग जलाते हैं जो उन स्थानों से, जहां चराह पर्व में जलाते हैं, नीचे हैं, और आग को गांव से बाहर फेंक देते हैं।

अगली रात, अर्थात १६ वीं की रात को, जो शिवरात्रि कहलाती है, सारी रात महादेव का पूजन करते रहते हैं; जागते रहते हैं, और सोने के लिए लेटते नहीं, और उस पर धूप और फूल चढ़ाते हैं।

२३ वीं को, जो पूतान (?) कहलाती है, शक्कर और घी के साथ भात खाया जाता है।

मुलतान के हिन्दुओं का एक त्योहार है जो साम्बपुर-यात्रा कहलाता है, लोग उसे सूर्य के सम्मान में मनाते हैं, और उसकी पूजा करते हैं। इसका निश्चय इस प्रकार किया जाता है—लोग पहले खण्डखाद्यक के नियमों के अनुसार, अहर्गण लेते, और उन में से ६८,०४० घटाते हैं। लोग अवशेष को ३६५ पर भाग देते, और भागफल को छोड़ देते हैं। यदि भाग देने से कोई अवशेष

न निकले, तो भागफल प्रस्तुत पर्व की तिथि है । यदि कोई अवशेष हो, तो वह उन दिनों को दिखलाता है जो पर्व के पश्चात बीत चुके हैं, और इन दिनों को ३६५ में से घटाने से तुम उसी पर्व की अगले वर्ष में तिथि मालूम कर लेते हो ।

सतहत्तरवाँ परिच्छेद

पवित्र दिन और शुभाशुभ समय

अमावस्या और पूर्णिमा के दिन

अकेले-अकेले दिनों के सम्मान के दर्जे, उन विशेष गुणों के अनुसार जो हिन्दू लोग उनके साथ आरोपित करते हैं, भिन्न-भिन्न हैं । उदाहरणार्थ रविवार को विशेषता देते हैं, क्योंकि वह सूर्य का दिन है और सप्ताह का आरम्भ है, जैसा कि इसलाम में शुक्रवार को विशेषता दी जाती है ।

विविक्त दिनों में फिर अमावस्या तथा पूर्णिमा, अर्थात ग्रहयुति (अमावस्या) और विपर्यास (पूर्ण चन्द्र) के दिन भी हैं, क्योंकि ये चन्द्रकला के ह्रास और वृद्धि की सीमाएँ हैं । इस वृद्धि और ह्रास के विषय में, हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार, ब्राह्मण लोग स्वर्ग-लाभ करने के लिये निरन्तर आग में होम करते हैं, देवताओं के भागों को इकट्ठा होने देते हैं । ये भाग चन्द्रप्रकाश में अमावस्या से पूर्णिमा तक सारे समय में अग्नि में डाले हुए नैवेद्य होते हैं । तब वे इन भागों को पूर्णिमा से अमावस्या तक के समय में देवताओं में बाँटने लगते हैं यहाँ तक कि अमावस्या के समय उनका और अधिक कुछ भी शेष नहीं रह जाता । पहले कह चुके हैं कि अमावस्या और पूर्णिमा पितरों के अहोरात्र का मध्यान और मध्यरात्रि हैं । इसलिए इन दो दिनों में पितरों के सम्मान में सदा निर्विघ्नता-पूर्वक दान दिया जाता है ।

चार युगारम्भ के दिन

चार दूसरे दिन विशेष सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं, क्योंकि हिंदुओं के मतानुसार, वर्तमान चतुर्युग के अकेले-अकेले युग उनके साथ आरम्भ हुए हैं, यथा—

३ री वैशाख, जो क्षैरोता (?) कहलाती है । लोगों का विश्वास है कि इस दिन कृतयुग का आरम्भ हुआ था ।

९ वीं कार्तिक, त्रेतायुग का आरम्भ ।

१५ वीं माघ, द्वापर युग का आरम्भ ।

आश्वयुज की १३ वीं, कलियुग का आरम्भ ।

मेरी सम्मति में, ये दिन पर्व है, जो युगों के लिए पवित्र हैं और दान देने के प्रयोजन से या कोई अनुष्ठान और प्रक्रियाओं के करने के लिए, जैसा कि, उदाहरणार्थ, ईसाइयों के वर्ष में स्मरणो-

त्सव के दिन है, बनाये गये हैं। तो भी, हमारे लिए इस बात से इनकार करना आवश्यक है कि ये चार युग वस्तुतः यहां लिखे दिनों से आरम्भ हो सकते थे।

कृतयुग के विषय में, बात बिलकुल साफ है, क्योंकि इसका आरम्भ सौर और चान्द्र चक्रों का आरम्भ है, तिथि में कोई अपूर्णांक नहीं, क्योंकि यह, साथ ही चतुर्युग का आरम्भ है। यह चैत्र मास की पहली है, साथ ही महाविषुव की तिथि है, और उसी दिन दूसरे युग भी आरम्भ होते हैं। क्योंकि, ब्रह्मगुप्त के अनुसार, एक चतुर्युग में—

नागरिक दिन ..	१,५७७,९१६,४५०
सौर मास..	५१,८४०,०००
मलमास...	१,५९३६,०००
चान्द्र दिन...	१,६०२,९९९,०००
ऊनरात्र दिन...	२५,०८२,५५० होते हैं।

ये वे तत्व हैं जिनके आधार पर कालक्रमानुगत तिथियों के दिन या दिनों की ये तिथियां बनाई जाती हैं। इन सब संख्याओं को १० पर भाग दिया जा सकता है, और भाजक अपूर्णांक-रहित पूर्णांक हैं। अब अकेले-अकेले युगों के आरम्भ चतुर्युग के आरम्भ पर अवलम्बित है।

पुलिस के अनुसार, चतुर्युग में—	नागरिक दिन...१,५७७,९१७,८००
सौर मास...५१,८४०,०००	मल मास... १,५९३,३३६
चान्द्र दिन .१,६०३,०००,०१०	उनरात्र दिन .. २५,०८२,२८० होते हैं।

इन सब संख्याओं को ४ पर भाग दिया जा सकता है, और हार सर्वथा अपूर्णांक-शून्य होते हैं। इस परिसंख्यान के अनुसार भी, अकेले-अकेले युगों के आरम्भ है, अर्थात्, चैत्र मास की पहली और महाविषुव का दिन। तथापि, यह दिन सप्ताह के भिन्न-भिन्न दिनों पर आता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त चार दिनों के चार युगों के प्रारम्भ होने के विषय में उनकी कल्पना सर्वथा निर्मूल है; अर्थ करने को बहुत ही कृत्रिम रीतियों का आश्रय लिये बिना वे ऐसे परिणाम पर कभी नहीं पहुंच सकते थे।

पुण्यकाल कहलाने वाले दिन

जो समय स्वर्गीय-पुरस्कार अर्जन करने के लिए विशेष रूप से अनुकूल हैं वे पुण्यकाल कह-लाते हैं। बलभद्र खण्डखाद्यक की टीका में कहता है—"यदि योगिन्, अर्थात वह तपस्वी जो स्रष्टा को समझता है, जो शुभ को ग्रहण करता और अशुभ को रोक देता है, एक सहस्र वर्ष तक अपने जीवन के आचार जारी रक्खे, तो उसका पुरस्कार उस मनुष्य के फल के बराबर नहीं होगा जो पुण्यकाल में दान देता और उस दिन के कर्तव्यों को पूरा करता है, अर्थात जो स्नान और विलेपन, और स्तुति तथा प्रार्थना करता है।"

निस्सन्देह, पूर्ववर्ती परिच्छेद में गिने हुए अधिकांश पर्व के दिन इसी प्रकार के दिन में से हैं, क्योंकि वे दान-पुण्य और न्योता खिलाने में ही लगाये जाते हैं। यदि लोगों को उससे स्वर्ग में फल पाने की आशा न हो तो वे उस आमोद-प्रमोद और आनन्दोत्सव को पसन्द न करें जो इन दिनों का विशेष चिन्ह है।

यद्यपि पुण्यकाल का स्वरूप जैसा यहां बताया गया है वैसा ही है, तो भी उनमें से कुछ तो शुभ, और कुछ अशुभ दिन समझे जाते हैं।

ये दिन शुभ हैं जब ग्रह, विशेषतः सूर्य, एक राशि से दूसरी राशि में जाते हैं। ये समय संक्रान्ति कहलाते हैं। उनमें से सब से अधिक शुभ विषुवों और अयनों के दिन हैं, और इनमें से सबसे अधिक शुभ महाविषुव का दिन है। यह विखू या पिवू (विषुव) कहलाता है, क्योंकि दो ध्वनियों प और ख का एक दूसरे के साथ विनिमय हो सकता है, और वे, वर्णव्यत्यय से, अपना स्थान भी बदल सकती हैं।

किन्तु, क्योंकि, किसी ग्रह की किसी नवीन राशि में प्रवेश करने के लिए समय के एक क्षण से अधिक का प्रयोजन नहीं, और, इस समय के बीच, लोगों के लिए तेल और अन्न के साथ सान्त (?) नामक नैवेद्य आग में देना आवश्यक है, इसलिए, हिन्दुओं ने इन समयों को बहुत बड़ा विस्तार दे दिया है; वे उनको उस क्षण से आरम्भ कराते हैं जब सूर्य के पिण्ड का पूर्वी छोर राशि के प्रथम भाग का स्पर्श करता है; वे उस क्षण को उनका मध्य गिनते हैं जब सूर्य का केन्द्र राशि के प्रथम भाग में पहुंचता है, जो खगोलविद्या में (ग्रह के एक राशि से दूसरी में) जाने का समय समझा जाता है; वे उस क्षण को अन्त गिनते हैं जब सूर्य के पिण्ड का पश्चिमी किनारा राशि के प्रथम भाग को छूता है। सूर्य की दशा में, यह क्रिया लगभग दो घण्टे तक रहती है।

संक्रान्ति के क्षण की गणना

सप्ताह के वे समय मालूम करने के लिए जब सूर्य एक राशि से दूसरी में जाता है, उनके पास अनेक विधियां हैं। उनमें से एक मुझको समय (?) ने लिखाई थी। वह यह है—

शककाल में से ८४७ घटाओ, अवशेष को १८० से गुणा करो, और गुणन-फल को १४३ पर भाग दो। जो भाग-फल तुम्हें प्राप्त होता है वह दिनों, कलाओं और विपलों को दिखलाता है। यह संख्या आधार है।

यदि तुम यह जानना चाहते हो कि प्रस्तुत वर्ष में सूर्य बारह राशियों में से किसी एक में किस समय प्रवेश करता है, तो तुम उस राशि को आगे लिखी तालिका में ढूंढ़ लो। जो संख्या तुम प्रस्तुत राशि की बगल से सटी हुई पाओ, उसको लेकर आधार में जोड़ दो, दिनों में दिन, कलाओं में कला और विपलों में विपल। यदि पूर्णांकों की संख्या ७ या अधिक है, तो उन्हें छोड़ दो, और अवशेष के साथ, रविवार के आरम्भ से आरम्भ करके, सप्ताह के दिनों को गिन डालो। जिस समय पर तुम पहुंचते हो वह संक्रान्ति का क्षण है।

नीचे लिखी संख्या आधार में बढ़ाना चाहिये

राशियां	दिन	घटी	चपक	राशियां	दिन	घटी	चपक
मेष	३	१६	०	तुला	१	१४	०
वृषभ	६	१७	०	वृश्चिक	३	६	३०
मिथुन	२	४३	०	धनु	४	३४	३०
कर्क	६	२१	०	मकर	५	५४	०
सिंह	२	४६	०	कुम्भ	०	३०	०
कन्या	५	४६	०	मीन	२	११	२०

सौर वर्ष का विस्तार

क्रमागत सौर वर्षों के आरम्भ में सप्ताह में १ दिन और वर्ष की समाप्ति पर के अपूर्णाङ्क का अन्तर पड़ता है। यह संख्या, एक ही प्रकार के अपूर्णाङ्क बना देने पर, गुणाकार (१८०) है, जो पूर्ववर्ती परिसंख्यान में प्रत्येक वर्ष का अतिरिक्तांश मालूम करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। (अर्थात्, वह संख्या जिससे इसका आरम्भ सप्ताह में से आगे की ओर चलता है)।

भाजक (१४३) अपूर्णाङ्क का हारकांक है (जो तदनुसार $\frac{१८०}{१०३}$ है)।

इनके अनुसार, परिसंख्यान में, सौर वर्ष के अन्त में अपूर्णाङ्क $\frac{३७}{१०३}$ गिना जाता है, जो सौर वर्ष की लम्बाई के रूप में ३६५ दिन १५' ६१'' २८''' ६'''' सूचित करता है। दिन के इस अपूर्णांक को एक पूर्ण दिन बनाने के लिए, दिन के $\frac{१०६}{१०३}$ की आवश्यकता है। मुझे मालूम नहीं कि यह किसकी कल्पना है।

ब्रह्मगुप्त की कल्पना के अनुसार, यदि हम चतुर्युग के दिनों को इसके सौर वर्षों की संख्या पर भाग दें, तो हम सौर वर्ष की लम्बाई के रूप में ३६५ दिन ३०' २२'' ३०''' ०'''' प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में गुणक अङ्क या गुणाकार ४०२७, और भाजक या भागहार ३२०० है (अर्थात १ दिन ३०' २२'' ३० '''० '''' बराबर हैं $\frac{८२७}{३२००}$)।

पुलिस की कल्पना के अनुसार गिनने से, हम सौर वर्ष की लम्बाई ३६५ दिन १५' ३१'' ३०''''' ०'''' आते हैं। तदनुसार, गुणाकार १००७, भागहार ८०० होगा (अर्थात् १ दिन १५' ३१' ३०''''.०'''' बराबर हैं $\frac{२०७}{८००}$)। *

संक्रान्ति के लिये दूसरी विधि

संक्रान्ति का निमेष मालूम करने की एक दूसरी विधि मुझे सहावी (?) के पुत्र अलिअत्त †

नीचे लिखी संख्या आधार में बढ़ाना चाहिये

राशियाँ	दिन	घटी	चषक	राशियाँ	दिन	घटी	चषक
मेष	१	३५	०	तुला	६	३१	०
वृषभ	४	३३	०	वृश्चिक	१	२३	०
मिथुन	०	३६	०	धनु	२	११	०
कर्क	४	३४	०	मकर	४	१०	०
सिंह	१	६	०	कुम्भ	५	३४	०
कन्या	४	६	०	मीन	०	२८	०

* भागहार ५७२ नहीं, जैसा कि हस्तलेख में है, वरन् ५७६ है, और अपूर्णांक $\frac{३३१}{५७६}$ है।

† अलिअत्त (?) नाम ठीक प्रकार से नहीं लिखा हुआ है। इसका शब्दानुवाद यह है 'और जो कुछ स के पुत्र अ ने उसी (विषय) पर बताया है'। उसका आधार पुलिससिद्धान्त है। यह ग्रन्थकार एवं 'समय' अलबेरूनी के समकालीन जान पड़ते हैं।

(?) ने लिखाई है, और पुलिस की शैली पर अवलम्बित है। वह यह है—

शककाल में से ६१८ घटाओ, अवशेष को १००७ से गुणा करो, गुणनफल में ७६ बढ़ाओ, और योगफल को ८०० पर भाग दो। भागफल को ७ पर भाग दो। जो अवशेष प्राप्त हो वह आधार है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अब प्रत्येक राशि के लिए आधार में क्या बढ़ाना चाहिए, यह आगे लिखी तालिका में प्रत्येक राशि के सामने दिखलाया गया है।

षडशीतिमुख

वराहमिहिर पञ्चसिद्धान्तिका में कहता है कि अनन्त स्वर्ग्यपुरस्कार की प्राप्ति के लिए षडशीतिमुख * उतना ही शुभ है जितना कि संक्रान्ति का समय। यह समय है सूर्य के प्रवेश करने का—मिथुन के १८ वें अंश में; कन्या के १४ वें अंश में; धनु के २६ वें अंश में और मीन के २८ वें अंश में।

स्थिर राशियों में सूर्य के प्रवेश का निमेष उसके दूसरी राशियों में प्रवेश के निमेष से चार गुना अधिक शुभ है। इन समयों में से प्रत्येक के लिए वे आदि और अन्त का परिसंख्यान सूर्य की त्रिज्या के द्वारा उसी प्रकार करते हैं जैसे कि वे ग्रहण के समय सूर्य के या चन्द्र के छाया में प्रवेश करने और उसे छोड़ने की कलाओं का लेखा करते हैं। यह रीति उनके ज्योतिष-ग्रन्थों में बहुत विख्यात है। परन्तु, हम यहाँ उनकी गणना की केवल वही रीतियाँ लिखेंगे जिनको हम द्रष्टव्य समझते हैं, या जो, जहाँ तक हमें मालूम है, अभी तक मुसलिम कानों के सामने प्रकट नहीं की गईं, क्योंकि मुसलिमों को हिन्दुओं की केवल उन्हीं रीतियों का ज्ञान है जो सिन्द-हिन्द में पाई जाती हैं।

ग्रहणों के समय

उसके उपरान्त, सब से अधिक शुभ समय सूर्य और चन्द्र के ग्रहणों के समय हैं। उस समय, उनके विश्वास के अनुसार, पृथ्वी के सभी पानी गङ्गा-जल के समान पवित्र हो जाते हैं। वे इन समयों की पूज्यता के विषय में इतनी अतिशयोक्ति करते हैं कि उनमें से अनेक, ऐसे समय में मरने की इच्छा करते हुए, जो उनको स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति की आशा दिलाता है, आत्म-हत्या कर लेते हैं। किन्तु, यह काम केवल वैश्य और शूद्र ही करते हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए इसका निषेध है। अतः वे आत्म-हत्या नहीं करते।

पर्वन और योग

फिर, पर्वन् के समय शुभ हैं, अर्थात् वे समय जिनमें ग्रहण लग सकता है। और यदि ऐसे समय में ग्रहण न भी हो, तो भी यह वैसा ही शुभ समझा जाता है जैसा कि स्वयं ग्रहण का समय। योगों के समय उतने ही शुभ हैं जितने कि ग्रहणों के समय। हमने उन पर एक विशेष परिच्छेद (परि० ७६) लिखा है।

अशुभ दिन

यदि ऐसा हो कि एक ही नागरिक दिन में चन्द्रमा किसी नक्षत्र के पिछले भाग में घूमे, तब अगले नक्षत्र में प्रवेश करे, और इस सारे में से चलकर तीसरे नक्षत्र में प्रविष्ट हो जाय, जिससे एक

* परिभाषा षडशीतिमुख की व्याख्या सूर्य-सिद्धन्त, में की गई है।

दिन में वह तीन क्रमागत नक्षत्रों में ठहरे, तो ऐसा दिन त्रिहस्पक (?) और त्रिहर्कंप (?) भी, कहलाता है। बुरा होने के कारण, यह अशुभ दिन है, और यह पुण्यकाल में गिना जाता है।

यही बात उस नागरिक दिन पर लागू होती है जिसमें एक पूर्ण चान्द्र दिन मिला हुआ हो, इसके अतिरिक्त, जिसका आरम्भ पूर्ववर्ती चान्द्र दिन के पिछले भाग में, और जिसका अन्त अगले चान्द्र दिन के आरम्भ में हो। ऐसा दिन वहगत्तत (?) कहलाता है। यह अशुभ है, परन्तु स्वर्ग्य-पुरस्कार उपार्जन करने के लिए अनुकूल है।

जब ऊनरात्र के दिन, अर्थात् ह्रास के दिन, इकट्ठा होकर एक पूर्ण दिन बनायें, तो यह अशुभ है और पुण्यकाल में गिना जाता है। ब्रह्मगुप्त के अनुसार, यह $६२\frac{५०६३३}{५५७३६}$ नागरिक दिनों, $६२\frac{१८२}{५५७३६}$ सौर दिनों, $६३\frac{५०६६३}{५५७३६}$ चान्द्र दिनों में होता है।

पुलिस के अनुसार, यह $६२\frac{६३३७६}{६६६७३}$ नागरिक दिनों, $६३\frac{६३३७६}{६६६७३}$ चान्द्र दिनों, और $६२\frac{२७४}{६६६७३}$ सौर दिनों में होता है।

वह निमेष जिसमें मलमास बिना किसी अपूर्णांक के पूरा होता है; अशुभ है, और इसकी गिनती पुण्यकाल में नहीं होती। ब्रह्मगुप्त के अनुसार, यह $६६०\frac{३६६३}{१०६३२}$ नागरिक दिनों, $६७६\frac{४६४}{५३११}$ सौर दिनों, $१०००६\frac{४६४}{५३११}$ चान्द्र दिनों में होता है।

भूकम्प के समय

जो समय अशुभ समझे जाते हैं, जिनके साथ किसी भी पुण्य का सम्बन्ध नहीं किया जाता, वे, उदाहरणार्थ, भूकम्पों के समय हैं। तब हिन्दू अपने घर के बर्तनों को, शुभ शकुन लेने और अनिष्टपात को दूर करने के लिए, पृथ्वी पर पटककर तोड़ डालते हैं। इसी के सदृश अमङ्गल प्रकृति के और समय, पुस्तक संहिता ये गिनाती है—भूमिस्खलन, तारकाओं का गिरना, आकाश में लाल चमक, बिजली से पृथ्वी का जलना, धूमकेतुओं का प्रदुर्भाव, ऐसी घटनाओं का होना जो प्रकृति और व्यवहार दोनों के विपरीत हों, ग्रामों में बनैले जीवों का घुसना, ऐसे समय में वर्षा होना जब इसकी ऋतु न हो, वृक्षों पर ऐसे समय में पल्लवों का निकलना जब इनका मौसम नहीं, जब वर्ष की एक ऋतु का स्वभाव दूसरी में स्थानान्तरित हुआ प्रतीत हो, और इसी प्रकार की और बातें।

पुस्तक स्रूधव, जिसका सम्बन्ध महादेव से ठहराया जाता है, यों कहती है—"जलते हुए दिन, अर्थात् अशुभ दिन—क्योंकि वे उनको इसी प्रकार पुकारते हैं—ये हैं—

चैत्र और पौष मासों के शुक्ल और कृष्ण पक्षों के दूसरे दिन;
ज्येष्ठ और फाल्गुन मासों के दोनों पक्षों के चौथे दिन;
श्रावण और वैशाख मासों के दोनों पखवाड़ों के छठवें दिन;
आषाढ़ और आश्वयुज मासों के दोनों पक्षों के आठवें दिन;

मार्गशीर्ष और भाद्रपद मासों के दोनों पखवाड़ों के दसवें दिन;
कार्तिक मास के दोनों पक्षों के बारहवें दिन।"

अठहत्तरवाँ परिच्छेद

करण

व्याख्या और प्रकार

हम तिथि कहलाने वाले चान्द्र दिनों का पहले उल्लेख कर चुके हैं और बता चुके हैं कि प्रत्येक चान्द्र दिन नागरिक दिन से छोटा है, क्योंकि चान्द्र मास में तीस चान्द्र दिन, परन्तु साढ़े उनतीस से कुछ ही अधिक नागरिक दिन होते हैं।

क्योंकि हिन्दू इन तिथियों को अहोरात्र कहते हैं, इसलिए वे तिथि के पूर्वार्द्ध को दिन, और उत्तरार्द्ध को रात भी कहते हैं। इन अर्द्धों में से प्रत्येक का अलग-अलग नाम है, और वे सब के सब (अर्थात चान्द्र मास के चान्द्र दिनों के सब अर्ध) करण कहलाते हैं।

स्थावर और जङ्गम करण

करणों के कुछ नाम मास में केवल एक ही वार आते हैं और उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात उनमें से चार अमावास्या के समय के करीब, सदा मास के उसी दिन और रात को आते हैं। ये स्थावर कहलाते हैं, क्योंकि वे मास में केवल एक ही वार आते हैं।

उनमें से दूसरे एक मास में आठ वार घूमते और आते हैं। वे जंगम कहलाते हैं, क्योंकि वे घूमते हैं; और उनमें से प्रत्येक करण दिन में भी वैसे ही आ सकता है जैसे कि वह रात में आ सकता है। वे संख्या में सात हैं, और सातवाँ या उनमें से अन्तिम एक अशुभ दिन है; जिससे वे अपने बच्चों को डराया करते हैं, और जिसका नाम लेने से ही उनके लड़कों के सिर के बाल खड़े हो जाते हैं। हमने करणों का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन अपनी एक दूसरी पुस्तक में दिया है। उनका उल्लेख ज्योतिष और गणित की प्रत्येक भारतीय पुस्तक में है।

करणों के मालूम करने का नियम

यदि तुम करण मालूम करना चाहते हो, तो पहले चान्द्र दिनों का निश्चय करो, और मालूम करो कि उनके किस भाग में प्रस्तुत तिथि पड़ती है। यह इस प्रकार किया जाता है—

सूर्य का स्फुट स्थान चन्द्रमा के स्फुट स्थान में से घटाओ। अवशेष उनके बीच का अन्तर है। यदि वह छः राशियों से कम है, तो तिथि मास के शुक्ल पक्ष में आयेगी यदि वह अधिक है, तो यह कृष्ण पक्ष में आयगी।

इस संख्या की कलाएँ बनाओ, और घात को ७२० पर भाग दो। भागफल तिथियों; अर्थात पूर्ण चान्द्र दिनों को दिखलाता है। यदि भाग देने से कुछ अवशेष निकले, तो उसमें ६० का गुणा

करके गुणन-फल को मध्यम भुक्ति पर भाग दो। भागफल घटियों और अपूर्णांकों को, अर्थात वर्तमान दिन के उस भाग को दिखलाता है जो आगे बीत चुका है।

यह हिन्दुओं के ज्योतिष-ग्रन्थों की विधि है। सूर्य और चन्द्र के संशोधित स्थानों के बीच के अन्तर में मध्यम भुक्ति का भाग अवश्य देना चाहिए। परन्तु यह बात उनमें से अनेक दिनों के लिए असम्भव है। इसलिए वे इस अन्तर में सूर्य और चन्द्र के दैनिक परिभ्रमणों के बीच के प्रभेद का भाग देते हैं। इनको वे चन्द्र के लिए १३ अंश और सूर्य के लिए १ अंश गिनते हैं।

सूर्य और चन्द्र की मध्यम गति से गिनना इस प्रकार के नियमों में, विशेषतः भारतीय नियमों में, एक प्रिय पद्धति है। सूर्य की मध्यम गति चन्द्रमा की मध्यम गति में से घटाई जाती है, और अवशेष में ७३२ का भाग दिया जाता है, जो की उनकी दो मध्यवर्ती भुक्तियों के बीच का प्रभेद है। भागफल तब दिनों और घटियों को दिखलाता है।

भुक्ति की व्याख्या

शब्द बुहुत का मूल भारतीय है। भारतीय भाषा में यह भुक्ति है (=ग्रह की दैनिक गति) यदि स्फुट गति से अभिप्राय होता है, तो यह भुक्ति स्फुट कहलाती है। यदि मध्यम गति अभिप्रेत होती है, तो यह भुक्ति मध्यम कहलाती है, और यदि बुहत, जो बराबर कर देता है, अभिप्रेत हो; तो यह भुक्त्यन्तर, अर्थात दो भुक्तियों के बीच का अन्तर कहलाता है।

पक्ष के चान्द्र दिनों के नाम

मास के चान्द्र दिनों के विशेष नाम हैं। इनको हम आगे दिये कोष्टक में प्रदर्शित करते हैं। यदि तुम्हें पता है कि तुम किस चान्द्र दिन में हो, तो तुम, दिन की संख्या के पार्श्व में, इसका नाम और इसके सामने वह करण जिसमें कि तुम हो, पाते हो। यदि वर्तमान दिन का जो कुछ बीत चुका है वह आधे दिन से कम है, तो करण प्रात्यहिक है, यदि इसका जो अंश बीत चुका है वह आधे दिन से अधिक है, तो यह नैशिक है।

करणों की सूची

जैसा कि उनकी रीति है, हिन्दू कुछ करणों के स्वामी ठहराते हैं। फिर वे नियम देते हैं, जो यह दिखलाते हैं कि प्रत्येक करण में क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, और जो (शुभाशुभ दिनों; इत्यादि, के विषय में) फलित ज्योतिष-सम्बन्धी पूर्व चिह्नों के संग्रहों के सदृश हैं। यदि हम यहाँ करणों का एक दूसरा मानचित्र देते हैं—

दिनों की संख्यानुसार शुक्ल पक्ष के करण—१-अमावश्या, २-वर्खु, ३-बिय, ४-त्रिय, ५-चौत, ६-पञ्चो, ७-सत, ८-सतोन, ९-अतोन्, १०-नविन्, ११-दहिन्, १२-याही, १३-दुवाही, १४-ग्रोही, १५-चौदहो, १६-पूर्णिमा तथा पञ्चाहो।

दिनों की संख्यानुसार कृष्ण पक्ष के करण—१७-वर्खु, १८-बिय, १९-त्रिय, २०-चौत, २१-पञ्चो २२-सत, २३-सतोन्।

दिनों की संख्यानुसार दोनों पक्षों में सामान्य करण। —

संख्या	नाम	दिन में	रात्रि में	संख्या	नाम	दिन में	रात्रि में
०	०	चतुष्पद	नाग	२७	यही	बव	वलव
०	०	किंस्तुन्व	वव	२८	दुवाहो	कौलव	तैतिल
२४	अतीन्	वालव	कौलव	२९	ग्रोहो	गर	वणिज
२५	नविन्	तैतिल	गर	०	०	विष्टि	बव
२६	दहिन्	वणिज	विष्टि	३०	चौदहो	विष्टि	शुकुनि

तो उससे हमारा अभिप्राय जो कुछ हम आगे कह चुके हैं उसको सम्पुष्ट करना, और एक ऐसे विषय को दुहरना है जिसका हम लोगों को ज्ञान नहीं। इस प्रकार विषय का सीखना सरल कर दिया गया है, क्योंकि विद्या पुनरावृत्ति का फल है।

चार स्थावर करण

पक्ष	नाम	स्वामी	करणों के पूर्वचिह्न, और उनमें से प्रत्येक किस चीज के लिए अनुकूल है।
शुक्ल	किंस्तुघ्न	वायु	सब कर्मों को नष्ट करता है और केवल विवाह-सम्बन्धी बातों के लिए, छोटे छत्रों के बनाने, कानों के छेदने, और ईश्वरभक्ति के कामों के लिए ही अनुकूल है।
,,	नाग	सांप	विवाह-क्रिया, आधार-शिला स्थापित करने, सांप के काटे हुए व्यक्तियों की दशा की परीक्षा करने, लोगों को डराने और उनको पकड़ने के लिए अनुकूल है।
,,	चतुष्पद	वृषभराशि	राजा को सिंहासन पर बैठने, पितरों के नाम पर दान देने, कृषि में चार पैर वाले पशुओं से काम लेने के लिए अनुकूल है।
कृष्ण	शकुनि	कलि	ओषधियों के, सांप के काटे पर बूटियों के, जादूटोने के, विद्या के, सभा लगाने के, और मूर्त्तियों के सामने वेद-मन्त्र पढ़ाने के प्रभाव के लिए अनुकूल है।

सात जङ्गम करण

पक्ष	नाम	स्वामी	करणों के पूर्व लक्षण, और वे किस के लिए अनुकूल है।
दोनों	कौलव	मित्र	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह खड़ा है। इसमें जो कुछ बोया जायगा वह फूले-फलेगा और रसालता से टपक पड़ेगा। यह लोगों के साथ मित्रता करने के लिए अनुकूल है।

पक्ष	नाम	स्वामी	करण के पूर्व लक्षण और उनकी अनुकूलता ।
दोनों	वव	शुक्र	जब इस करण में संक्रान्ति ‡ हो, तो यह बैठा हुआ है, और इसमें, फलों पर कोई विपत्ति आयगी । यह सफर करने के लिए, उन चीजों के साथ आरम्भ करने के लिए जो चिर-काल तक रहनेवाली हैं; अपने आपको साफ करने के लिए, स्त्रियों को मोटा करनेवाली औषधों को मिलाने के लिए और उन होमों के लिए जो ब्राह्मण आग में करते हैं, अनुकूल है ।
,,	वालव	ब्रह्मा	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह बैठा हुआ है, फलों के लिए अच्छा नहीं । यह भविष्य जीवन के कर्मों के लिए, और स्वर्गय पुरस्कार की प्राप्ति के लिए अनुकूल है ।
,,	तैतिल	अर्यमन्	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह भूमि पर फैला हुआ है । यह बतलाता है कि मूल्य गिर जायँगे और सुगंधित लेपों को सानने और सुगंधियों को मिलाने के लिए अनुकूल है ।
,,	गर	पर्वत	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह भूमि पर फैला हुआ है । यह इस बात का संकेत करता है कि मूल्य घट जायँगे, और बोने और भवन की आधार-शिला रखने के लिए अनुकूल है ।
,,	वणिज	श्री	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह खड़ा है । सब धान्य फूलें-फलेंगे (कृमि मुक्त), और वाणिज्य के लिए अनुकूल है ।
,,	विष्टि	महत्	जब इसमें संक्रान्ति हो, तो यह भूमि पर फैला हुआ है । यह बतलाता है कि मूल्य अपर्याप्त होंगे । ईख पेलने के सिवा यह किसी चीज के लिए अनुकूल नहीं । यह अशुभ समझा जाता है और यात्रा करने के लिए अच्छा नहीं ।

करणों के गणित के नियम

यदि तुम परिसंख्यान के करण मालूम करना चाहते हो, तो सूर्य का स्फुट स्थान चन्द्रमा के स्फुट स्थान में से घटाओ, अवशेष का कलाएँ बनाओ और उनकी संख्या को ३६० पर भाग दो । भागफल पूर्ण करणों को दिखलाता है ।

भाग देने के अनन्तर जो कुछ बच रहता है उसमें ६० का गुणा और भुक्त्यन्तर पर भाग दिया जाता है । भागफल यह दिखलाता है कि वर्तमान करण में से कितना बीत चुका है । संख्या

‡ संक्रान्ति का अर्थ है सूर्य का किसी राशि में प्रवेश करना । सूर्य-सिद्धान्त, में यह विस्तार से दिया गया है ।

की प्रत्येक इकाई आधी घटी के बराबर है। अब हम पूर्ण करणों की ओर लौटते हैं। यदि वे दो या कम हैं, तो तुम दूसरे करण में हो। उस अवस्था में तुम संख्या में एक बढ़ा देते हो, और; चतुष्पद से आरम्भ करके, संख्या को गिन लेते हो।

यदि करणों की संख्या ५६ है, तो तुम शकुनि में हो।

यदि यह ५६ से कम और दो से अधिक है, तो उनमें एक बढ़ा दो और योगफल में सात का भाग दो। अवशेष को, यदि यह सात से अधिक न हो, तो जंगम करणों के चक्र के आदि अर्थात वव से आरम्भ करके, गिन लो। इससे तुम जिन वर्तमान करण में संयोगवश हो उसके नाम पर पहुंच जाओगे।

करण और विष्टि

पाठकों को करणों के सम्बन्ध में किसी ऐसी बात का स्मरण कराने की इच्छा से जिसको वे कदाचित् भूल गये हैं, हम उन्हें बताना चाहते हैं कि अलकिन्दी और उसके सदृश दूसरों को करणों की पद्धति की पर्याप्त रूप से व्याख्या नहीं हुई थी। उन्होंने उन लोगों की विधि को नहीं समझा जो करणों का प्रयोग करते हैं। कभी तो वे उनको भारतीय, और कभी :बेबीलोनियन मूल का सिद्ध करते हैं, और प्रत्येक समय यह घोषणा करते जाते हैं कि उनमें जान बूझकर फेर-फार किया गया है और वे लिपिकारों के प्रमाद से विकृत हो गये हैं। उन्होंने अपने लिए एक ऐसी गणना निकाली है जो स्वयं मूल विधि की अपेक्षा भी अच्छे ढंग से चलती है। परन्तु इससे यह जो कुछ आदि में थी उससे सर्वथा भिन्न कुछ चीज बन गई हैं। उनकी विधि यह है—वे अमावास्या से आरम्भ करके, आधे दिन गिनते हैं। पहले बारह घण्टों को वे सूर्य के, जलते हुए, अर्थात अशुभ, समझते हैं, अगले बारह घण्टों को शुक्र के, उनके अगले घण्टों को बुध के, और इसी प्रकार ग्रहों के क्रमानुसार समझते हैं। जब कभी क्रम सूर्य पर लौटता है, वे उसके बारह घंटों को अलविस्त के घंटे अर्थात विष्टि कहते हैं।

किन्तु, करणों को वे न तो नागरिक—वरन चान्द्र—दिनों से मापते हैं, और न अमा-वास्या के पश्चात आनेवाले जलते हुए घण्टों से आरम्भ करते हैं। अलकिन्दी की गणना के अनुसार, लोग अमावस्या के पश्चात, बृहस्पति से आरम्भ करते हैं, उस अवस्था में सूर्य के घंटे जलते हुए नहीं होते। इसके विपरीत, यदि वे, हिन्दुओं की पद्धति के अनुसार; आमावास्या के पश्चात सूर्य से आरम्भ करें, तो विष्टि के घण्टे बुध होते हैं। इसलिए प्रत्येक पद्धति का, हिन्दुओं की और अलकिन्दी की पद्धति का वर्णन जुदा जुदा होना चाहिए।

विष्टि एक मास में आठ बार आती है, और दिङ्मण्डल में दिशाएँ आठ हैं, इसलिए हम करणों के विषय में उनके ज्योतिष-सम्बन्धी विवेचन आगे लिखी तालिका के आठ क्षेत्रों में दिख-लायेंगे। ये ऐसे विवेचन हैं जिनके सदृश सभी फलित-ज्योतिषियों ने ग्रहों के रूपों के विषय में किये हैं जो राशियों के अकेले-अकेले तृतीयांशों में उदय होते हैं।

विष्टियों का वर्णन

१ ली विष्टि जिसका नाम वडवामुख है जो पूर्व में ५ वीं तिथि की रात को उदय होती है। उसका वर्णन इस प्रकार है।—

इसके तीन नेत्र हैं। इसके सिर पर बाल उगते हुए ईख के सदृश हैं। इसके एक हाथ में एक लोहे का कांटा, और दूसरे में काला सांप है। यह बहते पानी की तरह सुदृढ़ और प्रचण्ड है। इसकी लम्बी जीभ है। इसका दिन केवल युद्ध, और उन कामों के लिए अच्छा है जिनमें छल झूठ हो।

२ री विष्टि विद् (?) है जो ऐशान दिशा में ६ वीं तिथि को दिन को उदय होती है। उसका वर्णन इस प्रकार है।—

यह हरी है, और इसके हाथ में एक खड्ग है। इसका स्थान बिजली, बादल की गर्जना, तूफानी, और ठण्डे बादल में है। इसका समय मोटा करनेवाली जड़ियों को चीरने, औषध-पान, वाणिज्य, और सांचे में सोना भरने के लिए अनुकूल है।

३ री विष्टि घोर कहलाती है। यह १२ वीं तिथि को रात को उत्तर दिशा में उदय होती है। इसका वर्णन इस प्रकार है।—

इसका मुँह काला, मोटे होंठ, घनी भौंहें, सिर के लम्बे केश हैं। यह लम्बी है, और अपने दिन में सवारी करती है। इसके हाथ में खड्ग है, यह मनुष्यों को निगल जाने के लिए तत्पर है, यह अपने मुख से आग निकालती है, और वा वा वा कहती है। इसका समय केवल लड़ने, दुर्जनों को हत्या करने, अस्वस्थ लोगों को चंगा करने, और सांपों को उनके बिलों में से बाहर लाने के लिए ही अच्छा है।

४ थी विष्टि का नाम क्राल (?) है और यह १६ वीं तिथि के दिन को वायव दिशा में उदय होती है। इसका वर्णन इस प्रकार है।—

इसके पांच मुँह और दस नेत्र हैं। इसका समय विद्रोहियों को दण्ड देने, सेना को अकेली अकेली पलटनों में बांटने के लिए अनुकूल है। इसमें मनुष्य को जिस दिशा में यह उदय होती है उधर मुँह करके मुड़ना नहीं चाहिए।

५ वीं विष्टि का नाम ज्वाल (?) है यह १६ वीं तिथि की रात को पश्चिम दिशा में उदय होती है और इसका वर्णन इस प्रकार है।—

यह धूम्र ज्वाला के सदृश है। इसके तीन सिर हैं, प्रत्येक में तीन उलटी आँखें हैं। इसके बाल खड़े हैं। यह एक मनुष्य के सिर पर बैठती है और मेघनाद की तरह चिल्लाती है। यह क्रुद्ध है, मनुष्यों को निगल जाती है इसके एक हाथ में छुरी है, और दूसरे में कुल्हाड़ा।

६ वीं विष्टि का नाम स्नूधव की पुस्तक में भी नहीं मिलता। यह २३ वीं तिथि के दिन को नैऋत दिशा में उदय होती है। इसका वर्णन इस प्रकार है।—

यह श्वेत है, इसके तीन नेत्र हैं, और यह हाथी पर चढ़ती है, जो सदा एक ही रहता है। इसके एक हाथ में एक बड़ी चट्टान है, और दूसरे में लोहे का वज्र, जिसको यह फेंकती है। जिन पशुओं पर यह उदय होती है उनका नाश कर देती है। जिस दिशा में यह उदय होती है उधर से आकर जो युद्ध करता है वह विजय पाता है। मोटा करनेवाली बूटियों को चीरते, खजानों को खोदते और जीवन के प्रयोजनों की तृप्ति का प्रयत्न करते समय इसकी ओर मुँह करके मुड़ना नहीं चाहिए।

७ वीं विष्टि को कालरात्रि कहते हैं। यह २६ वीं तिथि को रात को दक्षिण में उदय होती है। इसका वर्णन इस प्रकार है।—

इसका वर्ण स्फटिक का है। इसके एक हाथ में तिहरा परश्वध, और दूसरे में जपमाला है। यह आकाश की ओर देखती है, और हा हा हा कहती है। यह बैल पर चढ़ती है। इसका समय बच्चों को पाठशालाओं के सिपुर्द करने, संधि को पूरा करने, दान देने, और पुण्यशीलता के कामों के लिए अनुकूल है।

८ वीं विष्टि के भी नाम का पता नहीं है। यह ३० वीं तिथि के दिन को आग्नेये दिशा में उदय होती है और इसका वर्णन इस प्रकार है।—

यह तोते के सदृश पिस्ता-रङ्गी है। यह किसी मण्डलाकार वस्तु की सी देख पड़ती है, और इसके तीन नेत्र हैं। इसके एक हाथ में लोहे के काँटेवाली गदा है, दूसरे में तीक्ष्ण चक्र। वह लोगों को डराती हुई, और सा सा सा कहती हुई अपने सिंहासन पर बैठती है। इसका समय किसी भी काम के आरम्भ करने के लिए अच्छा नहीं। यह केवल बन्धु-बान्धवों की सेवा करने और घरेलू काम के लिए अच्छा है। *

उन्नासीवाँ परिच्छेद

योग

व्यतीपात और वैधृत

ये वे समय हैं जिनको हिन्दू अतीव अशुभ समझते हैं और जिनमें वे कोई कर्म नहीं करते। वे बहुसंख्यक हैं। हम यहाँ उनका उल्लेख करेंगे।

दो योग ऐसे हैं जिनके विषय में सब हिन्दू एकमत हैं, अर्थात—

(१) वह समय जब सूर्य और चन्द्र ऐसे दो वृत्तों पर इकट्ठा खड़े होते हैं, जो मानो एक दूसरे को पकड़ रहे हैं, अर्थात वृत्तों का प्रत्येक जोड़ा, जिनके झुकाव (दोनों अयनों की) एक ही ओर, बराबर हैं। यह योग व्यतीपात कहलाता है।

---

* अलकिन्दी—इस विद्वान् ने जिस ढंग से हिन्दुओं के करणों के सिद्धान्त को रूपान्तरित किया है वह बड़ा शिक्षाप्रद है, क्योंकि उससे पता लगता है कि अलबेरूनी से पूर्व, अरब के बड़े-बड़े विद्वान् और प्रबुद्ध लोग भी किस प्रकार भारतीय विषयों का वर्णन किया करते थे। इन बातों का प्रथम ज्ञान अरबों को सम्भवतः ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त (सिन्दहिन्द) और खण्डखाद्यक (अरकन्द) के अनुवाद से हुआ था। अलकिन्दी के अनुसार, विष्टियों के नामों का दूसर अनुक्रम, जो भूल से अरबी पाठ में छूट गया है, इस प्रकार लिखा जा सकता है—

(१) शूल्पो (शूलपदी ?) (२) जमद्दद (याम्योदधि ?) (३) घोर।
(४) नस्तरीनिश। (५) दारूनी (धारिणी ?) (६) कयाली।
(७) वहयामनि। (८) विकत (व्यक्त ?)

(२) वह समय जब सूर्य और चन्द्र दो समान वृत्तों पर इकट्ठे खड़े होते हैं, अर्थात वृत्तों का प्रत्येक ऐसा जोड़ा, जिनके झुकाव, (दोनों अयनों के) भिन्न-भिन्न पार्श्वों पर, बराबर हैं। यह वैधृत कहलाता है।

यह पूर्वोक्त का लक्षण है कि इसमें सूर्य और चन्द्र के स्फुट स्थानों का जोड़ प्रत्येक अवस्था में मेषराशि के ०° से छः राशियों का अन्तर दिखलाता है, और शेषोक्त के लिए यह लक्षण है कि यही जोड़ बारह राशियों के अन्तर को दिखलाता है। यदि तुम किसी निश्चित समय के लिए सूर्य और चन्द्र के स्फुट स्थानों की गिनती करो और उनको इकट्ठा जोड़ो, तो उनका जोड़ इन दो में से कोई एक, अर्थात इन योगों में कोई एक होगा।

परन्तु, यदि इनका जोड़ राशि की संख्या से कम अथवा बड़ा हो, तो उस अवस्था में समता के समय (अर्थात वह समय जब कि यह जोड़ राशियों में से किसी एक के बराबर हो) का परिसंख्यान इस जोड़ और प्रस्तुत अवधि के बीच के भेद के द्वारा, और भुक्त्यन्तर के स्थान में सूर्य और चन्द्र की दो भुक्तियों के जोड़ के द्वारा उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि ज्योतिष ग्रन्थों में पूर्णिमा और अमावास्या के समय का परिसंख्यान किया गया है।

मध्यकाल

यदि तुम दोपहर या आधी रात से उस समय के अन्तर को जानते हो, तो फिर चाहे तुम सूर्य और चन्द्र के स्थानों का संशोधन पहले के या दूसरे के अनुसार करो, इसका समय मध्यकाल कहलाता है। क्योंकि यदि चन्द्र सूर्य के समान ही यथार्थ रीति से क्रान्तिमण्डल का अनुसरण करता, तो यह वही समय होता जिसे हम मालूम करना चाहते हैं। परन्तु, चन्द्रमा क्रान्तिवृत्त से भटक जाता है। इसलिए, उस समय वह सूर्य के वृत्त पर, या उस वृत्त पर जो, जहां तक विवेचन जाता है, इसके बराबर है, खड़ा नहीं होता। इस कारण से सूर्य और चन्द्र के स्थान और नाग के सिर (राहु) और पूंछ (केतु) का परिसंख्यान मध्य काल के लिए किया जाता है।

व्यतिपात और वैधृत का गणित

इस समय के अनुसार वे सूर्य और चन्द्र के झुकावों का परिसंख्यान करते हैं। यदि वे बराबर हों, तो यह वह समय है जिसको ढूंढ़ा जा रहा है। यदि नहीं, तो तुम चन्द्रमा के झुकाव पर विचार करो।

यदि इसको गिनने में, तुमने उसके अक्ष को उस अंश के झुकाव में जोड़ा है जिसमें कि वह है, तो तुम चन्द्रमा के अक्ष को सूर्य के झुकाव में से घटाते हो। किन्तु, यदि इसके परिसंख्यान में, तुमने उसके अक्ष को उस अंश में से घटाया है जिसमें कि चन्द्र है, तो तुम उसके अक्ष को सूर्य के झुकाव में जोड़ते हो। झुकाव के करदजात की सूचियों से परिणाम के वृत्तांशों को स्मरण कर लिया जाता है। ये वही हैं जिनका उपयोग ज्योतिष-ग्रन्थ करणतिलक में किया गया है।

फिर, तुम मध्य काल में चन्द्रमा का अवलोकन करते हो। यदि वह क्रान्तिमण्डल की किन्हीं विषम दिशाओं में, अर्थात वसन्त और पतझड़ के स्थानों में, ठहरा हो, और उसका झुकाव सूर्य के झुकाव से कम हो, तो उस अवस्था में दोनों झुकावों के एक दूसरे के बराबर होने का समय हम मालूम करना चाहते हैं—मध्य के पश्चात् आता है, अर्थात भविष्यकाल है; किन्तु यदि

चन्द्रमा का झुकाव सूर्य के झुकाव से बड़ा है, तो यह मध्य के पूर्व आता है, अर्थात अतीतकाल है।

यदि चन्द्रमा क्रान्तिमण्डल के सम स्थानों (अर्थात ग्रीष्म और शरद् के स्थानों) में हो तो सर्वथा विपरीत अवस्था होती है।

पुलिस सूर्य और चन्द्र के झुकावों को, यदि वे अयन के भिन्न-भिन्न पार्श्वों पर हों तो, व्यतीपात में, और यदि वे अयन के एक ही पार्श्व पर हों तो वैधृत में, जोड़ता है। फिर वह, यदि सूर्य और चन्द्र एक ही ओर हों तो व्यतीपात में, और यदि वे भिन्न-भिन्न पार्श्वों में हों तो वैधृत में, उनके झुकावों के बीच के अन्तर को लेता है। यह पहला मूल्य है जो स्मरण रक्खा जाता है, अर्थात मध्य काल।

फिर वह, दिन की कालाओं को दिन के चतुर्थांश से कम मानकर, उनके माप बनाता है। तब वह उनकी गतियों का परिसंख्यान सूर्य और चन्द्र की भुक्ति और राहु तथा केतु के द्वारा, और उनके स्थानों का परिसंख्यान मध्य काल के परिमाण के अनुसार, जो वे भूत और भविष्यत् में घेरते हैं, करता है। यह दूसरा मूल्य है जो स्मरण रक्खा जाता है।

इस रीति से वह भूत और भविष्य की दशा को मालूम करने का प्रबन्ध करता है, और इसकी तुलना मध्य काल के साथ करता है। यदि सूर्य और चन्द्र दोनों के लिए एक दूसरे के बराबर होनेवाले दोनों झुकावों का समय अतीत या भविष्य है, तो उस अवस्था में स्मरण रक्खे हुए दो मूल्यों के बीच का अन्तर भागांश (अर्थात भागहार) है; परन्तु यदि यह एक के लिए अतीत और दूसरे के लिए भविष्य हो, तो स्मरण रक्खे हुए दो मूल्यों का योग भागहार है।

फिर, वह दिनों की कलाओं में, जो मालूम की गई हैं, स्मरण रक्खे हुए पहले मूल्य का गुणा करता है, और गुणन-फल को भागहार पर भाग देता है। भाग-फल मध्य काल से अन्तर की कलाओं को दिखलाता है। ये कलाएँ भूत या भविष्य में हो सकती हैं। इस प्रकार एक दूसरे के बराबर होनेवाले झुकावों का समय ज्ञात हो जाता है।

करणतिलक की रीति

करण-तिलक नामक ज्योतिष-ग्रन्थ का लेखक हमें स्मरण रक्खे हुआ झुकाव के वृत्तांश पर वापस लाता है। यदि चन्द्रमा का स्फुट स्थान तीन राशियों से कम है, तो यह वही है जिसकी हमें आवश्यकता है। यदि यह तीन और छः राशियों के बीच हो, तो वह इसे छः राशियों में से घटा देता है; और यदि यह छः और नौ राशियों के बीच हो, तो वह उसमें छः राशियाँ बढ़ा देता है; यदि यह नौ राशियों से अधिक हो, तो वह इसे बारह राशियों में से घटा देता है। इससे वह चन्द्र का दूसरा स्थान प्राप्त करता है, और इसकी तुलना वह संशोधन के समय चन्द्रमा के स्थान के साथ करता है। यदि चन्द्र का दूसरा स्थान पहले से कम है, तो एक दूसरे के बराबर होनेवाले दो झुकावों का समय भविष्य है; यदि यह पहले से अधिक है, तो उनके एक दूसरे के बराबर होने का समय भूत है।

फिर, वह चन्द्रमा के दोनों स्थानों के बीच के अन्तर को सूर्य की भुक्ति से गुणा करता, और गुणन-फल को चन्द्रमा की भुक्ति पर भाग देता है। यदि चन्द्रमा का दूसरा स्थान पहले की अपेक्षा बड़ा हो, तो वह भाग-फल को संशोधन के समय सूर्य के स्थान में बढ़ा देता है; परन्तु, यदि चन्द्रमा का दूसरा स्थान पहले की अपेक्षा कम हो, तो वह इसको सूर्य के स्थान में से घटा देता है। इससे

वह उस समय के लिए सूर्य का स्थान मालूम करता है जब दोनों झुकाव एक दूसरे के बराबर होते हैं।

इसको मालूम करने के लिए, वह चन्द्रमा के दो स्थानों के बीच के अन्तर को चन्द्रमा की भुक्ति पर भाग देता है। भाग-फल दूरी को दिखलानेवाले दिनों की कलाएँ देता है उनके द्वारा वह सूर्य और चन्द्र, राहु और केतु, और दोनों झुकावों के स्थानों का परिसंख्यान करता है। यदि शेषोक्त बराबर हों, तो यह वही है जिसको हम मालूम करना चाहते हैं। यदि वे बराबर नहीं, तो ग्रन्थकार गणना को उतनी देर तक दुहराता जाता है जब तक कि वे बराबर नहीं हो जाते और जब तक शुद्ध समय मालूम नहीं हो जाता।

इस पर वह सूर्य और चन्द्र के मान का परिसंख्यान करता है। किन्तु, वह उनकी संख्या का आधा छोड़ देता है, जिससे आगे की गणना में वह उनके मानों का केवल आधा ही उपयोग में लाता है। वह उसको ६० से गुणा करता और गुणन-फल को भुक्त्यन्तर पर भाग देता है। भाग-फल गिरने (पात ?) की कलाओं को दिखलाता है।

मालूम किया हुआ शुद्ध समय तीन भिन्न भिन्न स्थानों में लिख लिया जाता है। पहली संख्या में से वह गिरते हुए की कलाएँ घटाता, और उनको अन्तिम संख्या में बढ़ाता है। तब पहली संख्या व्यतीपात या वैधृत के, दोनों में से जिसको भी तुम गिनना चाहते हो उसके, आरम्भ का समय है। दूसरी संख्या इसके मध्य का समय, और तीसरी संख्या इसके अन्त का समय है।

जिन आधारों पर ये रीतियाँ अवलम्बित हैं उनका विस्तृत वृत्तान्त हमने खयाल अलकुसूफ़ैनी (अर्थात दो ग्रहणों की प्रतिच्छाया) नाम की अपनी एक विशेष पुस्तक में दिया है, और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या स्यावबल (?) ‡ कश्मीर के लिए रची हुई अपनी ज्योतिष की पुस्तक में दी है। इसका नाम हमने अरबी खण्डखाद्यक रक्खा है।

योगों का अशुभ होना

भट्टिल इन दोनों योगों में से प्रत्येक का सारा दिन अशुभ समझता है, परन्तु वराहमिहिर उनकी केवल उसी संस्थिति को अशुभ समझता है जो परिसंख्यान से निकलती है। वह दिन के अशुभ भाग की तुलना विपाक्त वाण से मारे हुए मृग के घाव से करता है। रोग विपाक्त गोली के परिसर से परे नहीं जाता; यदि इसको काट दिया जाय तो पीड़ा दूर हो जाती है।

जो कुछ पुलिस पराशर के विषय में कहता है उसके अनुसार, हिन्दू नक्षत्रों में व्यतीपातों की एक संख्या मान लेते हैं, परन्तु उन सबका परिसंख्यान उसी रीति से किया जाता है जो उसने दी है। गणना अपने प्रकार में नहीं बढ़ती। इसलिए केवल इसके अकेले-अकेले नमूने ही अधिक बहुसंख्यक हो जाते हैं।

---

‡ स्यावबल (?) काश्मीर का एक हिन्दू जान पड़ता है जो कि मुसलमान हो गया था, और, एक अरबी पुस्तक के द्वारा, हिन्दुओं की फलित-ज्योतिष के विशेष परिच्छेदों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना चाहता था। उच्चारण स्यावबल निश्चित नहीं। अरबी हस्तलेख में सिया-वपल है।

अशुभ कालों पर भट्टिल के विचार

ब्रह्म भट्टिल (?) अपने ज्योतिष-ग्रन्थ में कहता है—

"यहाँ ८ समय हैं, जिनके मापने के मान नियत हैं। यदि सूर्य और चन्द्र के स्फुट स्थानों का योग उनके बराबर हो, तो वे अशुभ हैं। वे ये हैं—

१ वक-घूत (?)। इसका मापन-मान ४ राशियाँ हैं।

२ गण्डान्त। इसका मापन-मान ४ राशियाँ और १३⅓ अंश है।

३ लाट (?), या साधारण व्यतीपात। इसका मापन-मान ६ राशियाँ हैं।

४ वास (?) इसका मापन-मान ६ राशियाँ और ६⅔ अंश है।

५ वहं व्यतीपात भी कहलाता है। इसका मापन-मान ७ राशियाँ और १६⅔ अंश है।

६ कालदण्ड। इसका मापन-मान ८ राशियाँ और १३⅓ अंश है।

७ व्यापात (?) इसका मापन-मान ६ राशियाँ और २३⅓ अंश है।

८ वैधृत। इसका मापन-मान १२ राशियाँ है।"

ये योग विख्यात हैं, परन्तु जिस प्रकार ३ रे और ८ वें का किसी नियम तक पता लगाया जा सकता है वैसे इन सब का नहीं लगाया जा सकता। इसलिए गिरते हुए की कलाओं द्वारा निश्चित उनकी कोई संस्थिति नहीं, केवल साधारण कूत द्वारा ही है। वराहमिहिर के कथन के अनुसार, इस प्रकार व्याक्षात (?) की और वक्षूत (?) की संस्थिति एक मुहूर्त्त है। गण्डान्त की और वहं (?) की संस्थिति दो मुहूर्त्त है।

हिन्दू इस विषय का बहुत लम्बा और बहुत विस्तार के साथ प्रतिपादन करते हैं, परन्तु बिलकुल व्यर्थ। हमने इसका वृत्तान्त उपर्युक्त पुस्तक में दिया है।

करण तिलक के अनुसार सत्ताईस योग

ज्योतिष-ग्रन्थ करण-तिलक सत्ताईस योगों का उल्लेख करता है, जिनका परिसंख्यान आगे लिखे ढङ्ग से किया जाता है—

सूर्य का स्फुट स्थान चन्द्र के स्फुट स्थान में जोड़ो, सारे जोड़ की कालाएँ बनाओ और इस संख्या को ८०० पर भाग दो। भाग-फल पूर्ण योगों को दिखलाता है। अवशेष को ६० से गुणा करो, और गुणन-फल को सूर्य और चन्द्र की भुक्तियों के योग पर भाग दो। भाग-फल दिनों की कलाओं और क्षुद्रतर भग्नांशों को दिखलाता है, अर्थात् वर्तमान योग का वह समय जो बीत चुका है।

हमने योगों के नाम और गुण श्रीपाल से नकल किये हैं और उनको आगे लिखी तालिका में दिखलाते हैं—

अच्छे योग—विष्कम्भ, प्रीति, सौभाग्य शोभन, सुकर्मन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, हर्षण, सिद्धि, शिव, सिद्ध, शुभ, शुक्र, ब्रह्मा, इन्द्र।

मध्यम योग—साध्य।

बुरे योग—राजकम (?), अतिगंड, शूल, गण्ड, व्याघात (?), परिघ, वैधृत, वरीयस, क-न-न-घात (?), वज्र।

अस्सीवाँ परिच्छेद

भारतीय फलित ज्योतिष के नियम

मुसलमानों को अज्ञात भारतीय फलित-ज्योतिष

इन (मुसलिम) देशों में हमारे धर्म-भाई फलित-ज्योतिष की हिन्दू-रीतियों से परिचित नहीं हैं, और उन्हें इस विषय पर किसी भारतीय पुस्तक के अध्ययन का कभी अवसर नहीं मिला। अतएव, वे हिन्दुओं के मुहूर्त्त-ज्योतिप को अपने ज्योतिप जैसा ही समझते हैं। जिन बातों का हमने स्वयं हिन्दुओं में चिन्ह मात्र भी नहीं पाया, वे उनको भारतीय मूल के रूप में सुनाते हैं। क्योंकि अपनी इस पुस्तक के पूर्वभाग में हमने प्रत्येक चीज का कुछ न कुछ लिखा है, इसलिए हम उनके फलित-ज्योतिप के सिद्धान्त का भी उतना लिख देंगे जो पाठकों को उनके साथ इस प्रकार के प्रश्न पर विचार करने में समर्थ कर देगा। यदि हम इसका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन देने लगें, तो यह काम हमें बहुत देर तक रोक रक्खेगा, चाहे हम सब विस्तारों को छोड़कर केवल मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन करने तक ही अपने को परिमित रक्खें।

पहले, पाठकों को जानना चाहिए कि अपने अधिकांश पूर्व चिन्हों में वे केवल पक्षियों की उड़ान से शकुन लेने और सामुद्रिक जैसे साधनों के ही भरोसे रहते हैं, और वे इस पार्थिव जगत् के व्यवहारों के विषय में—जैसा कि उन्हें करना चाहिए—तारों के विपलों (मूल पुस्तक में ऐसा ही है) से सिद्धान्त नहीं निकालते। ये तारे दिव्य मण्डल की परिणति हैं।

ग्रहों के विषय में

ग्रहों की संख्या सात के विषय में हमारे और हिन्दुओं के बीच कोई मत भेद नहीं। वे उनको ग्रह कहते हैं। उनमें से कुछ सदा शुभ हैं, अर्थात बृहस्पति, शुक्र, और चन्द्रमा। ये सौम्य ग्रह कहलाते हैं। दूसरे तीन सदा अशुभ हैं, अर्थात शनि, मङ्गल, और सूर्य। ये क्रूर ग्रह कहलाते हैं। क्रूर ग्रहों में वे राहु को भी गिन लेते हैं, यद्यपि वास्तव में यह तारा नहीं है। एक ग्रह ऐसा है जिसका स्वभाव परिवर्तनीय है और उस ग्रह के स्वभाव पर अवलम्बित है जिसके साथ कि यह संयुक्त है, चाहे यह शुभ हो या अशुभ। यह बुध है किन्तु, अकेला होने पर, यह शुभ है।

आगे दी हुई तालिका सात ग्रहों के स्वभावों और उनके सम्बन्ध में प्रत्येक बात को दिखलाती है—

सूर्य—यह नर प्राणियों को दिखलाने वाला अशुभ ग्रह है। यह दिन के समय पूर्व दिशा में प्रकट होता है। यह गेहुँआ रंग, अयन समय और कड़वे स्वाद को दिखलाता है। वेष और वस्त्र के लिहाज से मोटा वस्त्र और काँसी नामक समग्री और क्षत्रिय तथा अज्ञापक वर्ण को

---

* फलित-ज्योतिप सम्बन्धी इस परिच्छेद की बातें मुख्यतः वराहमिहिर कृत लघुजातकम् से ली गई हैं। इस पुस्तक के पहले और दूसरे परिच्छेदों का अनुवाद ए० वीवर ने और शेप का एच० जकोबी ने किया है। संस्कृत-पाठ में अनुच्छेदों का जो क्रम है उसी पर अलबेरूनी सदा नहीं लगा रहता। विशेप भागों के लिए उसने किसी टीका से लिया जान पड़ता है।

प्रदर्शित करता है। इसका प्रभाव गर्भ के चौथे मास पर पड़ता है, जिसमें हड्डियां कड़ी बनती हैं। यह सत्य पर आश्रित शील है। इसके मित्र ग्रह—बृहस्पति-मंगल, और चन्द्रमा; शत्रु ग्रह-शनि और शुक्र तथा इसका समदर्शीग्रह बुध है। शरीर के अंगों, स्वास और भास्थियों को दिखलाता है। इसके परिणाम का अनुक्रम १ है, षड़ाय के वर्ष १६ हैं तथा नैसर्गिक के वर्ष २० हैं। यह नेम (१) देवता का प्रतीक है।

चन्द्र—यह नारी प्राणियों को दिखलाता है और शुभ है, परन्तु अपने निकटवर्ती ग्रह पर अवलम्बित है। मास के पहिले दस दिनों में मध्यम, दूसरे दिनों में शुभ और अन्तिम दस दिनों में अशुभ है। यह रात्रि के समय उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रकट होता है और श्वेत रंग, मुहूर्त समय, वर्षा ऋतु तथा नमकीन स्वाद को दिखलाता है। यह स्फटिक, तथा नया वस्त्र, अम्बु देव, वैश्य और नायक वर्ण का प्रदर्शक है। गर्भ के पाँचवें मास पर जिसमें त्वचा प्रकट होती है, उसका प्रभाव पड़ता है। यह सत्य पर आश्रित शील है। इसके मित्र ग्रह—सूर्य तथा बृहस्पति, समदर्शी ग्रह—शनि, बृहस्पति, मंगल और शुक्र हैं। इस ग्रह का कोई भी शत्रु ग्रह नहीं हैं। यह शरीर के जिह्वा-मूल और रक्त को दिखलाता है। इसके परिमाण का अनुक्रम २ पडाय के वर्ष २५ और नैसर्गिक के वर्ष १ है।

मंगल—यह अशुभ ग्रह है और अग्नि तत्व को तथा नर प्राणियों को दिखलाता है। यह रात को दक्षिण दिशा में उदित होता है। इसका रंग हलका लाल है और ग्रीष्म ऋतु तथा दिन के समय को दिखलाता है। यह स्वर्ण सामग्री को, जले हुए वस्त्र को, अग्नि देवता को, क्षत्रिय तथा सेनानी वर्ण को, सामवेद को प्रदर्शित करता है। यह गर्भ के दूसरे मास पर जिसमें भ्रूण को दृढिमा प्राप्त होती है, प्रभाव डालता है। यह तमस् शक्ति पर आश्रित शील है। इसके मित्र ग्रह-बृहस्पति, सूर्य और चन्द्रमा, शत्रु ग्रह—बुध और समदर्शी ग्रह-शुक्र और शनि हैं। यह शरीर के मांस और मस्तिष्क नामक अंगों को दिखलाता है। इसके परिमाण का अनुक्रम ६ है। इसके षडाय के वर्ष १५ और नैसर्गिक के वर्ष २ हैं।

बुध—जब यह ग्रह अकेला होता है तो शुभ होता है, अन्यथा अपने निकटवर्ती ग्रह के स्भाव पर यह अवलम्बित है। तत्वों के रूप में पृथ्वी को दिखलाता है। इससे सब स्वादों के मिश्रण का पता लगता है। इसका रंग पिस्तई हरा है। यह वर्ष के छठवें भाग तथा शरद ऋतु को दिखलाता हैं। यह दिन और रात दोनों समय उत्तर दिशा में प्रकट होता है। यह छोटे मोती, पानी से भीगे हुए वस्त्र, ब्रह्मा देव, शूद्र और राजा वर्ण, अथर्वणवेद को दिखलाता है। गर्भ के सातवें मास पर, जिसमें बच्चा पूर्ण हो जाता है और उसको स्मृति मिलती है, प्रभाव डालता है। यह रजस् गुणों से सम्पन्न है। इसका मित्र ग्रह शुक्र व सूर्य, शत्रु ग्रह चन्द्रमा तथा समदर्शी ग्रह मंगल है। यह वाणी और त्वचा को प्रदर्शित करता है। इसके परिमाण का अनुक्रम ५ है। इसके पडाय के वर्ष १२ और नैसर्गिक के वर्ष ६ हैं।

बृहस्पति—यह शुभ ग्रह है और आकश तत्व तथा नर प्राणी को दिखलाता है। यह मीठे स्वाद, मास के समय, हेमन्त ऋतु, स्वर्ण रंग को दिखलाता है और दिन के समय उत्तर-पूर्व दिशा में प्रकट होता है। नये और पुराने वस्त्र, महादेव, ब्राह्मण और मंत्री वर्ण, ऋग्वेद को इंगित करता है। यह चांदी को या यदि तारा मंडल बहुत प्रबल हो तो सोना को दिखलाता है। यह गर्भ के तीसरे मास जिसमें अवयव फैलना आरम्भ करते हैं, पर प्रभाव डालता है। यह सत्य गुण

को प्रदर्शित करने वाला ग्रह और इसके मित्र ग्रह—सूर्य, चन्द्र व मंगल, शत्रु ग्रह—शुक्र बुध, एवं समदर्शी ग्रह शनि है। शरीर के वृद्धि और मेद नामक अंग को यह दिखलाता है। इसके परिमाण का अनुक्रम ४ है, पडाय के वर्ष १५ हैं तथा नैसर्गिक क वर्ष १८ हैं।

शुक्र—यह ग्रह शुभ श्रेणी में आता है और जल तत्व तथा नारी प्राणी को दिखलाता है। यह वसन्त ऋतु, पक्ष अर्थात आधा मास, तथा विविध रंगो को दिखलाता है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच दिन में दिखाई देता है। इससे मोती, सारे वस्त्र, इन्द्र देव, ब्राह्मण तथा मंत्री वर्ण और यर्जुवेद का बोध होता है। वह रजस् गुण वाला है। वह गर्भ के पहिले मास, जिसमें वीर्य और रज का मेल होता है, पर प्रभाव डालता है। इसका अभिप्राय तार्य स भा है। इसके मित्र ग्रह—शनि व बुध, शत्रु ग्रह—सूर्य व चन्द्र और समदर्शी ग्रह—बृहस्पति व मंगल है। इसके परिमाण का अनुक्रम २५ (!), पडाय के वर्ष २१ और नैसर्गिक के वर्ष २० हैं।

शनि—यह ग्रह अशुभ माना जाता है। यह वायु तत्व, काला रंग, समयानुसार वर्ष, शिशिर ऋतु को दिखलाता है तथा रात में पश्चिम दिशा में प्रकट होता है। इसका प्रतीक लोहा तथा जला हुआ वस्त्र है। इसका प्रभाव गर्भ के छठवें मास पर, जब सिर पर बाल आने लगता है, प्रभाव डालता है। यह स्नायुन-मांस और पीड़ा को प्रदर्शित करता है। इसका मित्र ग्रह शुक्र व बुध है। इसका शत्रु-ग्रह मंगल, सूर्य व चन्द्रमा तथा समदर्शी ग्रह बृहस्पति है। इसके परिणाम का अनुक्रम ७, पड़ाय के वर्ष २० तथा नैसर्गिक के वस्त्र ५० हैं।

इस तालिका का जो स्तम्भ ग्रहों के परिमाण और शक्ति के क्रम को दिखलाता है, वह आगे लिखे काम देता है—कभी-कभी दो ग्रह ठीक एक ही चीज को दिखलाते, एक ही प्रभाव डालते, और प्रस्तुत वृत्त से एक ही सम्बन्धी रखते हैं। इस अवस्था में उस ग्रह को अच्छा समझा जाता है जो, प्रस्तुत स्तम्भ में, दोनों में से बड़ा या अधिक बलवान बताया गया है।

गर्भ के मास

गर्भ के मासों से सम्बन्ध रखनेवाले स्तम्भ को इस टिप्पणी से पूर्ण कर दिया जाता है कि वे आठवें मास को जन्मपात्रिका के प्रभावाधीन समझते हैं जिससे गर्भपात हो जाता है। उनके अनुसार, भ्रूण, इस मास में, भोजन के सूक्ष्म सारों को ग्रहण करता है। यदि उसका जन्म उन सबको ग्रहण करने के पश्चात होता है, तो वह जीवित रहता है, परन्तु यदि वह उसके पूर्व ही जन्म ले लेता है, वह अपनी बनावट में किसी कमी के कारण मर जाता है। नवां मास चन्द्रमा के प्रभाव के अधीन, और दसवां सूर्य के प्रभाव के अधीन होता है। वे गर्भ की इससे अधिक लम्बी संस्थिति की बात नहीं करते, परन्तु यदि वह दैवयोग से इससे लम्बी हो जाय, तो उनका विश्वास है कि, इस काल में, वायु द्वारा कोई अपक्रिया होती है। गर्भपात को जन्मपत्रिका के समय, जिसका निश्चय वे गणना द्वारा नहीं, ऐतिह्य द्वारा करते हैं, वे ग्रहों की दशाओं और प्रभावों का पर्यवेक्षण करते और जैसे यह या वह ग्रह दैवयोग से प्रस्तुत मास का अधिष्ठाता हो उसके अनुसार वे अपनी व्यवस्था देते हैं।

ग्रहों के एक दूसरे से मैत्र्य और शत्रुता, तथा भवन-स्वामी के प्रभाव का प्रश्न, उनकी फलित ज्योतिष में महत्व का है। कभी कभी ऐसा हो सकता है कि, समय के किसी विशेष निमेष में, यह

स्वामित्व अपने मूल गुण को सर्वथा खो बैठे। आगे चलकर हम और उसके अकेले-अकेले वर्षों के परिसंख्यान के सम्बन्ध में एक नियम देंगे।

राशियाँ

न तो क्रान्तिमण्डल की राशियों की संख्या के रूप में संख्या बारह के विषय में, और न उस रीति के विषय में जिसमें ग्रहों का स्वामित्व उन पर बाँटा गया है, हममें और हिन्दुओं में कोई भेद है।

समग्र रूप से प्रत्येक राशि के विशेष गुण क्या-क्या हैं, यह आगे लिखी तालिका दिखलाती हैं—

मेष—इसका एवं इसके मूलात्रकोण का स्वामी मंगल है। इसकी ऊँचाई सूर्य एवं १० अंश है। यह नर श्रेणी की अशुभ राशि है। इसका रंग रक्त वर्ण है। यह घूमता हुआ शुद्ध पूर्व में भूमि पर फैला हुआ रात को उदित होता है। यह शरीर के सिर अंग को, वसंत ऋतु, मेंढा के आकार के चतुष्पद प्राणी को दिखलाता है। इसके प्रबलतम प्रभाव का समय रात्रि है।

वृषभ—इसका स्वामी शुक्र और मूलात्रकोण का स्वामी चन्द्र है। इसकी ऊँचाई ३ अंश से चन्द्र तक है। यह नारी जाति की अशुभ राशि है। रात को ठहरे हुए श्वेत रंग के शरीर में दक्षिण-दक्षिण-पूर्व में भूमि पर फैला हुआ सा दिखलाई पड़ता है। यह शरीर के मुख अंग को, ग्रीष्म ऋतु को तथा बैल के आकार के चतुष्पद प्राणी को प्रदर्शित करती है। इसके प्रभाव का प्रबलतम समय रात्रि है।

मिथुन—इसका स्वामी बुध, जाति नर, लक्षण शुभ और रंग हरा है। यह पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम दिशा में रात को पार्श्व पर लेटी हुई एकसाथ घूमती और ठहरी हुई सी दिखाई पड़ती है। यह शरीर के कंधे व हाथ और ग्रीष्म ऋतु को दिखलाती है। यह हाथ में वीणा और गदा लिये हुये एक द्विपदीय मनुष्य सरीखी प्रतीत होती है। इसका प्रभाव समय दिन है।

कर्क—इसका स्वामी चन्द्र है और इसकी ऊँचाई ब्रहस्पति तक है। कुछ पीत वर्ण लिये नारी जाति की यह शुभ राशि है। रात्रि को उत्तर-उत्तर-पश्चिम दिशा में भूमि पर लेटी हुई सी घूमती हुई दिखाई पड़ती है। यह छाती को दिखलाती है और वर्षा ऋतु से इसका अभिप्राय है। यह केकड़े के आकार के उभय प्राणी को इंगित करती है। इसके प्रबलतम प्रभाव का समय संधि है।

सिंह—इसका और इसके मूलात्रकोण का स्वामी सूर्य है। धूसर रंग की नर जाति कि यह अशुभ राशि है। दिन में, पूर्व-उत्तर-पूर्व दिशा में सीधी खड़ी हुई ठहरी सी यह दिखाई देती है। शरीर के पेट अंग को तथा वर्षा ऋतु को यह दिखलाती है। यह राशि सिंह के आकार की चतुष्पद प्राणी के सदृश प्रतीत होती है। इसके प्रबलतल प्रभाव का समय रात्रि है।

कन्या—इसका स्वामी बुध और ऊँचाई १५ अंश है। अनेक रंगों वाली नारी जाति की यह शुभ राशि है। दिन के समय, सीधी खड़ी हुई, एक साथ घूमती हुई तथा ठहरती हुई सी ठीक दक्षिण दिशा में यह दिखाई देती है। शरद ऋतु एवं शरीर के नितम्ब अंग को यह इंगित करती है। हाथ में अनाज की एक बाल लिये एक लड़की के सदृश द्विपदी प्राणी सी यह प्रतीत होती है। इसके प्रबलतम प्रभाव का समय दिन है।

तुला—इसका स्वामी शुक्र है और मूलात्रकोण का स्वामी भी शुक्र ही है। इसकी ऊँचाई २० अंश और शनि तक है। काले रंग की नर जाति की यह अशुभ राशि है। यह दिन में ठीक पश्चिम दिशा में सीधी खड़ी हुई घूमती सी प्रतीत होती है। यह नाभि के नीचे के भाग को तथा शरद ऋतु को दिखलाती है। इसका आकार तराजू सा मालूम देता है और इसके प्रबलताम प्रभाव का समय दिन है।

वृश्चिक—बिच्छू के आकार वाली उभयचर प्राणी के सदृश यह राशि है। यह हेमन्त ऋतु और नर एवं नारी की जननेन्द्रिय को प्रदर्शित करती है। सुनहले रंग की नारी जाति की शुभ गुणों वाली यह राशि दिन के समय ठीक उत्तर में सीधी खड़ी हुई ठहरी सी प्रतीत होती हैं। इसका स्वामी मंगल है और इसके प्रभाव का प्रबलतम समय दिन है।

धनु—इसके और इसके मूलात्रकोण का स्वामी बृहस्पति है। यह नर जाति की कटि अंग तथा हेमन्त ऋतुको इंगति करने वाली अशुभ राशि है। यह रात्रि को पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में भूमि पर लेटी हुई सी एक साथ घूमती हुई और ठहरी हुई दिखाई देती है। इसका आकार एक घोड़ा जिसका सिर और ऊपर का अर्धभाग मनुष्य का सा है। इस तरह यह चतुष्पदी एंव द्वीपदी दोनो है। इसके प्रबलतम प्रभाव के समय के लिये मानुषी भाग दिन में और दूसरा भाग रात में प्रबल है।

मकर—इसका स्वामी शनि है तथा ऊँचाई मंगल एवं २८ अंश है। नारी जाति की काली और सफेद धारियों के रंग की यह शुभ राशि है। यह रात को दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम दिशा में भूमि पर लेटा हुआ सा घूमता हुआ दिखाई देती है। शरीर के घुटने के अंग को तथा शिशिर ऋतु को यह दिखलाती है। यह बकरी के सिर वाले प्राणी जिसके आकार में जल बहुत है, के सदृश दिखाई देती है। इसका पहिला आधा भाग द्विपदी और दूसरा आधा भाग जलमय है। इसके प्रबलतम प्रभाव का समय संधि में है।

कुम्भ—इसके मूलात्रकोण का स्वामी शनि है। यह भूरे रंग की नर जाति की अशुम राशि है। यह दिन में पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में सीधी खड़ी हुई ठहरी हुई सी दिखाई देती है। यह शरीर के पिंडलियें और शिशिर ऋतु को दिखलाती है। इसका आकार एक प्रकार के बजरे या नाव की तरह का है। इसका पहिला आधा एक द्विपदि; दूसरा आधा जलमय या सारा एक मनुष्य प्राणी सा है। भिन्न-भिन्न प्रकारों के अनुसार उनके प्रबलतम प्रभाव का समय, मानुषी भाग दिन में और दूसरा रात को है।

मीन—इसका स्वामी बृहस्पति है और इसकी ऊँचाई २७ अंश तथा शुक्र तक है। धूलि के वर्ण की नारी जाति की यह शुभ राशि है। यह दिन में उत्तर-उत्तर-पूर्व में सीधी खड़ी हुई सी एक साथ ठहरी और घूमती हुई सी प्रतीत होती है। यह शरीर के दोनों पैर और वसन्त ऋतु को दिखलाती है। इसका आकार दोनों मछलियों की तरह है। यह जलमय प्राणी सी प्रतीत होती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारों के अनुसार इसके प्रबलतम प्रभाव का समय संधि है।

फलित ज्योतिष की कुछ परिभाषाओं की व्याख्या

ग्रह की उच्चता या ऊँचाई, भारतीय भाषा में, उच्चस्थ, और इसका विशेष अंश परमोच्चस्थ कहलाता है। ग्रह की गहराई या नीच स्थान नीचस्थ, और इसका विशेष अंश परमनीचस्थ

कहलाता है। मूल त्रिकोण एक प्रबल प्रभाव है, जो किसी ग्रह के साथ आरोपित किया जाता है जब वह अपने दो घरों में से एक में हर्ष में होता है।

जैसे हमारी रीति है, वैसे वे त्रिकोण दृष्टि का सम्बन्ध तत्वों और प्रारम्भिक स्वभावों के साथ नहीं करते, परन्तु वे, जैसा कि तालिका में अलग अलग दिखलाया गया है, उनका लगाव प्रायः दिङ्मण्डल को दिशाओं के साथ करते हैं।

वे घूमती हुई राशि को चरराशि, अर्थात चलती हुई, खड़ी को स्थिरराशि अर्थात ठहरी हुई, और दुहरे शरीरवाली को द्विस्वभाव, अर्थात दोनों इकट्ठी कहते हैं।

भवन

क्योंकि हमने राशियों की तालिका दी है, इसलिए आगे हम भवनों की एक तालिका देते हैं, जिसमें उनमें से प्रत्येक के गुण दिखलाये गये हैं।

उनमें से आधे जो पृथ्वी से ऊपर हैं छत्र, अर्थात छोटे छाते कहलाते हैं, और पृथ्वी के नीचे के आधों को वे नौ, अर्थात जहाज कहते हैं। फिर, वे उन आधों को जो ऊपर को चढ़ते हुए आकाश के मध्य में जाते हैं और दूसरे आधों को जो नीचे उतरते हुए पृथ्वी की चूल तक जाते हैं, धनु, अर्थात धनुष कहते हैं। चूलों को वे केन्द्र, अगले भवनों को पणफर, और झुके हुए भवनों को आपोल्किम कहते हैं—

दिगमंडल के अनुसार नौ अर्थात जहाज प्रकार के भवन जो मध्याह्न की छाया के अनुसार चढ़ते हुए धनु की श्रेणी में विभक्त हैं, के गुण इस प्रकार हैं।:—

१—ये सिर और आत्मा को दिखलाते हैं। लग्न की दृष्टि से गणना के आधार हैं। मानुषी राशियाँ तथा बुध और बृहस्पति दोनों ग्रह इस पर प्रभाव डालते हैं।

२—यह दोनों लग्न की दृष्टि में आधार है तथा सुख और सम्पत्ति को दिखलाता है।

३—यह दोनों बाँहें तथा भाई को दिखलाता है। यह लग्न की ओर देखता है तथा लग्न इसकी ओर नहीं देखता।

४—यह हृदय, माता-पिता, मित्र, घर और उल्लास दिखलाता है। यह दोनों लग्न की दृष्टि में आधार है। इस पर जलमय राशियाँ तथा शुक्र और चन्द्र ग्रह प्रभाव डालते हैं।

५—यह दोनों लग्न की दृष्टि में आधार है तथा पेट, बच्चा और कौशल को दिखलाता है।

६—यह दो पार्श्व, शत्रु और सवारी के जन्तु को दिखलाता है। तथा यह लग्न की ओर देखता है, परन्तु लग्न इसकी ओर नहीं देखता।

दिगमंडल के अनुसार छत्र प्रकार के भवन जो उतरते हुये धनु की श्रेणी में विभक्त हैं। इनके गुण इस प्रकार हैं:—

७—नाभी के नीचे और स्त्री जाति को दिखलाते हैं और आधार स्वरूप ये दोनों लग्न की दृष्टि में हैं। शनि ग्रह इस पर अधिक प्रभाव डालता है। भवन के अशुभ वर्षों में से ६ वां भाग तथा शुभ वर्षों में से १२ वां घटाना है।

८—यह प्रत्यागमन और मृत्यु को दिखलाता है। यह लग्न को ओर देखता है परन्तु लग्न इसकी ओर नहीं देखता। भवन के अशुभ वर्षों में से ५ वां भाग तथा शुभ वर्षों में से १० वां भाग घटाना है।

६—ये दोनों नितम्ब, यात्रा और ऋण को दिखलाते हैं। दोनों लग्न की दृष्टि में ये आधार है। भवन के अशुभ वर्षों में से चौथा भाग तथा शुभ वर्षों में से आठवां भाग घटाना है।

दिगमंडल के अनुसार छत्र प्रकार के भवन जो चढ़ते हुए धनु की श्रेणी में विभक्त हैं। इनके गुण इस प्रकार हैं। :—

१०—ये दोनों घुटने और क्रिया को दिखलाता है यह दोनों लग्न की दृष्टि में आधार है। इस पर चतुष्पदी राशि एवं मंगल ग्रह अधिक प्रभाव डालता है। भवन के अशुभ वर्षों में तिहाई तथा शुभ वर्षों में से चौथाई भाग घटाना है।

११—यह दोनों पिंडलियों और आय को दिखलाता है तथा यह लग्न की ओर देखता है परन्तु लग्न इसकी ओर नहीं देखता। भवन के अशुभ वर्षों में से आधा भाग तथा शुभ वर्षों में से चौथाई भाग घटाना है।

१२—यह दोनों पैर और व्यय को दिखलाता है। आधार स्वरूप यह दोनों लग्न की दृष्टि में नहीं है। भवन के अशुभ वर्षों में से सम्पूर्ण तथा शुभ वर्षों में से आधा घटाना है।

अब तक जिन ब्योरों का उल्लेख हुआ है वे वास्तव में हिन्दू फलित-ज्योतिष की प्रधान बातें हैं, अर्थात ग्रह, राशियां, और भवन। इनमें से प्रत्येक का क्या अर्थ है और उससे क्या शकुन निकलता है, जो यह मालूम करना जनाता है, वह एक चतुर पारदर्शी को और इस विद्या में पारंगत की उपाधि का अधिकारी है।

एक राशि के नीमवहरों में विभाग

इसके आगे राशियों की क्षुद्रतर भागों में बांट आती है, पहले नीमवहरों में, जो होरा, अर्थात घण्टे कहलाते हैं; क्योंकि आधी राशि लगभग एक घंटे के समय में उदय होती है। प्रत्येक नर राशि का पूर्वार्द्ध, सूर्य के प्रभावाधीन होने से, अशुभ है, क्योंकि वह नर प्राणी उत्पन्न करता है; और उत्तरार्द्ध, चन्द्रमा के प्रभावाधीन होने से, शुभ है, क्योंकि वह नारी-प्राणी उत्पन्न करता है। इसके विपरीत, नारी राशियों में पूर्वार्द्ध शुभ होता है, और उत्तरार्द्ध अशुभ।

फिर, द्रेक्काण नाम के त्रिभुज हैं। उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे हमारी पद्धति के नाम-मात्र द्रैजानात से अभिन्न मात्र हैं।

फिर, नुहवहरात (फारसी, "नौ भाग"), जो नवांशक कहलाते हैं। क्योंकि फलित-ज्योतिष की विद्या की प्रस्तावना की हमारी पुस्तकें उनके दो प्रकारों का उल्लेख करती हैं, इसलिए हम यहां भारत-प्रेमियों को जानकारी के लिए उनके विषय में हिन्दू कल्पना की व्याख्या करते हैं। तुम राशि के ०° और उस कला के बीच के अन्तर की, जिसका नुहवहर तुम मालूम करना चाहते हो, कलाएं बनाते हो, और उस संख्या को २०० पर भाग-फल चरराशि से आरम्भ करके, जो प्रस्तुत राशि के त्रिकोण में है, पूर्ण नुहवहरों या नवांशों को दिखलाता है; तुम क्रमागत राशियों पर संख्या गिन लेते हो, जिससे एक राशि एक नुहवहर के अनुरूप होती है। जो राशि नवांशों में से उस अन्तिम के अनुरूप है जो तुम्हारे पास है वह उस नुहवहर की स्वामी है जिसको हम मालूम करना चाहते हैं।

प्रत्येक चरराशि का पहला नुहवहर, प्रत्येक स्थिरराशि का पांचवां, और प्रत्येक द्विस्वभाव का नवां वर्गोत्तम, अर्थात महत्तम भाग कहलाता है।

फिर, वारहवें भाग, जो वारह शासक कहलाते हैं, राशि के भीतर किसी नियत स्थान के लिए इस रीति से मालूम किये जाते हैं—राशि के ०, और प्रस्तुत स्थान के बीच के अन्तर की कलाएँ बनाओ, और उस संख्या को १५० पर भाग दो। भाग-फल पूर्ण वारहवें भागों को दिखलाता है, जिनको तुम, प्रस्तुत राशि से आरम्भ करके, अगली राशियों पर गिन लेते हो, जिससे एक वारहवाँ भाग एक राशि के अनुरूप होता है। उस राशि का स्वामी, जिसके अनुरूप कि अन्तिम वारहवाँ भाग है, साथ ही प्रस्तुत स्थान के वारहवें भाग का स्वामी है।

इसके अतिरिक्त, त्रिंशांशक नाम के अंश, तर्थात तीस अंश, जो हमारी सीमाओं के समान हैं। उनका क्रम यह है, प्रत्येक नर राशि के पहले पाँच अंश मंगल के, उनसे अगले पाँच शनि के, उनसे अगले आठ बृहस्पति के, उनसे अगले सात बुध के, और अन्तिम पाँच शुक्र के हैं। नारी राशियों में क्रम ठीक इसके विपरीत हो जाता है, अर्थात पहले पाँच अंश शुक्र के, अगले सात बुध के, अगले आठ बृहस्पति के, अगले पाँच शनि के, और अन्तिम पाँच बुध के हैं।

ये वे मूल तत्त्व हैं जिन पर प्रत्येक फलित-ज्योतिष-सम्बन्धी गणना अवलम्बित है।

दृष्टियों के भिन्न-भिन्न प्रकार

प्रत्येक राशि की दशा का स्वभाव उस लग्न के स्वभाव पर अवलम्बित है जो किसी दिये हुए समय में दिङ्मंडल पर उदय होता है। दृष्टियों के विषय में उनका नियम यह है—एक राशि दो राशियों, एक उससे बिलकुल पहली और दूसरी उससे बिलकुल अगली, को नहीं देखती, अर्थात उन पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ती। इसके विपरीत, राशियों का प्रत्येक ऐसा जोड़ा, जिनके आरम्भ एक दूसरे से वृत्त की एक चौथाई, या एक तिहाई, या आधा भाग दूर है, एक दूसरे की दृष्टि में ठहरते हैं (अर्थात एक दूसरे को देख पड़ते हैं)। यदि दो राशियों के बीच का अन्तर वृत्त का छठवाँ अंश हो, तो इस दृष्टि को बनानेवाली राशियों की गिनती उनके मूल क्रम में की जाती है; परन्तु यदि यह अन्तर वृत्त का पाँच-वारहवाँ भाग हो, तो दृष्टि को बनानेवाली राशियों की गिनती विपर्यस्त क्रम से होती है। दृष्टियों की विविध मात्राएँ हैं, जैसे—

किसी राशि और उससे अगली चौथी या ग्यारहवीं राशि के बीच की दृष्टि-दृष्टि का चौथा-भाग है;

किसी राशि और उससे अगली पाँचवीं या नवीं राशि की दृष्टि, आधी दृष्टि है;

किसी राशि और उससे अगली छठवीं या दसवीं राशि के बीच की दृष्टि तीन-चौथाई दृष्टि है;

किसी राशि और उससे अगली सातवीं राशि के बीच की दृष्टि पूर्णदृष्टि है।

हिन्दू ऐसे दो ग्रहों के बीच की दृष्टि का उल्लेख नहीं करते जो दोनों एक ही राशि में ठहरे हुए हों।

विशेष ग्रहों की मित्रता और शत्रुता

एक दूसरे के विषय में अकेले-अकेले ग्रहों की मित्रता और शत्रुता के बीच परिवर्तन के सम्बन्ध में, हिन्दुओं के पास यह नियम है—

यदि कोई ग्रह ऐसी राशियों में आ ठहरता है जो, इसके उदय होने के सम्बन्ध में, दसवीं, ग्यरहवीं, वारहवीं, पहली, दूसरी, तीसरी, और चौथी राशियाँ हैं, तो इसका स्वभाव बदलकर

अच्छा हो जाता है। यदि यह अतीव विरोधी है, तो यह मध्यम हो जाता है; यदि यह मध्यम है, तो यह मित्र हो जाता है; यदि यह मित्र है, तो यह अतीव मित्र वन जाता है। यदि ग्रह दूसरी सब राशियों में आ ठहरता है, तो इसका स्वभाव वदलकर बुरा हो जाता है। यदि आदि में यह मित्र हो तो यह समवृत्ति वन जाता है; यदि यह समवृत्ति हो, तो यह विरोधी हो जाता है; यदि यह विरोधी हो, तो यह और भी बुरा वन जाता है। एसी अवस्थाओं में, ग्रह का स्वभाव वर्तमान समय के लिए नैमितिक होता है, जो अपने को उसके मूल स्वभाव के साथ मिला देता है।

प्रत्येक ग्रह की चार शक्तियाँ

इन वातों की व्याख्या कर चुकने के अनन्तर, अव हम उन चार वातों का उल्लेख करते हैं जो प्रत्येक ग्रह के लिए विशिष्ट हैं—

१. स्वाभाविक शक्ति, जो स्थानवल कहलाती है, जिसका उपयोग ग्रह उस समय करता है, जव वह अपने उन्नतांश, अपने भवन, या अपने मित्र के घर, या अपने भवन के नुहवहर में, उसके उन्नतांस में या उसके मूलत्रिकोण, अर्थात् शुभ ग्रहों की पंक्ति में होता है। यह वल सूर्य और चन्द्र के लिए उस समय निजी होता है जव वे शुभ राशियों में होते हैं, जैसा कि यह दूसरे ग्रहों के लिए तव निजी होता है, जव वे अशुभ राशियों में होते हैं। विशेषतः यह वल चन्द्रमा के लिए उसके परिवर्तनकाल के पहले तृतीय में स्वाभाविक होता है, जव कि यह प्रत्येक ऐसे ग्रह को सहायता देता है जो वही बल प्राप्त करने के लिए इसके सामने, ठहरा होता है। अन्ततः, यह लग्न के लिए स्वभाविक है, यदि वह द्विपद को दिखलानेवाली कोई राशि हो।

२. वह शक्ति जो दृष्टिवल, अर्थात पार्श्विक वल, और दृग्वल भी, कहलाती है, जिसको ग्रह उस समय उपयोग में लाता है जव वह केन्द्र में खड़ा होता है जिसमें कि यह प्रवल होता है, और, कुछ लोगों के मतानुसार, उस समय भी जव वह केन्द्र (कील) के विलकुल पहले और पीछे दो भवनों में होता है। लग्न के लिए यह, यदि वह द्विपद को दिखलानेवाली राशि हो, तो दिन में, और यदि वह चतुष्पद राशि हो, तो रात को, और दूसरी राशियों की दोनों संधियों (आदि और अन्त में संध्या की अवधियों) में निजी होता है। इसका सम्बन्ध विशेष रूप से जन्मपत्रिकाओं के फलित-ज्योतिप से है। फलित-ज्योतिप के दूसरे भागों में, जैसा कि वे कहते हैं, यह वल दसवीं राशि के लिए, यदि वह चतुष्पद को दिखलाती है, सातवीं राशि के लिए, यदि वह वृश्चिक या कर्क है, और चौथी राशि के लिए, यदि वह कुम्भ या कर्क है, निजी है।

३. जीतनेवाली शक्ति, जो चेष्टावल कहलाती है, जिसका प्रयोग ग्रह उस समय करता है जव वह प्रतीप गति में होता है, जव वह छिपाव से निकलकर दृश्य तारे के रूप में चार राशियों के अन्त तक कूच करता है, और जव उत्तर में शुक्र के सिवा और किसी ग्रह से इसका मिलाप होता है। क्योंकि शुक्र के लिए दक्षिण वैसा ही है जैसा कि दूसरे ग्रहों के लिए उत्तर। यदि दो (—? वाचनाक्षम) इस (दक्षिण) में ठहरें, तो उनके लिए यह वात विशिष्ट है कि वे, कर्कसंक्रान्ति की ओर चलते हुए, (सूर्य के वार्षिक भ्रमण के) चढ़ते हुए अर्द्ध में ठहरते हैं, और चन्द्रमा विशेष रूप से—सिवा सूर्य के—दूसरे ग्रहों के निकट ठहरता है, जो उसको थोड़ा सा यह वल देते हैं।

फिर, यह वल लग्न के लिए विशिष्ट होता है, यदि उसका स्वामी उसमें हो, यदि दोनों वृहस्पति और बुध को देखते हों, (अर्थात आमने-सामने हों) यदि लग्न पर अशुभ ग्रहों की दृष्टि न पड़ती हो, और उनमें से कोई भी—सिवा स्वामी के—लग्न में न हो। क्योंकि यदि इसमें कोई.

अशुभ ग्रह है, तो यह बृहस्पति और बुध की दृष्टि को निर्बल कर देता है, जिससे इस बल में उनका वास उसके प्रभाव को खो बैठता है।

४. चौथी शक्ति कालबल, अर्थात ऐहिक शक्ति है, जिसका प्रयोग दैनिक ग्रह दिन में, नैश ग्रह रात में करते हैं। यह बुध को इसके परिमाण की सन्धि में विशिष्ट है, जब कि दूसरे कहते हैं कि बुध में ग्रह बल सदा रहता है, क्योंकि उसका दिन और रात दोनों के साथ एक सा सम्बन्ध है।

फिर, यह बल शुभ ग्रहों को शुक्ल पक्ष में, और अशुभ ग्रहों को कृष्ण पक्ष में स्वाभाविक है। लग्न को यह सदा विशिष्ट है।

दूसरे गणक भी जिन अवस्थाओं में इन चार बलों में से कोई एक किसी ग्रह को विशिष्ट होता है, उनमें वर्षों, मासों, दिनों, और घंटों का उल्लेख करते हैं।

अब ये ही बल हैं जिनकी गणना ग्रहों के लिए और लग्न के लिए की जाती है। यदि अनेक ग्रहों में से प्रत्येक में अनेक बल हों, तो प्रबल वह है जिसमें सबसे अधिक हों। यदि दो ग्रहो में बलों की संख्या एक सी हो, तो प्रबलता उसकी है जिसका आयतन नैसर्गिक बल कहलाता है। यह आयतन या बल में ग्रहों का क्रम है।

जीवन के वर्ष

मध्यम वर्ष जिनका ग्रहों के लिए परिसंख्यान किया जाता है तीन भिन्न-भिन्न प्रकारों के हैं, जिनमें से दो का परिसंख्यान उन्नतांश से दूरी के अनुसार किया जाता है। पहले और दूसरे प्रकार के मापों को हमने अगली पंक्तियों में दिखलाया है।

षडाय और नैसर्गिक उन्नतांश के अंश गिने जाते हैं जब सूर्य के उपर्युक्त बल चन्द्रमा और लग्न के बलों से पृथक्-पृथक् रूप से अधिक होते है, तब पहले प्रकार का परिसंख्यान होता है। यदि चन्द्रमा के बल सूर्य के और लग्न के बलों से बढ़ जाते है, तो दूसरे प्रकार का परिसंख्यान किया जाता है।

पहला प्रकार

तीसरा प्रकार अंशाय कहलाता है, और इसका परिसंख्यान तब होता है, जब लग्न के बल सूर्य और चन्द्र के बलों से प्रबल हो। प्रत्येक वर्ष के लिए, यदि वह अपने उन्नतांश के अंशों में ठहरा हुआ न हो, पहले प्रकार के वर्षों का परिसंख्यान यह है--

तुम ग्रह के उन्नतांश के अंश से उसकी दूरी लेते हो यदि यह दूरी छः राशियों से अधिक हो, या, जिस अवस्था में यह छः राशियों से कम हो, इस दूरी और बारह राशियों के बीच का अन्तर लेते हो। इस संख्या को, पीछे परिसंख्यान किये हुए वर्षों की संख्या से गुणा किया जाता है। इस प्रकार राशियों के इकट्ठी होकर मास, अंशों के दिन, कलाओं की दिन-कला हो जाती हैं, और इन मूल्यों को बदल दिया जाता है, प्रत्येक साठ कलाओं को एक दिन में, प्रत्येक तीस दिनों को एक मास में, और प्रत्येक बारह मासो को एक वर्ष में। लग्न के लिए इन वर्षों का परिसंख्यान यह है—

मेष के ०° से तारे के अंश का अन्तर लो, प्रत्येक राशि के लिए एक वर्ष, प्रत्येक अढ़ाई अंशों के लिए एक मास, प्रत्येक पांच कलाओं के लिए एक दिन, प्रत्येक पाँच विपलों के लिए एक दिन-कला।

दूसरा प्रकार

ग्रहों के लिए दूसरे प्रकार के वर्षों का परिसंख्यान यह है— अभी लिखे नियम के अनुसार ग्रह के उन्नतांश के अंशों से इसकी दूरी लो। इस संख्या को तालिका द्वारा दिखलाई गई वर्षों की अनुरूप संख्या से गुणा किया जाता है, और परिसंख्यान का अवशिष्टांश उसी रीति से चलता है जिस तरह कि पहले प्रकार की अवस्था में।

वर्षों के इस प्रकार का परिसंख्यान लग्न के लिए यह है—मेष के ०° से इसके अंश की दूरी लो, प्रत्येक नुहवहर के लिए एक वर्ष, मास और दिन, इत्यादि, उसी रीति से जैसा कि पूर्ववर्ती परिसंख्यान में। जो संख्या तुम्हें प्राप्त होती है उसको १२ पर भाग दिया जाता है, और अवशेष १२ से कम होने के कारण, लग्न के वर्षों की संख्या को दिखलाता है।

तीसरा प्रकार

तीसरे प्रकार के वर्षों का परिसंख्यान ग्रहों के लिए वही है जो लग्न के लिए हैं, और दूसरे प्रकार के लग्न के वर्षों के परिसंख्यान के सदृश है। वह यह है—

मेष के ०° से तारे की दूरी लो, प्रत्येक नुहवहर के लिए एक वर्ष, और सारी दूरी को १०८ से गुणा करो। तब राशियाँ इकट्ठी होकर मास, अंश-दिन, कलाएँ दिन-कला बन जाती हैं। छोटे मानों को बड़े मानों में बदल दिया जाता है। वर्षों को १२ पर भाग दिया जाता है, और इस भजन से जो अवशेष प्राप्त होता है वह उन वर्षों की संख्या है जिनको तुम मालूम करना चाहते हो।

इस प्रकार के सभी वर्ष आयुर्दाय के सामान्य नाम से पुकारे जाते हैं। समीकरण होने के पूर्व वे मध्यमाय कहलाते हैं, और इसमें से लांघ जाने के पश्चात वे स्फुटाय, अर्थात संशोधित कहलाते हैं।

तीनों प्रकारों में लग्न के वर्ष स्फुटाय हैं, जिनको दो प्रकार के वियोजन द्वारा समीकरण का प्रयोजन नहीं, एक तो ईथर में लग्न की स्थिति के अनुसार, और दूसरा दिग्मण्डल के सम्बन्ध में इसकी स्थिति के अनुसार।

जीवन की संस्थिति के लिये विविध परिसंख्यान

तीसरे प्रकार के वर्षों के लिए संयोजन के द्वारा एक समीकरण विशिष्ट है, जो सदा एक ही रीति से चलती है। वह यह है—

यदि ग्रह अपने विशालतम खण्ड में या अपने भवन, अपने भवन के द्रेक्काण या अपने उन्नतांश के द्रेक्काण में, अपने भवन के नुहवहर या उसके उन्नतांश के नुहवहर में, या, साथ ही, इन स्थितियों में से अधिकांश में एक साथ ठहरे, तो उसके वर्ष वर्षों की मध्यम संख्या से दुगने होंगे। परन्तु यदि ग्रह प्रतीप गति में या अपने उन्नतांश में, या एक साथ दोनों में हो, तो इसके वर्ष वर्षों की मध्यम संख्या से तिगुने हैं।

पहली रीति के अनुसार पहिले दिये हुए वियोजन के द्वारा समीकरण के विषय में, हम देखते हैं कि उस ग्रह के वर्ष, जो अपने निम्नांश में है, यदि वे पहले या दूसरे प्रकार के हों, तो

आधे कर दिये जाते हैं। ग्रह का अपने विरोधी के घर में होना उसके वर्षों की संख्या को नहीं घटाता।

जिस ग्रह को सूर्य की किरणों ने छिपा लिया है और प्रभाव डालने से रोक दिया है उसके वर्ष तीनों प्रकार के वर्षों की अवस्था में घटाकर आधे कर दिये जाते हैं। केवल शुक्र और शनि ही इसके अपवाद हैं, क्योंकि सूर्य की किरणों के उनको छिपा लेने से किसी प्रकार उनके वर्षों की संख्याएँ नहीं घटतीं।

दूसरी पद्धति के अनुसार वियोजन के द्वारा समीकरण के विषय में, हमने पहले ही तालिका के आगे ही में बता दिया है कि अशुभ और शुभ तारों में से, जब वे पृथ्वी के ऊपर भवनों में होते हैं, कितना व्यवकलित किया जाता है। यदि दो या अधिक ग्रह एक भवन में एक साथ आ जायँ, तो तुम परीक्षा करो कि उनमें से कौन सा बड़ा और प्रबल है। व्यवकलन प्रबल ग्रह के वर्षों में जोड़ दिया जाता है और अवशेष वैसे छोड़ दिया जाता है।

यदि किसी अकेले ग्रह के वर्षों —तीसरे प्रकार के वर्षों—में भिन्न-भिन्न पार्श्वों से दो संयोजन किये जायँ, तो केवल एक ही संयोजन, अर्थात जो दोनों में से लम्बा है, हिसाब में लिया जाता है। जब दो व्यवकलन करने हों तब भी यही अवस्था होती है। किन्तु, यदि एक संयोजन और एक वियोजन करना हो, तो तुम एक पहले और दूसरा पीछे करते हो, क्योंकि इस दशा में अनुक्रम भिन्न होता है।

इन रीतियों से वर्ष व्यवस्थित हो जाते हैं, और उनका जोड़ उस मनुष्य के जीवन की संस्थिति है जो प्रस्तुत निमेष में उत्पन्न हुआ है।

जीवन की परिसंख्यान के अकेले अकेले तत्व

अब हमारे लिए अवधियों (मूल पुस्तक में ऐसा ही लिखा है) के विषय में हिन्दुओं की रीति की व्याख्या करना शेष है। जीवन उपर्युक्त तीन प्रकार के वर्षों में, और जन्म के तत्काल पश्चात सूर्य और चन्द्र के वर्षों में विभक्त है। वह वर्ष प्रबल है जिसमें सबसे अधिक शक्तियाँ और बल है; यदि वे एक दूसरे के बराबर हों, तो उसका प्रभाव अधिक है जिसका अपने स्थान में सबमें बड़ा भाग (मूल में ऐसा ही लिखा है) है, तब उससे अगला इत्यादि। इन वर्षों का साथी या तो लग्न है या वह ग्रह है जो अनेक शक्तियों और भागों के साथ केन्द्रों में ठहरा हुआ है। अनेक ग्रह एक साथ केन्द्रों में आते हैं, उनके प्रभाव और अन्वय का निश्चय नयी शक्तियों और अंशों से होता है। उनके पश्चात वे ग्रह आते हैं जो केन्द्रों के निकट हैं, तब वे जो झुकी हुई राशियों में हैं; उनके क्रम का निश्चय उसी रीति से किया जाता है जिस प्रकार कि पूर्ववर्ती अवस्था में। इस प्रकार यह ज्ञात हो जाता है कि सम्पूर्ण मानुषी जीवन के किस भाग में प्रत्येक अकेले-अकेले ग्रह के वर्ष आते हैं।

किन्तु, जीवन के अकेले-अकेले भागों का परिसंख्यान केवल एक ही ग्रह के वर्षों में नहीं, वरन् उन प्रभावों के अनुसार किया जाता है जो साथी तारे, अर्थात वे तारे जो इसके सामने होते है, उस पर डालते हैं क्योंकि वे उसे अपने शासन में साझी हों और अपने वर्षों के भजन में भाग लेने पर विवश करते हैं। जो ग्रह उस राशि में पड़ा है, जिसमें कि जीवन के प्रस्तुत भाग पर शासन करनेवाला ग्रह है, वह उससे आधा भाग ले लेता है। जो पाँचवीं और नवीं राशि में पड़ा है; वह उससे तीसरा भाग ले लेता है। जो चौथी और आठवीं राशि में पड़ा है, वह उससे एक चौथाई ले

लेता है। इसलिए यदि अनेक ग्रह एक साथ एक स्थिति में आ जायें, तो उन सबमें वह भाग सामान्य होता है जिसको प्रस्तुत स्थिति आवश्यक ठहराती है।

एक ग्रह पर दूसरे ग्रह के स्वभाव का प्रभाव

ऐसे साहचर्य के वर्षों के परिसंख्यान के लिए (यदि शासक ग्रह की दृष्टि दूसरे ग्रहों पर पर पड़ती हो) रीति यह है—

वर्षों के स्वामी (अर्थात वह ग्रह जो मनुष्य के जीवन के किसी विशेष भाग पर शासन करता है) के लिए एक अंश के रूप में और एक हार के रूप में, अर्थात, एक पूरा, लो, क्योंकि यह सारे पर शासन करता है। फिर, प्रत्येक साथी (अर्थात प्रत्येक ग्रह जो पहले को देखता है) के लिए इसके हार का केवल अंश लो (सारा अपूर्णांक नहीं)। तुम प्रत्येक हार को सभी अंशों और उनके योग से गुणा करते हो। इस क्रिया में मूल ग्रह और उसका भग्नांश छोड़ दिये जाते हैं। इससे सभी अपूर्णांकों का एक ही हारकाङ्क बना दिया जाता है। समान हार छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक अंश को वर्ष के जोड़ से गुणा किया जाता है और गुणनफल को अंशों के योग पर भाग दिया जाता है। भागफल ग्रह के कालम्बूक (कालभाग ?) वर्षों को दिखलाता है।

ग्रहों के भाव की प्रबलता के प्रश्न का निश्चय हो चुकने के पश्चात, उनके क्रम के विषय में (? मूल पाठ में गड़बड़ है), जहाँ तक उनमें से प्रत्येक अपना व्यक्तिगत प्रभाव डालता है। जिस प्रकार पहले बताया जा चुका है उसी प्रकार अधिक प्रभावशाली ग्रह वे हैं जो केन्द्रों में पड़े हैं, पहले प्रबलतम, तब उससे कम प्रबल, इत्यादि, तब वे जो केन्द्रों के निकट हैं, और अन्ततः वे जो झुकी हुई राशियों में हैं।

हिन्दू गणकों के अन्वेषण की रीतियाँ

पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिये हुए वर्णन से पाठकों को मालूम हो जाता है कि हिन्दू मानुषी जीवन की संस्थिति का परिसंख्यान कैसे करते हैं। ग्रहों की स्थितियों से, जिनमें वे उत्पत्ति पर (अर्थात जन्म के समय) और जीवन के प्रत्येक दिये हुए समय में होते हैं, जाना जाता है कि भिन्न-भिन्न ग्रहों के वर्ष किस रीति से उस पर बँटे हुए हैं। इन चीजों के साथ हिन्दू गणक जन्मपत्रिकाओं को फलित-ज्योतिष की विशेष विधियाँ जोड़ देते हैं, जिनको दूसरी जातियाँ हिसाब में नहीं लेतीं। वे, उदाहरणार्थ, यह मालूम करने का यत्न करते हैं, कि क्या, मनुष्य के जन्म के समय, उसका पिता उपस्थित था, और यदि चन्द्रमा पर लग्न की दृष्टि न पड़ती हो, या जिस राशि में चन्द्रमा है वह यदि शुक्र और बुध की राशियों से घिरी हुई हो, या यदि शनि लग्न में हो, या यदि मंगल सातवीं राशि में हो, तो वे यह परिमाण निकालते हैं कि वह अनुपस्थित था।

अध्याय तीसरा, ४ (?)—फिर, सूर्य और चन्द्रमा की परीक्षा करके वह मालूम करने का यत्न करते हैं कि क्या बालक पूर्ण आयु को प्राप्त होगा। यदि सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि में हों, और उनके साथ एक अशुभ ग्रह हो, या यदि चन्द्र और बृहस्पति लग्न की दृष्टि से अभी ओझल हुए हों या यदि बृहस्पति की दृष्टि संयुक्त सूर्य और चन्द्र पर पड़नी अभी बंद हुई हो, तो बालक पूर्ण आयु तक नहीं जियेगा।

फिर, दीपक की अवस्थाओं के साथ किसी विशेष सम्बन्ध में, वे उस नक्षत्र की परीक्षा करते हैं जिसमें कि सूर्य हो। यदि राशि चर राशि है, तो दीपक का प्रकाश जब इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है, चलता है। यदि वह स्थिर राशि है, तो दीपक का प्रकाश निश्चल रहता है; और यदि वह राशि द्विस्वभावी है, तो यह एक बार चलता और दूसरी बार निश्चल रहता है।

फिर, वे इस बात की परीक्षा करते हैं कि लग्न के अंशों का ३० के साथ क्या सम्बन्ध है। इसके अनुरूप दीपक की बत्ती का वह परिमाण है जो कि जलकर नष्ट हो जाता है। यदि चन्द्रमा पूर्ण चन्द्र हो, तो दीपक तेल से भरा रहता है, दूसरे समयों पर तेल का घटाव या बढ़ाव चन्द्रकला के घटाव और बढ़ाव के अनुरूप होता है।

अध्याय ४; श्लोक ५—केन्द्रों में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रह से वे घर के द्वार के सम्बन्ध में अनुमान निकालते हैं, क्योंकि, इसकी दिशा इस ग्रह की दिशा से या, जिस अवस्था में केन्द्रों में कोई ग्रह न हो लग्न की राशि की दिशा से अभिन्न होती है।

अध्याय ४, श्लोक ६—फिर, वे इस बात पर विचार करते हैं कि प्रकाश देने वाला पिण्ड कौन सा है, सूर्य या चन्द्र। यदि वह पिण्ड सूर्य है, तो घर नष्ट हो जायगा। चन्द्र हितकर, मंगल दाहक, बुध धनुषाकार, बृहस्पति एकरूप, और शनि वृद्ध है।

अध्याय ४, श्लोक ७—यदि बृहस्पति दसवीं राशि में अपने उन्नतांश में हो तो घर में दो या तीन बगल की कोठरियाँ होंगी। यदि धनु में इसका लक्षण प्रबल है, तो घर में तीन पार्श्वगृह होंगे, यदि यह दूसरी द्विस्वभाव राशियों में है, तो घर की बगल की कोठरियाँ दो होंगी।

अध्याय ४, श्लोक ८—सिंहासन और इसके पैरों के लिए पूर्व-चिन्ह मालूम करने के उद्देश्य से वे तीसरी राशि की, बारहवीं से लेकर तीसरी राशि तक इसके वर्गों और इसकी लम्बाई की परीक्षा करते हैं। यदि इसमें अशुभ ग्रह हों, तो इसका पैर या पार्श्व उस रीति से नष्ट हो जायगा जिस रीति से अशुभ ग्रह भविष्यकथन करता है। यदि यह मंगल है तो यह मुड़ जायगा; यदि यह सूर्य है तो यह टूट जायगा; और यदि यह शनि है, तो यह बुढ़ापे से नष्ट हो जायगा।

अध्याय ४; श्लोक १०—जो स्त्रियाँ घर में उपस्थित होंगी उनकी संख्या उन तारों की संख्या के अनुरूप होंगी जो लग्न की और चन्द्रमा की राशियों में हैं। उनके गुण इन तारामण्डलों के प्रतिबिम्बों के अनुरूप होते हैं।

इन तार- मण्डलों के वे तारे जो पृथ्वी के ऊपर हैं, उन स्त्रियों की ओर संकेत करते हैं जो घर से चली जाती हैं, और वे, जो पृथ्वी के नीचे हैं, उन स्त्रियों की भविष्य-वाणी करते हैं जो घर को आयंगी और इसमें प्रवेश करेंगी।

फिर, वे सूर्य या चन्द्र में से प्रबलतर ग्रह के द्रेक्काण के पति से मनुष्य में जीवन की आत्मा के विषय में अन्वेषण करते हैं। यदि बृहस्पति द्रेक्काण हो तो यह देवलोक से आती है; यदि यह शुक्र या चन्द्र हो, तो आत्मा पितृलोक से आती है, यदि यह मंगल या सूर्य हो, तो आत्मा वृश्चिकलोक से आती है; और यदि यह शनि या बुध हो, तो आत्मा भृगुलोक से आती है।

और वे शरीर की मृत्यु पश्चात आत्मा के प्रयाण के विषय में अन्वेषण करते हैं, जब यह उस लोक को प्रस्थान करती है जो वैसे ही एक नियम के अनुसार, जो अभी दिया गया है, छठे

या आठवें घरों के द्रेक्काण के स्वामी से प्रवलतर है। किन्तु, यदि वृहस्पति अपने उन्नतांश में, छठे घर में; या आठवें में, या केन्द्रों में से किसी एक में, या यदि लग्न मीन राशि है, और वृहस्पति सब ग्रहों में प्रवलतम है, और यदि मृत्यु के निमेष की राशि वही है जो जन्म के निमेष की है, तो उस अवस्था में आत्मा मुक्त हो जाती है और इधर-उधर भटकती नहीं फिरती।

मैं इन वातों का उल्लेख पाठक को हमारे लोगों की और हिन्दुओं की फलित-ज्योतिष सम्बन्धी रीतियों में भिन्नता दिखलाने के लिए करता हूं।

धूमकेतु

आकाश और जगत् सम्बन्धी चमत्कारों के विषय में उनकी कल्पनाएँ और रीतियां बहुत लम्बी और साथ ही बहुत सूक्ष्म हैं। जिस प्रकार हमने उनकी जन्म-पत्रिकाओं की फलितज्योतिष में, जीवन की दीर्घता का निश्चय करने की कल्पना का ही वर्णन करने तक अपने को परिमित रक्खा है, उसी प्रकार हम विज्ञान के इस विभाग में, उनमें से उन लोगों के कथनों के अनुसार, जिनके विषय में यह माना गया है कि वे इस विषय को सम्यक् रूप से जानते हैं, अपने को धूमकेतुओं की उपमिति बाद को अन्य दूरस्थ विषयों तक बढ़ा दी जायगी।

नाग का सिर राहु, पूंछ केतु कहलाती है। हिन्दू पूंछ की बात क्वचित् ही करते हैं, वे केवल सिर का ही उपयोग करते हैं। बहुत करके सभी धूमकेतु, जो आकाश पर प्रकट होते हैं, केतु भी कहलाते हैं। वराहमिहिर कहता है (अध्याय ३, श्लोक ७—१२)—

"राहु के तेंतीस पुत्र हैं जो तामसकीलक कहलाते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार के धूमकेतु हैं। राहु के उनसे दूर चले जाने या न जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उनके पूर्वचिन्ह उनके आकारों, रंगों, आयतनों और स्थितियों के अनुरूप हैं। श्लोक ८—सबसे बुरे वे हैं जिनका आकार कौए या सिर-कटे मनुष्य का है। वे जिनका आकार खड्ग, छुरी, धनुष-वाण का है। श्लोक ९, १०—वे सदा सूर्य और चन्द्र के पड़ोस में रहते हैं, और पानी को उकसाकर गाढ़ा, और वायु को उकसाकर चमकता हुआ लाल कर देते हैं। वे पवन में ऐसा तुमुल उत्पन्न करते हैं कि आंधियां विशालतम वृक्षों को चीर डालती हैं, और उड़ते हुए कङ्कड़ लोगों की पिंडलियों और घुटनों में लगाते हैं। वे समय के स्वरूप को वदल देते हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ऋतुओं ने अपने स्थान वदल लिये हैं। जब अशुभ और विपज्जनक घटनाएँ बहुसंख्यक हो जाती हैं, जैसा कि भूकम्प, भूमि-स्खलन, जलानेवाली गरमी, आकाश की लाल दहक, वन्य जन्तुओं की अविरत गर्जना और पक्षियों की चिल्लाहट, तब जान लो कि यह सब राहु के पुत्रों से आता है। श्लोक ११—यदि ये घटनाएँ ग्रहण या धूमकेतु की दमक के साथ-साथ घटें, तब जो कुछ तुमने भविष्य-कथन किया है उसको इसमें पहचानो, और राहु के पुत्रों के सिवा और दूसरे प्राणियों से पूर्वलक्षण लेने की चेष्टा न करो। श्लोक १२—विपत्ति के स्थान में उन (धूमकेतुओं) के प्रदेश की ओर, सूर्य के पिण्ड के सम्बन्ध में आठों पार्श्वों की ओर, सङ्केत करो।"

वराहमिहिर-संहिता (अध्याय ११, श्लोक १—७) में कहता है—

"जो कुछ गर्ग, पराशर, असित तथा देवल की पुस्तकों, और दूसरी पुस्तकों में है, चाहे वे पुस्तकें कितनी ही बहुसंख्यक क्यों न हों, इसका पूर्ण रूप से वर्णन करने के पूर्व मैंने धूमकेतुओं का वर्णन नहीं किया।

"यदि पाठक उनके दर्शन और अदर्शन का ज्ञान पहले से प्राप्त नहीं करता, तो उनके परिसंख्यान का समझना असम्भव है, क्योंकि वे एक प्रकार के नहीं, अनेक प्रकारों के हैं।

"कई पृथ्वी से ऊँचे और दूर हैं, और नक्षत्रों के तारों के बीच प्रकट होते हैं। वे दिव्य कहलाते हैं।

"कई एक की पृथ्वी से मध्यम दूरी है। वे आकाश और पृथ्वी के बीच प्रकट होते हैं। वे आन्तरिक्ष्य कहलाते हैं।

कई पृथ्वी के निकट हैं, और पृथ्वी पर, पर्वतों, घरों, और वृक्षों पर गिर पड़ते हैं।

कभी-कभी तुम एक प्रकाश को पृथ्वी पर गिरता देखते हो, जिसको लोग आग समझते हैं। यदि यह आग नहीं, तो यह केतुरूप , अर्थात् धूमकेतु के आकारवाला, है।

वे जन्तु जो, वायु में उड़ते समय चिन्गारियों के सदृश या उन अग्नियों के सदृश देख पड़ते हैं जो पिशाचों और निशाचरों के घरों में रहती हैं, फुलझड़ियाँ और दूसरी चीजें धूमकेतुओं की जाति से नहीं।

इसलिए, इसके पूर्व कि तुम धूमकेतुओं के पूर्वचिन्ह बता सको, तुम्हें उनके स्वरूप का जानना आवश्यक है, क्योंकि पूर्वचिन्ह उसके तुल्य होते हैं। ज्योतियों का वह वर्ग जो वायु में है और झण्डों, शस्त्रों, घरों, वृक्षों पर, घोड़ों तथा हाथियों पर, गिरता है, और वह वर्ग जो ऐसे स्वामी से आता है जो नक्षत्रों के तारों में देखा जाता है—यदि चमत्कार का सम्बन्ध इन दो वर्गों में से किसी एक के साथ नहीं और न उपर्युक्त आभासों के साथ है, तो यह भौम केतु है।

श्लोक ५—"धूमकेतुओं की संख्या के विषय में विद्वानों का आपस में मत-भेद है। कुछ के मतानुसार वे १०१, और कुछ के मतानुसार १००० हैं। नारद मुनि के अनुसार, वह एक ही हैं, जो बहुत से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है, सदा एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप को धारण करता है

श्लोक ७—उनका प्रभाव उतने मास तक रहता है जितने दिन तक कि उनका दर्शन होता है। यदि धूमकेतु का दर्शन डेढ़ मास से अधिक समय तक रहे, तो इसमें से पैंतालीस दिन निकाल दो। अवशेष इसके प्रभाव के मासों को दिखलाता है। यदि प्रादुर्भाव दो मास से अधिक रहे, तो उस अवस्था में इसके प्रभाव के वर्ष इसके प्रादुर्भाव के मासों की संख्या के बराबर बताओ। धूमकेतुओं की संख्या१००० की संख्या से अधिक नहीं।"

इस विषय के अध्ययन को आसान बनाने के उद्देश्य से हम आगे लिखी तालिका में सामान्य धूमकेतु देते हैं, यद्यपि हम इसकी सभी अकेली अकेली बातों को नहीं दे सके क्योंकि पुस्तक के अकेले-अकले अनुच्छेदों का हस्त-लिखित ऐतिह्य या तो मूल में या जो प्रति हमारे पास है उसमें विकृत है। गन्थकार की इच्छा अपने समाधानों से धूमकेतुओं की उन दो संख्याओं के विषय में जिनका उल्लेख वह प्राचीन विद्वानों के प्रमाण से करता है, उन विद्वानों के सिद्धान्त की पुष्टि करने की है, और वह संख्या १००० को पूरा करने का यत्न करता है।

धूमकेतु गणक प्रजापति की संतान है। २०४ तारे इसमें है। यह वर्गाकार धूमकेतु, दर्शन में आठ, और संख्या में २०४ है। यह बहुत से अनिष्ट और विनाश की सूचना देता है।

धूमकेतु कंक जल की सन्तान है। यह ३२ तारा समूह वाला है। यह (?) संयुक्त है, और यह चन्द्रमा के सदृश चमक रहा है। यह पुण्ड्र में बहुत से त्रास और अनिष्ट की सूचना देता है।

कबंध धूमकेतु काल की सन्तान है। यह मनुष्य के कटे हुए सिर के सदृश है। यह बहुत से विनाश की सूचना देता है।

९ तारों का समूह एक धूमकेतु है। जो दर्शन में एक, संख्या में नौ। और सफेद, बड़ा है। महामारी की सूचना देता है।

सामान्य धूमकेतु की तालिका

२५ तारों का समूह एक धूमकेतु है जो किरण की सन्तान है। इसका सर्वयोग २५ है और यह केवल पूर्व और पश्चिम में प्रकट होता है। इसका रंग स्फटिक के नालों में मोतियों सदृश है। यह राजाओं के एक दूसरे के साथ युद्ध होने का आगम कहता है।

२५ तारों का समूह एक दूसरा धूमकेतु है जो अग्नि (१) की सन्तान है और इसका सर्व योग ५० है। यह दक्षिण-पूर्व दिशा में प्रकट होता है। यह हरे या आग के या लाख के, या रक्त के, या वृक्ष की कलियों के रंग का होता है। यह महामारी की भविष्य-वाणी करता है।

२५ तारों का समूह एक तीसरा धूमकेतु है जो मृत्यु की सन्तान है तथा इसका सर्वयोग ७५ है और यह दक्षिण दिशा में दिखलाई देता है। ये टेढ़ी पूंछोंवाले, उनका रंग काले और गहरे की ओर झुका हुआ है। यह क्षुधा और महामारी की पूर्व सूचना देता है।

यह धूमकेतु २२ तारों के समूह वाला है और इसका सर्वयोग ९७ है यह पृथ्वी द्वारा उत्पन्न है और उत्तर-पूर्व दिशा में दिखाई पड़ता है। इसका गुणाकार है गोल, देदीप्यमान, पानी या तिल के तेल के रंग के, बिना पूंछों के है। यह उर्वरता और धन का आगम कहता है।

बिना नाम का तीन तारों का १०० सर्वयोग वाला यह धूमकेतु चन्द्रमा की सन्तान है। यह उत्तर दिशा में प्रकट होता हैं और गुलाब के फूलों, या सफेद कमल, या चाँदी, या साफ लोहे या सोने के सदृश चमकता है जो ऐसे अनिष्ट की पूर्व-सूचना देता है, जिसके फल से जगत् उलट-पलट हो जायगा।

इस धूमकेतु को ब्रह्मदण्ड कहते है तथा यह ब्रह्मा की सन्तान है। इसमें सिर्फ एक तारा है और यह १०१ सर्वयोग वाला है तथा सभी दिशाओं में दिखाई देता है। यह तीन रंगों और तीन पूछोंवाला है। यह दुष्टता और विनाश की भविष्य-वाणी करता है।

यह धूमकेतु शुक्र की सन्तान है और १८५ सर्वयोग वाला ८४ तारों का समूह है। यह उत्तर और उत्तर-पूर्व में प्रकट होता है तथा इसका रंगाकार सफेद, चमकीला है। यह अनिष्ट और भय का भविष्य-कथन करता है।

कनक नाम का यह धूमकेतु शनि की सन्तान है और सभी दिशाओं में प्रकट होता इसका रंग है देदीप्यमान, मानो वे चन्द्रशिखाएँ हों। यह दुर्भाग्य और मृत्यु का आगम कहता है।

विकच नाम का धूमकेतु वृहस्पति की सन्तान है और इसमें ६५ तारे हैं। यह देदीप्यमान, सफेद, पूंछों के बिना दिखाई देता है। यह विनाश और दुर्भाग्य की भविष्यवाणी करता है।

तस्कर, अर्थात् चोर नामका धूमकेतु बुध की सन्तान है। इसमें ५१ तारे है इसका आकार सफेद पतला लम्बा है और आंख इसे देखने से चौंधिया जाती यह है। सभी दिशाओं में दिखाई देता है यह दुर्भाग्य की सूचना देता है।

कौंकुम धूमकेतु मंलग की सन्तान है। उसमें ६० तारे, इसको तीन पूँछें है और हेम का रंग है। यह उत्तर दिशामें प्रगट होता है यह अनिष्ट की पराकोटि की सूचना देता है।

तामस कीलक नामक धूमकेतु राहु को सन्तान है। यह ३६ तारों का भिन्न-भिन्न आकारों वाला एक समूह है। यह सूर्य और चांद के आस पास प्रास प्रकट होता है। यह आग की पूर्व-सूचना देता है।

धूमकेतु विश्वरूप अग्नि की सन्तान हैं इसमें १२० तारे है। यह अग्नि-शिखा के सदृश धघकती हुई ज्योति का है। यह अनिष्ट का आगम कहता है।

अरुण धूमकेतु वायु की सन्तान है और ७७ तारों के समूह वाला है। उनका कोई पिण्ड नहीं कि उनमें तुम किसी तारे की देख सको। केवल उनकी किरणें ही संयुक्त हैं जिससे ये छोटी-छोटी नदियां देख पड़ते हैं इनका रंग थोड़ा सा लाल या थोड़ा सा हरा है। यह धूमकेतु व्यापक विनाश की सूचना देता है।

वराहमिहिर की संहिता से अवतरण

ग्रन्थकार (वराहमिहिर) ने धूमकेतुओं को तीन श्रेणियों में बांटा था। ऊँचे धूमकेतु तारों के निकट; वहते हुए धूमकेतु पृथ्वी के समीप; मध्यम धूमकेतु वायु में, और वह उनको ऊँची और मध्यम श्रेणियों में से प्रत्येक का हमारी तालिका में अलग-अलग उल्लेख करता है।

वह और कहता है (अध्याय ११, श्लो०४२)—

"यदि धूमकेतुओं की मध्यम श्रेणी का प्रकाश राजाओं के यन्त्रों, पताकाओं, छत्रों, पंखों और चँवरों पर पड़ता है, तो यह शासकों के विनाश का पूर्व-लक्षण है। यदि यह किसी घर, या वृक्ष, या पर्वत पर चमकता है, तो यह साम्राज्य के विनाश का पूर्व-लक्षण है। यदि यह घर के उपकरण पर चमकता है, तो इसके अधिवासी नष्ट हो जायेंगे। यदि यह घर के बुहारे हुए कूड़े-कर्कट पर चमकता है, तो इसका स्वामी नष्ट हो जायगा।"

वराहमिहिर आगे कहता है। (अध्याल ११, श्लो०६)—

"यदि उल्का किसी धूमकेतु की पूँछ के सामने गिरती है, तो स्वास्य और मङ्गल वन्द हो जाता है, मेंह अपने हितकर प्रभाव खो पैठते हैं, और इसी प्रकार वे वृक्ष जो महादेव को पवित्र हैं—उनको गिनने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि उनके नाम और उनके तत्व हम मुसलमानों को अज्ञात हैं—और चोलों सितों, हूणों और चीनियों के राज्य में अवस्थाएँ दुःखित होती हैं।

वह फिर कहता है (अध्याय ११, श्लों० ६२)—

"धूमकेतु की पूँछ की दिशा को परीक्षा करो, इस बात की कुछ परवा नहीं कि यह पूँछ नीचे को लटकी है या सीधी खड़ी है या झुकी हुई है,और उस नक्षत्र की जांच करो जिससे किनारे को यह स्पर्श करता है। उस अवस्था में यह भविष्य-वाणी करो कि वह स्थान नष्ट हो जायगा और उसके अधिवासियों पर सेनाएं आक्रमण करके उनको इस प्रकार निगल जायेंगी जैसे मोर सांपों को निगल जाता है।

"इन धूमकेतुओं में से तुम्हें उनको छोड़ देना चाहिए जो किसी अच्छी बात की सूचना देते हैं।

दूसरे धूमकेतुओं के विषय में तुम्हें इस बात का निरूपण करना चाहिए कि वे किन नक्षत्रों में प्रकट होते हैं, या किस नक्षत्र में उनकी पूंछें हैं या किस नक्षत्र तक उनकी पूंछें पहुँचती हैं। उस अवस्था में तुम्हें उन देशों के राजाओं के लिए, जिनको प्रस्तुत नक्षत्र दिखलाते हैं, विध्वंस की ओर उन दूसरी घटनाओं की जिनको कि वे नक्षत्र बतलाते हैं, भविष्य-वाणी करना चाहिए।"

यहूदियों की धूमकेतुओं के विषय में वही सम्मति है जो हमारी काबा के पत्थर के विषय में है (अर्थात कि वे सब आकाश से गिरे हुए पत्थर हैं)। वराहमिहिर की उसी पुस्तक के अनुसार, धूमकेतु ऐसे प्राणी हैं जो अपने पुण्यों के कारण स्वर्ग में पहुंचाये गये हैं, जिनकी स्वर्ग में रहने की अवधि समाप्त हो चुकी है और जो अब दुबारा पृथ्वी पर उतर रहे हैं।

आगे लिखी दो तालिकाओं में धूमकेतुओं की हिन्दू-कल्पनाएँ एकत्र कर दी गई हैं—

आकाश (ईथर) में सब से बड़ी ऊँचाई के धूमकेतु

१—वसा-यह पश्चिम में दिखाई देता है तथा दमकता हुआ ओर घना है, और उत्तर से फैलता है। यह मृत्यु और अधिक धन तथा उर्वरता का सूचक है।

२—अस्ति-यह पश्चिम में दिखलाई देता है और पहले की अपेक्षा कम चमकीला है। यह क्षुधा और महामारी का सूचक है।

३—शस्त्र-पश्चिम में यह दिखलाई देता है और कम चमकीला है तथा राजाओं के परस्पर युद्ध का सूचक है।

४—कपालकेतु-इसका स्थान है पूर्व और इसकी पूंछ लगभग आकाश के मध्य तक पहुंचती है। इसका धुएँ का रंग है और यह अमावस्या के दिन प्रकट होता है। यह वर्षा की बहुतायत प्रचुर क्षुधा, रोग और मृत्य का सूचक है।

५—रौद्र-यह पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती में पूर्व से उदय होता है। यह तीक्ष्ण धार-वाला, किरणों से घिरा हुआ, काँसे के रंग का और आकाश का एक तिहाई भाग घेरता है। यह राजाओं के परस्पर युद्ध की भविष्य-वाणी करता है।

६—चलकेतु का स्थान पश्चिम है और अपने प्रथम दर्शन के समय दक्षिण की ओर इसकी पूंछ लम्बी होती है। तब यह उत्तर की ओर मुड़ता है, यहाँ तक कि यह दक्षिण की ओर लम्बा होकर सप्तर्षि और ध्रुव तक, तब गिरते हुए गरुड़ तक पहुँच जाता है। ऊँचा उठते-उठते यह घूम-कर दक्षिण में, चला जाता और वहाँ अन्तर्धान हो जाता है। यह प्रयाग के वृक्ष से लेकर उज्जयिनी तक सारे देश का ध्वंस कर देता है। यह मध्य देश का नाश करता है, और दूसरे प्रदेशों की दशा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ स्थानों में महामारी, कुछ में अवर्षण, और कुछ में युद्ध होता है। यह १०—१२ मासों के बीच दिखाई देता है।

७—श्वेतकेतु दक्षिण में दिखाई देता है। यह रात्रि के आरम्भ में प्रकट होता है और सात दिन तक दिखाई देता है। इसकी पूंछ एक तिहाई भाग पर फैली हुई है। यह हरा है और दाईं ओर को जाता है।

८ वां धूमकेतु क है और पश्चिम में दिखाई देता है। यह रात्रि के पूर्वार्द्ध में प्रकट होता है, इसकी ज्वाला बिखरे हुए मटरों के सदृश है, और सात दिन तक दिखाई देता है।

जब ये दो धूमकेतु चमकते और प्रकाश देते हैं, तो स्वास्थ्य और सम्पत्ति के सूचक होते हैं। यदि उनके दर्शन का समय सात दिन से बढ़ जाय, तो मनुष्यों के कार्यों और जीवनों के दो-तिहाई भाग का नाश हो जाता है, खड्ग खींचा जाता है, राज्य-क्रान्तियाँ फैलती हैं, और दस वर्ष तक विपत्ति रहती है।

९ वाँ रश्मिकेतु (!) है और कृत्तिका में उदय होता है तथा इसका धुएँ का रंग है। यह मनुष्य के सब व्यवहारों को नष्ट कर देता और अनेक राष्ट्रविप्लव पैदा करता है।

१०–ध्रुवकेतु (!) यह जहाँ चाहता है वहीं आकाश और पृथ्वी के बीच प्रकट होता है। इसका पिण्ड बड़ा है, इसके अनेक पार्श्व (!) और वर्ण हैं, और चमकता दमकता है। यह स्वास्थ्य और शान्ति का सूचक है।

वायु (अन्तरिक्ष) में मध्यम ऊँचाई के धूमकेतु

१–कुमुद, यह पश्चिम दिशा में प्रकट होता है। यह कमलफूल का समनामधारी है, जिसकी तुलना इससे की जाती है। यह एक रात रहता है, और इसकी पूंछ दक्षिण की ओर को लक्ष्य करती है। यह दस वर्ष के लिए स्थायी उर्वरता और सम्पत्ति की भविष्य-वाणी करता है।

२–मणिकेतु, यह पश्चिम में प्रकट होता है। यह रात का केवल एक चौथाई अंश रहता है। इसकी पूंछ सीधी, सफेद, और उस दूध के सदृश है जो दुहने पर स्तन से बलपूर्वक निकलता है। यह वन्य जन्य जन्तुओं की एक बड़ी संख्या और साढ़े चार मास तक शाश्वत उर्वरता का पूर्व-चिह्न है।

३–जलकेतु, यह पश्चिम में कौंधता हुआ दिखलाई देता है। इसकी पूंछ में पश्चिम की ओर से टेढ़ाई है। यह नौ मास तक उर्वरता और प्रजा के मंगल का पूर्वचिह्न है।

४–भवकेतु, यह पूर्व में प्रकट होता है। इसकी पूंछ दक्षिण की ओर सिंह के सदृश है। यह केवल एक रात ही दिखाई देता है। जितने मुहूर्त तक इसका दर्शन रहता है उतने मास तक यह शाश्वत उर्वरता और मंगल का पूर्व-चिह्न है। यदि इसका रंग कम चमकीला हो जाय, तो यह महामारी और मृत्यु की भविष्यवाणी है।

५–पद्मकेतु, यह दक्षिण में दिखाई देता है। यह श्वेत कमल के समान श्वेत है। यह एक रात रहता है। यह सात वर्ष के लिए उर्वरता, उल्लास, और सुख का भविष्य सूचन करता है।

६–आवर्त, यह पश्चिम में प्रकट होता है। यह आधी रात को प्रकट होता है, उज्वल चमकता हुआ और हलका भूरा सा। इसकी पूंछ बायें से दायें तक जाती है। जितने मुहूर्त इसका दर्शन रहता है उतने मास के लिए यह सम्पत्ति की सूचना देता है।

७–संवर्त, यह पश्चिम में दिखाई देता है। तीक्ष्ण किनारेवाली पूंछ वाला है, इसका रंग धुएँ या कांसे का है। यह आकाश के तृतीयांश में फैला हुआ है, और संधि में प्रकट होता है। जिस नक्षत्र में यह प्रकट होता है वह अशुभ हो जाता है। यह जिसका आगम कहता है उसको, और नक्षत्र को विध्वंस कर देता है। यह शस्त्रों के नंगा करने और राजाओं के विनाश का सूचक है। जितने मुहूर्त इसका दर्शन रहता है उतने ही वर्ष इसका प्रभाव रहता है।

धूमकेतुओं और उनकी पूर्वसूचना के विषय में हिन्दुओं का सिद्धान्त ऐसा ही है।

उल्काओं के विषय में

जिस प्रकार प्राचीन यूनानियों के भौतिक पण्डित अपने को धूमकेतुओं और आकाश के दूसरे अद्भुत चमत्कारों के स्वरूप की शुद्ध वैज्ञानिक शोधों में लगाया करते थे, उस प्रकार बहुत थोड़े हिन्दू अपने को लगाते हैं, क्योंकि इन बातों में भी वे अपने को अपने धर्म-पण्डितों के सिद्धान्तों से अलग रखने में असमर्थ हैं। इस प्रकार मत्स्यपुराण कहता है—

"चार वृष्टियां और चार पर्वत हैं, और उनका मूल जल है। चार प्रधान दिशाओं में खड़े हुए चार हाथियों पर पृथ्वी रक्खी हुई है। वे बीजों को उगाने के लिए पानी को अपनी सूंड़ों से ऊपर उठाते हैं। वे ग्रीष्म में पानी और शरद् में तुषार छिड़कते हैं। कुहरा वर्षा का सेवक है, जो अपने को उठाकर इसके पास ले जाता और बादलों को काले रंग के साथ सजाता है।"

इन चार हाथियों के विषय में "हाथियों की चिकित्सा की पुस्तक" कहती है—

"कई नर हाथी चालाकी में मनुष्य से बढ़े हुए हैं। इसलिए यदि वे उनके झुण्ड के सिर पर खड़े हों तो यह एक बुरा शकुन समझा जाता है। वे मंगुनिह (?) कहलाते हैं। उनमें से कुछ के केवल एक ही दांत निकलता है, कुछ के तीन और चार; वे पृथ्वी को उठाने वाले हाथियों की जाति में से हैं। मनुष्य उनका विरोध नहीं करते; और यदि वे फन्दे में फँस जाते हैं, तो उनको उनके भाग्य पर छोड दिया जाता है।"

वायुपुराण कहता है—

"वायु और सूर्य की किरण पानी को सागर से उठाकर सूर्य में ले जाती है यदि पानी सूर्य से नीचे गिरता, तो वर्षा गरम होती है। इसलिए सूर्य पानी को चन्द्रमा को सौंप देता है, ताकि वह वहां से ठंडे पानी के रूप में बरसे और जगत् को तरोताजा करे।"

आकाश के चमत्कारों के विषय में वे, उदाहरणार्थ, कहते हैं कि मेघनाद ऐरावत का, अर्थात राजा इन्द्र की सवारी के हाथी का गर्जन है, जब वह कर्कश स्वर के साथ मस्ती में आकर गरजता हुआ मानसरोवर से पानी पीता है।

इन्द्रधनुष (मूलार्थतः, कुजह की चाप) इन्द्र की चाप है जैसा कि हमारे सर्वसाधारण इसे रुस्तम की चाप समझते हैं।

उपसंहार

हम समझते हैं कि हमने जो कुछ इस पुस्तक में वर्णन कर दिया है वह उस मनुष्य के लिए पर्याप्त होगा जो हिन्दुओं के साथ, उनकी अपनी सभ्यता के आधार पर, बातचीत करना और उनके साथ धर्म, विज्ञान, या साहित्य के प्रश्नों पर विचार करना चाहता है। इसलिए हम इस पुस्तक को

नोट:— धूमकेतुओं और दूसरी उल्काविषयक बातों पर टीकाएँ जो यहाँ पर दी गई हैं, वे वराहमिहिर की बृहत्संहिता से ली गई हैं।

समाप्त करते हैं, जिसने कि पहले ही, अपनी लम्बाई और चौड़ाई से, पाठकों को थका दिया है। हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें हमारे प्रत्येक ऐसे कथन के लिए जो सच्चा न हो क्षमा करें। जो बात उसको सन्तोष देती है उस पर दृढ़ रहने के लिए हम उससे सहायता मांगते हैं। हम उससे प्रार्थना करते हैं कि जो चीज झूठ और व्यर्थ है उसके स्वरूप का परिज्ञान हमें प्राप्त हो, ताकि हम भूसी को गेहूँ से अलग करने के लिए इसे छान सकें। वह भलाई का स्त्रोत है, और वही अपने दासों पर कृपा-दृष्टि रखता है। परमेश्वर धन्य है, जो लोकों का स्वामी है, और भविष्यद्वक्ता मुहम्मद और उसके सारे परिवार पर उसका अनुग्रह हो!

समाप्त

परिशिष्ट

अलबेरूनी द्वारा इस पुस्तक में उल्लिखित अनेक महान व्यक्तियों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के विषय में

पराशर

प्रोफेसर वेवर साहब का कहना है कि हिन्दू ज्योतिषियों में पराशर सब से प्राचीन है। इसके विषय में हमें इसके अतिरिक्त और कोई बात विदित नहीं है कि उसका नाम वेद से सम्बन्ध रखता है। वह ग्रंथ जिसमें पराशर की शिक्षायें दी हुई हैं, पराशर तंत्र के नाम से प्रसिद्ध था। पौराणिक समय में वह बड़े सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था और वराहमिहिर ने बहुधा इस ग्रंथ के वाक्य उद्धृत किये हैं। भारतवर्ष में भूगोल जानने के लिये उसमें एक पूरा अध्याय है और इसे वराहमिहिर ने केवल रूप बदल कर अपनी वृहत संहिता के १४ वें अध्याय में दिया है। पराशर ने पश्चिमी भारतवर्ष में यवनों अथवा यूनानीयों के होने का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि इस ग्रंथ का समय ईसा के २०० वर्ष से अधिक पहिले का नहीं है।

गर्ग

प्राचीन हिन्दू ज्योतिषी पराशर के बाद गर्ग का समय आता है। यह उन हिन्दू ग्रंथकारों में से है जिससे कि हमें भारतवर्ष में ईसा की दूसरी शताब्दी के इतिहास का पता लगता है। उस समय भारत में यून जाति का प्रादुर्भाव था और गर्ग उनके बारे में लिखता है—यवन लोग (यूनानी) म्लेच्छ हैं परन्तु वे लोग इस शास्त्र (ज्योतिष शास्त्र) को अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिये उन लोगों का ब्राह्मण ज्योतिषियों से कहीं बढ़कर ऋषियों की तरह, सत्कार किया जाता है।' अपने ग्रंथ के ऐतिहासिक अंश में से गर्ग चार युगों का उल्लेख करता है जिसमें से महाभारत के युद्ध के समय से वह तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग का प्रारम्भ होना लिखता है। सूर्य सिद्धान्त तथा पंचसिद्धान्त के नाम से उसने ज्योतिष के अति प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। इसी के आधार पर वरामहिमिर ने छठी शताब्दी में अपनी पंचसिद्धान्तिका लिखी है। सूर्य सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध ग्रंथ है परन्तु उस मूल ग्रंथ में जाने कितनी बार संशोधन हुआ है। इसका निर्माण समय बौद्ध काल है।

आर्यभट्ट

आर्यभट्ट को ही आधुनिक ज्योतिष शास्त्र की नींव डालने वाला कहा गया है। यह सन् ४७६ ई० में पैदा हुआ था और इसने अपने ग्रंथ छठी शताब्दी में लिखे। ज्योतिष शास्त्र पर लिखने वालों में से ये प्रथम थे। आर्यभट्ट का जन्म पाटलिपुत्र में हुआ था। ज्योतिष के अतिरिक्त इन्होंने गणित पर भी पुस्तकें लिखी हैं। अलबेरूनी ने उसकी पुस्तकों में से दशगीतिका और आर्याष्टशत का उल्लेख किया है तथा अनेक स्थलों पर इसने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के आर्यभट्ट के अवतरण दिये हैं।

इन दोनों का सम्पादन मि० कर्न ने सन् १८७ ई० में आर्यभट्टीयम के रूप में किया है। इस आर्यभट्टीयम नामक ग्रंथ में गीतिकापाद, गणितापाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद नामक चार खंड हैं। इस कृति में पृथ्वी का अपनी कीली पर घूमने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथा यह भी बताया गया है कि सूर्य और चन्द्र ग्रहण क्यों और कैसे होते हैं ? आर्यभट्ट का कहना है कि जिस प्रकार एक जहाज में चलते हुए यात्री को जहाज के बाहर की अन्य वस्तुएं विपरीत दिशा में चलित प्रतीत होती है, उसी प्रकार हमें लेकर चलती हुई पृथ्वी के कारण खगोल के सभी तारे और ग्रह पूर्व से पच्छिम की ओर जाते देख पड़ते हैं। अपने गोलपाद नामक खंड में इन्होंने बारह राशियों का नाम दिया है। आर्यभट्ट की मृत्यु सन् ५८७ ई० में हुई।

वराहमिहिर

वराहमिहिर को ज्योतिष विद्या में आर्यभट्ट का उत्तराधिकारी कहा गया है। ये अवन्ती के प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री आदित्य दास के पुत्र थे। इनका समय सन् (५०५-५८७) माना गया है। इसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पंचसिद्धान्तिका में पांच सिद्धान्तों का वर्णन किया है। ये सिद्धान्त हैं— ब्रह्म अथवा पैतामह, सूर्य अथवा सौर, विश्ष्टिरोमक, और पुलिश। इसके अतिरिक्त इसने वृहत् वराही संहिता भी लिखा है। इसका प्रकाशन डा० कर्न ने किया है। इसमें एक सौ छ अध्याय हैं जिनमें सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, ग्रह, तारे, नक्षत्र, वर्षा, वायु, भूकम्प, इन्द्रधनुष, बिजली आदि का बड़ा विस्तार से वर्णन है; इसके अतिरिक्त विवाह, शकुन, राशि-चक्रों आदि का भी बड़ा वृहद् वर्णन है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह एक महान कृति है। न केवल अपने ज्योतिष ज्ञान के ही लिये यह ग्रन्थ महान है बल्कि इस कृति में जो असाधारण सूचनायें दी गई हैं वे इतिहासकारों के लिये अमूल्य हैं। उस समय के भूगोल एवं इतिहास का भी एक मान्य विवरण इसके ग्रंथ में मिलता है। निसन्देह यह एक महान व्यक्ति था और विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक में इसकी गिनती की जाती थी।

अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक में वराहमिहिर के सिद्धान्तों का बड़े आदर पूर्वक अवतरण दिया है। उसने वराहमिहिर की 'एक सच्चा विद्वान एवं वैज्ञानिक' कह कर प्रशंसा की है और उसे अपने से ५२६ वर्ष पहिले का हुआ बतलाता है। इसके अतिरिक्त अलबेरूनी ने उसके—वृहत्संहिता, वृहज्जातकम, लघुजातकम, पञ्चसिद्धान्तिका, षट्पञ्चाशिका और होराविंशोत्तरी, नामक ग्रंथों का अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है।

ब्रह्मगुप्त

ब्रह्मगुप्त सन् ५९८ ई० में हुआ था और वह प्रसिद्ध उपन्यास लेखक बाणभट्ट का समकालीन था। इसे वराहमिहिर का ज्ञानाधिकारी कहा गया है। ज्योतिष शास्त्र का उसे अच्छा ज्ञान अल्पावस्था में ही हो होगया था। तीस वर्ष की छोटी अवस्था में ही उसने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ब्रह्मगुप्त, लिखित ग्रंथ, ब्रह्मसिद्धान्त, का अलरूबेनी ने बहुत उपयोग किया है। अलबेरूनी ने इसका अरबी में अनुवाद किया (१०३० ईसवी) था। पता नहीं कि उसने इसे कभी समाप्त भी किया था या नहीं। ब्रह्मगुप्त अभी तीस ही वर्ष का था जब उसने यह पुस्तक लिखी। उस पर यह दोष लगाया गया है कि उसने अपने राष्ट्र के धर्मान्ध पुरोहितों और मूर्ख प्राकृत जनों को प्रसन्न करने के लिए झूठ और असारता का प्रचार करके अपने आत्मा के विरुद्ध पाप किया था जिससे वह उन सङ्कटों से बचा

रहा जिनमें पड़कर कि सुकरात ने प्राण दिये थे । इसके अतिरिक्त अलबेरुनी उस पर आर्यभट्ट के साथ अनुचित शत्रुता का भी दोषारोपण करता है । पूर्वीय सभ्यता के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बड़ा ही प्रतिष्ठा पूर्ण है । अरबियों के टोलमी (बतलीमूस) से परिचित होने के पहले उसी ने उनको ज्योतिष सिखलाई थी; क्योंकि अरबी-सहित्य की प्रसिद्ध पुस्तक सिन्द-हिन्द, जिसका बार-बार उल्लेख हुआ है परन्तु जो अभी प्रकाश में नहीं आई, उसके ब्रह्मसिद्धान्त का अनुवाद है; और भारतीय ज्योतिष पर अल अर्कन्द नाम की एक-मात्र दूसरी पुस्तक, जो उनको ज्ञात थी, उसके खण्डखाद्यक का अनुवाद था । यह पिछली पुस्तक करणखण्डखाद्यक भी कहलाती है । बलभद्र ने इस पर टीका लिखी थी । ब्रह्मगुप्त के उत्तरखण्डखाद्यक नामक तीसरे प्रबन्ध का उल्लेख और अवतरण भी यहाँ मिलते हैं ।

भाष्कराचार्य

राजपूतों के उदय के साथ जब समय थोड़ा बदला तो बारहवीं शताब्दी में प्रख्यात गणि-तज्ञ भाष्कराचार्य का नाम चमक उठा । इनका जन्म १११४ ई० में हुआ था तथा इनका विशाल ग्रंन्थ सिद्धान्त शिरोमणि सन् ११५० में पूरा हुआ था । इसमें प्ररम्भिक अंग बीजगणित तथा लीला-वती और गोलाध्याय में गोलमिति एवम त्रिकोणमिति का वर्णन है । गणित की कितनी ही ऐसी समस्यायों को भाष्कराचार्य ने बारहवीं शताब्दी में ही सिद्ध कर लिया था, जिनको यूरोपवाले सत्र-हवीं तथा अठारहवीं शताब्दी तक भी नहीं हल कर सके थे । भारत में बीजगणित ने काफी उन्नति किया । ज्यामिति एवम् ज्योतिष में बीजों का प्रयोग करके उन्हें सरलतम बना देना भारतियों का ही काम है । यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस भारत का गणित तथा ज्योतिष इतना उन्नत रहा वहाँ ज्यामिति को क्यों छोड़ दिया गया । यज्ञ की वेदियों को बनाने में हिन्दू ऋषियों ने विभिन्न आकारों की खोज की थी अवश्य, परन्तु पौराणिक काल में मन्दिरों के माध्यम से धर्म साधना होने लगी तथा इस प्रकार से वेदियों का प्रचलन ही बन्द हो गया और साथ ही ज्यामिति का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया । अरबी तथा संसार के अन्य लेखकों ने भाष्कराचार्य के ग्रंथों का अनुवाद किया । त्रिकोणमिति भी इसी की देन है तथा अंकगणित में दशमलव के आविष्कार के लिये सारा संसार ही हिन्दुओं का आभारी है ।

कालिदास

कालिदास ईसा की छठी शताब्दी में हुए थे और विक्रमादित्य के दरबार के नौरत्नों में से थे । पौराणिक काल में भारत के विज्ञान और ज्योतिष ने उसे जितना गौरवान्वित किया, उससे भी कुछ आगे बढ़ कर संस्कृत साहित्य की कविता और नाटक ने भी उसे कम गौरव नहीं प्रदान किया । कविता और नाटक के क्षेत्र में कालिदास का नाम चिरस्मरणीय एवं सर्वोपरि रहेगा । कालिदास को सरस्वती का वरद् पुत्र कहा जाता है । न केवल भारतियों के ही, वरन विदेशियों के भी दिलों में कालिदास के लिये जो प्रशंसापूर्ण भावनायें हैं, वे आर्यभट्ट तथा चरक के लिये भी नहीं हैं । यद्यपि कालिदास की काव्य एवम नाटक कृतियाँ और भी हैं, परन्तु बाह्यसंसार उनको शकुन्तला के रचयिता के ही रूप में अधिक जानता है । चाहे हिन्दू हो या अन्य जातियाँ, जो भी इस कृति को पढ़ेगा और समझेगा, यही कहेगा कि आजतक की मानव कल्पना वन-पुत्री शकुन्तला जैसी कोमल भावनामय एवम पवित्र नारी की सृष्टि नहीं कर सकी । शकुंतला के अतिरिक्त इनके विक्रमोर्वशी तथा मालवि-काग्निमित्र नाम के अन्य अति प्रसिद्ध नाटक भी हैं ।

जिस प्रकार नाटक साहित्य में कालिदास सर्वाधिक प्रख्यात हैं उसी प्रकार काव्य साहित्य में भी कालिदास किसी से कम न था। रघुवंश और कुमारसम्भव नामक कालिदास रचित काव्य संस्कृत साहित्य की निधि माने जाते हैं। मेघदूत नामक काव्य ने तो कालिदास को अमर कर दिया हैं। अलबेरूनी ने काली दास का भी अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है।

भवभूति

कालिदास के एक शताब्दी के बाद भारतीय काव्याकाश में भवभूति नामक उज्वल सितारे के दर्शन होते हैं जो सर्वप्रकारेण कालिदास के ही समकक्ष हैं। भवभूति को श्री कंठ भी कहते हैं। वे ब्राह्मण कुल में विदर्भ या बरार में उत्पन्न हुए थे; परन्तु उनसे गौरवान्वित हुआ कन्नौज का दरबार, जो उस समय में अपनी गुण ग्राहकता के लिये दूर-दूर तक प्रख्यात था। भवभूति का प्रकृति वर्णन इतना प्रभावोत्पादक है कि यह उन्हें अन्य कवियों से पूर्णतयः अलग वर्ग का सिद्ध करता है। कन्नौज दरबार में आ जाने पर तो भवभूति की प्रतिभा को चार चांद लग जाते हैं। बाद में भवभूति के आश्रयदाता यशोवर्मन को काश्मीर नरेश ललितादित्य ने परास्त किया था अत-एव उसे राजा के साथ काश्मीर चले जाना पड़ा। इसके, मालतीमाधव एवं रामायण की पृष्ट भूमि पर आधारित 'महावीर चरितम' तथा 'उत्तर राम चरित' नाटक हैं जो संस्कृत साहित्य में अपना सर्वोच्च स्थान बनाये रखते हैं।

जयदेव

अलबेरूनी के एक शताब्दी बाद बारहवीं शताब्दी में बंगाल के जयदेव ने संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक सुन्दर गीतिकाव्य लिखा जो गीतगोविन्द के नाम से प्रख्यात है। डा० बुहलर की खोज के फलस्वरूप गीतगोविन्द की एक प्रति काश्मीर में पायी गयी है जिसके अनुसार जयदेव बंगाल के लक्ष्मणसेन के दर्बार में थे और वहीं से उन्होने कविराज की उपाधि भी पाई थी। इस ग्रन्थ में सर्वत्र कृष्ण की क्रीड़ाओं के माध्यम से संयोग शृङ्गार को प्रश्रय दिया गया है, जिसकी कोमल भाव-युक्त गेय पदावलियाँ बरबस श्रोता को आकर्षित कर लेती हैं। संस्कृत साहित्य का यह अकेला गेय काव्य है जो अपनी कोमल कान्त पदावली के लिये सारे भारत में विख्यात है। इसमें कृष्ण राधा की विवधि प्रेम जनित क्रीड़ाओं का वर्णन है; जिसमें स्थान-स्थान पर अनुप्रास एवम अलंकारों की छटा देखते बनती है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में विष्णु के दशावतारों का वर्णन संक्षिप्त प्रसंग के साथ गेय पदों में ही प्रस्तुत किया गया है। यत्र तत्र प्रकृति वर्णन तथा प्रकृति का मानव हृदय पर एवम् मानव हृदय का प्रकृति पर पड़ने वाले प्रभाव की सूक्ष्म व्यंजना मनोहारी रूप से की गई है। इसमें वर्णित ऋतु वर्णन बेजोड़ है।

बाणभट्ट

कादम्बरी के प्रणेता बाणभट्ट ने शीलादित्य द्वितीय के दरबार को अलंकृत किया था। रत्नावली नाटक की रचना भी इसी बाणभट्ट ने ही की थी। 'हर्ष चरित, के नाम से, प्रसिद्ध सम्राट हर्ष का जीवन चरित भी इसी ने लिखा है। बाणभट्ट के पिता का नाम चित्रभानु था तथा माता का नाम राज्य देवी था। इन्होंने चौदह वर्ष की आयु में ही पिता को खो दिया और अनाथ हो गये। भद्रनारायण, ईशान तथा मयूर आदि प्रसिद्ध विद्वान बाणभट्ट के प्रारम्भिक जीवन के मित्र थे।

बू अली सीना

यह ख्वारिज्म के राजा मामूं के राजदरबार के प्रसिद्ध विद्वानों में से एक था। यह अलबेरूनी का समकालीन था और विद्या, बुद्धि और ज्ञान में उससे कम न था। अलबेरूनी ने इस विद्वान की कई जगहों पर बड़ी कड़ी आलोचनायें की हैं। बू अली सीना अलबेरूनी की प्रतियोगिता से घबराता था और उसके विद्याबल के सामने न ठहर सकता था, इसे वह भली भांति अनुभव करता था। डी बोइर नाम के एक जर्मन विद्वान ने 'इसलाम के तत्वज्ञान का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है कि बू अली इब्न सीना अपने सहयोगी अलबेरूनी से तत्वज्ञान में कम था। बेरूनी की सी प्रकृति भी उसे न मिली थी। इस पर भी आज जो बू अली सीना का नाम अलबेरूनी से अधिक विख्यात है इसका कारण यह है कि इब्न सीना वैद्यक-शास्त्र में बड़े-बड़े उपयोगी ग्रन्थ छोड़ गया है। इस विद्या के ग्रन्थों की प्रत्येक समय और प्रत्येक युग में आवश्यकता पड़ती एवं कदर होती है। इस प्रकार बू अली सीना विद्वान, दार्शनिक एवं प्रसिद्ध वैद्यक शास्त्र का विद्वान था। इसका समय लगभग सन् ४०० था।

अलैरान शहरी

अरबी लोग ओक्सस नदी से लेकर यूफ्रेटीज नदी तक समस्त ,सोसानी साम्राज्य का नाम ईरान शहर समझते थे। इस प्रकार अलेरान शहरी का अर्थ एक विशेष प्रान्त का अधिवासी है। हिन्दुओं के विश्वास पर अलबेरूनी से पूर्व जो जो मुसलमानों को बनाई पुस्तकें थीं उनका उसने कोई उपयोग नहीं किया क्योंकि इन्हें वह ऐतिहासिक जानकारी का कोई वास्तविक स्रोत नहीं समझता था। परन्तु अलीरान शहरी ने धर्मों के इतिहास पर सभी लोगों की सम्मतियों को लेते हुए एक व्यापक पुस्तक की रचना की है। हिन्दुओं के बौद्ध-धर्मों के विषय में इसे अच्छी जानकारी थी। इस विद्वान ने अपनी पुस्तकों में बौद्ध-धर्म पर काफी कुछ लिखा है। अलबेरूनी ने भी इस विषय पर जो कुछ भी लिखा है वह इसी की पुस्तकों से लिया है।

अबुलखैर अलखम्मार

अबुलखैर का जन्म सन् ९४२ हिजरी में बगदाद नगर में एक ईसाई घराने में हुआ था। कुछ दिन बाद वह ख्वारिज्म में रहा; फिर जब महमूद ने उस देश को अपने साम्राज्य में मिला लिया तो अलबेरूनी और अन्य लोगों सहित वह १०१७ ई० में गजनी को चला गया। महमूद के शासन-काल में ही अर्थात १०३० ई० के पूर्व उसका गजनी में देहान्त हो गया। जीवन के अन्तिम दिनों में वह मुसलमान हो गया था। वह एक प्रसिद्ध वैद्य था। अबुलखैर ने वैद्यक और यूनानी दर्शन-शास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इसने यूनानी तत्ववेत्ताओं के ग्रन्थों का सिरियक भाषा से अरबी में अनुवाद किया। इसकी पुस्तकों में से—ईसाई और यूनानी तत्ववेत्ताओं के सिद्धान्त का समाधान, प्रकृति पर, उल्का-शास्त्र पर, इत्यादि पुस्तकें उल्लेख योग्य हैं। अलबेरूनी से इसका व्यक्तिगत परिचय था। इसने अबुलखैर से यूनानी विद्या सीखी और शास्त्रीय सम्बन्ध भी बना रक्खा था। अबुलखैर सारे मुसलिम जगत में उस समय यूनानी पाण्डित्य के प्रथम प्रतिनिधियों में से एक था।

अलफजारी

यह अरबी साहित्य के जन्मदाताओं में से एक था। इसी ने पहले-पहल अरबी लोगों में भारतीय ज्योतिष का प्रचार किया था। जहाँ तक मुझे पता है, इसके ग्रन्थ अब विद्यमान नहीं। सम्भवतः यह मुहम्मद इब्न इब्राहीम अलफजारी अरबियों में अस्तरलाबों (नक्षत्र-यन्त्रों) के प्रथम निर्माता, इब्राहीम इब्न हबीब अलफजारी, का पुत्र था जिसने बगदाद की नींव में भूमापक के तौर पर भाग लिया था। फिहरिस्त, फजारी पर अलकिफ्ती के एक लेख का अनुवाद देता है।

अल्बेरूनी के अवतरणों के अनुसार यह विद्वान् पल का प्रयोग दिन-क्षण के अर्थों में करता था; वह पृथ्वी की परिधि अर्थात योजनों में निकालता था; वह (और साथ ही याकूब इब्न तारिक) यमकोटि के समुद्र में तार नामक एक नगर का उल्लेख करता है; वह दो अक्षों से किसी स्थान की द्राघिमा के गिनने की विधि बतलाता है; उसकी पुस्तक में हिन्दू विद्वानों से लिये हुए नक्षत्रों के चक्र थे। ये हिन्दू विद्वान् खलीफा अलमन्सूरा (हिजरी संवत् १५४ = ७७१ ईसवी) के पास सिन्ध के किसी भाग से आनेवाले दूत-समूह के सदस्य थे। अलबेरूनी के ख्याल से अलफजारी का दिया हुआ भारतीय ज्योतिष का ऐतिह्य बहुत विश्वासपूर्ण नहीं, और इसमें दिये नाम अकसर भ्रष्ट और बहुत बुरी तरह से लिखे हुए हैं।

याकूब इब्न तारिक

यह भारतीय आधार पर ज्योतिष, कालगणना, और गणित भूगोल के क्षेत्र में अलबेरूनी का अत्यन्त प्रमुख अग्रगामी था। 'अलबेरूनी का भारत' में इसके, अलफजारी से कहीं जियादा, अवतरण मिलते हैं। वह राशि-चक्र की परिधि और व्यास के माप योजनों में देता है। ये एक हिन्दू विद्वान से ली गई थीं। यह हिन्दू, खलीफा अलमन्सूरा की कचहरी में सिन्ध से आनेवाले एक दूत-समूह के साथ हिजरी संवत १५४ (७७१ई०) में आया था, इस पर यह दोषारोपण किया गया है कि इसने आर्यभट्ट शब्द को एक ग्रन्थकार के नाम के स्थान में भूल से एक वैज्ञानिक परिभाषा समझ लिया है। वह अहर्गण में सौर दिनों की गिनती और वर्षों के दिन बनाने की अशुद्ध विधि देता है (परिच्छेद ५१, ५२) तदनुसार ऐसा मालूम होता है कि याकूब की पुस्तक ज्योतिष, कालगणना, और गणित-भूगोल की एक पूर्ण पद्धति थी। यह अर्थात धर्मशास्त्र भी कहलाती है। अलबेरूनी कभी-कभी याकूब की दोषालोचना करता है, और समझता है कि उसने भूलें की हैं, भारतीय शब्दों को अशुद्ध लिखा है, और उसने अपने हिन्दू अध्यापक से ली हुई सूचियों को गणना के द्वारा परीक्षा किये बिना ही स्वीकार कर लिया है। याकूब ने सन् १५४ और १६१ हिजरी (७७१, ७७८ ई०) में पठन-पाठन का कार्य किया था, इसलिए आवश्यक है कि वह ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में (सम्भावतः बेबीलोनिया में) था। फिहरिस्त, पर उसके विषय में एक टीका है। इस टीका में कुछ गड़बड़ है। अर्थात शास्त्र नाम की पुस्तक का भूल से उतारिद इब्न मुहम्मद की पुस्तकों में उल्लेख किया गया है, परन्तु यह साफ और पर वही पुस्तक है जिसे यहाँ शास्त्र कहा गया है। इसके दो भाग थे, एक गगनमण्डल पर और दूसरा अवधियों (युगो ?) पर। फिहरिस्त के अनुसार उसने दो और पुस्तकें लिखी थीं, एक तो त्रिज्य के कर्दजात में विभाग पर, और दूसरी याम्योत्तर के वृत्तांश से जो कुछ निकाला गया है, पर जिन दिनों याकूब पुस्तकें लिखने लगा, अर्कन्द (खण्ड-

वाचक) का पहले ही अरबी में भाषान्तर हो चुका था। किसने किया था ? क्या अलफजारी ने ? यह ठीक ठीक पता नहीं ।

सुकरात

यदि पश्चिमी तर्क के इतिहास में तार्किकों शिक्षा के अतिरिक्त किसी पुरुष के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में कुछ कहने की आज्ञा हो तो इतिहास-लेखक निसन्देह सुकरात के विषय में लिखेगा। सुकरात की शिक्षा और उसके जीवन में गाढ़ सम्बन्ध है। उसका जीवन अति सरस है। और जो लोग उसके सत्सङ्ग में रहे उनके लिए उसकी शिक्षा की अपेक्षा उसका जीवन अधिक आकर्षणकारी था।

सुकरात (४६९–३९९ ईसा के पूर्व) ने यूनान के ऐटीका नामक ग्राम में जन्म लिया। उसका पिता मूर्तियाँ बनाकर बेचता था और माता धात्री का काम करती थी। पिता ने पुत्र को अपने ही काम में लगाया परन्तु सुकरात की प्रकृति ने इस काम को पसन्द नहीं किया। जो कुछ वह इस छोटे से ग्राम में सीख सकता था उसने सीखा और अपने समय का अधिकांश ज्ञान-ध्यान में बिताने लगा।

उसका जीवन तपोमय था, परन्तु सुखों से उदासीन रहना न तो उसकी शिक्षा का अङ्ग था और न उसके जीवन का अनुष्ठान ही। सुन्दर वस्तुओं से प्रेम करने में वह सच्चा यूनानी था। सुकरात ने आयु पर्य्यन्त कभी स्वदेशीय तथा स्वजातीय मर्यादा का उलंघन नहीं किया, और अन्त को उसी मर्यादा के आगे शिर नवाकर मृत्यु को स्वीकार किया। परन्तु जहां सुकरात में यूनानी जीवन के ये चिह्न विद्यमान थे वहाँ कई बातों में वह अन्य यूनानियों से सर्वथा भिन्न था। यूनानी विशेष रूप से रसिक थे और अपने शरीर तथा वस्तुओं की अनुरूपता का ध्यान रखना अत्यावश्यक समझते थे; सुकरात इन बातों की ओर से उदासीन था। उसके वस्त्र अत्यन्त साधारण होते थे। वह नङ्गे पाँव फिरने में लज्जा का अनुभव न करता था। रूखी-सूखी रोटी खाकर सादा जीवन व्यतीत करना उसके लिए पर्य्याप्त था। मानसिक जीवन में भी उसका ध्यान केवल बुद्धि की ओर था उसके अपने जीवन में रसिकता का सर्वथा अभाव था। सुकरात के एक मित्र ने मन्दिर में जाकर पूछा, "हम में सबसे अधिक बुद्धिमान कौन है ?" आकाशवाणी ने उत्तर दिया—"सुकरात।" सुकरात इस बात को सुनकर अति विस्मित हुआ, क्योंकि वह समझता था कि मैं कुछ नहीं जानता। सुकरात अपने समय के विद्वानों के पास गया। उसने उनसे उनके विषयों तथा जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। उसे विदित हुआ कि उन्हे कुछ ज्ञान नहीं, परन्तु वे इस बात से झिझकते हैं कि उनको और दूसरों को हमारे अज्ञान का पता लग जायगा। सुकरात ने कहा—"मैं कुछ नहीं जानता; ये लोग भी कुछ नहीं जानते, परन्तु जहाँ मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान है वहाँ इन लोगों को इसका ज्ञान भी नहीं। प्रतीत होता है कि इस भेद के कारण ही आकाशवाणी ने मुझे सबसे बुद्धिमान कहा है।" उसका जीवन संयम का जीवन था उसमें कष्ट-सहन करने की योग्यता थी। उसका सारा जीवन दूसरों की शिक्षा और सेवा में व्यतीत हुआ। उसके महान विचारों और मानव जीवन को ऊँचा उठाने वाले दर्शन को उसके देश-वासी न समझ सके। बल्कि इस प्रकार के जीवन और काम के लिए उसके देश-वासियों ने निश्चय किया कि उसे विष का प्याला पिलाकर उसका अन्त कर दिया जाय। उसने अपनी जाति की आज्ञा के आगे शिर नवाया।

अनेक लोगों का मत है कि सुकरात एक साधारण धर्म्मोपदेशक और प्रचारक था, वह तार्किक न था, और न उसने कभी तर्क की शिक्षा ही दी। हम देख चुके हैं कि सुकरात का कार्य लोगों की आत्माओं को जगाना और उन्हें सोच-विचार के योग्य बनाना था, न कि तर्क का कोई विशेष सम्प्रदाय बनाना। फिर भी उसकी सारी शिक्षा का आधार तर्क था। यदि हम यह मान भी लें कि उसने मनुष्य-जाति को तर्क का कोई नवीन सम्प्रदाय नहीं दिया तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी सारी शिक्षा की नींव में तार्किक भाव विद्यमान था। उसके अतिरिक्त जिन प्रश्नों का उत्तर तर्क देना चाहता है उन प्रश्नों को सुकरात ने लोगों के सामने रक्खा। यदि उसने उत्तर नहीं दिये तो कम से कम वह तो बता दिया कि किस दिशा में चलने से उत्तर मिलने की सम्भावना हो सकती है। अति तार्किक सत्य तथा धर्म्म दोनों के सर्वगत अस्तित्व से इनकार करते थे और कहते थे कि ये दोनों भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न हैं। मेरे लिए सत्य का प्रमाण मेरी ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है। मेरे लिए धर्म्म का प्रमाण मेरा अपना सुख है। इन दोनों भूलों का संशोधन करके सुकरात ने तर्क को नूतन जन्म दिया।

सुकरात का विश्वास था कि मेरे भीतर एक देव-वाक्य मुझे प्रेरणा करता है। यह देव-वाक्या प्रायः निषेध-मुख होता था। उसकी आज्ञायें केवल आचार के विषय में ही नहीं होती थीं, किन्तु सकल कठिन दशाओं में सुकरात को उससे सहायता मिलती थी सुकरात के समय में लोग मन्दिरों में अकाश-वाणी सुनने जाते थे! जहां दूसरे लोग बाहर से आकश-वाणी सुनते थे वहां सुकरात भीतर से सुनता था। जिस प्रकार तर्क में उसने बाहर से भीतर की ओर नेत्र फेरे, उसी प्रकार आचार-शम्बन्धी शिक्षा के लिए बाहर के शब्दों की अपेक्षा अन्तरीय वाणी को अधिक गौरव से देखा। कई वार वह विचारों में घण्टों मग्न रहता था। कहते हैं कि एक वार वह सारा दिन एक ही स्थान पर विचार में मग्न खड़ा रहा। सुकरात के तर्क तथा जीवन का एक-मात्र मूल पाठ यह था—बाहर के पट बन्द कर भीतर के पट खोल।

आचार के विषय में सुकरात कहता है कि किसी काम का करना ही पर्य्याप्त नहीं परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम इसे सोच-विचार कर करें और जानें कि क्या वह काम शुभ है। आचार की नींव ज्ञान पर होनी चाहिए। सुकरात के मत से आचार तथा ज्ञान का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि चरित्रशुद्धि तथा ज्ञान एक ही वस्तु हैं। कोई मनुष्य सच्चे अर्थों में पुण्य-कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसे उसके तत्व का ज्ञान न हो, और इसके विपरीत कोई मनुष्य ज्ञान रखता हुआ बुरा काम नहीं कर सकता। मद्यप मद्यपान काल में भूल जाता है कि बुरा कार्य्य है।

हम ऊपर कह आये हैं कि सुकरात अन्य यूनानियों की भांति सुन्दर वतुओं से प्रेम करता था; आनन्द-भोग के भी वह विरुद्ध न था। भोग-शक्ति का नितान्त नाश करना नहीं, किन्तु व्यसनों को वश में रखना उसका आचारादर्श था। जहां एक ओर यह धारणा है कि सुकरात सुखी जीवन को धिक्कारता है वहां दूसरी ओर कुछ लोग यह समझते हैं कि उसकी शिक्षा के अनुसार सुख-प्राप्ति ही जीवन का आदर्श है।

सुकरात की शिक्षा को यूनान-वासियों ने भयजनक जाना और वह महापुरुष जो सारे देश की शोभा था देश का शत्रु समझा गया। उस पर लोगों को गलत मार्ग पर चलाने का आरोप लगाया गया, इसके अतिरिक्त कि वर्तमान समाज के विरुद्ध वह अपने मतों का प्रचार करता है तथा शासन को मूर्खता का राज्य कहता है।

मुकद्दमे के सुनने के लिए तिथि नियत हो गई। सुकरात तनिक नहीं घबराया और अपने कार्य में लगा रहा। मुकद्दमा पेश हुआ। राजपरिषद् के सदस्यों ने बहुपक्ष से उसे अपराधी ठहराया।

सजा के रूप में उसने विष का प्याला बड़ी शान्ति से पी लिया और कुछ ही मिनटों में उसका प्राणान्त हो गया। इस प्रकार उस सुकरात की, जिसे आकाश-वाणी में सब यूनानियों ने बुद्धिमान् बताया था, मानव-लीला समाप्त हुई। एथेंस-वासियों ने अपनी कृतघ्नता पर पश्चात्ताप किया। सब कोई उसके शत्रुओं से घृणा करने लगे और वे बड़ी बुरी तरह से मरे।

सुकरात की घरवाली जेन्टिपी बड़ी गुस्सैल थी। वह बात-बात पर तुनुक जाती थी। सुकरात का स्वभाव बिलकुल शान्त था। जब वह चिड़चिड़ाकर बोलती तब यह टाल जाता। एक बार उसने बहुत बक-झककर छत पर से सुकरात के सिर पर सड़ा हुआ गँदला पानी उँडेल दिया। इस पर पण्डित सुकरात ने जरासा हँसकर कहा कि इतनी गर्जना के बाद वर्षा होनी ही चाहिए। इसमें अचरज ही क्या है?

अफलातूं

यह एक यूनानी तार्किक पिता अरिस्टन अरिस्टोल्कीज का पुत्र था। इसके द्वारा इसका सम्बन्ध एथंस के एक प्राचीन राजा कोड्रस के वंशजों के साथ था। माता की ओर से यह सोलन का वंशज था। अफलातूं का पहला गुरु वैयाकरण डायोनिसियुस था। तत्पश्चात इसने अरिस्टन नामक एक आरगिव पहलवान से शारीरिक कसरतें सीखीं। कई लोग कहते हैं कि इस पहलवान ने ही इसके चौड़े कन्धों और हृष्ट-पुष्ट शरीर के कारण इसका नाम अफलातूं रक्खा था। इसका पहला नाम इसके दादा के नाम पर अरिस्टोक्लीज था। इसके बाद वह सङ्गीत और कविता का अध्ययन करने लगा। उसने ओलिम्पिक के खेलों के ऊपर कुछ कविता भी बनाई; परन्तु सुकरात का एक लम्बा संवाद सुनकर उसने उसे जला दिया और उसका शिष्य बन गया। इसकी कुछ गजलें (विदग्धमुखमण्डन) अभी तक सुरक्षित हैं। वह कोई दस वर्ष तक सुकरात का शिष्य बना रहा, और ३९९ ई० पूर्व में उसकी मृत्यु के पश्चात अफलातूं एथंस का परित्याग कर ज्ञान की तलाश में भिन्न-भिन्न देशों में पर्यटन करने लगा। साइरीन में उसने रेखागणित तथा गणित की अन्य शाखाओं का अध्ययन किया। वहाँ से वह मिस्र चला गया। यहाँ उसने तेरह वर्षों में वह सब सीखने का यत्न किया जो कुछ पुरोहित लोग उसे पढ़ा सकते थे। फिर वह इटली आया और टरन्टम में आकर बस गया। यहाँ उसने यूरीटस और अर्चाईटस के साथ मित्रता कर ली। तत्पश्चात उसने सिसली द्वीप के अद्भुत पदार्थ, विशेषतः एटना पर्वत, देखने के लिए वहाँ की यात्रा की। सिसली में उसका परिचय साईरस्यूस के प्रजापीड़क राजा, डायोनीस्युस, से हो गया। दुर्भाग्य से इसने राजा को रुष्ट कर दिया। अफलातूं स्पार्टा के राजदूत के जहाज में घर लौट रहा था। राजा ने दूत से कह दिया कि इसे इगिना में जाकर दास के रूप में बेच देना। परन्तु उसके खरीदनेवाले ने उसे स्वतन्त्र कर दिया। इस पर वह एथंस में वापस आकर अकेडेमिया के बाग में शिक्षा देने लगा। इसी से इसके तत्त्वज्ञान को लोग अकेडेमिक कहते थे। डायोनीस्युस के चाचा, छोटे डायन, की प्रार्थना पर उसने दुबारा सिसली की यात्रा की। वहाँ इस बार इसका बहुत सत्कार हुआ। परन्तु जब उसने देखा कि प्रजापीड़क डायोनीस्युस उसके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता और अपने पिता का अनुकरण करता है तब वह एथंस को लौट आया और यहाँ बहुत से लोग उसके अनुयायी बन गये। साईरस्यूस में

तीसरा वार जाने के वाद वह अपने जन्म-स्थान में आकर वस गया। अपनी आयु के शेष वर्ष उसने यहां ही साहित्य और दर्शन के अनुशीलन में व्यतीत किये। इसकी वड़ी-वड़ी पुस्तकें ये हैं—१, फीडो जो कथोपकथन रूप में है। इसमें सुकरात की अन्तिम घड़ियों का वड़ा ही जोरदार और करुणापूर्ण वृत्तान्त है। २. "प्रजातन्त्र," इसमें सामाजिक आचार के उच्चतम सिद्धान्त हैं। ३. 'टीमियस' जो उसके समय के वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र का संक्षेप है।

उसका जन्म एथंस में ४२६ ईसा पूर्व; मृत्यु ३४७ ईसा पूर्व हुई।

अरस्तू

विद्वान् यूनानीयों में सबसे अधिक विद्वान् अरस्तू कहा जात है। इसका जन्म ईसा से ५३८ वर्ष पहले स्टेगिरा नामक स्थान में हुआ था। इसका पिता मकदूनिया के राजा का वैद्य था और वैद्यों के प्राचीन वंश में से था। इस प्रकार अरस्तू की नाड़ियों में परीक्षण करनेवालों का रक्त वहता था। ईसा के ३६७ वर्ष पूर्व यह एथंस में आया और अफलातूं का शिष्य वन गया। वीस वर्ष के लगभग ये दोनों एकट्ठा रहे। ३४३ से ३४० ई० पू० पर्यन्त वह सिकन्दर का अध्यापक रहा। इस सम्वन्ध से एक वड़ा लाभ यह हुआ कि उसने नाना प्रकार के जीवधारियों के पाठ की सामग्री इकट्ठा कर ली। ३३४ ई० पू० में उसने स्वतन्त्र तर्क की शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उस पर नास्तिकता और मकदूनिया का पक्ष लेने का अभियोग लगाया गया। इस कारण उसे एथेंस छोड़ना पड़ा। इसी देश-निकाले की अवस्था में ३२२ ईसा० पूर्व में इसका देहान्त हो गया।

देवजानस

यह एक अति त्यागवादी तार्किक था। इसके पिता पर नकली सिक्के वनाने का अपराध लगा था। इसलिए पिता और पुत्र को अपने जन्म-स्थान को छोड़ कर एथेंस में आना पड़ा। यहां आकर देवजानस ने अति त्यागवाद के प्रवर्तक अण्टिस्थनीज से तत्त्वज्ञान सीखना आरम्भ किया। इसने अपने सम्प्रदाय के काठिन्य को चरम-सीमा तक पहुंचा दिया। वह एक मोटा और फटा हुआ अँगरखा पहनता, अत्यन्त साधारण भोजन करता, और सार्वजनिक स्थानों और वराण्डों में रहता था। कहते हैं उसने एक तगार (टव) को अपना निवास वना लिया था, और इसमें रहने से वह वड़ा प्रसन्न रहता। ईगिना द्वीप को जाते समय मार्ग में वह सागर-दस्युओं के हाथ पड़ गया। उन्होंने इसे गुलाम के तौर पर वेच दिया। परन्तु इसके स्वामी ने इसे स्वतन्त्र कर दिया और अपने वच्चो को पढ़ाने पर लगाया। कोरिन्थ में महा-प्रतापी सिकन्दर इससे मिलने आया। सिकन्दर ने आकर कहा, "मैं महाराजा सिकन्दर हूं।" इस पर देवजानस ने उत्तर दिया, "मैं महात्यागी देवजानस हूं।" तव महाराजा ने उससे पूछा कि आपको यदि किसी वस्तु की आश्यकता हो तो वताइए। उसने उत्तर दिया कि "मुझे यही आश्यकता है कि आप मेरे और सूर्य के वीच खड़े होकर मेरी धूप को न रोकिए।" तत्वदर्शी की मानसिक स्वतन्त्रता को देखकर सम्राट् पर वड़ा असर हुआ, और वह वोला, "यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं देवजानस होना पसन्द करता।"

कहते हैं देवजानस दिन के समय दीपक लिये जा रहा था। लोगों ने इसका कारण पूछा, तो उसने उत्तर दिया कि मैं किसी ईमानदार मनुष्य को ढूंढ़ रहा हूं।

यह बात मानी गई है कि उसका देहान्त कारिन्थ नगर में एक सार्वजनिक बाजार में हुआ था। उसकी मृत्यु बड़ी शान्तिमयी थी। एथेंस-वासियों ने उसकी अर्थी को बड़े समारोह के साथ निकाला था। सिनोप के लोगों ने उसकी स्मृति में मूर्तियां खड़ी की थीं। इसका जन्म पोन्टस प्रान्त के नगर में ४१४ ई० पू० में हुआ और ३२३ ई० पू० में इसकी मृत्यु हुई।

पाईथेगोरस

यह एक यूनानी तत्ववेत्ता था। इसका व्यक्तिगत इतिहास बहुत कुछ अन्धकार में है; परन्तु यह बात मान ली गई है कि यह कई वर्ष तक मिस्र और भारत में अध्ययन करता रहा; और एशिया के एक बड़े भाग की यात्रा करने के बाद अपने जन्म-स्थान को लौट आया। यहाँ आकर जब उसने देखा कि पोलीक्रटीज ने समोस का राज्य छीन लिया है तो वह इटली के अन्तर्गत क्रोटोना को चला गया। यहाँ उसने तत्वज्ञान की शिक्षा देने में बड़ा नाम पाया। देश के सभी भागों से उसके पास विद्यार्थी आते थे। इन सबको वह पांच वर्ष के लिए परीक्षा के तौर पर मौन-व्रत धारण कराता था; इसके बाद उन्हें अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक सञ्चय में अर्पण करना पड़ता था। उसके शिष्य, जिनकी संख्या कोई ३०० के करीब थी, एक धार्मिक बन्धुता में बंधे हुए थे। उसने क्रोटोना और उसके उपनगरों के लोगों के आचार का बहुत कुछ सुधार किया, और उसके कई शिष्य, विशेषतः जल्यूकस, बहुत अच्छे व्यवस्थापक बन गये। यह पहला व्यक्ति था जिसने तत्ववेत्ता, या 'ज्ञानानुरागी' की उपाधि धारण की।

इसका मत था सूर्य ब्रह्माण्ड के मध्य में है और पृथ्वी अन्य ग्रहों सहित इसके गिर्द घूमती है। वह जीवात्माओं के पुनर्जन्म और मांस-भक्षण-निषेध का माननेवाला था। यह कोई भी पुस्तक लिख कर पीछे नहीं छोड़ गया, इसलिए इसकी दार्शनिक शिक्षा के वास्तविक स्वरूप के विषय में बहुत कुछ सन्देह है।

इसका जन्म ५८० ई० पू० के लगभग समोस में हुआ और मृत्यु कोई ५०० ई० पू० में हुई।

प्रोक्लस

यह ब्रह्मसाक्षात्कारवाद का माननेवाला एक तार्किक था। इसने सिकन्दरिया और एथेंस में अध्ययन किया था और यह प्राचीन जगत के धर्मों और आचारों से परिचित हो गया था। यह विविध प्रकार के अनुष्ठान करता था और उनको ऐसे अलङ्कार समझता था जिनमें धर्म और दर्शन-शास्त्र के तत्व छिपे पड़े हैं। इससे ईसाई रुष्ट हो गये और उन्होंने इसे एथेंस से निकाल दिया, परन्तु बाद को यह फिर वहाँ लौट आया।

इसका जन्म कान्स्टेण्टीनोपल में ४१२ में हुआ, और यह ४८५ में एथेंस में मर गया।

टोलमी

यह भूगोल और गणित का एक विख्यात मिस्री पण्डित था। यह अपनी 'जगत की व्यवस्था' पुस्तक के लिए प्रसिद्ध है। इसमें इसने पृथ्वी को जगत का मध्य माना है जिसके गिर्द सूर्य, ग्रह,

और तारे घूमते हैं। इसके भूगोल में उस जगत का वर्णन है जो उसके समय में ज्ञात था। यह पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस विद्या की एक बड़ी पाठ्य पुस्तक बनी रही है। पन्द्रहवीं में पुर्तगीजों और वीनीशियन लोगो के आविष्कारों ने इस पुस्तक की भूल को दर्शाया तो इसका गौरव कम हुआ है। अरबी में में इसका नाम बतलीमूस लिखा है।

लाईकर्गस

यह स्पार्टा देश का एक प्रसिद्ध स्मृतिकार हुआ है। इसके जन्म तथा इसके जीवन का इतिहास बहुत कुछ अन्धकार में है। पर कहते हैं कि वह स्पार्टा के राजा यूनोमुसका पुत्र, और उसके उत्तराधिकारी पोलीडकटस का भाई था। पोलीडकटस की मृत्यु के बाद उसकी विधवा ने, यद्यपि वह गर्भवती थी, राजमुकुट लाईकर्गस को देना चाहा; परन्तु उसने लेने से इंन्कार कर दिया, और अपने भतीजे चेरीलौस की अप्राप्तवयस्कता तक बड़ो ईमानदारी से संरक्षक का कर्तव्य पालन करता रहा। जब राजकुमार युवावस्था को प्राप्त हो गया तब लाईकर्गस ने स्पार्टा छोड़ दिया और देश-देशान्तर में पर्यटन करके वहाँ की रीति-नीति का अवलोकन करने लगा। स्वदेश लौटने पर उसने राज्य को बड़ी गड़बड़ अवस्था में पाया। राजा मनमानी करना चाहता था और प्रजा उसकी आज्ञा न मानती थी। लाईकर्गस ने शासान में सुधार करना आरम्भ किया, और ऐसे कठोर नियम बनाये जो बिगड़े हुए लोगों को ठीक करने के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। इसके उपरान्त वह स्पार्टा से चला गया, और यह माना गया है कि वह बड़ी आयु में क्रीट में मर गया।

इसकी मृत्यु कोई ८७० ई० पू० के लगभग हुई।

एम्पीडोक्लीज

सिसली द्वीप के अन्तर्गत अग्रीजन्टम नामक स्थान का रहनेवाल यह एक तार्किक, कवि और इतिहासज्ञ था। इसने पूनर्जन्म के सिद्धान्त को ग्रहण किया था और पाईथेगोरस की पद्धति पर एक अत्युत्तम कविता लिखी थी। इसकी कविता बड़ी साहसिक और प्रफुल्ल होती थी और इसके श्लोक इतने सर्वप्रिय होते थे कि वे ओलिम्पस पर्वत के खेलों के अवसर पर कविवर होमर और हीसायड के श्लोकों के साथ पढ़े जाते थे। यह ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ है।

थेलीस

यह एक यूनानी दार्शनिक था। इसने अनेक वर्षों तक देशाटन करके अपनी ज्ञान-वृद्ध की थी। मिस्र में रहकर इसने गणित सीखा था। फिर स्वदेश लौटकर इसने एक दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। इसका नाम आईओनियम सम्प्रदाय था। इसके शिष्यों में अनेक्सीमेण्डर, अनेक्सीमेनस और पाइथेगोरस थे। सोलन और थ्रसाईबुलुस भी प्रायः इसके दर्शनार्थ आया करते थे। लोग प्रायः इसे यूनानी दर्शन का पिता मानते हैं। इसने रेखागणित में कुछ नवीन आविष्कार किये, सबसे पहले सूर्य के अभिव्यक्त व्यास का अवलोकन किया, वर्ष की लम्बाई ३६५ दिन की नियत की, और ग्रहणों की गति और स्वरूप पर विचार किया।

इसका जन्म मिलेटस में ६३६ ई० पू० में हुआ, और मृत्यु कोई ५४५ ई० पू० में।

ड्रेको

यह एथेंस का एक प्रसिद्ध स्मृतकार हुआ है। इसने ६२४ ई० पू० में एक धर्म-शास्त्र बनाया था। इसके नियम इतने कठोर थे कि डेमडस नामक एक वक्ता ने कहा था कि वे रक्त के अक्षरों में लिखे हुए हैं। उसने सब अपराधों का दण्ड मृत्यु रक्खा था। वह कहता था कि छोटे से छोटे अपराध के लिए मृत्यु-दण्ड है। इसलिए घोरतम अपराधों के लिए मैं इससे अधिक दारुण दण्ड नहीं ढूढ़ सका। इन विधियों पर पहले कार्य होना आरम्भ हुआ परन्तु पीछे से, इनकी अत्यन्त कठोरता के कारण, इन्हें ढीला कर दिया गया। सोलन ने अन्त को इन्हें सर्वथा रद्द कर दिया और केवल हत्यारे के लिए ही मृत्यु-दण्ड रहने दिया। इसकी स्मृति के इतना कठोर होने पर भी उसकी सर्वप्रियता इतनी अधिक थी कि यही इसकी मृत्यु का कारण हो गई। एथेंस-वासियों ने, अपनी रीति के अनुसार, उसके प्रति अति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए एक व्याख्यान-भवन में उस पर टोपियों और चुगों का इतना ढेर लगा दिया कि वह सांस के घुट जाने से मर गया। इसका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व है।

जरदुस्त

यह फारस देश का एक बड़ा धर्म-प्रचारक था। इसने पारसी धर्म की नींव रखी। इसका व्यक्तिगत इतिहास बहुत कम ज्ञात है। जिन्द और अवस्ता नामक पारसियों की पुस्तकों में इसका वर्णन है। यह ईसा से कोई १२०० वर्ष पूर्व हुआ था।

जालीनूस

जालीनूस यूनान का एक बड़ा नामी वैद्य था। इसने यूनान और मिस्र के बड़े-बड़े विद्यापीठों में शिक्षा पाई थी। रोम में जाकर इसने अपने व्यवसाय में खूब प्रसिद्धि लाभ की। अनेक लोग उसकी चिकित्सा पर चकित रह जाते थे और इसे जादू का असर समझते थे। राजा मार्कुस औरिलियस से इसका बड़ा प्रेम था। राजा की मृत्यु के बाद वह पर्गमुस को लौट आया और यहीं ही सन् १९३ ईसवी में नब्बे वर्ष की आयु में मर गया। इसने ३०९ से अधिक पुस्तकें लिखीं, परन्तु इनकी एक बड़ी संख्या रोम नगर के शान्ति-मन्दिर में पड़ी हुई जल गई। चिकित्सा में यह केवल हिप्पोक्रटीस से ही दूसरे दरजे पर था। इन दो प्राचीन हकीमों से आधुनिक हकीमों ने बहुत कुछ लिया है।

होमर

होमर यूनानी कवियों में सबसे प्राचीन और सबसे प्रसिद्ध है। परन्तु इसके जन्म-स्थान, इसके जीवन-चरित्र, इसके वास्तविक अस्तित्व और जीवन में इसकी स्थिति के विषय में आधुनिक विद्वानों का मतभेद है। यूनान के सात भिन्न-भिन्न स्थान इसके जन्म-स्थान होने का दावा करते है। एक ऐतिह्य कहता है कि यह समर्ना की एक अनाथ युवती कन्या का जारज पुत्र था। यह

लड़की मेलस के किनारे रहा करती थी। यही ऐतिह्य कहता है कि भामियुस, जिसने एक सङ्गीत-विद्यालय खोल रक्खा था, इसकी माता पर आसक्त हो गया और उसने इससे विवाह करके होमर को अपना पुत्र बना लिया। भोमियुस की मृत्यु के उपरान्त होमर इस विद्यालय का अध्यापक हुआ। तत्पश्चात् इसके मन में 'इलियड' नामक एक महाकाव्य लिखने का विचार उत्पन्न हुआ। इसके लिए मनुष्यों और स्थानों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसने यात्रा की। परन्तु यात्रा से लौटने पर इसके देश-भाइयों ने इसके साथ बुरा सुलूक किया, इसलिए इसने समर्ना छोड़कर चिओस में रहना आरम्भ किया, और वहीं एक विद्यालय स्थापित कर दिया। वृद्धावस्था में अन्धा हो जाने के कारण इसे दरिद्रता ने आ दबाया, और यह रोटी के लिए दर-दर भीख मांगने लगा। कहते हैं अन्त को आईओस के छोटे से टापू में इसका देहान्त हो गया।

होमर ने बड़े महाकाव्य रचे हैं। एक इलियड और दूसरा ओडीसे। ये हमारे रामायण से बहुत मिलते है। विद्वान् समालोचकों की सम्मति है कि होमर की कवितायें ऐसे समय में रची गई थी जब कि लेखन-कला का अविष्कार तक नहीं हुआ था। उसके श्लोक कण्ठस्थ रक्खे जाते थे। कई लोगों का मत है कि होमर इन काव्यों का रचयिता नहीं, संग्रहीता मात्र हुआ है। फिर अनेक लोगों का ऐसा भी कहना है कि होमार नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं, ये कवितायें भिन्न-भिन्न कवियों की रची और संग्रह की हुई है।

अराटस

अराटस एक यूनानी कवि और ज्योतिषी था। इसका जन्म सालिसिया में ईसा से कोई ३०० वर्ष पहले हुआ था। कहते हैं इसने ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों पर दो ललित कविताएँ लिखी थी। उनमे से एक का नाम फीनामीना और दूसरी का नाम डायोसीमिया था। ये बहुत लोकप्रिय हो गई और उनके अनेक भाषान्तर और व्याख्यायें तैयार हुई। पूर्वोक्त का सिसरो ने लातीन भाषा में अनुवाद किया था, और यह बात मानी गई है कि सेन्टपाल ने एथन्स नगर मे उपदेश करते समय इसके एक वाक्य का प्रमाण दिया था।

———